



## \* समर्पण \*

माङ्कमूर्त्त्यतो हि यस्य विधिमादेगे गरीरोदय ।  
 श्रीविश्वगद्योदयाच्च सममूर्त्त काश्यां सुविषोदय ॥  
 राज्ञा प्रीत्युदयादमूङ्गयपुरे सपदिभाग्योदय ।  
 सिद्धस्तमधुसूदनाय गुरवे निरसं प्रणामोदय ॥

जिस महापुरुष ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा से गृहानिहित ब्रह्मज्ञानपुरुष को प्रवृत्त किया, जिस विमूर्तिने विरकास स विभुम वैशिक परिमायाओं का उद्धार कर वैदिक स सृष्टि को पुनरुद्गीत किया, जिस महान् आत्मा ने अपनी समस्त आयु को षडोद्धार के लिए नि सार्यमात्र से समर्पित किया जिस वेत्ति की अविच्छिन्न युक्तिगुक्त विज्ञानमयी बागूशारा ने पाश्चात्त देश की सुप्रसिद्ध केम्ब्रिज एव आक्सफोर्ड युनिवर्सिटीयों के विद्वानों को अक्षित किया, जिस बाग्देवता के अवतार ने वेद-म्याकरण-सूत्र-निरुक्त-उपनिष-कल्प-पुण्य-व्यादि आदि विविधविषयों के गणपथात्मक सगमग २०० प्रश्नों से अमरभारती को अमर बनाया, उस महाविमूर्ति के पावन शरणों में उसी के एक अकिञ्चन शिष्य द्वारा विनम्रभाव से सादर समर्पित ।

त्वदीय वस्तु गोविन्द ! (मधुसूदन ! ) तुभ्यमेव समर्पये

—:००:—

❧ अकिञ्चन सेवक—

मोनीनाथ गमा जयपुरीयः

++ विद्यावाचस्पति ज्ञानीवाचस्पति बाग्देवतागार भी १८६ भीमपुरन्दरजी महापुत्र कोकर (मैसूर) । छात्र का विलुप्त जीवनवर्तिन आरके उत्पत्तिवर्ती ७० ) पञ्च में होने वाले अति अन्वेषण के अवसरर भीमपुरम् (अध्विनरुद्रसमिति जयपुर की ओर व अधिनन्वनाथ महा पितृ वराह में निरुक्त पुत्रा दे ।  
 आदिवाचन —

“संस्कृत रवाकर कायापय’ पानों का दर्शन ‘जयपुर’ सीरी ।





पुस्तकपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी महाराज (श्रीगुरुपरमार्थ)





ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॐ

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॐ

## मस्तावन्त

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॐ



चिदानन्दपन इराप्रवापने वा धंशभतारभूत प्राणी अविद्या अस्मिता रागद्वेष-अभिनिवेश-आदि दोषप्रकृतक अविचारमस्तरों के प्रभाव से परमात्म्य पर पक्ष भोगने के लिए मातापिता के शुक्रशोणित के निधुनभाव में प्रलिट्टि होकर (गम में प्रविष्ट होकर) धरातल पर अक्षणीय होता है। क्योंकि इस का मूलप्रभव चानन्दवन प्रकृत है, चान एव यह प्राणी पाश्चीन सुख की परमना किया करता है। परन्तु यह आशय का विषय है कि चाने जाय वात से मृग्युपयुक्त निरंतर सुख की परमना करता हुआ भी, तद्वाचि के लिए सतत उपाग-सौत्र बनता हुआ भी यह दुःखी ही दखा जाता है। इस का क्या पररण ! उपनिषद्गुणि उत्तर नी है।

यदा चम्ममयाकागं नेष्टपिप्यति मानवा ।

तदा देवप्रविशाय दुःखस्यात्ता मविप्यति ॥

" सर्वथा मीक्ष्य आशय चर्मनय पने, उस चर्मनय आशय को मनुष्य चाने चारा ओर वरित करने, यदि ऐसा होना मंभर है तो आशयवेना को बिना जाने हुए वा अत हो सतय "। तात्पर्य इस का यही हुआ कि जैसे आशय को चर्म के समान शरीर के लोचना चर्मनय है, चर्मनय बिना आशयन के हुए की निवृत्ति सर्वथा अतंभर है-"नापू-न्यप तु आगाति विनन । ऐसी स्थिति में निस्वान लक्षणा पाराति की निज्ञाता

रखने वाले प्रत्येक मनुष्य को आत्मबोध करना नितान्त आवश्यक है। इन्हीं आत्मा एक ऐसा अद्वितीयदार्थ है कि इस का यथावत् परिचय कालेना दुःसम्भ नही तो सुसम्भ भी नहीं है। आत्मज्ञान की परम्परीमा पर पहुंचा हुआ स्वयं मरतर्क भी आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में माना मात्र से आक्रान्त हो रहा है। यद्यपि शास्त्रों में व्याख्या का स्वरूप सर्वथा निश्चिंत है, तथापि सम्प्रदायमन्त्रक व्याख्याकारों की कृपा से ये ही शास्त्र आज विद्वान् कृति के लिए सम्प्रदायनिष्ठि के स्थान में सम्प्रदाय के कर्मरूप बने हुए हैं। आत्मबोध के सम्बन्ध में आज 'परममपि न पश्यति' यह उक्ति सर्वप्रथमा अतिरिक्त हो रही है।

संस्कृत महाभारतग्रन्थ के पीछे से सर्वप्रथमार्क्यम्य सिद्ध ( वेद )-शास्त्र का पठन पाठन विरामप्राय बन रहा है। केवल पारायण पर ही वेदशास्त्र की इतिवृत्तम्पना समाप्त मानली जाती है। वेद में किन्तु मौलिक तत्त्वों का विचार हुआ है। इस सम्बन्ध में सायण-माधव हरिहर-आदि वेद व्याख्याता भी मौन हैं। केवल कर्मकाण्ड का सम्बन्ध ही उपसम्भ ब्रह्मार्थों का परमपुरुषार्थ है। इन्हीं कुछ समय पूर्व ऐसे व्याख्याता उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने वेद में तार मैत्रीफोन आदि के निरूपण में ही वेद का मन्त्र समझ है। मरतर्क में आज वेदविद्या का आसोडन-विशोडन एकदलन बनकर है। संस्कृतविद्या के अग्रज विद्वानों की उपमा आज व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, साहित्य आदि में परिसम्पन्न है। इन्हीं वेदार्थ पर इतिपाठ का व्यवहार ही नहीं मिलता। अद्वैत-विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत-द्वैत आदि सम्प्रदायों के अनुयायी सम्प्रदायिक ग्रन्थों को ही सर्वे सर्व मानते हुए वेददर्शन में भी पाठक सम्पन्न हैं। इन्हीं कुछ समय से भारतीय विद्वानों ने वेदार्थ के सम्बन्ध में कुछ प्रयास किया भी है तो वह परसंपत्ति होने से उच्छिष्ट मात्र है। पश्चिमी विद्वानों ने वेदार्थ के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं, उन्हीं के आधार पर कुछ शिक्षकों बालों के विचार भी हमारी शिक्षाओं को पूर्ण करने में असमर्थ हैं। जब निरन्तरवृत्ति की यह दशा है तो साधारणजन समाज का तो बचना ही क्या है। इस प्रकार आपत्ति का सकल मूल वेदशास्त्र आज अनुसंधान में पड़ा हुआ हमारी मार्गदर्शक को अविशेष व रहा है। जैसा कि आर्य अस्ति का—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमर्जस्य तदात्मन स्यमान्भवाम् ॥

यह विद्वान् सत्य विरक्त है, उसी के फलस्वरूप वर्दक्षबंध वेदमूर्ति विरवेरवर की अनुकम्पा से आर्याजाति के सौभाग्य से कृतमानयुग में एक ऐसा महापुरुष भारतभूमि पर अश्रुतीर्ण हुआ है, जिसने इरवतज्ञापप्रकृत वैदिककृत्यों को जगत् के मामने रखकर सुतप्राय भारतवर्ष को पुन आलोकित किया है। आज भारतवर्ष के, एक युरोप के उच्चकोटि के सभी विद्वान् यह मान गए हैं कि उक्त मह पुरुषने सचमुच वेदार्थ के सम्बन्ध में एक नया युग उपस्थित किया है। जो वैदिककृत्य माप्यकारों, विद्वानों के लिए खामबगत् की पशु की वही आज आमन्त्रस्या में अक्षर हमारे अक्षय कर कारण बन रहे हैं। स्वनामधेय विद्याशासकगण, समीक्षावक्रवर्ती पूज्य गुरुवर श्रीमधुमूदनजी महाराज ने अपनी अप्रतिम ईश्वर प्रतिमा के बससे वेदार्थ के स्पष्टीकरण के लिए मिस मिस शिष्यों पर लगभग २०० ग्रन्थ लिखे हैं। आपके सभी ग्रन्थ अमर भारती ( संस्कृत ) को अक्षरकृत कर रहे हैं। यह देश अब दुर्मग्य है कि उक्त ग्रन्थों में से अक्षरक १ - १५ ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं। शेष संपत्ति उन मंगलशास्त्रियों की विशेष बुद्धिमानी से भारतवर्ष को बहित किए हुए है। हमारा विरक्त है कि जगत्पर की अनुकम्पा से मिस दिन उक्त वैदिक साहित्य स्वामना प्रकाश में आजाय 1, उस दिन समस्त मानव जाति अब एकमय्य आराध्य वेदपुरुष ही रहे आर्या ।

जिसा कि ऊपर कहा गया है, गुरुवर श्रीभोमजी के सभी ग्रन्थ सस्कृत में, कुछ एक ग्रन्थ ' छन्दोभाषा ' नाम से प्रसिद्ध वेदग्रन्थ में है। इधर हिन्दीभाषा आज राष्ट्रभाषा बनी हुई है। दूसरे भारतवर्ष का धनिकर्ष ( जो कि इस साहित्य को प्रकाश में लाने की क्षमता रखता है ) संस्कृतग्रन्थ से अधिकारी में बहित है। इन्हीं सब विषय समस्याओं को सत्य में रखने हुए लेखकने हिन्दीभाषा द्वारा जनता के सामने श्रीभोमजी के विचार रखने का निश्चय किया है। फलत मिस मिस शिष्यों पर हिन्दीभाषा में लगभग ५० सहस्रपृष्ठ लिखे जाचुके हैं। परन्तु आर्थिक समस्या की जटिलता से अक्षरक यह साहित्य अप्रकाशित ही पड़ा हुआ है।



कुछ समय पूर्व बम्बई के सुविख्यात नामा पिची बंशुर्ज राजा साहब श्रीमुकु दसालजी महोदय पिची एव माननीया बयोबदा सदी सचमी बाई मंगयोइनेटास परजीवनटास के स-  
 दुयोग से इस सम्बन्ध में कुछ प्रयास हुआ था। परन्तु कई कारणों से वह कार्य सफलता पूर्व  
 न हो सका। फिर भी जो कुछ हुआ है, उसी के फलस्वरूप यह 'उपनिषद्भाष्य' पाठकों  
 के सामने उपस्थित हो रहा है। हमारा विश्वास है कि यदि हम समाज की सेवा कर सकें तो वह  
 कब्रय इस साहित्य के महाभाष्योत्पन्न को सफल बनावेगा।

पहिले उपनिषद्भाष्य एक साप ही प्रकाशित करने का विचार था परन्तु पृष्ठसंख्या सग-  
 मग ८० हो जाने से उसे दो खंड में विभक्त करना पड़ा। प्रथमखंड प्रकाशित होगया है, दूसरे  
 खंड के प्रकाशन का आ योजना हो रहा है। दूसरे खंड के साप साप समस्त उपनिषदों की  
 'उपनिषद्भाष्यसुमिका' नाम की सग मग २०० पृष्ठ की एक स्वतन्त्र सूचिका भी प्रकाशित  
 हो रही है। इस भाष्य में क्या विशेषता है, यह यहां बताने का अवसर नहीं है। इस की  
 उत्पादना अनुपायता का भार विचारशील पाठकों पर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध में हम  
 अपनी ओर से सबसे यही निवेदन करना चाहते हैं कि पाठक महोदय एक बार इसे ध्य से  
 इस तक पढ़ने का कष्ट अवश्य करें। साप ही में यह बतला देना भी हम अपना आशयक  
 कर्तव्य समझते हैं कि भाष्य में जो विचार प्रकट किए हैं हम तो इनके सम्बन्ध में केवल  
 निमित्तमात्र हैं। पूज्य श्रीमदजी के शरणों में बैठकर ध्य तरु जो भरण किया है, उसमें से  
 जितना ध्य हम फिर रख सकें हैं, वही भाष्यरूप से उपस्थित किया गया है। यदि हमारे इस  
 प्रथम प्रयास को पाठकों में ध्यनाया तो शीघ्र ही आगे के उपनिषद्भाष्य भी सेध में उपस्थित  
 किए जायेंगे।

व्यपि निम्नसंगदत् १९९० में ही यह ग्रन्थ संपन्न होगया था परन्तु ध्यापिक कठिना  
 यों के कारण ध्यतन इस का प्रकाशन न हो सका। वेत्नेमियों को विदित है कि लगभग १  
 ५ वर्षों से हम शतपथभाष्य विज्ञानभाष्य का भाष्यरूप से प्रकाशन कर रहे हैं। इस  
 कार्य में हमें ध्यतरु सगमग २ सहस्र का पाठ उद्यता पड़ा है। इन्हीं सब विषय समस्याओं

के कारण जिस नियम से, जिस उत्पादक सामग्री से प्रकाशन होना चाहिए था, वह कुछ न होसक्य। इस सम्बन्ध में हम उक्त राजासाहब श्रीमुकुन्दसाहजी पिटी, एव माननीया श्री लेडी सद्नी बार्ड महोदया को हार्दिक धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकते, जिन के आयोजन से हम इस साहित्य के प्रकाशन की आर्थिक व्यवस्था करने में समर्थ होसके हैं। इन्हीं साहित्य सेवियों के द्वारा प्राप्त राजासाहब से उरसाहित्य बनकर आज हम अपना यह प्रथम प्रयास पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। इस के साथ साथ ही शतपथ के प्रकाशन का भी आयोजन होगया है। पहिले इसका मासिक रूप से प्रकाशन होना था, अब इसे त्रैमासिक करदिया है। आशा है वेदवेदी आर्यजाति के सर्वसम्भूत इस वैदिक साहित्य के प्रचार में पूछ सहयोग लेंगे।

## प्रीयतामनेनात्मदेवतेति-शम्

विद्दिविषेय —

मोतीलालशर्मा, भारद्वाज

फागुनवृष्णा १३ शिवरात्रि

वि० सं० १९९०

मयपुरराजधानी





# ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानमाध्य-प्रथमखण्ड की

## विवरणसूची



विवरण	पृष्ठसंख्या	विवरण	पृष्ठसंख्या
१—संक्षेपाठ	१	१६—वेदान्त	१३
मासिकपत्र	३—२८	१७—मासिक-व्याख्यान-उपनिषद् का सम्बन्ध	११
१—ईशत्व की सधर्म्यता	३	१८—निरवकारण प्रथम	१७
२—उपनिषद् शब्दार्थ	४	१९—सृष्टिविषयक प्रथम	१८
३—ईशोपनिषद् और शाखा	११	२०—सृष्टिविषयक उत्तर	२०
४—उपनिषद् का वेदान्त	११	२१—इतर प्रचारपत्र	२३
५—ईशोपनिषद् का प्राथम्य	१२	२२—निर्बिरोध	२४
६—जीव का आद्यम्य इति	११	२३—महाबन	११
७—ईश की मूल-सूक्ति	६	२४—महाबल	११
८—ईशोपनिषद् के नामान्तर	१	२५—अमृतान्तर	७५
९—उपनिषद्प्रतिपाद्यविषयोंकापार्थक्य	११	२६—अकारमा	११
१०—आत्मप्रथम	७	२७—शुक्लार्थ	११
११—आपनिषद् व्याख्यान	११	२८—असत्त्व	११
१२—संनर-प्रतिबंधन	८	२९—देवसत्त्व	२६
१३—कार्यकारकावस्था	६	३०—ईशप्रथम	२७
१४—ईशोपनिषद्मेंसंनरपक्षकीप्रधानता	११	३१—जीवप्रथम	११
१५—महाबन्ध का विषयविभाग	१		

११ पोद्दशीवैभव  
 पुरुपात्माधिकरणा (अमृतात्मा)  
 २२—३४ पर्यन्त

विषयमवेग २२—३०

विषय	पृष्ठसंख्या
१—मण्डलमन्त्ररहस्य	३०
२—स्वरा-उप्य	"
३—अग्नि-सोम	"
४—अक्षरों के सर्वाक्षर	"
५—अक्षर, उक्त, मक्षर	३१
६—असंग, सङ्गज्ज्ञेय, ससंग	"
७—अवेद्वार	"
८—पूर्णवद ईश्वर	"
९—ईश की उपलिपत्	"
१०—जीव की उपलिपत्	"
११—पुरुष में शक्ति	३२
१२—पूष का पूष के साथ सम्बन्ध	"
१३—सर्ववृत्तपक्ष	"
१४—त्रिवृत्तकरणा	३३
१५—तेज-आप-धम	३४
१६—त्रिसोमयत्रिसोकी	"
१७—सप्तलोक विद्या	३५
१८—मन्त्राक्षरात् का त्रिभिद्भय	३६

विषय	पृष्ठसंख्या
१६—मनप्रधान भोगतन्त्र (१)	३७
२०—प्राणाप्रधान कर्तृतन्त्र (२)	"
२१—वाक्प्रधान आकाशतन्त्र (३)	३८
२२—मनोमयी विज्ञाननीति (१)	"
२३—प्राणमयी धर्मनीति (२)	"
२४—वाक्मयी राजनीति (३)	"

विषयमवेग समाप्त

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

३०—१०४ पर्यन्त

१—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'	३०
२—मन्त्रार्थ	३१
३—तीर्थायुक्तों का अभिनामाय	३२
४—मन्त्रार्थोपक्रम	"

भोगतन्त्र में राजनीति

६०—४४ पर्यन्त

१—स्वराक्षरों सम्बन्धी भोग	४०
२—स्वामी की सत्ता	"
३—स्वामीद्वारा निर्दिष्ट भोग से शक्ति	"
४—अन्यथा शरान्ति, अन्वयस्था	"
५—विरवत्पक्षकृष्णक कसाल भोग	४१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६—सामाजिक कर्म	४१	३—परिभाषाज्ञान का अभाव	४७
७—नीतिस्वरूप	४२	४—सुखययौपक्रम	"
८—वेदासुराख्यान	४३	५—निष्कर्मपुरुष	"
९—सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी राजनीतिपद्य	४४	६—सकलमपुरुष	"
उपसंहार		७—निष्कर्मभारत्या	"

### भोगतन्त्र में धर्मनीति

४५—४६ पर्यन्त

१—अधर्म से आत्म में उच्छ्रित	४५
२—अन्त में सर्वनाश	"
३—राजदण्ड धर्मदण्ड	"
४—अदत्तादान	"
५—कर्तमानयुग और अमनीति	"
६—अमनीतिनीति कथय	"
७—सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी धर्मनीतिपद्य	४६
उपसंहार	

### भोगतन्त्र में विज्ञाननीति

४७—१०४ पर्यन्त

१—अध्यायनाभ्यासप्रणाली	४७
२—उपब्रह्म वेदभाष्य	"

१०—भारत नास्ति	४८
११—प्राची प्रजापति	"
१२—अन्तरात्तरीयाव	"
१३—आत्मा के दर्शन	"
१४—यद्दर्शन रहस्य	"
१५—कथाशास्त्र	४९
१६—गोतमसूत्र	"
१७—सूत्ररहस्य	५०
१८—नीमंत्रा	५२
१९—वैशेषिकदर्शन	"
२०—मौक्तिक विज्ञान	"
२१—आत्मा का द्रव्यत्व	५३
२४—पुरुष विभाग से दर्शन विभाग	"
२५—अमृतसत्ता	"
२६—सत्ताकण	"
२७—अर्क्यभाव	"

वि पोद्दरीचैमव  
 पुरुपात्माधिकरणा (अमृतात्मा)  
 २१—२३४ पर्यन्त

विषयमदेश	२१—३०
विषय	पृष्ठसंख्या
१—मासमन्त्ररहस्य	३०
२—सर्प-उपम	"
३—अग्नि-सोम	"
४—अकारो वै सर्पाणाक्	"
५—अकार, उकार, मकार	३१
६—असंग, सर्पसंग, असंग	"
७—ओङ्कार	"
८—पूर्णद ईरवर	"
९—ईश की उपनिषत्	"
१०—जीव की उपनिषत्	"
११—पूछता में शक्ति	२२
१२—पूर्ण का पूण के साथ सम्बन्ध	"
१३—सर्पद्वय	"
१४—त्रिद्वयकरण	३३
१५—तेज-आप-अन्न	३४
१६—शैलोक्यप्रियोन्धी	"
१७—सतसोम विद्या	३५
१८—मन्त्राणाणाक् का त्रिविध्य	३६

विषय	पृष्ठसंख्या
१९—मन्त्रप्रधान भोगतन्त्र (१)	३७
२०—प्राणाप्रधान कर्ततन्त्र (२)	"
२१—वाक्प्रधान आकाशतन्त्र (३)	३८
२२—मनोमयी विद्याननीति (१)	"
२३—प्राणमयी धर्मनीति (२)	"
२४—वाङ्मयी राजनीति (३)	"

विषयमदेश समाप्त

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

३०—१०४ पर्यन्त

१—इशावास्यमि-सर्वम्	३०
२—मन्त्रार्थ	"
३—तीनोंपदों का अविनामय	३२
४—मन्त्रार्थक्रम	"

भोगतन्त्र में राजनीति

६०—४४ पर्यन्त

१—स्पृशस्वति सम्बन्धी भोग	४
२—स्थानी की सूत्र	"
३—स्थानीयता निर्दिष्ट भोग से शक्ति	"
४—अन्यथा अशक्ति, अन्यथा	"
५—विरवकल्पयामस्तक का कल्प भोग	४१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६—स्वाहाय्य	६७	१४—पञ्चप्रथमदिग्दर्शन	७९
२७—धर्मयोग	६८	१५—स्वयम्भूमहिमा	८१
२८—दश करद्वन्द	६९	१६—पृष्ठविधा	८२
२९—विराट्यय	,	१७—परममात्र	८३
३०—अन्तर्दिशिनी विराट्	७०	१८—प्रतिमाभाव	८४
३१—इक्ष्वाकुरी	७१	१९—दहरोत्तरसम्बन्ध	८५
प्रथमविधा समाप्त		२०—भोक्ताजीवाभाव	८६
भोगतन्त्र में विज्ञाननीति ( प्रकान्त )		२१—साक्षीईश्यामा	"
१—प्रकल्पयज्ञस्त्री व्यापकता	७२	२—ईशप्रजापति	८७
२—प्रजापति की धर्मना	७३	२३—श्रीश्रमजापति	"
३—तेन व्यक्तन मुञ्जीषा	"	२४—उदरसमाग	"
४—मुञ्जीषा—मुञ्जे	"	२५—प्रत्यक्षभोग	८८
५—उगनाभि ( मकड़ी )	७४	२६—प्रतिबिम्बभाव	८९
६—प्रदाकरसमुद्रकम्	७५	७—चिदाभास	"
७—ईश पञ्चम प्रकल्प	"	८—द्वयप्रतिष्ठ ईश्वर	९०
८—ईशाशास्त्रमि-सम्	७६	९—पशुभाव	९१
९—सम्पत्तभाव	"	१०—वस्त्वस्त्व	९२
१०—पञ्चमनदिग्दर्शन	७७	११—शरीरभाव	"
११—विद्यारूपाय	,	१२—प्राणभाव	९३
१२—पुरात्रनदिग्दर्शन	७८	१३—आत्मभाव	"
१३—ईशप्रजापति वा प्रकल्प	,	१४—भारतयज्ञ	९४
		१५—वित्तविभाग	९५
		१६—रूप	९६



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२६—ज्ञानमूर्तिअभ्यय	५४	३—पादकौशिकप्रपञ्च	६०
२७—क्रियामूर्तिअभ्यय	"	४—यज्ञप्रस	"
२८—अयमूर्तिअभ्यय	"	५—भूतल्लस्य	"
२९—सीनापतिक	५५	६—मसौदनयज्ञ	६१
३०—कनाशिर	"	७—उच्छिद्ययज्ञ	"
३१—अमहत्	"	८—बत्पारिशुद्धात्रयो०	"
३२—विष्णुभा की विक्तिरं	५६	९—यज्ञरूपम	"
३३—मन्त्रिकथन	"	१०—एकोत्तरबोधस्तिस्तनामा	६२
३४—मन्त्रिविद्योः	"	११—महा कथ मात	"
३५—विषाकस	"	१२—यज्ञप्रवर्तक अमर्ष	६३
३६—अविषाकस	"	१३—दासमात (भोदन-उपसेवन)	"
३७—अहह्वार	"	१४—वातुःआरपमसौदन	"
३८—अहस्कर	"	१५—आत्मविद्य	६४
३९—अहोह्वार	"	१६—प्रकृष्टिविद्य	"
४०—विषाकमविद्य	५७	१७—विद्वन्निविद्य	"
४१—विद्यशब्द	५८	१८—विमूर्तिविद्य	"
४२—कविमूर्ति	"	१९—एकविद्यप्रकथ	६५
४३—अपवे संवत्	५९	२०—प्रथममन्त्रल्लस्य	"

### विज्ञानीति में प्रवर्ग्यविद्या

५९—७१ पर्यन्त

१—अमास	६९	२१—साहा, मन्वा, वीर्य, सगण, नम,	६६
२—अरमास	"	२२—अस्तयाम अद्विषाम, उपयाम,	"
		२३—उषाम अन्तोर्षाम, यातयाम	६६
		२४—अम—अमादमात्र	"
		२५—अरूपम	"

विषय	पृष्ठसंख्या
२५—सेवाधर्म की महत्ता	११६
२६—वर्णाश्रम की रक्षा में ही देश का अभ्युदय	
२७—सन्ततुकराम और शिवाजी	११७
२८—तुकाराम द्वारा शिवाजी को क्या श्रम धर्मपालन के लिए आदेश	१२१
२९—भ्रातृजनों की भास्ति	१२२
३०—अधिकार सिद्ध कर्म परिष्कार में दण्डविधान	१२३

### विषयोपसंहार

### कर्तृतन्त्र में धर्मनीति

१२४—१४३ पर्यन्त

१—गहना कर्मणो गति	१२४
२—विधासमुच्चित निष्काम कर्म	१२५
३—विधासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म	"
४—विधानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म	"
५—शास्त्रविरुद्ध कर्म	"
६—अविद्विताप्रतिपिद्धकर्म	"
७—माहाकर्म	१२६
८—आप्राप्तकर्म	"
९—सामाजिक कर्मों में धार्मिककर्मों की प्रधानता	"

विषय	पृष्ठसंख्या
१०—धर्मतरवका आविभाव	१२७
११—इशान्नापति का ब्रह्मदण्ड	१२८
१२—धर्मप्रवर्तक नियतिपरब्रह्म	"
१३—धर्म का स्वरूपलक्षण	"
१४—धर्मरक्षा से धर्मों की रक्षा	१२९
१५—धर्म परिष्कार से धर्मों का विनाश	"
१६—प्रजापति की धर्मसृष्टि	"
१७—ब्रह्म-व्यग्र-निर्द्वीप	१३०
१८—वर्ण सत्तासनाप धर्मसूत्र	"
१९—धर्मतरवप्रतिपादक धर्मशास्त्र	"
२०—धर्मस्य सूक्ष्मा गति	१३१
२१—धर्मप्रवर्तक अधिप्राण	"
२२—अपिणो का आनन्द	"
२३—धर्म का बहिष्प	"
४—सृष्ट और अगिण का उप	"
२५—अज्ञसिता प्रवृत्तक वसिष्ठप्राण	"
२६—वसिष्ठवल्मी अनुभूया	"
२७—घातक पुत्रहत्याप्राण व्यवसायप्रवृत्तिप्रवर्तक प्राणप्राण	१३५
२८—अध्वजसायप्रवृत्तक प्रवृत्तप्राण	"
२९—यदोपकारवृत्ति प्र : अगस्त्यप्राण	"
३०—पुरंधिताप्रवृत्तक कश्यपप्राण	"
३१—विधाप्रवृत्तक सृष्टप्राण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१७—नौवस	१६	२—मणिबाजाति	१०२
१८—मैयज्यपत्र	१७	३—मणिबाजाति में षण्णविभाग	"
१९—उचिष्ठपत्र	"	४—कनकसूत समानसंघटन	११०
२०—असमभ्रातृ की व्यापकता	"	५—मणिबाजाति क मन्थान	० ०
२१—सूत्रपरिष्ठापनान्तर अन्वययोग	१८	६—मणिबाजाति में अनीशरवाद	"
२२—प्रजापतिवृत्त दायविभाग	१०	७—मणिबाजाति में प्रजातन्त्र	"
२३—प्रजापरायण	१०१	८—अनीशरमूलक प्रजातन्त्र	"
२४—अनुसंहित मनुष्य	१०२	९—प्रजाशासन ईश्वर सत्तास्थापन	"
२५—मातृकाशासना	"	१०—प्रजाशक्त वर्ण अर्कण विभाग	१११
२६—असमभ्रातृवृत्तयोग	१०३	११—अनीशरवाद का समुच्च विनाश	"
२७—यथार्थकर्म	"	१२—दशम्यकस्या में नीतितन्त्र	"
<b>विषयोपसंहार</b>		१३—मनुष्यकस्या में राजतन्त्र	"
<b>प्रथममन्त्रभाष्यसभास</b>		१४—अभिहित कर्म	"
— ००० —		१५—सामाजिक कर्म विभाग	"
<b>द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण</b>		१६—अभिहित कर्म का महत्त्व	"
१०५—१५६ पर्यन्त		१७—राजनीतिमूल	११२
१—अनुसन्धोषक	१०५	१८—राजनीति की मूलप्रतिष्ठा	"
२—कर्मविभाग	१०७	१९—राजसत्ता का विनाश का कारण	११३
<b>कृततन्त्र में राजनीति</b>		२०—सामी-सेवक मातृ की व्यापकता	"
१०६—१२३ पर्यन्त		२१—साधिकादिसिद्धकर्म अन्वयक	११४
१—मूलमयी सृष्टि की प्रारम्भिकसम्भवा	१०६	२—राजितमूलक अाधिकारिककर्म	११५
		२३—अभिहितकर्म की प्रशंसा	"
		२४—परोक्षकर्म की निन्दा	११६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२५—सेवाधर्म की महत्ता	११६	१०—धर्मतरबक्य भाषिभाष	१२७
२६—वर्णाश्रम की रक्षा में ही देश का अभ्युदय		११—ईशप्रजापति का महदण्ड	१२८
२७—सन्ततुकराम और शिवाजी	११७	१२—धर्मप्रवर्तक निपतिवरमण	"
२८—तुकाराम द्वारा शिवाजी को क्या अम धर्मपाठन के लिए आदेश	१२१	१३—धर्म का स्वरूपसङ्घ	"
२९—महजनों की भावित	१२२	१४—धर्मरक्षा से धर्म की रक्षा	१२९
३०—अधिकार सिद्ध कर्म परित्याग में दण्डविधान	१२३	१५—धर्म परित्याग से धर्म का विनाश	"
विषयोपसंहार		१६—प्रजापति की धर्मसृष्टि	"
<b>कर्तव्य में धर्मनीति</b>		१७—ब्रह्म-क्षत्र-विद्वेषीय	१२७
१२४—१४३ पर्यन्त		१८—कण सघासनार्य धर्मसूत्र	"
१—गहना कर्मणो गति	१२४	१९—धर्मतरबप्रतिपादक धर्मशास्त्र	"
२—विद्यासमुच्चित निष्कर्म कर्म	१२५	२०—धर्मस्य सूक्ष्मा गति	१३१
३—विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म	"	२१—धर्मप्रवर्तक अपिप्राण	"
४—विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म	"	२२—अपिप्यो क्य ध्यानन्त्य	"
५—शास्त्रविरुद्ध कर्म	"	२३—धर्म का वैविध्य	"
६—अनिहिताप्रतिविद्धकर्म	"	२४—भृगु और अगिण का उप	"
७—प्राद्यधर्म	१२६	२५—अज्ञानविज्ञान प्रवृत्तक वसिष्ठप्राण	"
८—अप्राद्यधर्म	"	२६—वसिष्ठपत्नी अनुमय्य	"
९—सामाजिक कर्मों में धार्मिककर्मों की प्रधानता	"	२७—घातक पुसत्स्यप्राण व्यवसायपरिक्रमवर्तक ऋणप्राण	१३५
		२८—अण्यवसायवर्तक ऋणप्राण	"
		२९—परोपकारवृत्ति प्रः अण्यस्यप्राण	"
		३०—पुरिधितावर्तक करणप्राण	"
		३१—विद्यावर्तक भृगुप्राण	"

विषय	पृष्ठीयसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
३२—दाशम एव आयु प्र० विश्वामित्रप्राण	१३२	३३—आयु के ३६००० सूत्र	१३६
३३—स्वनेशान्त्र मनीषिप्राण	"	३४—वैशितक	१४१
३४—घनताप्रकृतक कसिष्ठप्राण	"	३५—विभासापेक्ष कर्मों की धार्मिकता	१४१
३५—घनताविनाशक अगस्त्यप्राण	"	विषयोपसंहार	
३६—अस्त्ररूपरक्तक मत्स्यप्राण	"	<b>कर्तृतन्त्र में विज्ञाननीति</b>	
३७—वेदान्त षड्भूत अग्निप्राणरूपवर्म	"	१४४—१५० पर्यन्त -	
३८—सुप्रिसवास्तक दशविंशति	"	१—ईश्वरान्यय एवं जीवाभ्यय	१४४
३९—अग्निप्राण के द्रव्य, आरइनके यशोनाम	१३३	२—ज्ञान-कर्ममय अन्यय	"
४०—संयमूर्ति अपूर्णव	"	३—काम-साय-धर्ममूर्ति अन्यय	"
४१—धर्ममूर्ति अपूर्णव	"	४—विष्णुतत्त्व की सर्वव्यापकता	१४५
४२—ब्रह्मकदाचित्त	१३४	५—ज्ञानक्रिया का अन्तरागती-	१४६
४३—कर्मप्रमाणपति	"	भाषसम्बन्ध	
४४—दशप्रमाणपति की ६ कल्प्यए	१३५	६—सर्वकर्मपरिस्मात्सङ्घर्षसंयासकी	१४७
४५—धर्म के साय १ कल्प्यों का विशाह	"	अशास्त्रीयता	
४६—धर्मपुस्तक धर्मशास्त्र	१३६	७—व्याख्यानाओं का प्रौढिवाद	"
४७—विद्यापुस्तक-के शास्त्र	"	८—धृतिपौ में गौणमुन्य भाव मानना	"
४८—धर्मपुस्तक-शास्त्र	१३७	सर्वथा असंगत	
४९—धर्मशास्त्रमण्ड धर्मशास्त्र	"	९—आत्मीयताओं की अन्वयकर्मिता	१४८
५०—शास्त्ररहित धर्म	१३८	१०—परमेश्वरविर्वात	१५०
५१—शास्त्ररहित धार्मिककर्म अन्वय	"	११—रजोवसीयसम्पन्न	१५१
५२—शन ममा	"	१२—अनामीयकर्म	"
		१३—रक्षा का तारतम्य	१५२

विषय	पृष्ठसंख्या
१४—उत्पिताकर्षण	१५३
१५—उत्पाप्याकर्षण	"
१६—सब का विज्ञानाद्भूय	१५४
१७—वैज्ञानिक कर्म से शान्ति	१५५
१८—अमृत्यु का साक्षात्कार	"

**विषयोपसंहार**

द्वितीयमन्त्रभाष्यसमाप्त

**तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण**

१५६—१६१ पयन्त

विषयोपक्रम—१६१—१६५ पयन्त

१—आवरणतन्त्र	१६१
२—त्रिबन्ध	"
३—मन्त्राय	"
४—प्राचीनमृत की पीमाता	१६२
५—स्थूल-सूक्ष्म-कारण मेरु से	१६४

आवरण तीन भागों में विभक्त

**आवरणतन्त्र में राजनीति**

१६६—१७४ पयन्त

१—भारतीयदण्डविधान	१६६
२—दण्डप्राण	"

विषय	पृष्ठसंख्या
३—धृतिप्राण	"
४—समप्राण	"
५—दण्डप्राणमूलकदोषविवेचन	१६७
६—धृतिप्राणमूलकदोषविवेचन	"
७—समप्राणमूलकदोषविवेचन	"
८—वसिष्ठविरुद्धसंवाद	१६८
९—त्रिदोषसमष्टि	"
१०—'अतिसंज्ञापातकनीपस'	१६९
११—दण्डविधान में मनोवृत्ति की प्रधानता	"
१२—बधदण्ड विधान	१६९
१३—भारतीय दण्डशास्त्रों का स्वरूप	१७०
१४—ज्योतिर्विचर	१७१
१५—प्रकाश जीवन का सापक	"
१६—प्रकाश के अभाव में मृत्यु	१७२
१७—पञ्चमोक्षिरय पुरुष	"
१८—महर्षि अत्रि और असुर	१७३
१९—असुरों का 'अधीस' यन्त्र	"
२०—दण्डविधान, एवं दण्डशास्त्र से राष्ट्र का अमृत्यु	१७४

विषयोपसंहार

## आवरणतन्त्र में धर्मनीति

१७५—१८८ पर्यन्त

विषय	पृष्ठसंख्या
१—उपसंख्यतिक्रम राजनीति	१७५
२—उबा की संध्यातिक्रम धर्मनीति	"
३—आत्मघाती मनुष्य	"
४—मन्त्रार्थ	१७६
५—सौरसंस्कृत	"
६—दोकादोस्त्याम	१७७
७—असुखलोक	"
८—आत्मघात महापातक	"
९—आत्मघात से उद्धार अंशमय विषयोपसंहार	१७८

## आवरणतन्त्र में विज्ञाननीति

१७९—१८१ पर्यन्त

१—सत्यविषयआत्मघाती	१७९
२—श्रेष्ठिर्नपथात्मा	"
३—अपमय की संस्था	१८०
४—चतुर्थाभिमतक प्रजापति	"
५—सर्वप्रोक्त भूतसर्वा	१८१
६—एक का इद विबभूष सर्वम	१८३
७—नानाभाव की उपपत्ति	"
८—आत्म को आहत करने वाली- भूतसृष्टि	१८५

## विषय

## पृष्ठसंख्या

१—जीवसंग्रहमानुसार आवरण की क्रमिकवृद्धि	१८६
२—आवरण के उपक्रम-उपसंहार स्वान	१८७
३—मनुष्ययोनि में प्रजापरायण	१८८
४—आवरण की वृद्धि	"
५—बधन-मुक्ति साधक कर्म	१८९
६—शुद्धरोहितिकर्त	१९०
७—आत्मा को आहत करने वाले पाप्मा	१९१
८—जीवमुक्त महापुरुष	"
९—मुक्त निष्कर्मकर्मयोगी	१९२
१०—अक्षरूप से अन्वयपर्यन्त विषयोपसंहार	१९५

## तृतीयमन्त्रभाष्यसमाप्त

## मन प्राणवाक् के त्रिवृद्वाश की व्यापकता

१९५—२२७ पर्यन्त

१—उपसंख्यतिक्रम की प्रजापरायण	१९७
२—पञ्चमहात्मिका	१९८
३—प्राणमूर्ति सत्यम्	१९९
४—वेद, सत्य, निष्कर्मता	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६—स्वप्नभू में मनप्राणवाक्मय- अव्यय क्त भोग	२००	२७—वाङ्मय इ अक्षर	२०७
६—अङ्गुलि—परमेष्ठी	"	२८—प्राणमय-द-अक्षर	"
७—इडा-उक्-गौ	"	२९—मनोमय-मम् अक्षर	२०८
८—परमेष्ठी में म.प्रा वा.अ का भोग	"	३०—इडात्रयी-वाक्प्रपञ्च	"
९—वाङ्मय सूत्र	२०१	३१—उक्त्रयी-प्राणप्रपञ्च	२०९
१०—ज्योति गौ, आशु,	"	३२—भोगत्रयी-मनप्रपञ्च	"
११—मूष में म प्रा वा अ क्त भोग	"	३३—वाङ्मय-अस	"
१२—अङ्गुलि—चन्द्रमा	२०२	३४—प्राणमयी-गौ	२१०
१३—रेत-अज्ञा-पर	"	३५—मनोमयी-अज्ञा	"
१४—चन्द्रमामें मन प्रा वा अ का भोग	"	३६—वाङ्मयी-आप	"
१५—अस्मादमयी—पुषिर्वा	"	३७—प्राणमय-विराट्	२११
१६—वाक्-गौ-घौ	२०३	३८—मनोमय-रस	"
१७—पृ में म प्रा वा अ का भोग	"	३९—वाङ्मय-अभि	२१२
१८—वेदत्रयी अक्षप्रपञ्च	"	४०—प्राणमय-मृत	"
१९—सूत्रत्रयी—प्राणप्रपञ्च	२०४	४१—मनोमय-मधु	२१३
२०—निपत्तित्रयी—मनप्रपञ्च	"	४२—वाङ्मय-ज्योति	"
२१—वाङ्मय-अक्षप्रपञ्च	"	४३—प्राणमय-गौ	"
२२—प्राणमय-यजुप्रपञ्च	२०५	४४—मनोमय-आप	२१४
२३—मनोमय—सामप्रपञ्च	"	४५—वाङ्मय-अग्नि	"
२४—वाङ्मय—सत्यसूत्र	"	४६—प्राणमयी-विष्णु	२१५
२५—प्राणमय—अनसूत्र	२०६	४७—मनोमय-आदिस	"
२६—मनोमय—अनसारासूत्र	"	४८—वाङ्मयी-अमुदुहित	२१६
		४९—प्राणमयी-इन्द्रमन्त्र	"



विषय	पृष्ठसंख्या
१०—मनोमयी-आदिस्वरसंज्ञा	२१६
११—बाह्यमयी-गायत्री	२१७
१२—प्राणमयी-त्रिपुष्प	"
१३—मनोमयी-अक्षी	२१८
१४—बाह्यमयी-रेत	२१९
१५—प्राणमयी-परा	"
१६—मनोमयी-अपदा	"
१७—बाह्यमयी-सोम	२२९
१८—प्राणमयी-नाभानेरिष्ठ	"
१९—मनोमयी-द्विरप्य	"
२०—बाह्यमयी-सुरा	२२१
२१—प्राणमयी-पशु	२२०
२२—मनोमयी-सोम	"
२३—बाह्यमयी-पाली	२२३
२४—प्राणमयी-आप	"
२५—मनोमयी-तेज	"
२६—बाह्यमयी-बाह्यप्रपञ्च	२२४
२७—मौखिकी-प्राणप्रपञ्च	"
२८—पुत्रिकी-मनप्रपञ्च	"
२९—बाह्यमयी-सूक्तिकी	२२५
३०—प्राणमयी-त्रिपुष्प	"
३१—मनोमयी-अक्षी	२२६
३२—बाह्यमयी-पृथिवी	२२७

विषय	पृष्ठसंख्या
३३—प्राणमयी-अक्षी	"
३४—मनोमयी-सौ	"

### प्रकरणोपसंहार

२०८—२३४

१—सर्वभूत-मिथ्यात्वनिवृत्ति	२०८
२—पादुकायुक्त-मिथ्यात्वनिवृत्ति	"
३—पञ्चाहुतिविज्ञान	२२९

### विषयोपसंहार

— ० \* —

### मन्त्रयात्मकपुरुषात्माधिकरणा

समाप्त

१

— ० \* \* —



प्राकृतात्माधिकरण—२

२३५ से अन्यसमाधिपयन्त

प्राकृतात्माधिकरण में—

अन्यक्तात्माधिकरण

विषयोपक्रम

२३५—२४२ पर्यन्त

विषय

पृष्ठसंख्या

१—प्राकृतात्माधिकरणोपक्रम	२३५
२—प्रकृति की अन्यक्त-व्यक्तत्वसा	२३७
३—पुरुष और प्रकृति का अन्त	"
४—प्राधान्यको का विशेष	"
५—विषय के चार विधियाँ	२३८
६—अमृतसत्त्वा (पुरुष)	"
७—असात्त्वा (प्रकृति)	"
८—शुक्तसत्त्वा (विद्युत्)	"
९—विद्युत्सत्त्वा (विकार)	"
१०—बारी सत्त्वार्थों का अन्त	"
११—पुनरुत्पत्तिदोषहरण	२३९
१२—दोष का परिहार	"
१३—माय्यसम्बन्ध में लोककृति	२४०
१४—सिद्धाज्जोक्त	"
१५—उपसंहार	२४२

अन्यक्तात्माधिकरण म

चतुष्पादब्रह्म का निरूपण

२४३—२७८ पर्यन्त

चतुष्पादब्रह्मनिरूपण में—

अमृतात्मसंस्थाधिकार

२४३—२८६ पर्यन्त

अमृतात्मसंस्थाधिकार में—

निर्देशोपनिर्दिष्टि

२४५—२५६ पर्यन्त

विषय

पृष्ठसंख्या

१—अमृतशब्द निर्वचन	२४५
२—मूलाकार अमृतसत्त्वा	"
३—पदार्थों के विशेषभाव	"
४—सामान्य-विशेष भाव की व्यापकता	२४६
५—परमसामान्यता परमविशेष	२४७
६—अमृतशब्दों के दर्शन	२४८
७—अमृतसंस्था में विशेषभाव	२४९
८—मेदमूलक विशेषभाव	२५०
९—अमेदमूलक विशेषभाव	२५१
१०—विद्यार्थी निर्देशोपनिर्दिष्टि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
११—मेदत्रपशून्य निर्बिरोध	२५२	१६—सृष्टि वैविध्य	२६०
१२—निर्बिरोध के नामान्तर	२५३	१७—रस की दो व्यवस्था	२६१
१३—उपसंहार	२५४	१८—निष्कल परात्पर	"
<b>अमृतात्मसंस्थाधिरण में</b>		१९—परत्परसम्बन्ध का निष्कल	"
<b>परात्परनिरुक्ति</b>		२०—अनन्त पर (अमृत) अभिहास	"
<b>२५५-२६४ पर्यन्त</b>		परात्पर	
१—निर्बिरोध से परात्पर का उदय	२५५	२१—परमेष्ठ परात्पर	"
२—निर्बिरोध परात्पर का सकल व्यवहार	"	२२—आत्म्या परात्पर	"
३—नित्य-अनित्यभाव की व्यापकता	"	२३—व्यापक परात्पर	२६३
४—शरीर भातृओं का परिवर्तन	२५६	२४—समासीय, निवासीय, अज्ञ- मेदसून्य परात्पर	"
५—'स एवाय' प्रथमिज्ञा	"	२५—'निति नेति' परात्पर	"
६—कार्यक्रम के प्रयोग का कारणक्रम	२५७	२६—शुद्धानभिहत परात्पर	"
में अनतिरेक		२७—अच्छाहमनसगोचर परात्पर	"
७—बसों का आनन्द	"	२८—भूमा-विद्य-अविद्यमान	"
८—१६ बसकरोर	"	२९—अव्ययविनयपरात्पर	"
९—बसों का परात्पर में सम्बन्ध	"	३०—परमभूमा परात्पर	"
१०—बसों का साहचर्य	२५८	३१—परम अक्षिया परात्पर	"
११—बसकरोरान्ध्रिय परिलेख	२५९	३२—भूमाविद्यमान विद्य	"
१२—'तमसो या स्योतिर्गमय'	"	३३—अनन्तप्रसादभाक्त परात्पर	२६३
१३—रामानुजि परात्पर	२६०	३४—परात्पर के नामान्तर	२६४
१४—सर्वबसोपपन्न परात्पर	"	उपसंहार	
१५—आदिष्टविप्रकर्षक परात्पर	"		

# असृतात्मसंस्थाधिकारमें

## पोडशीपुरुष

२६५—२=६ पर्यन्त ।

विषय	पृष्ठसंख्या
१—सृष्टिप्रवर्तक विधिसम्बन्ध	२६५
२—कामना की प्रतिष्ठा	"
३—असृगसृष्टि असृष्टि	"
४—सगुण-साकार माय	२६६
५—योग-याग सम्बन्ध	"
६—संपरबध	"
७—प्रबोधादकसम्बन्ध	"
८—संसृष्टिसङ्घण सम्बन्ध	२६७
९—बलों का योग नियोग	"
१०—बलों का प्रन्निबधन	"
११—महामाया का आश्रय	"
१२—सर्वप्रवर्तिका महामाया	२६८
१३—माय्यवसफोश का स्वरूप	"
१४—माय्य की सद्-असद्-सदसद्विभक्त्यता	"
१५—सदस्वसङ्घण्येय माय्य	२६९
१६—मायी महेश्वर	"
१७—माय्यपुर	"
१८—कुत्रद्रूपत्व	२७०
१९—अनापनन्तसृष्टिप्रवाह	"

विषय	पृष्ठसंख्या
२०—सृष्टि का उपक्रम	२७०
२१—नासरीयस्तुक्त	"
२२—सृष्टिविषयक प्रश्न	२७१
२३—महा की तपश्चर्या	"
२४—सृष्टितत्व की अविज्ञेयता	२७२
२५—सर्व सृष्टिकर्ता की भी अविज्ञेयता	२७३
२६—अस्तिप्रश्न	"
२७—रेखाकूप मायापुर	२७४
२८—पुर में सोनें बाठा पुरुष	२७५
२९—पुरुषशब्दनिर्वचन	"
३०—माया और प्रकृति का पार्थक्य	"
३१—पुरुषपुरातन की वधू	"
३२—शक्तिश्रयी	"
३३—देवश्रयी	२७६
३४—वसुधैवकुटुम्बक इत्य	"
३५—रसगर्भितवसुधैवकुटुम्बक इत्य	"
३६—अक्षर-आत्मक्षर का विक्रम	"
३७—अम्यक्तस्वरूप	"
३८—निष्कृतपुरुष	२७७
३९—रसगर्भित वसुधैव	"
४०—वसुधैव कुटुम्बक इत्य	"
४१—इदमन्विमृशा सृष्टि	"
४२—इदमन्विमिमोक्षसाधुमि	"

विषय	पृष्ठसंख्या
४१—समन्वय	— २७८
४४—मुमुक्षुस्य निर्वर्तक	— " "
४५—प्रवर्तक सिद्धदायक	— " "
४६—त्रिकल पुरुष	— " "
४७—विद्याया-कामाया-कर्माया	— " "
४८—आनन्दचित्ति	— २७९
४९—विद्यानचित्ति	— " "
५०—प्राणचित्ति	— २७९
५१—शक्ति	— " "
५२—मुमुक्षुविमूर्ति	— " "
५३—सिद्धदाविमूर्ति	— " "
५४—उदासीनकदासीनम्	— " "
५५—किटाया की अविमलता	— " "
५६—अमपशब्द निर्वचन	— २८०
५७—अग्निगर्ही अक्षमा	— " "
५८—योद्धशीपुरुष और उस की	— " "
५९ कठार्य	— २८१
५९—सत् में अस्तत् का अर्थ	— " "
६०—अधोऽहोऽप्रसिद्ध	— " "
६१—विशेष अर्थाधीनपद	— २८२
६२—अपमपुरुष	— " "
६३—अमपपुरुष	— " "
६४—उचमपुरुष	— " "

विषय	पृष्ठसंख्या
६५—पर-अपर-परिपर	— २८३
६६—सेतुराज्य	— " "
६७—गुणोष्णपोषणी	— " "
६८—उपास्यपोषणी	— २८४
६९—अमपपुरुष के नामाक्षर	— २८५
७०—अक्षरपुरुष के नामाक्षर	— " "
७१—आत्मपुरुष के नामाक्षर	— " "
उपसंहार	— २८६

अमृतारमसंस्थाधिकार

समाप्त



# चतुष्पाद्व्रद्ध निरूपण में ब्रह्माधिकार

१

- ८७ - ३३० पर्यन्त

विषय	पृष्ठसंख्या
१—विष्वातीत अक्षयमक्षर	२८६
२—विष्वाशब्द निर्वचन	"
३—अक्षय्य ऋषि विष्वातीतता	"
४—अक्षर ऋषि विष्वातीतता	"
५—आयमक्षर ऋषि विष्वातीतता	"
६—भिष्य प्रविष्ट पोटगी	"
७—ज्ञानमूर्ति अक्षय्य (मनप्रधान)	"
८—विष्वामूर्ति अक्षर (प्राणप्रधान)	"
९—अर्धमूर्ति आयमक्षर (अक्षय्यप्रधान)	"
१०—ब्रह्मोपनि	३२०
११—ब्रह्मा ष १ मुग	"
१२—अक्षर द्वार ष १ मुग ष १ अक्षर	"
१३—अक्षरमुग ब्रह्मा अक्षर उतर्ध सृष्टि	"
१४—आयमक्षर विष्वा सृष्टिप्रारम्भ	२२२
१५—आयमक्षर सृष्टि	"
१६—आयमक्षर सृष्टि	"
१७—आयमक्षर सृष्टि	"

विषय	पृष्ठसंख्या
१८—आयमक्षर	- २६१
१९—आयमक्षर	"
२०—आयमक्षर	२६०
२१—आयमक्षर	"
२२—आयमक्षर	"
२३—सृष्टि परिसर	"
२४—अक्षर विष्वा सृष्टि	२६३
२५—अक्षर विष्वा सृष्टि	२६४
२६—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
२७—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
२८—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
२—'सा फाद्या सा यग गति'	२६५
३०—अक्षर विष्वा सृष्टि	२६६
३१—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
३२—अक्षर विष्वा सृष्टि	२६८
३३—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
३४—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
३५—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
३६—अक्षर विष्वा सृष्टि (उत्तर अक्षरमयी)	२६९
३७—अक्षर विष्वा सृष्टि (उत्तर अक्षरमयी)	"
३८—अक्षर विष्वा सृष्टि	३००
३९—अक्षर विष्वा सृष्टि	"
४०—अक्षर विष्वा सृष्टि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—जगतीष्टन्द में जगत् प्रतिष्ठित	३००	६३—ईश्वरप्रजापतिरवसाधम्य	३०५
४२—आत्मन्की प्रजापति	३०१	६४—प्रतिमाप्रजापतिरवसाध-य	"
४३—दशककविराट्	"	६५—इन्द्रप्रजापतिरव, ईश्वरानुगतत्व,	"
४४—कूर्म अक्षर	"	जीवानुगतप्रजापतिरवसाधम्य	"
४५—आत्मविद्य का अनुमाहक	"	६६—अमयन्, अम्ययन्, अक्षरन्,	"
४६—'सिद्धि सर्वम्'	३०२	आत्मक्षरत्व साधम्य	"
४७—असा-आधमाध	"	६७—पुरुषत्वसाधम्य	"
४८—'पुरुष एवेद सर्वम्'	३०३	६८—पराप्रकृतिरव साधम्य	"
४९—'ब्रह्मण्य वा इदं सर्वम्'	"	६९—अपराप्रकृतिरव साधम्य	३०६
५०—प्रथमसृष्टि (२ विमत्ता)	३०४	७०—प्रकृतिविद्वृत्तिरव साधम्य	"
५१—द्वितीयासृष्टि (३ विमत्ता)	"	७१—विकृतिरवसाधम्य	"
५२—तृतीया सृष्टि (५ विमत्ता)	"	७२—जीवन साधम्य	"
५३—चतुर्थीसृष्टि (५ विमत्ता)	"	७३—ईश्वरप्रजापति	"
५४—अविद्यानमस	"	७४—ईश्वरविद्यानमसप्रतिमप्रजापति	"
५५—इन्द्राक्षर	"	७५—जीवप्रजापति	३०७
५६—आत्मसाधम्य	"	७६—प्रतिविद्यप्रजापति	"
५७—आत्मप्रमस	"	७७—सत्य-अमृतमाध	"
५८—स्यक्तव्यरवसाधम्य	३०८	७८—'सत्य ज्ञानमनन्त मस,	३०८
५९—अम्यक्तव्यरवसाधम्य	"	७९—'सृष्टिपम्' शब्द	"
६०—आत्मरव, पौष्टशक्यरव, एकत्वसाधम्य	"	८०—सम्प्रशब्द रक्षत्य	३०९
६१—विद्यारवसाधम्य	"	८१—कर्म-तप-अय	"
६२—प्रजापतिरवसाधम्य	"	८२—अय-गुण-विकार	३११
		८३—तपोरव	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८४—परिभ्रमसङ्ख्य प्राण्य	३१२	१०७—प्रज्ञानन	"
८५—धमसङ्ख्य वाक्	"	१०८—पञ्चजन	३२२
८६—परिधमी	"	१०९—पञ्चीकृतपञ्चजन	३१३
८७—धमत्रीषी	"	११०—सुवशब्द	"
८८—निर्जीव	३१३	१११—हस्तशब्द	"
८९—चेतन—अचेतनमावपीर्मासा	"	११२—अस्त्रविक सवहुतयज्ञ	"
९०—सर्वभ्यापक चित्तम्	३१४	११३—सान्यप्राणारि	३२५
९१—उत्पन्न—अर्क—अशिति	३१५	११४—महापपत्	३६
९२—'ब्रह्म' शब्द का अर्थ	३१६	११५—पञ्चायतीम्वनत्वा	"
९३—ऐक्यव्यक्तिसुख (निर्विकल्प)	३१७	११६—गुञ्जनोत्पत्ति	३२६
९४—शाश्वतवर्म, परस्पर)	"	११७—ब्रह्मा का विषय	३२८
९५—अभ्ययपुरुष	"	११८—आत्मसुखपञ्चसमह ताखिकर	३२९
९६—अनृताक्षर	"		
९७—ब्रह्म—क्षर	"		
९८—मूत्रप्रकृति (अविहृति)	३१८		
९९—प्रहृतीविहृती	"		
१००—विहृती	"		
१०१—पुरुष	"		
१०२—'एकोऽहं बहु स्याम्'	३२०		
१०३—प्रथमत्र ब्रह्म	"		
१०४—विषसद्रमह	"		
१०५—सर्वहुतयज्ञ	३२१		
१०६—जनत्—मातृ—	"		

विषयोपसंहार

ब्रह्मसंस्थाधिकार समाप्त

१





## चतुष्पादब्रह्मनिरूपण में शुक्राधिकार

३

३३७—३४६ पद्यन्त

विषय	पृष्ठसंख्या
१—आत्मज्ञान की शुक्रता	३३७
२—दर्शन	
३—पादब्रह्मनिरूपण प्रथम	"
४—वाक्-आप-आग्नि-आमि-आम-वाक्	"
५—पदार्थ का स्वरूप	"
६—विद्वद् ब्रह्म ( २ कल )	३३४
७—वाक शुक्र	"
८—उप्य-आकाश-विद्यया मद्	३३५
से वाक् के तीन विकर्त	३३६
९—आप शुक्र के तीन विकर्त	"
१०—आग्निशुक्र के तीन विकर्त	३३७
११—शुक्र तासिका	"
१२—उप्यपदार्थ आत्ममय	
१३—शीतपदाप	
१४—अनुप्यागीतपदार्थ वाक्मय	
१५—भूमिपद वाक्मय	३३८
१६—वाग्मयिण आग्नेमय	"
१७—सूर्यपिण्ड आग्निमय	"

विषय	पृष्ठसंख्या
१८—सर्वशुक्रप्रपत्ती	३३८
१९—सौर अमृताग्नि अपुताग्निशुक्र	"
२०—परमेष्ठी अमृतत्वशुक्र	३३९
२१—सकम्भू अमृतवाक्शुक्र	"
२२—अनाहत मान	"
२३—शुक्रविभूति का साक्षात्कार	३४० ४१
२४—शुभ-कृष्ण-पूरित	३४२ ४४
२५—शुक्रसम्बद्ध तासिका	३४५

विषयोपसंहार

शुक्रसंस्थाधिकार समाप्त

३

## चतुष्पादब्रह्मनिरूपण में

विश्वाधिकार

४

३४७—३८० पद्यन्त

१—महेश्वरप्रजापति ब्रह्म	३४९
—तीन पाद	"
२—एक पाद	"
३—पतङ्गे तद	"
४—जगत् के शिर अक्षर	३५०

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६—घनाने के लिए उपादानद्रव्य	२५०	२१—'पुच्छ प्रतिष्ठा' ( पुच्छप्राण )	३५७
७—घनाने योग्य व्यापार	"	३०—सप्तपुरुषधी	३५८
८—घनाने बाधा	"	३१—धीधारक ( सरदार )	"
९—प्राणी प्रजापति	"	३२—धीकारक ( साक्षर )	"
१०—विवर्त्ता प्राण	३५१	३३—अर्वाग्विष्ठ ऊर्ध्वमुख कटोर	"
११—सङ्घस्य असत्प्राण	"	३४—कटोरि में रख्खा हुआ यशोवीर्य	३५९
१२—परोरबाप्राण	"	३५—सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति	
१३—आप्यप्राण	"	परिच्छेद	३६०
१४—ऐन्द्रप्राण	"	३६—उसुग्धमाद्यपन्न सप्तर्षिप्राण	३६१
१५—आग्नेयप्राण	"	३७—उदुसुग्धमाद्यपन्न सप्तर्षिप्राण	"
१६—सौम्यप्राण	"	३८—सद्विषष्टभावापन्न सप्तर्षिप्राण	"
१७—अपिप्राण	३५२	३९—वेद-विद्या-ब्रह्म	३६३
१८—अपिप्राणों का आनन्द	"	४०—अपराविद्या	"
१९—अपिराग्य निर्बन्धन	"	४१—पराविद्या	३६४
२०—अपि-पितर देव-दानव	"	४२—स्यगन्धू	३६५
२१—अपिप्राण की पूर्वाक्स्था	३५३	४३—विद्यकला ( रथकार )	६६
२२—सप्तर्षिप्राण	३५५	४४—आभूप्रजापति	३६७
२३—प्राणों का समिन्धन	"	४५—सृष्टिविर्कर्त्ता	"
२४—नष्पप्राण	"	४६—'शिसत्प्या वै देवाः'	"
२५—सप्तभावप्रकृतक सप्तर्षिप्राण	३५६	४७—वेदप्रपी	३६८
६—सप्तपुरुषात्मक प्रजापति	"	४८—सोकप्रपी	"
२७—'घरवार आत्मा' ( आत्मप्राण )	३५७	४९—प्रभाप्रपी	"
२८—'द्वौ पक्षौ' ( पक्षप्राण )	"	५०—वीर्यप्रपी	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
११—पशुदयी	३६१	७४—सिंहगृह्य	३७७
१२—प्रभापति की तीन साहसिए	१	७५—ब्रह्माली	३७८
१३—वेणादियरिहोत्र	५	७६—सन्नी	३७९
१४—'पाङ्गा बै यत्रा'	३७०	७७—ईरकी	"
१५—'महा वा इदमप्र आसीत्'	१	प्रकरणोपसहार	-
१६—ब्रह्मप्रधानस्यपम्	"	चतुष्पाट्नक्षत्ररूपणाधिकार	
१७—त्रिप्युप्रधान—परमेष्ठी	३७१	समाप्तः	
१८—इन्द्रप्रधान—सूय	१		
१९—अग्निप्रधान—पृषिणी	१	अव्यक्ताधिकरणमें वेदनिरुक्ति	
२०—सोमप्रधान—वसिष्ठा	"	३८१—पयन्त	
२१—सुबभिमन्मन्तपम्	५		
२२—मयाङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७२	१—निरुपपन्न क ६ पूर्व	३८३
२३—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७३	—वेदनिर्मूलि	"
२४—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७४	३—विषयसम्बन्ध	३८४
२५—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	"		३८५
२६—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	७२	४—उपसम्पिषवेदोपक्रम	३८६
२७—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	१	५—वेदशब्दनिर्घण	"
२८—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७५	६—सपिचदानगदधनवेद	३८७
२९—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	"	७—उपसम्पिषवेद	"
३०—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७६	८—वेद—विद्या—महा	३८८
३१—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७७	९—आत्मकर्मसम्बन्धचतुष्टयी	३८९
३२—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	"	१०—विद्याविधत्	३९०
३३—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	"	११—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३९१
३४—अपृताङ्गप्रपञ्चतास्त्रिक	३७८	१२—वेदनिर्घण	३९२

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३—संस्कारप्रपञ्च	४००	२१—धार्मिकदृष्टि और उसकी मीमांसा-	४०६-४०७
१४—गुण ब्रह्म	४०१	२२—पदकसविभूति	४०८
१५—त्रयो वेदा	"	२३—पूर्वोत्तरभाव	"
१६—त्रयीविद्या	"	२४—इदंत्व-अन्यथात्व	४०९
१७—प्रयोगमिमतमौलिकप्रपञ्च	४०२ ४०३	२५—वस्तुद्विपत्ति-वस्तुगति	"
१८—उपसम्भिवेदोपसंहार	४०३	२६—ब्रह्मस्वरूप	४१०
१९—द्विपत्तिप्रतिबन्धणवेदोपक्रम	"	२७—आत्मवृत्तिवेद	४११
२०—विरचनानटक के दा अभिनेता	४०४	२८—वेदोपसंहार	"
		२९—प्रकरणसंगति	४१२-४१६

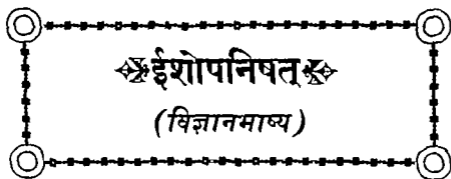
## प्रथमखण्डसमाप्त

१





॥ ॐ तत् सद् ब्रह्मणे नम ॥



निधुंसीद गगापते गगेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कषीनाम् ॥  
 न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मधुषश्चित्रमर्च ॥ १ ॥  
 एक एवामिर्वहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनुप्रभूत ॥  
 एकैवोषा सर्वमिदं विभाति एक वा इदं विवभूव सर्वम् ॥२॥

१—इ गगापते ! आप गगो में (मरुत्यों में एव स्तोत्रमयों में) निरुजिए । क्योंकि (विद्वान् लोग) आप ही जो कृषियों के मन्त्र में ब्रह्म सेवानी समझते हैं । अग्निच आपके बिना दूरका चपका समीपका कोई भी कार्य नहीं किया जासकता । (इस सिद्धि सही कर्मों के धारणमें आपका प्रथम स्वरूप निरालम्ब अपेक्षित है ।) हे मरुतीय गगापते ! विद्वत्-पञ्चबरा-सप्तबरा-एकद्वीरा-विषय-वचस्मिन्ना आदि विविध स्तोत्रों से कुछ महामहिसराणी अथवा विद्वानोंकी दृष्टिमें आत्तरणीय जो इत्याय स्तोम (अपैठरी) है उसे आप निरालम्ब पूर्व करनेको दृष्टा करै ॥ १ ॥ अन्व. १२१२ १२२१।४”

२—एकही अक्षितल (अन्वोमेदके अरथ) गार्हपत्य आहुतनीच इच्छिवा आत्मतप्य अन्व विष्णवा आमात्, अम्पत् आदि अनेक कर्मोसे प्रवृत्तित हो रहा है । एकही सूर्य विरथापसहित अरुणर जगत में नियुक्ति सम्बन्ध से प्रकृत हाअर ठग ठग पर जो ना अन्वा बनता हुआ नाबामाओंमें परिवर्त हो रहा है । तैत्त योजन पर्यन्त आपकी अक्षितल रक्षनेवाणी सूर्योक्ते २ योजन अक्षितल अक्षित आपनी स्थिति रक्षनेवाणी उपाकृतनी अक्षितल एकही उपाकृतनी उपाकृतनी के अक्षिते माना रूप अरथ पर सर्वत्र प्रकृतित हो रही है । माना मेरु सिद्ध बहारा प्रपञ्च एकही ब्रह्मण वैसर्ग है । एकही अक्षितल उपाकृति मेरुत अक्षितल अरथ पर सर्वत्र नियुक्ति सम्बन्ध से व्याप्त हो रहा है ॥ २ ॥ अन्व. १२२२

यो ब्रह्मण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥  
त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणं प्रपद्ये ॥ ३ ॥

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वा पशवो मनुष्या ॥  
'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'सानो हव जुपतामिन्द्रपत्नी ४

वागक्षरं प्रथमजा श्रुतस्य वेदानां माताऽश्रमृतस्य नामि ॥  
सानो जुपाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥ ५ ॥

१—यो वाचविभन् पुत्रव (सुधिसाम्यनते) सर्वप्रथम प्रथिय लक्ष्य बतुर्वृष ब्रह्मणे उत्पन्न करताह जा वेदान्त  
पुत्रव ब्रह्मणे सिध (सुधिसाम्यनपूत) ब्रह्मणे अर्पित करताह प्रकृत्या नाम से प्रथिय मन एवं विज्ञानाग्या  
नाम से प्रथिय बुद्धि के प्रकृतस्वरूप उठी बचनी मे मुमुक्षु शरणमे जाताह ॥ ३ ॥ 'स्वेताश्वतर  
उप १।'

२—यह—बह—वाचिल मेरुमिभ ३३ सो वाचैव देवता सम्युर्ध्व मीन्वरेवता अर्धदेवता अन्वरेवता, मन्वरेवता  
अमियान्देवता पुत्रविभ वेतल प्रायिदेवता अग्नि लनी देवता पुरयव वाक् तत्त्वना आश्रय मानि कर ही  
जैवितहे । २० अक्षर ३ पद्य अक्षर सप्त वाक् की प्रथिय बन्ध कर ही स्वरूपमे अर्पितहे । पू पुत्र-  
सव नह अनत् उप सत्यव—बह सारे भुवन (लोक) वाक् मे ही समर्पितहे । (इस प्रकार जो वाक्स्वर  
सर्वप्रथम इराह है ।) इन्द्रपत्नी नामने प्रथिय बह वाक्देवी (इत्यरे इस वाक् पद्यमे) इयाही पुत्रव सुने ॥॥  
'तं अ २।५ २

३— वाचमिन्द्रि (वे—वै—वै—इति) म्यबद, वाचिसंभ्यवाम्" एरावत के वाक् ? (शिव्य अ ५।१३)  
इत श्रीमिन्द्रिगत के अनुगत वाक् म्य प्रकारवस निरा वाचस्वरूप वागव्य अठठयमे सर्वप्रथम उत्पन्न  
हुवाह । अतएव बह वाक् अतही प्रथमजा कहलाती ह । नही वाक् अनन्त बहोमी याठह त्वपूत की ब्रह्मि  
है । ऐसी बह वाक्देवी प्रथम इती हुई इत्यरे इस वाक् ब्रह्मन पच्छरि । अर्पित इयाही रचा करने ब्रह्मा यह  
वाक्देवी इयाही वाचना सुने ॥ ३ ॥ तं अ २।५ २

एषोऽगुरात्मा वेतसा वेदितव्यो 'यस्मिन् प्राणा पञ्चधा सविवेश'  
 प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजानां यस्मिन् विशृद्धे विभवत्येष आत्मा ॥६॥  
 ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पवि ॥  
 सर्वस्यै वाच ईशाना 'चारुमामिह वादयत्' ॥ ७ ॥

विश्वदृष्टि से अनेककक्ष, विश्वरमदृष्टिसे त्रिकक्ष, एव विश्वातीतदृष्टिसे निष्कक्ष, जिस सच्चिदानन्दधन ब्रह्मतत्त्वमें पांच प्राण निरूप्य प्रतिष्ठित रहतेहैं, एव पञ्चप्राणोपेत जो ब्रह्मतत्त्व अपने सुदृक्स्वरूपमें प्रसिद्ध होता हुआ विरवात्मा बनकर सम्पूर्ण विरवका सत्तासन करता हुआ 'ईश' नामसे प्रसिद्ध होरहाहै, उसी विश्वम्यापक किंवा सर्वम्यापक, सर्वधर्मोपपन्न सगुणमूर्ति ईशकक्ष स्मरण करते हुए 'ईरोपनिषत्' का विज्ञानभाष्य प्रारम्भ किया जाताहै। यह उपनिषत् ईश

१—शास्त्रीपुत्रक भाषसे प्रसिद्ध जित अक्षयतत्त्वमें प्राण—आप—वाङ्—अन—महात् यह पांच प्राण निरूप्य समव्यष्ट रहतेहैं दूसरे शब्दोंमें एक ही प्राणतत्त्व उपरोक्त पांच स्वरूप धारण कर (पंचधा विभक्त होकर) जिसमें प्रविष्ट होगयाहै वह पञ्च अन्त्या निचक्रात परिचालना चाहिये। प्राणधृक्के इत जितमें सारी प्रजाओं का विश्व मोत होरहाहै सर्वज्ञ जो सबका हृदय है उसी की शिक्षावा करनी चाहिये। बुद्धियोगात्तु विशुद्धचेता पुत्रक यह अक्षयतत्त्व अपने विभूतिभावमें प्राजाताहै। अपने व्यापक स्वरूपमें परिवर्त होजाता है ॥ ६ ॥  
 'इरोपनिषत् १—२—३ ।

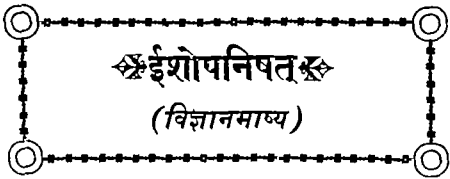
२ उपनिषदोंके आद्यन्तमें मंगल पाठ क्यों किया जाताहै ? उपनिषत् शब्दका क्या अर्थहै ? औपनिषत् ज्ञानका अधिकांश कौनहै ? ब्राह्मण—आरण्यक—उपनिषत्—इन तीनोंमें परस्पर क्या सम्बन्धहै ? उपनिषदोंमें क्याहै ? क्या उपनिषत् वेदहै ? उपनिषत् हमें क्या सिखातीहै ? औपनिषत् ज्ञानके प्रकर्षक कौनसे ? क्या एकेन्दर वादका उपनिषत्काहसे सम्बन्धहै ? विज्ञानभाष्यकी आकरयकता क्यों हुई ? उपनिषत् विभिन्न अर्थका ही निरूपण करतीहै अथवा प्रतिपाद्य विषय भिन्न भिन्न है ? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिए हमारा सिद्धा हुआ "उपनिषदोंकी भूमिका" नामका निबन्ध देखना चाहिये। इस भूमिकासे प्रायः सभी उपनिषदोंका वास्तवार्थ विदित होजाता है। औपनिषद्ज्ञानके विज्ञानधृष्टोंकी परिभाषाओंसे परिचय प्राप्त करनेके लिए विज्ञानभाष्यके साथ साथ भूमिकाभागका भी संग्रह करना चाहिये। पृथक्क्या अधिका (प्रायः २) होनेसे उसका प्रकाशन स्वल्प रूपसे ही हुआ है। लेखक ..



की ही उपनिषद् बतलाती है। निम्नसिद्ध विज्ञानसिद्धान्तको ही 'उपनिषद्' कहते हैं। यौक्तिक सिद्धान्तके आधार पर हमारा मन यज्ञासूत्र द्वारा प्राप्तम्पतत्वके सुनीप विध्यमकर जाग्राह, दूसरे शब्दोंमें जिस तत्वके परिज्ञानसे हमारा आत्मा उस प्राप्तम्पकी ओर मु है, वही उस कर्मकी उपनिषद् है। इन सब विषयोंका भूमिस्थ प्रकरणमें विस्तारसे किया जानुचाहै। अतः प्रकृतमें सिद्धोपेयणकी आवश्यकता नहीं है। प्रकृतमें केवल समझनेना पर्याप्त होगा कि उपनिषद् पुस्तकका नाम नहीं है, अपितु विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषद् क्योंकि इसी विज्ञानसिद्धान्तके आधार पर हमारा आत्मा उस विज्ञानमनके साथ मार्गान् प्राप्त होनेमें समर्थ होताहै। बात यथार्थ है। यदि किसी विषयका हमें विज्ञानसिद्धान्त होताहै, दूसरे शब्दोंमें यदि उस विषयकी उपपत्ति (यौक्तिकरहस्य) हम जानां सुतरां उसकी ओर हम आकर्षित होताहै। यज्ञोपनिषत् क्यों पहिना चाहिए ? इस सम्यक् समाधान देनेवासा विज्ञानरहस्य ही यज्ञोपनिषत्की उपनिषद् हैं। जिसके लिए मापमें 'मि-सपल' शब्द प्रयुक्त हुआहै यावनीमाया जिसे 'उच्छ' कहती है, का 'उपनिषद्' है। इसी परिभाषा के अनुसार सर्वशरता ईशकी उपनिषद् बतल हमारी उपनिषद् 'इशोपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध होरही है। बस्तुतः शास्त्रप्रणालीकी से इसका नाम 'बाजसनेयोपनिषद्' समझना चाहिए। यजुर्वेदकी १०१ शाखा एक शाखा 'बाजसनेय' नामसे प्रसिद्ध है। यह उपनिषद् बाजसनेय वेत्का अन्तिम पल' इसका उपगोक्त नामही न्यायप्राप्त है।

उपलब्ध होनेवाली उपनिषदोंमें आर्चिकिन पहिला स्थान इसी उपनिषद् को वि है। इसका क्या कारण ? क्यों इसे पहिली उपनिषद् माना गया ? इसके उत्तरमें कहेंगे कि उपनिषद् वास्तव में वेदका ही एक अंशन अङ्ग है। उपनिषद् वेद ही है यावको प्रकृत करनेके लिए ही अग्निने इसे पहिला स्थान दियाई। अपनी अन्त्यहतां यज्ञब्राह्मणयौववनामधयम् (आपारतम्भ भा सू २७।१।२१), मन्त्रब्राह्मण इसाचक्षुने (बोवापन गृह्यसूत्र १।१।२) 'आध्यायः पुनमन्त्रास्य ब्राह्मणानि च ( सूत्र १।३ ) इत्यादि अनेकमात्र सिद्धान्तोंकी व्यवहृतना कर जो महाब्रह्मण विधिभाग (

॥ ॐ तत् सद् ब्रह्मणे नम ॥



निषुंसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कधीनाम् ॥  
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मधवश्चित्रमर्च ॥ १ ॥  
एक एवाभिर्वहृधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनुप्रभृत ॥  
एकैवोपा सर्वमिदं विभाति'एक वा इदं विवभ्रूव सर्वम्' ॥२॥

१—ई गणपते! आप गर्वों में (सब गणों में एक स्तौतार्थों में) निराजिए। क्योंकि (विद्वान् लोग) आप ही को कर्मियों के सम्बन्ध में ब्रह्म मेव ही समझते हैं। अभिषेक आपके बिना दूरका जगत्वा समीपका कोई भी कार्य नहीं किया जासकता। (इस लिए सभी जगत् के आत्म में आपका प्रथम स्वरूप निरूपित आपेक्षित है।) हे मङ्गल गणपते! शिव-सम्बद्ध-सप्तवरा-एकविंश-विचर-त्रयस्त्रिंशत् आदि विविध स्तौतों से कुछ महामहिमरूपी अतएव विद्वान् लोग द्वेषित आदित्य के समान स्तौत (अर्चण) हैं। वैसे आप निर्दिष्ट पूर्व करनेकी इजा करे ॥ १ ॥ 'बृहत् १२।१।११।१२'।

२—एकही अधित्य (ब्रह्मदेवके कारण) गार्हपत्य आहुतियों कथिष्या आत्मसम्बन्ध सम्बन्ध सम्बन्ध आदि अनेक कर्मोंसे प्रवृत्त होता है। एकही पूर्व त्रिकालकालित जगत्पर जगत् में विद्युति सम्बन्ध से प्रसिद्ध जगत् जगत् सब पदों का आत्मा बनता हुआ आत्मामात्रोंमें परिणत होता है। तीन योजन पर्यन्त आपकी ध्याति रखनेवाली पूर्व से १ योजन पर्यन्त और आपकी ध्याति रखनेवाली उपरान्तकी अधित्य एकही उपरान्त उपरान्त के मेवसे आत्मा रूप आत्मा पर सर्वत्र प्रकल्पित होता है। आत्मा मेव सिद्ध पर आत्मा प्रकल्प एकही आत्मा कैवला है। एकही अन्ततः उपरान्त मेवसे अनेककल्प आत्मा पर सर्वत्र विद्युति सम्बन्ध से प्रकल्प होता है ॥ २ ॥ 'बृहत् १।१२।२१'।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥  
त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणां प्रपद्ये ॥ ३ ॥

वांच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ॥  
'वाचीमा विश्वा मुवनान्यर्पिता'सानो हव जुपतामिन्द्रपत्नीध

वागत्तरं प्रयमजा श्रुतस्य वेदानां माताऽश्रमृतस्य नाभि ॥  
सानो जुपाणोपग्रन्नाभागादवन्ती देवी सुहृवा भेऽस्तु ॥ ५ ॥

१—जो ध्यानविषय पुत्र (सृष्टिकाममाने) सर्वप्रथम प्रतिष्ठा करके चतुर्विध ब्रह्मणे उल्लेख करताई जो ब्रह्मण्ड  
पुत्र ब्रह्मके विषय (सृष्टिसाधनमूत्र) देवारा धरित करताई, ब्रह्मनामा नाम ही प्रसिद्ध यत्र एव सिद्धात्मना  
नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकृतस्वरूप उसी देवकी भी मूमुक्षु शरणावे जाताह ॥ ३ ॥ श्वेतप्रबल  
पृष्ठ ३११ "

२—इह-इह आदिना श्वेतप्रबल ३३ वां आदिप देवता सम्पूर्ण सौम्यदेवताः कर्मदेवता धामदेवता मन्त्रदेवता  
धर्मियान्द्रिवताः पुत्रपतिव शैतल आदिदेवता आदि सभी देवता पूज्यमान वाहू शरणा आवास काल कर ही  
अर्पितई । २७ गणकी ५ पद्य मनुष्य सब वाहू ही प्रतिष्ठा कथा कर ही स्वरूपमें प्रतिष्ठितई । मू मू  
इह यह जनक एव कल्पय-यह सारे पुत्र (सौत्र) वाहू ही समर्पितई । (इस प्रकार जो बालक  
सर्वत्राण्ड होरहा है ।) इन्द्रपत्नी नामसे प्रसिद्ध वह आदिदेवी (इससे हम वाहू कहयें) इसी पुत्र हर्षे ॥३॥  
ते वा २।१०२

३— वाचमिन्द्रि (वै-व-वै-इन्द्रि) स्पष्ट, वाचिलेकमकार् "प्राणय वै वाहू" (गणक वा ३।१०२)  
इस ब्रह्मण्डान्त के अनुसार वाहू रूप प्राणरत्न किवा अपरलक्ष्य वाहूक आत्मने सर्वप्रथम जन्मक  
रूपई । अतएव यह वाहू अतरी 'प्रथमया' आदिगी है । वही वाहू अन्त वैदकी यथाह (पृष्ठ ३३) यमी  
ई । इसी वाहू नाम्नेरी प्रथम हीरी हुई इत्ये इह वाहू यममें पकर । अर्पित इनाही तथा करी काली यह  
वाचिकी इतरी आर्षना एवै ॥ ५ ॥ ५१ वा २।१०२

एषोऽगुरात्मा वेतसा वेदितव्यो 'यस्मिन् प्राणा पञ्चधा सविवेश'  
 प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येव आत्मा ॥६॥  
 श्रोत्रापिधाना नकुली दन्तै परिवृता पवि ॥  
 सर्वस्यै वाच ईशाना 'चारुमामिह वादयत्' ॥ ७ ॥

विश्वरूपि से अनेककक्ष विद्यारम्भदृष्टिसे प्रिकस, एव विश्वातीतदृष्टिसे निष्कस, जिस सञ्चि-  
 दानन्दधन ब्रह्मतत्वमें पांच प्राण नित्य प्रसिष्ठिन रहतेहैं, एव पञ्चप्राणोपेत जो ब्रह्मतत्व अपने  
 सुपुरुषमें प्रविष्ट होता हुआ विश्वात्मा बनकर सम्पूर्ण विश्वकक्ष सञ्चालन करता हुआ 'ईश'  
 नामसे प्रसिद्ध होरहाहै, उसी विश्वम्यापक किंवा सर्वव्यापक, सर्वधर्मोपपन्न सगुणमूर्ति ईशकक्ष  
 स्मरता करते हुए 'ईरोपनिपत्' का विज्ञानमाध्य प्रारम्भ किया जाताहै। यह उपनिपत् ईश

१-—राश्रीपुत्र नामसे प्रसिद्ध त्रिय आत्मतत्वमें प्राण-वायु-बाहू-अक्ष-अक्षर, यह पांच प्राण मिल समविष्ट  
 रहतेहैं दूसरे शब्दोंमें एक ही प्राणतत्व उपरक पांच स्वरूप धारण कर (पञ्चधा विभक्त इत्तर) विभक्त  
 प्रविष्ट होगयी वह पांच आत्मा निरुद्धाए पहिचानता जाहिए। प्राणमूलके इत जिसमें सती मन्त्राद्यो अ  
 विच मोत होरहाहै अर्थात् जो सञ्चका इतर ई उसी की विज्ञाना करनी जाहिए। बुद्धिपुत्रका विशुद्धवेता  
 पुत्रका वह आत्मतत्व अपने विशुद्धिमाध्य धारणाहै। अपने व्यापक स्वरूपमें परिवर्त होजाताहै ॥ १ ॥  
 'सुपुरुषोपनिपत् १-१-१ ।

२ उपनिपदोके आचरन्तमें मंगल पाठ क्यों किया जाताहै ? उपनिपत् शब्दका क्या अर्थहै ? औपनि-  
 पत् ज्ञानका अभिधारी कौनहै ? ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिपत्-इन तीनोंमें परस्पर क्या सम्बन्धहै ? उपनि-  
 पदोंमें क्याहै ? क्या उपनिपत् वेदहै ? उपनिपत् हमें क्या ठिकतादीहै ? औपनिपत् ज्ञानके प्रवर्तक कौनसे ?  
 क्या एनेश्वर वादका उपनिपत्कालसे सम्बन्धहै ? विज्ञानमाध्यकी आवश्यकता क्यों हुई ? उपनिपत्  
 विभिन्न अर्थका ही निरूपण करतीहै अथवा प्रविगाय विषय मिष्ट मिष्ट है ? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके  
 लिए हमारा शिक्ता हुआ "उपनिपदोकी भूमिका" नामका निबन्ध देखना जाहिए। इस भूमिकाले प्राण-  
 सभी उपनिपदोका तात्पर्यार्थ विधि होजाता है। औपनिपदज्ञानके विज्ञानुद्योको परिमाणाज्ञोसे परिचय  
 प्राप्त करनेके लिए विज्ञानमाध्यक साथ साथ भूमिकामागका भी संभव करना जाहिए। पृष्ठसंख्या अधिक  
 ( प्राणः २ ) होनेसे उसका प्रकाशन स्वहन्व रूपसे ही हुआ है। श्लोक

की ही उपनिषद् बतलाती है। गिम्सिड विज्ञानसिद्धान्तको ही 'उपनिषद्' कहते हैं। जिस मौखिक सिद्धान्तके आधार पर हमारा मन अज्ञासूत्र द्वारा प्राप्तभ्यतम्बके समीप विषयरूपसे बैठ-जाता है, दूसरे शब्दोंमें जिस तत्त्वके परिज्ञानसे हमारा आत्मा उस प्राप्तभ्यकी ओर मुक्तता है, वही उस कर्मकी उपनिषद् है। इन सब विषयोंका भूमिका प्रकरणमें विस्तारसे निरूपण किया जा चुका है। अतः प्रकृतमें विशेषणकी आवश्यकता नहीं है। प्रकृतमें केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि उपनिषद् पुस्तकका नाम नहीं है, अपितु विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषद् है। क्योंकि इसी विज्ञानसिद्धान्तके आधार पर हमारा आत्मा उस विज्ञानधनके साथ सामीप्यभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है। बात पर्याप्त है। यदि किसी विषयका हमें विज्ञानसिद्धान्त माहुर हो जाता है, दूसरे शब्दोंमें यदि उस विषयकी उपपत्ति (मास्तिक्तरहस्य) हम जानसत हैं तो सुतरां उमकी ओर हम आकर्षित हो जाते हैं। यज्ञोपनीत क्यों पहिना चाहिए ? इस क्यों का सम्यक् समझान करनेवाला विज्ञानरहस्य ही यज्ञोपनीतकी उपनिषद् है। जिसके लिए पाश्चात्त मापामें 'पिन्सपस' शब्द प्रयुक्त हुआ है पाश्चीमाया जिसे 'असूत' कहती है, वही हमारी 'उपनिषद्' है। इसी परिभाषा के अनुसार सर्वथास्ता ईशकी उपनिषद् बतलाने वाली हमारी उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध हो रही है। वस्तुतः शास्त्राभ्यासीकी अपेक्षा से इसका नाम 'राजसनेयोपनिषद्' समझना चाहिए। पञ्चवेदकी १०१ शाखाओं में से एक शाखा 'राजसनेय' नामसे प्रसिद्ध है। यह उपनिषद् राजसनेय वेदका अन्तिम भाग है। अतः इसका उपरोक्त नामही न्यायप्राप्त है।

उपलब्ध होनेवाली उपनिषदोंमें आनदिन पहिला स्थान इसी उपनिषद् को दिया जाता है। इसका क्या कारण ? क्यों इसे पहिली उपनिषद् माना गया ? इसके उत्तरमें हम यही कहेंगे कि उपनिषद् शास्त्र में वेदका ही एक प्रधान अङ्ग है। उपनिषद् वेद ही है, इस वेद भागको प्रकट करनेके लिए ही अग्निने इसे पहिला स्थान दिया है। अपनी अल्पज्ञाताके कारण 'मन्त्राभ्यासयोपवनामधयम्' (आपरतम्ब भा सू० २७।१।३१), 'मन्त्राभ्यास वेद इत्यापस्तम्बे' (बोधायन गृहसूत्र ३।१।२) 'आज्ञायाः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौटिलिक सूत्र १।३) इत्यादि श्लोकरूपतः मित्रालोक्ये अत्र हेतुना च जो महातुगाय विविभाग (शास्त्र),

आरण्यक भाग पथ उपनिषत् भाग को साक्षात् वेदन मान कर केवल वेदकी व्याख्या मानने का अनुचित साहस करते हैं, वे भी उग्रसम्ब यजुर्वेद संहिता को अरण्य ही वेद मानते हैं। यजुर्वेद संहिता के ४० वें अध्याय का ही नाम 'ईशोपनिषत्' है, यह भी सुविदिन है। सायणी ४० वां अध्याय आज्ञादिन उपनिषत् सम्प्रदायमें 'ईशोपनिषत्' नामसे प्रसिद्ध है, इसमें भी किली को विप्रनिपत्ति नहीं है। इस उपनिषत् साक्षात् वेद है, इस सनातन सिद्धांतको दृढ़ कर देनेके लिए ही संहिताभागभूत ईशोपनिषत् को उपनिषत् गणनामें पहिंचा स्थान मिला है।

अपिच—भूमिकाभागमें यह बिस्तारसे बतसाया जाचुका है, कि समी उपनिषदोंमें प्रबान रूपसे 'अप्यात्मवद' का निरूपण किया गया है। दूसरे शब्दोंमें उपनिषदोंमें प्रबान रूपसे जीवात्माका ही निरूपण है। प्रजापरायके कारण निस्वशुद्ध—विसुद्ध—विसुद्ध ईश्वरके अग्रभूत अतएव तद्रूप जीवात्मा पर अविद्या—अभिज्ञता—रागद्वेष—अभिनिवेश इन अविद्यामूसक दोषोंका आक्रमण होता है। इसने शुद्ध भी जीवात्मा मेवाहत मूर्खके समान तमसे आहत होजाता है। समी उपनिषत् इन आक्रमणमूसक अविद्यामाशोंको दूर करनेका उपाय बतसाती है। उन उपायों के द्वारा जीवात्मा अपने आगन्तुक शैवोंको हटाकर निभूत चिन्तित्व होता हुआ—

“यथादकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम” ॥

(इशोपनिषत् १।१६.)

इस सिद्धांतक अनुसार उस अग्रभूत शुद्धस्वभावक तममें लीन होजाता है। ईश तत्त्व संपर्क, सगुणिक है सगुणिक है। तदग्रभूत जीव अत्यदृष्ट, अत्यशक्ति है नियतार्थिक है। “या वै भूमा तत्र मूर्खम् । नारुप सुखमस्ति । भूषण सुखम्” (छां० उ० ७।२।१) “यदा दृश्य पतन्निन्दुदग्मन्तरं कुम्भ-प्रय गम्य मय भवति” (तै० उ० ७।१) इत्यारिणे अनुसार अपने भूमाभाषमें पृथक् जानना जीवात्मा दृग पाया करता है। इस दृग्गते शुद्धगता पानय एकमात्र उपाय है—अन्तर्मुखि—सुषुप्तस भवत्स्वरूप

ईश्वरतत्त्वको प्राप्त कर बैठमानसे अलग होना । जीवात्मा क्यों उसे प्राप्त करने का कठिन प्रयास करे ! इसकी उपनिषद् नहीं ईश्वर है । ईश तत्त्व स्वयं पैदा है—अतः जीवात्मा को अन्तर ही उसकी आराधना करनी चाहिए ।

“तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” (यजुः ११।१८) के अनुसार मृत्युरूप, अन्तर मयस्वरूप अन्तर य सर्वथा हेय विश्वबन्धन को तोड़नेके लिए मुमुक्षु को अन्तरही उसकी ओर झुटना चाहिए । इसके अतिरिक्त बन्धन तोड़नेका कोई साधन नहीं है । प्रश्न होता है कि जिसे हम आत्मतत्त्व हुआ निवृत्तिके लिए प्राप्त करना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या है ? वस जो मन्त्र इस प्रश्नका समाधान करता है दूसरे शब्दों में जिसमें ईशकी उपनिषद् का विरूपण है वही हमारी ‘ईशोपनिषद्’ है । जीवोपनिषद्के परिचयानसे पहिले जीवात्माकी प्रतिष्ठाका ईशोपनिषद् को जानना पहिला एव मुख्य कर्तव्य है । जिस सुखादुःखका मनुष्य रसास्वादन करना चाहता है उस फलकी ओर प्रवृत्ति करानेके लिए पहिले फलका स्वरूप उसके सामने रक्खा जाता है । अनन्तर उसे प्राप्त करनेकी योग्यता उस मनुष्य में उत्पन्न करा जाती है । मूलके आचारसे ही शास्त्रों पर आरोहण किया जा सकता है । ईश जीवात्मा का मूल है । अन्तरमय उस मूलका वल है । वलसे पहिले मूलज्ञान अपेक्षित है । इसी रहस्यको सचपने रक्षकर ईशकी उपनिषद् बतलाने वाली ईशोपनिषद् को पहिला स्थान दिया गया है । ईश्वर पूर्ण है जीव अर्द्ध है । अन्तरमय पूर्ण-रूप बतलानेवाली प्रकृत उपनिषद् को हम ‘पूर्णोपनिषद्’ भी कह सकते हैं । इसप्रकार इसे ‘ईशोपनिषद्’ ‘आजसनेयोपनिषद्’ ‘भूलोपनिषद्’, ‘पूर्णोपनिषद्’ ‘सर्वोपनिषद्’ आदि विविध नामों से व्यवहृत किया जा सकता है । अन्तरमय सनातनमन्त्रोंका अनुगमन करते हुए हम ही पहिले ‘ईशोपनिषद्’ का ही स्वरूप उपनिषद् प्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं ।

कृता प्रथियों की हवा से प्रकृतमें आए हुए जितने भी उपनिषद् ग्रन्थ आजकल उपलब्ध होते हैं उनमें विषय विभागका सचपा अभाव है । इस विप्रतिपत्तिकर, जहातक हम ठीक समझने हैं परी करण प्रतीत होता है कि सभी उपनिषदों को प्राचीन आचार्यों

एकमात्र अक्षरपद आत्माका प्रतिपादक माना है। इनकी दृष्टिमें उपनिषदोंमें, अद्वैतमूलक मायातीत रसस्वरूप शुद्ध निर्विशेषका ही निरूपण है। अस्तु इन विषयोंका विषय निरूपण मूमिका मागके 'उपनिषदों में क्या है' ? इस प्रश्नके समाधानमें किन्ना जातुका है। यहाँ हमें केवल यही बतसाना है कि—हमारे तुच्छ विचार से सभी उपनिषत् निर्धर्मक—बिक्स—निरम्बन—इतारीत—विश्वातीत अन्वय भाष्यनस पयातीत, अतएव 'सर्वया शास्त्रानविहृत चेति—नेति' शब्दसे उपबर्णित किसी अगम्य तत्त्वका निरूपण न कर (जिसका कि निरूपण करना यत्किञ्चिद्विदुः पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में अपनी शक्ति रखनेवाले शब्दशास्त्र के सामर्थ्य के बाहरकी बात है) मिन मिन सखपद आत्माओं का ही निरूपणकरती हैं। गूढेत्मा—अप स्तात्मा—महानात्मा—विज्ञानात्मा—प्रज्ञानात्मा—प्राज्ञात्मा—धैर्यात्मा—धैर्यानरात्मा—यथात्मा—भूतात्मा—इसात्मा आदि शब्दोंसे अग्यात्मगतमें अनेक सखपदात्माओं का समावेश है। जीवत्मा एक आत्मा नहीं अपितु अनस्यसिधियोंकी तरह 'आत्मप्राम' है। किसी उपनिषत् में गूढेत्माका निरूपण है। किसीमें प्रज्ञानात्मा की प्रधानता है। कोई महानात्माको प्रधान मान कर ही आगे चसता है जैसा कि भूमिब्रह्ममागमें स्पष्ट करणिया गया है।

अब नि निरूपणकी विषयोंका मद है, तो एसी अत्रस्यामें सभी उपनिषदोंमें विषय विभाग सर्वया अपेक्षित होजाता है। इसलिए उपनिषदर्पनिरूपण से पहिले हम विषय विभाग ही उपन्यस्त करेगे।

पूर्वोक्त परिभाषाके अनुसार इस उपनिषत् में 'इश' का निरूपण है। सप्तवितस्ति का योग्य सर्वेश्वरक उदरम सभी सखपदात्माओं का समावेश है। उन सखपदात्माओं की त्रिम क्रम से ब्रह्ममें रिपति है, उसी क्रमसे उनका निरूपण धियागया है, जैसा कि विषयविभाग से स्पष्ट होजायगा। आगे आनेवाली सखपदात्मप्रतिपादिका सभी उपनिषदोंका इस उपनिषत् में सकोरसे विश्रुत है। इसी तयवाक्यके सद्यमें रणजत दमने इने 'सर्वोपनिषत्' कहा है। सखपदात्मगत ईशान अशुभूत श्रीगामा में उन सखपदात्माओं का योंका यों समावेश है। अग्यात्मगत सखपदात्माओं का मूल—ईश्वरस्य सखपदात्मा है। प्ररत उपनिषत् में उर्दी मूलतयोंका



निरूपण है। अतएव हमने इसे 'मूलापनिषत्' नाम से व्यपहृत किया है। हमारा विश्वास है, कि यदि आपने इस उपनिषत् को यथावत् अध्ययन कर लिया तो आगेकी सारी उपनिषदें गतार्थ होजायगी। इसमें जिन विषयों का संक्षिप्त निरूपण है, आगे की उपनिषदों में उन्हीं का उपबृंहण है। आगेकी उपनिषदें भिन्न भिन्न अर्थों का निरूपण करती हुई परस्परमें सर्पभा भिन्न हैं, परन्तु यह उपनिषत् सर्वोपनिषत् होने से सबके लिए अभिन्न है समान है। जो यहाँ है वह अन्यत्र है। जो यहाँ नहीं, वह अन्यत्र नहीं।

उपनिषदों को सामने रखते हुए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उपनिषदों में संघर प्रतिसंघर भावों को प्रधान मानते हुए ही स्व स्व निष्पत्तय निरूपण किया है। एक तत्वको मूल मानकर अनेक की ओर ध्याना संचर पद्य है। इस पद्यमें एकत्र उद्देश्य है, अनेकत्र विधेय है। ठीक इससे किछि अनेक भावों को सक्षय बना कर अन्तयोग्य एक तत्व पर विभाम करना 'प्रतिसंघर पद्य है। इस पद्य में अनेकत्र उद्देश्य है, एकत्र विधेय है। 'ब्रह्मेण सर्वम्' यह वैगमिक बचन संघर पद्य का निरूपण करता है "ब्रह्मही सब कुछ बना है"—इसमें 'एकदेशाद्वितीय ब्रह्म' इस बचन के अनुसार ब्रह्मण्य सत्वातीय-वित्रातीय स्वागत भेद से रक्षित होना हुआ एक है। वही एक 'एक वा इदं विबभूवसर्वम्' इस श्रुति के अनुसार सब कुछ बन गया है अर्थात् एकहीने नानारूप धारण करलिया है। यही संघर पद्य है। एक—"सर्वं सस्मिन् ब्रह्म" यह महा वाक्य प्रतिसंघर पद्य का अनुगामी है। यह सबकुछ इरपमान प्रपञ्च यही ब्रह्म है" इससे अनेक पर एकत्रकय स्थापन है। यही प्रतिसंघरपद्य है। एक ब्रह्म से नानामात्रोपेत विद्य कैसे बनजाता है! इसका उचर संघरविद्या है। अनेक मात्रोपेत विद्य अस्तित्व एक भावमें कैसे परिच्छत होजाता है! इसका उचर 'प्रतिसंघर' विद्या है। संघरमें विद्यकी प्रधानता है। अतएव यह विद्यविद्या किंवा उचरविद्या है। क्यों कि यौक्तिक प्रपञ्च का ही नाम विद्य है। एव "उचरः सर्वोऽस्ति भूतानि" इस सृष्टि के अनुसार चरतत्त्व ही भूतसङ्घ है। प्रतिसंघरमें ब्रह्मकी प्रधानता है। अतएव यह ब्रह्मविद्या किंवा उचरविद्या है। सर्पभा विमल यौक्तिक परमाशुभों पर एकत्ररूप से प्रतिष्ठित रखने वाला साक्षीभूत अचर ही है। इसीलिए सृष्टिने 'कृत्स्नोऽसुर उचरते' (गीता) यह कहा है।

यही दोनों विद्याएँ उपनिषदोंमें क्रमशः पराविद्या-अपराविद्या नामसे व्यवहृत हुई हैं। संघर मूला विद्यविद्या किंवा अविद्या, अपराविद्या है। प्रतिसंघरमूला ब्रह्मविद्या किंवा अविद्या विद्या पराविद्या है। इन्हीं दोनों भाषोंमें सद्यमें रखकर उपनिषद कहती हैं—

“द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो-  
वदन्ति—पराचैव, अपरा च । तत्र अपरा ऋग्वेदो-  
यजुर्वेद ० । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते” ॥

( मुण्डकोपनिषत् १।१ ४५ ) इति ।

विद्यस्वरूप कृतत्व मरणवर्मा है। ब्रह्मस्वरूप अक्षरत्व निर्यहै कारण स्वरूप एकत्वमात्र अप्रमत्त मूलक है। अनेकत्व मृत्यु निबन्धन है। ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव परयति’ ( ऋ० ) के नुसार नानामात्र ही मृत्युका स्वरूपलक्षण है। उपरोक्त कथनानुसार यही अप्रमत्त है, यही मृत्यु है। विद्यावत्या मृत्यु है, विद्यातीतावत्या अप्रमत्त है। कार्यावत्या मृत्यु है, अकार्यावत्या अप्रमत्त है। दोनों ही अक्षर हैं दोनों ही अक्षर हैं। एक विद्यामूर्ति है, एक विद्यामूर्ति है। इसी रहस्यका निरूपण करते हुए महर्षि श्वेतारवर कहते हैं—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहते यत्र गूढे ।  
क्षरत्वविद्या ह्यमृत तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य ॥

( श्वेता० उप० ५ अ० १ म० )

उपरोक्त मन्त्रमें ‘यस्तु माऽन्यः’ से अन्यय पुरुषकी ओर संकेत किया जाता है, जो कि अन्यय पुरुष कारण-कार्य दोनों अक्षरभावों में प्रयुक्त रहता हुआ, अतएव संघर प्रतिसंघर क्रममें अमरिन्द्र रहता हुआ आत्मन्वन रूपसे प्रतिष्ठित रहता है।

संघर आगनि पक्ष है, प्रतिसंघर गतिपक्ष है। पुराणभाषा के अनुसार सग ( सृष्टि ) मगरपक्ष है, प्रतिसग ( प्रलय ) प्रतिसृष्टा पक्ष है। दर्शनभाषा के अनुसार निश्चल संघर पक्ष है,

... ..  
 ... ..  
 ... ..  
 ... ..  
 ... ..  
 ... ..  
 ... ..  
 ... ..  
 ... ..

ज्ञान तेऽह मचिदानमिदं वक्ष्याम्यशेषत ।  
 यज्ञज्ञात्वा नेह भूयाऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥१॥

चरप्रपत्र

- १ अरिवा
- २ मृत्यु
- ३ असव
- ४ तमः
- ५ संवरः
- ६ सर्गः
- ७ विज्ञानम
- ८ समूतः
- ९ ग्रहणम्
- १० प्रागति

... ..  
 ... ..

... ..  
 ... ..  
 ... ..

... ..  
 ... ..

... ..  
 ... ..

हृद्ग्रन्थिवन्धनम्  
 विषय

हृद्ग्रन्थिविषयं  
 विषय

उपनिपदोंमें इन्हीं उपरोक्त दोनों पक्षोंका आश्रय लिया है । कहीं सचर पक्षको उपक्रम मानकर प्रतिसचर पक्ष पर उपसहार किया है, कहीं प्रतिसचरको उपक्रम मानकर सचर पर उपसहार किया है । कहीं दोनों ही भाषोंका समावेश है । जैसाकि सप्तदुपनिपदों में स्पष्ट होनायगा ।

प्रकृत उपनिपदमें उपरोक्त दोनों पक्षोंमें से सचरपक्षको ही प्रधानता दी गई है । एकत्र भाषापक्ष द्वयको उपक्रम मानकर क्रमशः विघ्नसंस्थाओं की ओर जाते हुए पृथ्वी पर उपसहार किया गया है, जैसाकि विघ्नसंस्थित विषयविभाग से स्पष्ट होजाता है ।

## विषयविभाग प्रदर्शन

अथ

अमृतसन्नेयोपनिपत्

ओं पूर्णामद पूर्णामिद पूर्णात् पूर्णामुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णामादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्ति । शान्तिः ॥ शान्ति ॥

अमृतात्मनि दिविधसत्पात्मनिरुक्तिरीशोपनिपत्

तमाद्य ब्रह्मवत्पात्रे पदात्मानः

१-विषाकर्म्ममयं पुरुषो गृहोत्मा= 'अमृतात्मा'

१ ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्या जगत् ॥  
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृध कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ज्ञान प्रतिचक्र पद्य है । उपनिषद् भाषा के अनुसार समूनि सचरपद्ये, विनाश प्रतिचक्र पद्य है । पद्यभाषाके अनुसार आत्मान संचर पद्ये, विसर्ग प्रतिचक्र पद्ये । व्यवहारभाषाके अनुसार प्रहृष्ट संचर पद्ये परिस्वाग प्रतिचक्र पद्ये । साधारण भाषाके अनुसार आगति सचरपद्ये, गति प्रतिचक्र पद्ये । सूत्र सोषिए, सूत्र इष्टिए, सर्वत्र उपरोक्त इन्हीं दो भाषों का साम्रान्य मिलेगा । यदि आपने आत्मब्रह्म के इन दोनों रहस्यों को यथावत् जानलिया तो सबकुछ जानलिया । फिर सर्वज्ञता में बाकी क्या बचताहै । इसी सचर प्रतिचक्र रहस्य का निरूपण करते हुए पुरुषोत्तम कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीटा ७-२)

त्तरप्रपञ्च

अत्तरप्रपञ्च

१ अविद्या

२ सृष्ट्युः

३ असत्

४ तमः

५ संचरः

६ सर्गः

७ विज्ञानम्

८ समूतः

९ प्रहृष्टम्

१० आगतिः

अविद्या-सृष्ट्युः-असत्-तमः-संचरः-सर्गः-विज्ञानम्-समूतः-प्रहृष्टम्-आगतिः

अविद्या-सृष्ट्युः-असत्-तमः-संचरः-सर्गः-विज्ञानम्-समूतः-प्रहृष्टम्-आगतिः

अविद्या-सृष्ट्युः-असत्-तमः-संचरः-सर्गः-विज्ञानम्-समूतः-प्रहृष्टम्-आगतिः

विद्या

अमृतम्

सत्

व्यातिः

प्रतिचक्रः

प्रतिसर्गः

ज्ञानम्

विनाश

परिस्वागः

गतिः

हृद्प्रान्थिवन्धनम्

विश्वम्

हृद्प्रान्थिविमोक

प्रस

उपनिषदोंने इन्हीं उपरोक्त दोनों पक्षोंका आश्रय लिया है। कहीं सचर पक्षको उपक्रम मानकर प्रतिसचर पक्ष पर उपसंहार किया है, कहीं प्रतिसचरको उपक्रम मानकर सचर पर उपसंहार किया है। कहीं दोनों ही भागोंका समावेश है। जैसाकि तत्त्वदुपनिषदों में स्पष्ट होजायगा।

प्रकृत उपनिषद्में उपरोक्त दोनों पक्षोंमें से सचरपक्षको ही प्रधानता दी गई है। एकत्र मावापन्न ब्रह्मको उपक्रम मानकर क्रमशः विभ्रसत्स्याओं की ओर जाते हुए पृथ्वी पर उपसंहार किया गया है, जैसाकि विभ्रसत्सित विपयविभाग से स्पष्ट होजाता है।

## विषयविभाग प्रदर्शन

अथ

### अमृतसन्नेयोपनिषत्

ओं पूर्णामद पूर्णामिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णामादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्ति । शान्ति ॥ शान्ति ॥

अमृतात्मनि द्विविधसत्त्वात्मनिरुक्तिरीशोपनिषत्

तत्राप्य ब्रह्मसत्त्वाच्चरे पदात्मानः

१-विषाकर्ममय पुरुषो गृहोत्सा=“अमृतात्मा”

१ ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ॥  
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृध कस्य सिद्धनम् ॥१॥

- २ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ॥  
 एवं त्वयि नान्ययेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥
- ३ अस्वुर्या नाम ते लोका अन्धेन तममावृता ॥  
 तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥३॥

२-ब्रह्मसायाहर स्वयम्भूः" अम्यक्त वा "सत्याहमा"

- १ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुषन् पूर्वमर्षत् ॥  
 तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

समग

धमृतात्मना सह यद्यमस्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्—

- १ तद्देजति तन्नेजति तदद्वेरे तदन्तिके ॥  
 तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥५॥
- २ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ॥  
 सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगृप्सते ॥६॥
- ३ यस्मिन्त्मर्षाणि भूतानि आत्मैषामृद् विजानत ॥  
 तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यत ॥७॥

१-ब्रह्मसत्याक्षर "परमेष्ठी" "महान्" वा सत्यात्मा ।

१ स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमत्रणामस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।  
कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यधाच्छ्राश्रवती  
भ्यःसमाम्य ॥८॥

२-ब्रह्मसत्याक्षर "सूर्यः" "बुद्धि"र्वा-सत्यात्मा ।

१ अर्धं तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।  
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥ ९ ॥  
२ अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।  
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥ १० ॥  
३ विद्या चाविद्याच यस्तद् वेदोभयं सह ।  
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

४-ब्रह्मसत्याक्षर "चन्द्र" "मनो" वा-सत्यात्मा । ४ ।

१ अन्व तम प्रविशन्ति येऽसम्मृत्तिमुपासते ।  
ततो भूय इव ते तमो य उ संमूर्त्या रताः ॥ १२ ॥  
२ अन्यदेवाहु संभवादन्यदाहुरसभवात् ।  
इति शुश्रुमधीरणा ये न स्तद् विचचक्षरे ॥ १३ ॥



३ संभृतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।  
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभृत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

६-देवसत्यापदो वैश्वानर दिग्गयगम सबहो वा—

वैश्वानर-नैबल-प्राज्ञो वा त्रिचक्षुः सत्यात्मा ।

१ द्विरगमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।  
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥  
२ पूषन्नेर्कोपे यम-सूर्यं प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।  
समूह तेजो, यत्ते रूप कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥  
योऽसावसौ पुरुष सोढमस्मि ॥ १६ ॥  
३ वायुरनिलममृतम् ॥ १७ ॥

७-महासत्यापदः “पूषवी” शरीर-ईस-कर्मात्मा वा सत्यात्मा ।

१ अघेद भस्मान्तं शरीरम् ।  
कृतो स्मर, कृत स्मर । कृतो स्मर, कृतं स्मर ॥ १८ ॥

८-भमयोः सत्यात्मनोरगिता सह-ऐक्यस्यम् ।

धग्ने नय सुपया रायेऽस्मान् विश्वानि देष षयुनानि विद्वान् ।  
पुयोष्यस्मज्जुहुराग्नेनो भूयिष्ठां ते नम उर्किं विधेम ॥१९॥

ध्रौ पूर्णामद् पूर्णामिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावाशिष्यते ॥

ध्रौ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

उपनिषत् वेदका अन्तिम भाग है । अतएव यह 'वेदान्त' नामसे प्रसिद्ध है । उपनिषत् से पहिले क्रमशः आरण्यक, ब्राह्मण, संहिता, यह तीन विभाग और हैं । संहिताभाग 'मन्त्र' नामसे प्रसिद्ध है, एव ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, इन तीनोंकी समष्टि 'ब्राह्मण' नामसे व्यक्त होती है । उपनिषत् ज्ञानकाण्ड है, आरण्यक उपासनाकाण्ड है, एव ब्राह्मण कर्म काण्ड है । इन तीनों मूलभूत संहिताभाग में क्रमशः विज्ञान, सृष्टि, इतिहास, इन तीन काण्डों का समावेश है । मूलभूत संहिताभाग के उपबृहत्का ही नाम ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् है । ऐसी अवस्था में यह मानलेना पड़ता है कि ब्राह्मणादिमें भी कर्म—उपासना—ज्ञान इन अपने अपने प्रधान नियमों के साथ साथ विज्ञान, सृष्टि, इतिहास इन तीनों काण्डोंका भी समावेश है ।

“अथ हैन कौसन्ध्यान्वमायमः पप्रच्छ” (प्रश्नोपनिषत् ३ प्र०) ‘अथ हैनं सौर्ष्या यशी गाग्यः पप्रच्छ” (प्रश्नोपनिषत् ४ प्र०) “अथा इ तद्गीये कुशभा वसुधुः” (छा० उ० ७।८ ख० १ क०) ‘ज्ञानश्रुतिश्च पौत्रायश्च श्रद्धादेया बहुदायी बहुपापय धास” (छा० उ० ४ प्र० १ ख० १ क०) इत्यादि रूपसे उपनिषदों में इतिहास का भी समावेश है ।

‘य एषासातपति तमुद्गीयमुपासीत” (छा० उ० ३।१।१) ‘नमो ब्राह्मण नमस्ते वापा” देवानामसि बद्धितमः (प्र० उ० २।८) इत्यादि रूपसे सृष्टिकाण्ड का भी सम्बन्ध है ।

एवं तीसरे विज्ञानकण्ड के विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं है। सर्वमूलभूत ब्रह्मविज्ञान का ही नाम 'उपनिषद्' है। यही तो उपनिषद्कोश प्रभान निरूपणीय विषय है।

यही स्थिति आरण्यक की है—

“एतद्दस्य वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेय” (ऐत० ब्रा० २।१।२)

“विश्वामित्र हतदहः शसिष्यन्तमिन्द्र उवाच” (ऐत० ब्रा० २।२।११)

इत्यादि रूपसे आरण्यक में इतिहास भी है। इसी प्रकार—

“उक्थयमुक्थयमिति वै प्रजा बद्धन्ति तद्विद्यमेवोक्थयम्” (ऐत० ब्रा० २।१।२) ‘पुरुष एवोक्थयम्’ (ऐत० ब्रा० २।१।२) “अघाता रतसः सृष्टिः” (ऐत० ब्रा० २।१।३।१)

“अ बारः पुरुषा इति वाच्यः” (ऐत० ब्रा० ३।२।३) इत्यादि रूपसे विज्ञान का भी निरूपण है। एक स्तुतिप्रधान उपासनात्मक प्रतिपादक आरण्यकभाग से सम्बन्ध रखने वाले स्तुतिकण्ड के विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं है।

अब चलिए ब्राह्मणभाग की ओर—

“पवित्रं वा वापः” “मेध्या वा वापः” (शत० ब्रा० २।१।१) “प्रजापतिर्वा इदमन्न एह एवास” (शत० ब्रा० २।२।२।१) “सब्रह्मरा वै प्रजापतिरेह्यतविद्या” (शत० ब्रा० १०।२।३।१) इत्यादि रूपसे ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टिविज्ञान का भी विषय निरूपण है। इसी प्रकार—ब्राह्मणग्रन्थ उक्त कर्म सम्बन्धिनी देवताओं की स्तुतिक्रम भी समावेश है। एवमेव—

“देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिर” (शत० ब्रा० १।३।३।३) इत्यादि रूपसे बड़े विस्तारके साथ इतिहासका भी निरूपण है।

इस प्रकार स्तुति-विज्ञान-इतिहासरूप अक्षिणभाग के उपर्युक्त स्वरूप ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् इन तीनोंमें ही यद्यपि स्तुति आदि तीनों विषयों का समावेश है तथापि वह माननेमें कोई आपत्ति नहीं कि—ब्राह्मणभागमें इतिहासकण्ड की प्रधानता है। यहाँ विज्ञान एवं स्तुति दोनों कण्डोंका इतिहास मर्यादा से ही निरूपण है। इन इतिहासों में विज्ञान ही मुख्य वैज्ञानिक चरित्र है, एवं विज्ञान ही मनुष्य चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं।

इसीप्रकार आर्ययकमें स्तुतिकार्यकी प्रधानता एव उपनिषदों में विज्ञानकार्यकी प्रधानता है। इसी अभिप्राय से 'उपनिषदों की भूमिका' में हमने नित्यसिद्ध विज्ञानसिद्धान्त को ही उपनिषत् शब्दका अन्वेषक माना है।

पूर्व निरूपणसे ब्राह्मणादि तीनों वेदमार्गों में इतिहासादि तीनों कार्यद्वयकी सत्ता सिद्ध हो जाती है, एव इन तीनों कार्यद्वयों का मूल संहिताभाग है। ऐसी अवस्था में यह महीमादि सिद्ध होना ही विना संहिताभाग के जाने इतर वेदभागका सम्बन्ध करना नितान्त असम्भव ही है। यही अवस्था ब्राह्मणादिकी है। ब्राह्मण-आर्ययक-उपनिषत् तीनोंका परस्पर बनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव एव के ज्ञानके लिए दूसरोंकी सहायता सेना परम आवश्यक होना ही है। स्तुति और इतिहास का प्रकृतमे सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है ज्ञान एव विज्ञानका। विज्ञानगर्भित ज्ञान ही उपनिषदोंका प्रधान विषय है। विज्ञानमूलक नानाभावों से आत्माको हटाकर उसे एक निष्क अभिन्न तत्त्वकी ओर सजाना ही उपनिषदों का परम पुरुषार्थ है। उपनिषदों में विज्ञानका निरूपण है अक्षर्य, परन्तु गौणरूपसे। प्रधानता ज्ञानपक्षकी ही है। साथ ही में यह भी धुन सख है कि विना ब्रह्मविज्ञान के ज्ञानप्राप्ति असम्भव है। ऐसी अवस्थामें यह आवश्यक होना ही है कि, उपनिषदों पर विज्ञानके वि ब्राह्मणभागका विशेषतः संहिताभागका आश्रय लिया जाय। इसी स्थिति को सत्यमें रक्षकर उपनिषत् के अर्थ निरूपण से पहिले तद् सम्बन्धी ब्रह्मविज्ञानका ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

'स एवेदं सवम्' ( ङा० ७२५ ) प्रजापतिस्त्रेवेदं सर्वमद्यत्त यद्विदं किञ्च' ( शत० ६।१।२ १२ ) 'तथाचराद् विविधाः साम्य भावाः प्रजायन्त तत्र वैवापि-यम्' ( मुण्डकोपनिषत्—१।१।१ ) इत्यादि ब्राह्मणोपनिषद्वचन ब्रह्मको ही विद्यमान मूलकारण मानत हैं। इस ब्रह्ममूला सृष्टिविषाके सम्बन्धमें-ब्रह्मज्ञा क्या स्वरूप है ? यह प्रब्रानिर्माण कैसे पतता है ? अर्थात् प्रब्रानिर्माणका प्रकार क्या है ? किन्तु आसम्बन्ध

• ब्रह्मविज्ञानके लिए भीष्टवर्णित 'ब्रह्मसम्बन्ध' 'ब्रह्मसुखरत्नी' 'विज्ञानसिद्धि' आदि ग्रन्थ इत्यन्तरे।

पर प्रतिष्ठित होकर बनाता है ! क्यों बनाता है ! कब बनाता है ! उत्पन्न विश्व एक प्रजाक  
क्या स्वरूप है ! इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पत्ति होते हैं । इन सारे प्रश्नोंका समाधान करने  
वाले उत्तरार्थित निम्नलिखित श्रौतपञ्चन हमारे सामने आते हैं—

१—किं स्वित्वासीद्विष्ठावमारम्भस्य क्तवस्त्वित् क्वासीत् ।

यतो मूर्ध्नि वनयन् विश्वकर्मा वि धामौषान्निहिता विरवत्तदाः ॥

२—किं स्वित्त्वं क्व स इत्थं जातं यतो धावापृथिवी निवृत्तवत् ।

मनीषिष्वो ममता पृच्छतेदु तद्यद्व्यतिष्ठद् मुक्त्वावि कारयन् ॥

३—अभिक्षिप्त्वाभिक्षितुपभिक्ष कर्षात् पृच्छामि विव्मवे व विद्वात् ।

वि यत्स्वस्तम् बहिमा रमास्यजस्य रूपे किमपि स्वित्तेकम् ॥

१—(विश्वनिर्माण का समय ईश्वर प्रजापतिका) अविज्ञान (आत्मज्ञान-परिज्ञान-आधारमूर्ध्नि) क्या था ?  
विश्वकी उत्पत्ति का समय क्या था ? यदि विश्वका कोई आरम्भ (उत्पत्ति) था तो वह कैसा था ?  
कित्त अविज्ञान एक आरम्भवासे विश्वका (सर्वप्रथम) विश्वकर्मा (सर्वकर्मा) प्रजापतिने मूर्ध्नि  
उत्पन्न करते हुए धी धी अपनी बहिमा से बड़ी दूरतक फैलाया । उत्पत्ति का कारणके लिए मूर्ध्नि में  
“आरम्भते-अनेन” इस अर्थ व्युत्पत्ति का आशय होकर “आरम्भक” अर्थप्रयुक्त हुआ है एवं  
आत्मज्ञानके लिए “अविज्ञान अर्थ प्रयुक्त हुआ है । (अध्. सं. १।१।२।२) ।

२—वह कैसा कौनसा महापन्न था ? उक्त महापन्न म कैसा कौनसा महाद्वेष था ? जिसकी कारणसे धावा  
पृथिवीरूप संसार बनाया गया । विद्वात् होय अपने मनसे ही वह पूछे कि कित्त महापन्नके कित्त  
महाद्वेषसे इत् विश्वका निर्माण कर सम्पूर्ण विश्वको अपने म कारण करताहुया प्रजापति उत्पन्न  
प्रतिष्ठित होगा । (अध्. १।१।२।१४) ।

३—मूर्ध्निविष्ठाके समयअने विशेषज्ञान म रक्तेवासा में इत् विषयके विशेष पारङ्गत कविषीकी पूछता  
हू । मैं स्वतः इत् विषयस अज्ञानिहूँ । इसे जाननेके लिए मरा वह प्रश्न है । मैं वह जम्ना चाहता  
हू कि कित्तने सू-धुव-स्वा-महात्-वन-सग इत् ३ रवोकी (लोककी) अपनेमें वह कर  
रक्ता है उक्तका क्या स्वप्न है ? एवं इत् स्वप्नो अपने निषत्तकर्ममें वह रक्तेवासे उक्त अर्थ  
(अविनाशी) का क्या कोई एक निवृत्त रक्ता है ।

ब्रह्मसे सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, यह वेदाभिमत निश्चित सिद्धान्त है। इस पर सृष्टिगत वित् आत महर्षियों के पूर्णपक्ष चरते हैं। हम देखते हैं कि शोकमें प्रजापति (कुम्भकार-कुम्भार) घट निर्माणा करता है। घटसृष्टि मनुष्य प्रजापतिकी सृष्टि है। इस सृष्टिका विधाता कुम्भकार है। मूमयदृष्ट इसका आधार है। कण्टकवृक्ष निमित्तकारण (असमवायिकारण) है। मिट्टी उपादानकारण (समवायिकारण) है। कुम्भार जमीन पर बैठकर स्वभ्यापारसे घूमते हुए चक्र पर दण्ड द्वारा आपोमयी मिट्टीको घटरूपमें परिष्कृत कर, सूत्रद्वारा चक्रसे घृण्ण कर उसे नियत स्थान में परिपाकके लिए रखदेता है। बिना इन सब कारणों के घटकार्य कथमपि संभव नहीं है। कारण समुदायको कार्यके प्रति कारणाता है। यही परिस्थिति महासृष्टिके सम्बन्ध में समझनी चाहिए। सृष्टि एक कार्य है। एक 'यद्यत् कार्य-तत्तत् कर्तुमन्यम्-कार्यत्वात् घटवत्' इस न्यायाभिमत सिद्धान्त के अनुसार सृष्टिकार्य का कोई कष्ट अवश्य है। यदि ऐसा है तो उस कर्त्ताका क्या स्वरूप है? वह किस पर बैठके सृष्टि बनाता है? उपादान ब्रह्म क्या है? एक किस भ्यापारसे बनाता है? यह जिज्ञासा होती है। यद्यपि परमार्थतः इस प्रजापतिकी दूर्बोध सृष्टिके विषय में ऐसे ऐसे कुतर्कोंका कोई मूल्य नहीं है। तथापि उपरोक्त प्रश्नोंका समुचित उत्तर न पानसे ईश्वरसत्ता से विमुख होनेवाले नास्तिकों को सम्बुद्ध कर ईश्वरसत्ताको मनान के लिए इन प्रश्नोंका समाधान सर्वथा अपेक्षित होजाता है। उपरोक्त प्रश्न करने बाल के लिए भक्तिमार्ग के अनुपायी श्री पुष्पस्तने जहाँ—

किमीह किञ्चय स ललु किमुपायस्त्रिमुषवम्,

किमाचारो वाता सृजति किमुपादान इति च ।

अतर्क्यैश्वर्ये स्वप्नवसर दुःस्थो हतविषयः,

कुतर्ह्येऽय कांश्चिन्नुत्तरयति माहाय जगत ॥

( मरिम्मलोच )

इत्यादि रूपसे जिस प्रश्नना को 'इतना'—(नटपुष्टि) कहा है, वही प्रश्नावली रूपान्तर से हमारे सामने आती है। विज्ञान न जानने वाले के लिए भले ही उपरोक्त प्रश्न दुःखिके कारण बनें, परन्तु विज्ञान समुद्र के अन्ततल पर पहुँचे हुए महर्षियों की दृष्टि में यह प्रश्न

सर्वथा उचित है, एवं इनका समाधान भी यथावत् है । हाँ तो अब देखना यह है कि श्रुतियों में इनका क्या समाधान किया है । 'उपनिषदों की भूमिका' के 'उपनिषदों में क्या है ?' इस प्रकरण को आद्योपान्त पढ़ना है । वहाँ आपको सर्वजगत्सुखाधार अमृतमृत्युमय सर्वव्यक्ति शिष्ट रसस्वरूप, अनन्त ईश्वरोंको अपने गर्भ में रखने वाले सर्वभ्यापक, परमेश्वर नामसे प्रसिद्ध परस्पर नामक रूप मिलेगा । इसी रसवस्त्वृत्तिपरस्परका एक प्रदेश मायावस्वसे सीमित होजाता है । मायावस्त्वृत्ति वही माग अभ्ययस्वरूपसे प्राप्त होगा । उस अभ्ययपुरुषमें हृदयरूप अक्षर की रूपसे आपको आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् यह पाँच कलाएँ उपलब्ध होंगी । इन पाँचोंमें आनन्द-विज्ञान-मन को आप स्थितिमात्रापन्न देखेंगे एव मन-प्राण-वाक् को गतिमात्रपुत्रक पावेंगे । यही स्थिति गच्छप्रमक पञ्चकक्ष अभ्यय जगदात्मन् रूपसे आपके सामने आयेगा । आत्मन् रूप उस अभ्यय पुरुष के साथ साथ ही हृदयरूप पञ्चकक्ष अक्षर, एव अक्षरसे निष्कसंश्लेष पञ्चकक्ष अक्षर के भी दर्शन करनेका सीमावत् प्राप्त होगा । जहाँ आप अभ्ययको आत्मन् रूपसे देखेंगे, वहाँ अक्षरको समवायी करण ( निमित्तकरण ) रूपसे पहिचानेंगे, अक्षरको समवायीकरण ( उपादानकरणा ) से युक्त देखेंगे । वसु ध्येय सारे प्रभोकर उच्च उपरोक्त पक्षोंसे गतार्थ होजायगा ।

'किं विद्वत्सोऽधिष्ठानम्' का उच्च पञ्चकक्ष अभ्यय पुरुष है । आनन्द विज्ञान मनोमय स्थितिमूर्ति अभ्यय स्थिर धरातल है । मन-प्राण-वाक् गतिमूर्ति अभ्यय भूमता हृत्मात्र है । परिभ्रमणशील चक्र और धरातल ही आत्मन् है । यही विद्यका अधिष्ठान (आत्मन्) है । 'आत्मन्मया कृतमनु स्थितम्' का उच्च पञ्चकक्ष हृत्पुरुष है । सारे विद्यका उपादान अक्षर ही है । उपादान करण के लिए ही श्रुतिमें 'आत्मन्मया' शब्द प्रयुक्त हुआ है । एव अभ्ययपन्न पञ्चकक्ष अक्षर निमित्त करण है । यही सुविकल्प है ।

'हृत्पत्तिष्ठं पठजिर कश्चिद् तस्मै मन शिवसंकल्पयस्तु' ( पठुः संहिता ) के अर्थात् अभ्ययका भोक्तापस मन अक्षररूप हृदय में प्रतिष्ठित है । मनक साथ प्राणका निष्कसंश्लेष प्राणक साथ वाक् स्थिर सम्बन्ध है । ऐसी अवस्थामें मर्यादित अक्षरके साथ मन प्राण-वाक् तीनों का सम्बन्ध स्थिर होजाता है । अक्षरके मनोवागसे सर्व, प्राणवागसे सर्व

शक्ति, वाक्मागसे सर्ववित् बनता हुआ, सर्वत्र स्थिति रूपसे प्रतिष्ठित होना हुआ, निपतिदण्ड से सबको भयभीत करता हुआ सर्वशास्ता अक्षर ही विश्वकर्ता है । अभ्यय मनकी कामना ही अक्षरकी कामना है । प्राणभ्यापार ही ईहा है । वाग्भ्यापार ही उपाय है । इस प्रकार स्थिति माधापन्न ज्ञानन्दविज्ञानमय अभ्ययवरात्म पर प्रतिष्ठित होता हुआ ज्ञानक्रियाध्वर्यकाय, अक्षरपुरुष मनप्राणवाभ्यय गतिमाधापन्न अभ्ययवक्रपर अक्षररूप उपादानसे सारा विश्व बनाया करता है ।

आगे आकर ऋषि प्रश्न करते हैं कि, वह ऐसा कौनसा वन था ! एव उस वनमें ऐसा कौनसा महावृक्ष था ? जिसे काटकाट कर यह विश्वरूप स्तम्भ खड़ा कियागया । उपरोक्त मन्त्रका बड़ी सुन्दरताके साथ समाधान करते हुए महर्षि तिस्रिं कहते हैं—

ब्रह्मवने ब्रह्म स वृक्ष आस यतो धावापृथिवी विहतसुः ।

मनीषिष्यो मनसा वि प्रसीमि वो ब्रह्माभ्यवित्त्वं मुषवानि वारयन् ॥

( तै ब्राह्मण )

रसबहात्मक सर्व धर्मोपपन्न पूर्वोक्त व्यापक परात्पर ही ब्रह्मवन है । ब्रह्म सच्चिदानन्द अभ्यय है । एक एक मायासे एक एक ब्रह्माभ्यय का स्वरूप निष्पन्न होता है । सर्वव्यापक परात्परमें अतन्त मायाबस है । जितने मायाबस है उतने ही अभ्यय ब्रह्म है । अतएव परात्परको अभ्यय ही 'ब्रह्मवन' कहा जासकता है । इस ब्रह्मवन का एक महावृक्ष वही अभ्यय ब्रह्म है । इस महावृक्षमें १००० शाखाएँ हैं । प्रतिशाखामें सयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पाँच २ पुण्डरी (पोर) हैं । अतएव यह शाखा 'पञ्चपुण्डरीरा प्रामाणसबहया' नामसे प्रसिद्ध है । शाखा शब्दके शिष्ट वेदमें पुण्डरी शब्द प्रयुक्त हुआ है । यही महावृक्ष अक्षरवत् प्रतिष्ठित होनेके कारण—कि वा अक्षरवत् अक्षरवत् प्रतिष्ठित होनेके कारण 'अभ्यय' नाम से प्रसिद्ध है । इसी ब्रह्माक्षरका निरूपण करते हुए आतपुरुष कहते हैं—

ऊर्ध्वमूलोऽबाहू शाल दपोऽर्ध्वैर्बः समावनाः ।

तदवशुक्र तद् ब्रह्म तद्ब्रह्मामृतमुच्यते ॥



वस्मिन् लोकाः भिन्नाः सर्वे तदुपास्येति कथन ।

एतद्वै तत् । (कठोपनिषत् २.१।१)

अर्धमूलमथः शालवदवत्वं प्राङ्मुख्यम् ।

अन्वाति यस्य पर्याधि यस्तं वेद स वेदविद् ॥ (गी० १५।१)

अनन्त मायाशक्ति करण परात्परमें अनन्त बुद्धोंकी सत्ता सिद्ध होजातीहै । इसी लिए परात्परको 'ब्रह्म' कहना यथार्थ होताहै । इसी अन्तत्यबुद्धके चरमागको कष्टकान्तक बाबापृथिवीरूप सिद्ध बनायागयाहै । 'तत् सद्मा तदेवानु माभिरानु' इस श्रौतसिद्धान्तके अनुसार अ-चरकारा चरोवाहनसे सारा सिद्ध बनाकर यह अम्यय आसम्भनरूपसे प्रसिद्धि होगयाहै । इसी अग्निप्रायसे—'ब्रह्माध्यतिपुद् मुचनानि पारयन्' कहाहै । अम्ययकी इसी आसम्भनत्वाका निरूपण करते हुए पुरुषोत्तम कहते हैं—

वचनः पुरुषस्त्वन्व्यः परमात्मेत्सुहाहतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विमर्त्यभ्यव ईश्वर ॥ (गीता० १५।१७)

ब्रह्म परात्पररूप ब्रह्मचरनके सम्बन्धमें 'तद् तद्ने नाम तद्नमित्पुपासितभ्यम्' (केनोपनिषत् ४।६) यह कहाजाताहै । उस महात्नके एक एक बुद्धका नाम भू-भुव-स्व-महत्-ब्रह्म-तप-ससम् इन नामोंसे प्रसिद्ध सप्तस्याष्ट्यात्मक लोकत्रयाधिष्ठाता अम्यय पुरुषहै । त्रिकुट मायापञ्च भू-(रि-सौत्रेणोक्त्य), भुव- (कन्दसौत्रेणोक्त्य), स्व- (संपदीत्रेणोक्त्य) इन तीन लोगों से पुरु एक एक सिद्धक्य गति-मर्त्य-प्रभु-साक्षी-निवाह-शरण-सुहृद् एक एक अम्ययपुरुषहै । एक एक मायावत्त इस परात्पर ब्रह्मक्य एक एक रोम कूपहै । एक एक रोमकूप इन एक ब्रह्माण्डहै । एक एक ब्रह्माण्डके भीतर अम्ययकी पूर्णतासे फिर अन्तार सूर्य परमेष्ठी आदि अनन्त ब्रह्माण्ड समाविष्ट रहतेहैं । सम्पूर्ण अम्ययबुद्ध सिद्ध नहीं बनता, अर्थात् अम्यय का अन्तरा प्रकृतिस्वरूप चरमाग ही अन्तरके व्यापारसे छरित होकर सिद्ध बनताहै । इसी सिद्धान्तके समझनेके लिए—'यतो वाबापृथिवी निष्टतस्तु' यह कहाहै । अम्ययवेष्टीया स्कन्मापि पाके अनुमार सारा सिद्ध एक स्कन्महै । 'स्कन्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्' (अनन्द० संदिगा)

के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम प्रपञ्च इसी विश्वस्कन्धपर प्रतिष्ठित है। यह स्कन्ध उस अमृत्य वृक्षसे तरासा हुआ भाग है। वही स्वरूपसे स्कन्ध बना है। अक्षररूपसे वही स्कन्ध निर्माता है, एव अम्ययरूपसे वही आसम्बन है। जो तात्पर्य—‘यो लोकाग्रयमाविरय विम अम्ययरश्चरः’ इस स्मार्त्तवचनका है वही भाव ‘ब्रह्माभ्यतिष्ठद् मुचनानि धारयन्’ इस वाक्यका है।

“प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यमादी उमावपि” (गीता०)

के अनुसार अम्यय पुरुष अपने समावभूत, अन्तरङ्ग प्रकृतिसरूप अक्षर-क्षरसे अविनामृत है। तीनों ही पञ्चकण हैं। इन १५ कस्ताओं के अतिरिक्त परमार्थतः अकल, किन्तु अक-हारद्वया एककल सोलहवां परात्पर है। यही पौडशीकल प्रजापति विश्वप्रजाका अविपति है जैसा कि—‘भीष्णि ष्योर्त्वीपि सचते स पौडशी’ (छां० उपनिषत्) का अर्थ करते हुए, भूमिक्रमागमं विस्तारसे बतसाया जाशुका है। पौडशीपुरुष विश्वका आत्मा है। यह निष्कर्म, अमृत है। क्षरप्रधान विश्व विपरिष्णामी होनेसे अनिष्क, अतएव मर्त्य है। मर्त्य भूतमय विश्वमें अन्तर्बिगूढ होनेके कारण ही—

एष सर्वेषु भूतेषु गृह्णात्मा न प्रच्छराते ।

हरयते त्वमप्य शुभ्रा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिमि ॥ (कठोपनिषत् १।३।१२)

इस श्रौतसिद्धान्तके अनुसार ‘गृह्णात्मा’ नामसे अमृतत हुआ है।

उस ज्ञानज्योतिर्मय तत्त्वको आवृत्त करकेवाला यही एकमात्र मायावत् है। मायाके ही उस असीमको ससीम विश्वद्वारा तिरोहित करकेवाला है। अतएव सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी वह हमारे लिए कृष्ण बन रहा है। इसी अम्ययकृष्णतत्त्वको सक्षयमें रखकर दृष्ट्यावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

“नाहं प्रकटाः सर्वस्य योगमायासमावृत्तः” (गीता०)

यह है विश्वाधिष्ठाता ईश्वरप्रजापतिकका संक्षिप्त निर्दर्शन। यही अमृतात्मा है। यही गृह्णात्मा है। यही पौडशी प्रजापति है। परात्परब्रह्मका यही प्रथम अवतार है। निम्नलिखित तात्त्विकसे उपरोक्त विषय स्पष्ट होता है—

## शुद्धरस स्वरूप निष्कल निरञ्जन 'निर्विषेय'

- { १ = १ = सर्वव्यतिथि रसरूप व्यापक परात्परब्रह्म = "ब्रह्मब्रह्म"  
 १ = २ = मायावशात्त्रिभुव रसब्रह्मात्मक अम्ययपुरुष = "ब्रह्मवृत्त"  
 १ = ३ = अक्षर पुरुष = पराप्रकृति - (अमृतब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोममेदसे पञ्चकल  
 १ = ४ = अक्षरपुरुष = अपराप्रकृति - (मर्याद वि इ अ ओ मे) से पञ्चकल)

"योऽदृशकर्म वा इदं सर्वम्" (अ० उ० ) "चतुष्टय वा इदं सचम्" (कौ उ

उपरोक्त परात्पर-अम्यय-अक्षर-अक्षर इन चारोंमें से किसीके सपादान अक्षरतत्पर इष्टि  
 का लिए । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम यह अक्षरकी पांच कलाएँ हैं । इन पांचोंसे क्रमशः  
 प्राण-आप-वाग्-आग्ना-अन्न यह पांच विकार उत्पन्न होते हैं । यह पांचों विकार  
 'विकारक्षर' नामसे प्रसिद्ध हैं । यही पांचों-वैज्ञानिक विरबके आभाएँ, अक्षरक विकृतिरूप  
 इन पांचोंसे वैज्ञानिक विरबकी अपेक्षासे हम 'प्रकृति' कहनेके लिए तथ्याएँ । अम्यय  
 पुरुष पुरुष है । अक्षर अक्षर समष्टि मङ्गल है । उपरोक्त विकारक्षर अक्षरक्षरापेक्षया विकृति,  
 विरबपेक्षया प्रकृति होनेसे 'प्रकृति विकृति' है । पांचों विकार प्राणायामकई । रूप-रस-गंध  
 स्पर्श-शब्द दृश्य अध्यात्मक (स्वान म श्रोत्रमें वासा) कल ही प्राण है । विकारक्षरों की यही  
 अक्षरपाएँ । अन्न उन्हें हम अक्षरयही 'प्राण' कहनेके लिए तथ्याएँ । यह पांचों प्राणतप्राण  
 मृद्घटवत् उसी अमृततपस्वरूप मनोगम्य बोद्धशीतुस्वप्ने प्रतिष्ठित हैं । मनोगम्य बोद्धगी पुरुष  
 अक्षर है । उसमें प्राण- आप-वाग्-आग्नि पांचों प्राण नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं । इती अभिप्रा-  
 यत श्रुति कहती है—

एवाऽऽशुरात्मा येनमा वदितव्या यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सविवेश ।

प्राणाश्चक्षुर् मनभोनपजाना यस्मिन् विशुद्धे विभवसपघाता ॥ (मुण्डक)

उपरोक्त पांचों विकारक्षर पञ्चीकरण द्वारा क्रमशः विशुद्ध-पञ्चब्रह्म-पुंजन-तत्पमें  
 परिष्कृत होते हुए अन्तर्नोगत्वा पुरस्वरूप में परिष्कृत होजाते हैं । पञ्चीकृत प्राणमय पुर रसप  
 मृदे पञ्चीकृत । आनोमय पुर परमेष्ठी है । पञ्चीकृत वाग्मय पुर सूर्य है । पञ्चीकृत अमानमय पुर

पृथिवी है। पञ्चीकृत अन्नमय पुर चन्द्रमाहै। पाँचों पुर पियङ्गामक हैं। सहृदय हैं। एव जो पदार्य सहृदय—सशरीरी होताहै, विज्ञानमापामें यही 'सम' कहलाताहै। उपादानकारण अपने कार्यकी प्रविष्टा है। अभिससत्ताकार्यकारणमात्रों में कारणसत्तामें कार्यसत्ता अनुत्पूत रहती है। दूसरे शब्दोंमें कारणसत्ता ही कार्यसत्ताहै। कारणही कार्यको अपने ऊपर प्रविष्टित रखताहै। अतएव कारणरूप 'विभक्ति कार्य' के अनुसार 'ब्रह्म' शब्दसे स्पष्टतः हुआहै। परम्परया इस प्रकार मादुर्भाव अक्षरसे ही हुआहै। एव अक्षर ब्रह्माहै, अतएव इसके लिए— 'ब्रह्माक्षरसमुद्गमम्' (गीता) यह कहाजाताहै। ऐसी अवस्थामें पञ्चकक्ष विकार अक्षरों हम अक्षरय ही 'ब्रह्म' कहसकते हैं। ब्रह्मविकारभूत प्राणमय स्वयम् पृथिवी ब्रह्माहै। विष्णु विकारभूत आपोमय परमेष्ठी वृत्त ब्रह्माहै। इन्द्रविकारभूत वाय्वय सूर्य तीसरा ब्रह्माहै। अग्निविकारभूता अनादमयी पृथिवी चौथा ब्रह्माहै। एव सोमविकारभूत अन्नमय चन्द्रमा पाँचवाँ ब्रह्माहै। पाँचों ही ब्रह्म सहृदय—सशरीरी होते हुए सम हैं। अतएव हम अमृतात्मा (पोङ्गी-पुरुष) में प्रविष्टित इन पाँचोंको अक्षरय ही ब्रह्मसम कहने के लिए तय्यारहें। इन पाँचों सर्वोक्त क्रमिक अवतारहै। अतएव इनका सम्बन्ध 'दहरोत्तर' नामसे प्रसिद्ध है। स्वयम्को महिमामयब्रह्ममें परमेष्ठी है। परमेष्ठीके महिमामयब्रह्ममें सूर्य है। सूर्यके महिमामयब्रह्ममें (सौरसत्ता—किं वा सोमर सिस्टममें) पृथिवीहै। पृथिवीके महिमामयब्रह्म में चन्द्रमाहै। अक्षरमयब्रह्म पूर्वमयब्रह्मकी अपेक्षा छोटाहै। इसीका नाम दहरोत्तर सम्बन्ध है। परात्परका प्रविष्टा अवतार अमृतसस (पोङ्गीपुरुष, या, वृत्त अवतार यही ब्रह्मसत्यहै। ब्रह्मसत्यसे आगे जाकर शुक्रका अवतार होताहै। इसप्रकार यही परात्परब्रह्म मायाब्रह्मकी रूपासे क्रमशः अमृत (पोङ्गीपुरुष), ब्रह्म (स्वयम् आदि) शुक यह तीन सरूप धारण करलेताहै। तीनों मात्र उस एक हीका विकर्त है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषद्बुद्धि करतीहै—

उदेव शुक उद् ब्रह्म—उदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिन् शोकाः श्रिता सर्वे उदुपात्येति कथन ॥ (कठ उ०)

अपरोक्ष अमृत—ब्रह्म—शुक तीनोंमें से प्रकृतमें 'ब्रह्मसस' की ओर आपका ध्यान आकर्षित कियाजाताहै। यद्यपि सूत्रिक्रमके अनुसार निचनब्रह्मामूलक चन्द्रमा ब्रह्माका ही सर्वान्तमें

समावेश्यै, परम्पु (हमारी अपेक्षासे) स्थिति क्रममें पृथिवीमहा सबके अन्तमें आताहै । सप-  
 म्पु-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी यह स्थितिक्रमहै । सपम्पु-परमेष्ठी-सूर्य-पृथिवी-चन्द्रमा  
 यह सृष्टिक्रमहै । पृथिवी नामक ब्रह्मसत्त्व प्राण्य-आप-वायु-अग्नि-अन्नाद-इस क्रममें अन्नाद  
 मयहै । अन्नाद अग्निहै । पृथिवी 'अग्निर्भूत्याम' ( या० नि० ) के अनुसार अग्निमयीहै ।  
 यह अग्निरत्न अमृत-मर्त्य देवसे दो भागोंमें विभक्तहै । मर्त्याग्नि ही यज्ञपरिचायानुसार 'धि-  
 त्याग्नि' कहलाताहै । अपृताग्नि 'चित्तेनिधेय' नामसे प्रसिद्धहै चित्त्याग्निसे पृथिवी विपद  
 बनताहै । दूसरे शब्दोंमें पृथिवीविपद मर्त्याग्निमयहै । यही चित्त्याग्निमूर्ति पृथिवीविपद 'ब्रह्म  
 सत्य' है । इसी अन्नादमय ब्रह्मसत्त्वसे आगे जाकर 'यज्ञमात्रिक' नामके देवसत्त्वका अन्वय  
 होजाहै । पृथिवीकेन्द्रसे प्राण्यग्नि निकलताहै । यह प्राण्यग्नि सूर्यदेवसे बाहर निकलता हुआ बड़ी  
 दूर तक अपना एक मयबल बनाताहै । यही प्राण्यग्नि अपृताग्निहै । बहिर्गण्यसाधिकात्म इस प्रा-  
 ण्यग्निसे अन्वयानेके कारण अग्नि-वायु-आदिस्य यह तीन रूप होजाते हैं । तीनोंके परस्पर  
 में आहुति होती है । उससे क्रमशः-अग्निप्रधान वैश्वानर वायुप्रधान हिरण्यगर्भ, आदिस्यप्रधान  
 सर्वज्ञका जन्म होताहै । वैश्वानरप्रतिदेवता ब्रिहद् स्तोम (१) में प्रतिष्ठितहै । हिरण्यगर्भदेवता  
 पञ्चदश स्तोम (१५) में व्याप्यहै, एव सर्वज्ञकी प्रतिष्ठा एकविंशस्तोम (२१) है । इसप्रकार  
 अक्षमय चन्द्रमा नामके ब्रह्मसत्त्व, एव अन्नादमय पृथिवी (विपदपृथिवी) के मध्यमें प्राण्यग्निमयी  
 अपृतापृथिवीके आचार पर अग्नि-वायु-आदिस्यमूर्ति वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ इन तीन देव  
 सत्त्वोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है ।

इन उपरोक्त तीन देवसत्त्वोंके कारण व्याधैतिकमयब्रह्माधिष्ठाता इश्वरकी अपृतामा-  
 सपम्पु-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-पृथिवी यह नौ कसए होजातीहै ।  
 दशम्वर अन्नाद नाम ब्रिहद्ब्रह्महै ( शत १।१।१।२।२ ) 'न वै एकेनाद्यरेण्यं ह्यन्नासि  
 विपन्नि न गन्धाम्' ( ऐ.श. १।३।२ ३७ ) अस्ति दान्तके अनुसार एक अक्षर कप होनेसेही अन्नाद  
 का स्वरूप बड़ी विगडता । एव एक अक्षरसे म्यून ब्रिहद्भी ब्रिहद्देहै । 'म्युनाद् वमाः वमावन्त'  
 ( शत० १।१।२।३ ) इस सिद्धान्तके अनुसार उपरोक्त मन्त्रकार मूर्ति अतएव म्यून ब्रिहद्मूर्ति  
 ईश ही पूर्व सर्वम् है । बड़ी अन्वयमहै । बड़ी अविमूर्तहै । सन पूर्वोक्तकी पूर्णतया स-  
 याग्यहै । अन्नादमय नौ अक्षर अमृत-अमृत-वैश्वानर-वैश्वानर-ब्रिहद् ( बुद्धि ) प्रधान- ( मन ) ,

वैश्वानर-सैवैस-प्राज्ञ-शरीर इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं । नाममात्रमें अन्तर है । पदार्थ जो वहां है, वे ही वहां है । उपरोक्त ईश्वरकी ६ कलाओंसे अतिरिक्त परात्पर नामक अखण्ड आत्मा है ।

सविदन्ति न य वेदा विष्णुर्देव न वा विधिः ।

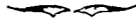
यतो वाचो निवसन्ते अग्नाथ्य भवसा सह ॥

के अनुसार परात्परशास्त्रमर्यादासे सर्वथा बहिर्भूत है । शब्दशास्त्र केवल उपरोक्त खण्डात्माओंका ही निरूपण करता है । हमारे इस सर्वापनिपत्तमें सभी खण्डात्माओंका क्रमिक निरूपण है, जिसका तत्त्व प्रकटकोंसे स्पष्ट होजायगा । इस सम्बन्धक्रमको सामने रखलौजिए, और क्रमशः मन्त्रों का निरूपण देखते जाइये । सारा रहस्य आदर्शवत् हृदयज्ञान होजायगा, एव साप ही में व्याख्याताओंकी कृपासे निरवरोधसे फैली हुई अपविपद् अर्थसम्बन्धिनी भ्रांतिका भी समस्त विनाश होजायगा । प्राकपन समाप्त हुआ, अब उपनिषदर्थकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

ईश अपिबन्धनम्	इदं सर्वम्	जीव अध्यात्मम्
१ षोडशीपुरुष २ सप्तम् ३ परमेष्ठी ४ सूर्य ५ चन्द्रमा ६ सर्वज्ञ ७ हिरण्यगम ८ वैश्वानरः ९ पृथिवी	पूर्णमिदं — पूर्णमेकाक्षशिष्यते	षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा अभ्यक्तमा महानात्मा विद्यामात्मा प्रज्ञानात्मा प्राज्ञात्मा वैश्वसात्मा वैश्वानरात्मा शरीरम्



# षोडशविंश



“अन्तरं मरुतोमृत मृत्यामृतमाहितम्”

## पुरुषात्माधिकरणा

१

विद्याकर्म्ममय पुरुषो गूढोत्मा “अमृतात्मा”

१-अमृतात्मा

१- ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’-मोगतन्त्रम्=मनः

२-“कुर्मन्नेवेह कर्म्मणि”-कर्तृतन्त्रम्=प्राणः

३-असुर्या माम ते श्लोका”-आवरणतन्त्रम्=नाक्

स एष कर्म्मव्ययो विद्यामय

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेत्ति तस्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संबिभेश ।

प्राणैश्चिद्य सर्वमेत प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभक्त्येव आत्मा ॥

एष सर्वेभ्य मृत्यु गूढोत्मा न प्रकरोते ।

एतयते त्वयया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिनः ॥







ओं पूरामद् पूरामिद् पूराम्त् पूरामुदच्यते ।  
 पूराम्त् पूरामादाय पूरामिवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

“ओं” यह एकाक्षर (अपिदैवत स्वरूपसे) पूर्ण है। यह (आध्यात्म) पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण निकलता है। पूर्णके पूर्णको लेकर पूर्णही शेष रह जाता है” यह है मन्त्रका अक्षरार्थ। सम्पूर्ण कर्म-पुरुषार्थ ऋषयं भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। ऋषयं कर्मसे पुरुषार्थ कर्मका स्वरूप निष्पन्न होता है। पुरुषका परम पुरुषार्थ यही है कि, वह जिस पूर्णाक्षर का अक्षर है, उसके साथ अनेक-मात्रको प्राप्त होता हुआ मयाकरणसे किमुक्त होना। ईश्वर पूर्ण है, अर्थात् पूर्ण है। ऐसे इस पूर्णेश्वरी उपनिषत् ‘ओं’ यह एकाक्षर है। उसका वाचक यही प्रणव है। अर्द्धमात्रा अक्षर उकार-मकार-इन चारोंका समुच्चय ही ओंकार है। अर्द्धमात्रा तृतीय पद है, यही परत्पर है। अक्षर अन्वय पुरुष है। उकार अक्षर पुरुष है। मकार अक्षर पुरुष है। शम्भुसृष्टिमें सबका मूल अक्षर ही है। एकही अक्षर सोमप्रधानस्पर्श-अग्निप्रधाना ऊष्माके तारतम्यसे वर्णराशिकर आत्मिक बननाता है। स्पष्ट सकोच है—यह सोमका धर्म है। ऊष्मा विक्रम है—यह अग्निका धर्म है। जैसे अर्धसृष्टि के मूल अग्नि सोम है, अर्धमात्रा शम्भु सृष्टि के मूल ही स्पर्श-ऊष्मा रूप अग्नि सोम ही है। अक्षरक्षर इसी विभूति का विरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

“अक्षरो वै सर्वां वाक्-तेषां स्पर्शोष्मिर्धर्म्यमाना-

ब्रह्मी नाना रूपा भवति’ (इत० चारण्यक)

इतीतिर अन्वय पुरुषकी विभूतियोंके सम्बन्धमें ‘अक्षरत्वात्प्रक्षरोऽस्मि’ (गीता १०।३१) पद कहा गया है। शम्भुसृष्टिमें अक्षर कलकलाकादिके अविभातसे रहित है। यह असंग्रह ।

परमार्थत ईश्वर शरीर जीव एकत्ववदे । अविषाचतुष्टयार्थकं कारय यह छाहम्' बनराह है । बस्तुतः यह भी ओंकारही है । पुरुषसे निकलनेवासा यह अपूर्ण तर्भितक अपूर्ण है, जबतक कि यह अपने मूलपुरुषकी पूर्णताको नहीं समझता । जिसदिन यह उस पूराकी पूराताको पहिचानलेगा, अस्वयही जसदिन पूरा होजायगा । पूराताने शान्तिह, अपूर्णताने झोम्ही । परि सर्वत्र आप ओंकार' स्वरूप पूर्णेशकी सत्ता दसरहई, वो आपके सामन—'ओ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!, यह नाक्यह ।

इत प्रकार मगसपाठके साप सापही परमपुरुषार्थक स्वरूप वतखाता हुआ बटपुत्र इस उपविषत् में कतखए जाने शके सारे विषयक स्वरूप हमार सामन रखेताह । "आप इस एकशरकी पूराता पहिचानिए । उसे भी पूरा समझिए । अप्पतमको भी पूरा समझिए । उस पूरा की पूरातालेकर अइनाम कर परित्याग करते हुए आप भी पूरा बनजाएँ" छौ उपविषत् का यही आदेश है । यही पुरुष का परम पुरुषावह । इशकः उपनिषत् इतीथि प्रातिष्ठ साधन है ।

पौंडरी पुरुष का शरनागही क्रमश विरवसूद् ( विन्नारकर ) पञ्चजन ( पञ्चीकृत निन्नारकर ), पुरजन पुर रूपमें परिणत होत हुआ विश्वमूर्ति बना हुआह । साप विरव पञ्चीकृत महामूर्ति का समुच्चय है । स्वयम्भू आकरह । परमठी बापुह । सूर्य तेज है । अम्भना आप ह । पृथिवी प्रसिद्ध है । इन पाचोंमें प्रत्यकमें पृथिव्यपत्तजादि पांचों हैं । आपे भागमें आकरश-आधर्म-आध्यादि चारोंके समन्वयसे आकरशास्य स्वयम्भूक स्वरूप निपन्न हुआह । यही क्रम परमेशी-सूर्यादिने ह । यही प्रक्रिया दशनशास्त्रमें 'पञ्चीकरण' नामसे प्रसिद्ध है । सधितानागमें इसी पञ्चीकरणके लिए 'सर्वभूत' शब्द प्रयुक्त हुआह ।

तस्माद्यज्ञान् सर्वभूत भूषा' सामानि जज्ञिरे ।

इदामि जज्ञिर तस्माद्यज्ञुस्तस्माद्भाषत ॥'

(पञ्च उषाता)

इस सिद्धांत के अनुसार वेद-लोक-मजा-भूत-अम्भ आदिकी समष्टिरूप सारा विश्व इसी सर्वभूत पद्वध उत्पन्न हुआह ।

यही सर्वभूत प्रक्रिया उपनिषदोंमें 'त्रिवृत्करण' नामसे प्रसिद्ध है। दर्शन शास्त्रने जहाँ पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-इन पांच तत्वों के पञ्चीकरणसे विश्वकी उत्पत्ति मानी है, वहाँ उपनिषदोंने तेज-आप-अग्नि-इन तीन तत्वोंके त्रिवृत् करणसे विश्वसृष्टि को गतार्थ माना है। परमार्थदृष्टिसे दर्शनशास्त्रकी पञ्चीकरण प्रक्रिया—एव उपनिषदोंकी त्रिवृत्करण प्रक्रिया एक वस्तु है। पञ्चकण अम्ययपुरुषही सर्वासम्बन्ध है। आनन्द-विज्ञान-मनोमय अम्ययपुरुष मुक्तिसाक्षी एव मन-प्राण-आत्म्य अम्ययपुरुष सृष्टिसाक्षी है। मनस्वी-प्राणवान्-वाग्मी-अक्षरतत्वमनकी कामनासे, प्राणके तपसे, एव आत्मके भ्रमसे विश्व उत्पन्न करता है। विश्वात्मा मनप्राणआत् प्रभानही है। अतएव विश्वदृष्टिसे आत्माकेलिए—'सत्वा एव आत्मा आत्म्य प्राणमवो मनोमय' यह कहा जाता है। इस मनप्राणआत्म्य सृष्टिसाक्षी अम्ययके कारणही त्रिवृत्करण प्रक्रिया का जन्म होजाता है। अम्यय-अरजुप्रहीत अक्षरप्रजापति किसी समय एककी या। उसने क्रमना-तप-धर्मके द्वारा तेज-आप-अग्नि यह तीन तत्व उत्पन्न किये। अनन्तर इन्हीं तीनोंके त्रिवृत्करणसे पञ्चमूलात्मक-एवं सप्तलोकत्मक-विश्व उत्पन्न किया। जैसा कि ऊर्ध्वमेव श्रुति कहती है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदेतत्—'बहुस्यां-प्रजायेयेति'।  
तत्तेजोऽसृजत्। तदपोऽसृजत्। ता अक्षमसृजत्। तासां भिदन्ति त्रिद  
तमेकैकामकरोत्। (का० उ० १।३।१।५)

उारे शोक इसी त्रिवृत्भाषसे सम्बन्ध रखते हैं। इसी व्याचार पर—'त्रयो वा इमे त्रिद तो सोऽन्वा।' यह कहा जाता है। इस प्रक्रियासे त्रिसाकार सात लोक उत्पन्न होते हैं यह निम्न किञ्चित् तात्त्विकसे स्पष्ट होजाता है—

१. मात्वीव वैदिकविद्वानसे परिचय प्राप्त न कर कितने ही अज्ञानाचरित्र पाश्चात्य विद्वान् पाश्चात्यिक तत्त्वज्ञान पर आक्षेप करते हैं। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश अक्षरय ही तत्त्व हैं। इनकी मूलावस्था हमने शास्त्रमें 'पञ्चमहाभूत' नामसे प्रसिद्ध है। इनका मूल ऐश्वर्य है। ऐश्वर्यका मूल अस्तुत्व है। अस्तुत्वका मूल पुण्यत्व (पञ्चतन्मात्रा) है। इस ऐश्वर्यको तत्त्व मानते हैं—जकि महाशक्तको। इस वस्तुत्विक शक्तो न तनफकर आक्षेप करनेवालोंके सम्मुखमें—'मुखमस्तीति ब्रह्मन् यदाहस्वाहरीतकी' इच्छे अभिध क्वा कहा जातकहा है। इस तत्त्वविचारके लिए श्रीगुरुमधीत 'सार्धसप्तवीप' नामका ग्रन्थ रच्य है।

१-तेजः	{	तेजः	१-सत्यम्	सत्यम्	व्याख्याः ।
		व्यापा	--	२-तपाः	सूत्रम् × ।
२-व्यापा	{	व्यसम्	तेजः	३-जमाः	परमेष्ठीः व्यसुः ।
		व्यापा	--	४-महाः	शिवः × ।
३-व्यसम्	{	व्यसम्	तेजः	५-सा	सूर्यः तेजः ।
		व्यापा	--	६-मुष	चन्द्रमा, वज्रः जघम् ।
		व्यसम्		७-मू=पृथिवी=पृथिवी ।	

उपरोक्त सातों श्लोक सप्तम्याद्विनामसे प्रसिद्ध हैं। इन सातों व्याख्यियोंका मू-मुषा-सा, इन तीन महाम्याद्विधियोंमें अन्तर्भाव है। तीनों श्लोक उपरोक्त भिन्नत्वकारणके कारण विद्वत् हैं। भूलोक—मूः, मुषा, सा इन तीनों श्लोकोंमें विभक्त है। यह 'मू' श्लोक 'विनामृषिलोकी रोदसी' नामसे प्रसिद्ध है। मुषश्लोकमी—मूः मुषा, सा, इन तीनों श्लोकोंमें विभक्त है। यह शिलोकी 'कन्दसी' नामसे व्यवहृत होती है। एवमेव साः शिलोकी मी-मुः, मुषा, सा, इन तीन श्लोकोंमें विभक्त है। यह त्रैलोक्य 'सयती' नामसे प्रसिद्ध किया जाता है। रोदसी-कन्दसी-संस्कृती तीनोंश्लोकसमष्टि 'वैसाक्यप्रिसाकी' कहा जाती है। भूलोक विज्ञानपरिभाषाके अनुसार म्पा है। स्वर्लोक म्पा है। तीनही माताएँ हैं, तीनही पिता हैं। इसी त्रैलोक्य शिलोकी विज्ञानको अक्षयमें रखकर मन्त्रश्रुति कहाँती—

- १ शिलो भूमीर्षारवन् श्रीश्वधन् श्रीधि ब्रह्म विद्वे अमरेषाम् ।  
 म्पातेयदित्या महि को महित्वं ववर्षमन् वस्य मित चन्द्र ॥  
 (अष्ट म० २।३।२७।५)
- २ शिलो मातृस्वीन् पितृन् पिब्रह्मक अथस्वत्सो वमवत्तापयन्धि ।  
 मन्वये दिवो अमुष्य पुष्टे विषयिह वाचमाविरथमिन्वाम् ॥  
 (अष्ट म० १।२।२।१६।१०)
- ३ विसा विश्विषाः पृथिवीः पदूषेमा महिषाः पुषक् ।  
 त्रयाहं सर्वं मूतानि परमानि वक्ष्यमये ॥  
 (अपर सं० ४।४।२०।२)

उपरोक्त लोकम्पक्याके अनुसार यद्यपि २ लोक होनेवाहिए, परन्तु ऐसा न होकर लोक केवल सात ही रहजातेहैं । रोदसी प्रैलोक्यका स्वर्लोक, क्रन्दसी प्रैलोक्यका भूलोक होजाता है, । एष क्रन्दसी प्रैलोक्यका स्वर्लोक, संयती प्रैलोक्यका भूलोक होजाताहै । इस प्रकार दो लोकोंका मध्यके स्वर्लोकमें, अमृतभाष-होजानेसे सातही लोक रहजातेहैं-:

१-स्वः	{ ३ स्वः २ भुवः १ भूः	सखम् ७ तपा ६ संयती प्रैलोक्यम् जनत् ५	} अमृतभाष-होजानेसे सातही लोक रहजातेहैं-:
२-भुवः	{ ३ स्वः २ भुवः १ भूः	महः ४ क्रन्दसी प्रैलोक्यम् २ स्वः ३	
३-भूः	{ ३ स्वः २ भुवः १ भूः	स्वः ३ भुवः २ रोदसी प्रैलोक्यम् १ भूः १	

इन सातों लोकोंमें तीन अन्तरिक्षहैं, एव स्वर्गम्-परमेष्ठी-सूर्य-पृथिवी यह चार सख हैं । इन चारोंके अतिरिक्त रोदसी प्रैलोक्यके अन्तरिक्षमें 'एतद् देवससं यदक्षमाः' ( कौ भा० ३।१ ) के अनुसार अमृत नामका एक सख और है । इस प्रकार पाँच सखसम् होजाते हैं, जैसाकि पूर्वमें बतबाया जाचुकाहै । वेद-लोक-प्राण-मृत-कर्म नामके प्रसिद्ध पाँच पुरजनोंसे उत्पन्न होनेवासे स्वर्गम् आदि पाँचों सखसख ही महाभारतादिमें 'पञ्चसख' नामसे प्रसिद्धहैं । यह पाँचों सख मृतभारिक विषयकी शक्ति हैं । पोडशीपुरुष पुरुषहै । पोडशी पुरुषमें पुरुष सम्बन्धकी अपेक्षासे 'मनप्राणबाध्यय सृष्टिसाक्षी अम्ययपुरुष' ही प्रधानहै । जिस तरह पञ्चसखी मूसमृता करमहृति त्रिवृत्करसे पुष्ट होकर पुरसृष्टिकर करण बनती है एवमेव अम्ययका मनप्राणबाध्यय कर्मभाग त्रिवृत्भावसे परिणत होकर ही त्रिवृत् विषयमें प्रतिष्ठित होताहै । वस्तुतः देखाजाय तो अम्ययका त्रिवृत्करका ही तेज-अप-अमके त्रिवृत् करणमें कारणहै । विषयरूपशरीर-पोडशी आत्माकी पुष्टि । विषयकी तेजकरता अम्ययके बाष्प भागको पुष्ट करतीहै अथ वचा अम्ययके प्राणभागको प्रतिष्ठित रखतीहै, एव अमररुसा मनो

मयी मूर्च्छिके सुरक्षित रखती है। यही स्थिति अप्यग्रममें है। हमारा मन अन्न पर प्रसिद्धित है, प्राण अप्यग्र परप्रसिद्धित है, एव वाक् अन्न पर प्रसिद्धित है। इसी विज्ञानको सत्यमें रक्षक मूर्च्छि कहती है—

अप्यग्रमं त्रैषा विधीयते—वस्य योऽग्रिष्ठो भागस्तन्ममः ।

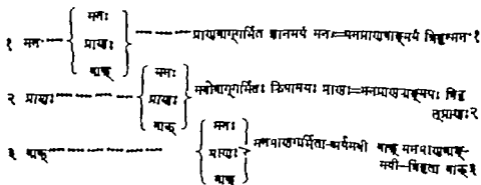
आपःस्यसंशेषा विधीयन्ते—तासां योऽग्रिष्ठो मय्य सभास्यः ।

तेषोऽग्रिष्ठं तेषां विधीयते—वस्य योऽग्रिष्ठो मायं सा वाक् ।

अप्यग्रमं हि ताम्य ममः, आपोममःप्राणः, तेषोमयी वाक् ।

(इं० उ० टी०) इति ।

मन—प्राण—वाक् तीनोंमें तीनोंकी व्याप्ति होती है। मन शानशक्तिमयी, प्राण क्रियाशक्तिमयी, एवं वाक् अर्थशक्तिमयी है। ज्ञानमय मनमें भी प्राणवाक्का सम्बन्ध है। कर्मों भी ज्ञान बिना व्यापारके एव बिना किसी अर्थके अपना स्वरूप प्रसिद्धित नहीं रखसकता। निष्क्रिय एवं विरर्पक ज्ञान कुछ नहीं। क्रियामय प्राणमें भी मन—वाक्का सम्बन्ध है। बिना ज्ञान अर्थ अर्थके क्रियाका संवाहन ही असंभव है। एवमेव वाक् में भी प्राण अर्थ मनका सम्बन्ध है। क्रिया एव ज्ञानके बिना अन्न सचमुच निरर्थक है। एही अर्थस्थायें यह मान लेना पड़ता है कि कर्मात्म्यपत्नी—मन—प्राण—वाक्—इन तीनों कर्मात्मों में प्रत्येकमें तीनों हैं, जैसाकि निम्नलिखित तालिकासे स्पष्ट होजाता है—



त्रिभुवन अमृतपुरुषका कारण शरीर है । त्रिभुवप्राण अमृतपुरुषका सूक्ष्मशरीर है । त्रिभुवनाक सूक्ष्मशरीर है । मन सुक्ष्मदे, यही कारण है । कामनाही सबका मूलकारण है । प्राण सूक्ष्म । वाक् सूक्ष्म है । नस इस 'पुरुषात्माधिकरण' के तीनो मन्त्र क्रमशः अमृतपुरुष की इन्ही तीनों कलाओंका निरूपण करते हैं । प्रथम मन्त्र त्रिभुव मनका निरूपण करता है । त्रिभुव मनमें भी मन-प्राण-वाक् तीनों का सम्बन्ध है । अतः इस मन्त्रक तीन अर्थ होजाते हैं । मनप्रधान विज्ञाननीति पक्ष, प्राणप्रधान धर्मनीति पक्ष, एवं वाक् प्रधान राजनीति पक्ष इसप्रकार तीन पक्षोंका निरूपण प्रथम मन्त्र करता है । यही अर्थस्य त्रिभुवप्राणतत्त्व प्रविपादक द्वितीयमन्त्रकी एवं त्रिभुवनाकतत्त्व प्रविपादक तृतीयमन्त्रकी है । मनसे कामनाका उदय होता है । स्वकामना द्वारा मन ही विषयभोक्तृ है । भोग करना मनका काम है । प्रथममन्त्र 'पुञ्जीयाः' इस रूपसे इसी मनोमय भोगतन्त्रका निरूपण करता है । प्राणसे स्थापार होता है । कर्तृत्वमन्त्रका अर्थ प्राण प्राण है । द्वितीयमन्त्र 'कुवभेदेह कामाग्रे' इत्यादि रूपसे प्राणमय इसी कर्तृत्वमन्त्रका निरूपण करता है । वाक् धामभक्त है । इसका आधारका उदय होता है । दूसरे शब्दोंमें यह वाक्तत्त्व आधारिततन्त्रका अधिष्ठाता है । तृतीयमन्त्र 'तमसाप्रना' इत्यादिरूपसे वाक्मय इसी आधारित तन्त्रका निरूपण करता है । भोग-कर्म-आधार तीनोंही सूक्ष्म-सूक्ष्म-कारण शरीर मदसे पृथक् २ विभक्त हैं । सूक्ष्मशरीरक भोगमें मनको वाक्का सहाय लेना पड़ता है, सूक्ष्मशरीर भोग में प्राणकी अपेक्षा होती है । एवं कारणशरीरभोगमें मनकी प्रधानता रहती है । दूसरे शब्दोंमें भोग-धर्म-आधार तीनों सूक्ष्म-सूक्ष्म-कारण शरीरमें भेद प्रेवागिभक्त हैं । तीनों मन्त्रोंने इसी रूपसे निरूपण किया है । अतः निरूपणीय विषयसे स्पष्ट होजायगा—

१—मनःप्रधान भोगतन्त्रम् — 'मनः'

१—विज्ञाननीति = कारणशरीरभोगो मनोमयः

२—धर्मनीति = सूक्ष्मशरीरभोगः प्राणमयः

३—राजनीति = सूक्ष्मशरीरभोगो वाक्मयः

“ ईशावास्यमिदं सर्वम् ” १

२— प्राणप्रधान कर्तृत्वमन्त्रम् — 'प्राणम्' ”

- १-विज्ञानीति: = कण्ठशरीरकर्म मनोमयम्
- २-धर्मनीति: = मुखशरीरकर्म माखमयम्
- ३-उज्वीति: = स्थूलशरीरकर्म वाय्वयम्

“ कुम्भेरे इति ”

१-वाक्यभानमाकरखतत्रम्—‘वाक्’

- १-विज्ञानीति: = कण्ठशरीरमाकरख मनोमयम्
- २-धर्मनीति: = मुखशरीरमाकरख माखमयम्
- ३-उज्वीति: = स्थूलशरीरमाकरख वाय्वयम्

‘असुर्या नाम ते वाक्’

उपर्युक्त वाक्शिकके विषयक्रमको ह्यपवन्नम करके ही आगेका प्रकारसे देसना चाहिए ।

१-गूढोत्सा नामसे प्रसिद्ध विद्याकर्ममय श्रमतात्सा  
 कारखशरीरपरकमागममय भोगतन्त्रम्—  
 मन

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।  
 तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

जगत्यां (संसारे) यत्किञ्च (यत् किमपि बराचरी) इह सर्वं (तत्सर्वमपि बलुजाव) ईश (जगन्निजपन्थ बोधशीपुरुषख) आवास्य (अभिभ्यास्य-श्रेयमिच्छियः) । तेन (ईशसत्तमा) सत्केन (प्रकृत्य-वस्तुना) भुञ्जीथाः (भोगे कुर्व) । कस्य स्विद् (कस्यपि) यत् धनम् । “जगन्मे जो कुञ्च बराचर है, यह सब ईशजी तत्तासे आकृत्य समझना चाहिए । ईश तब जोड़े हुए (निपल मिद् हुए) पदाथ से ही भोग करना चाहिए । किसी के (पदाथ) विषयी रूप्या माग्री” यह इ मन्त्रय अक्षरार्थ ।

पाठक को बने होंगे कि प्रविज्ञा पति गई भी कि प्रथम पद द्विधा वाच्य । एवं वाक्यावा ज्ञातव्ये कुञ्च अर्थे वा

यत् किञ्च भवती



से ही अमृततरामा का निरूपण सिद्ध होता। विषयमें बात ऐसी ही है। यदि साधारणों की बात होती तब तो प्राचीन व्याख्याताओं के माप्योंकी समासोचना 'करकेका' बवसर ही नहीं आता। वेदज्ञ विद्वान्—'परोक्ष प्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रसन्नद्विपः' (गो पू २।२१) इस श्रौत सिद्धान्तसे भलीभँसि परिचित हैं। आर्यवशासी के अनुसार यह एक शुभ नियम है कि महर्षिगण तर्षद्विप योंका प्रसन्न रूपसे निरूपण न कर परोक्ष रूपसे ही उनका स्वरूप बतलाते हैं। अक्षर कुछ और होते हैं, उनका प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न ही होता है। साधारण रीतिसे किनारे पर पहुँचने के अनन्तर जहाँ गुहानिहित रहस्यार्थ के निरूपण का बवसर आता है, वहाँ प्राप्त पुरुषोंके 'तद्-गुरुमुखादेवाकान्तम्यम्' 'परिवरनेन सेवया' इत्यादि आप्तेशक्य हँसारे सामने उपस्थित होते हैं। यह कइनेमें कोई विवक्तिपक्ति नहीं होगी कि आनन्दिन जितने भी वेदमाध्य उपलब्ध होते हैं, वे गुरुपरम्परा की मर्मादासे बहिर्भूत हैं। वेदके रहस्यार्थ गुरुपरम्परा में ही सुररक्षित हैं। व्याकरणक बससे वेदार्थका सम्यक् परिज्ञान कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। बनेका तात्त्विक अर्थ गुरुओं में ही विहित रहता है। चिरकालसे उस परम्पराका मार्ग बन्द हो गया है। सायहीमें—वेत्की गुहानिहित गुप्त परिमापार्थोंके निरूपण करने वाले रहस्य-विदान गाथा—वाकेशक्य—नारायण आदि ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं होते, एसी अवस्थामें केवल स्वयुक्तिबससे व्याकरणके बसपर किया हुआ वेदार्थ कभी उसके वास्तविक रहस्यको नहीं बतला सकता। परम्पराभिन्न—एवं गुरुकृपाके अधिकारियों के लिए इन्हीं अक्षरोंमें सब कुछ है। न देखने वालोंके लिए देखते हुए भी कुछ नहीं। इसी भावका बड़ा सुन्दर निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

उत त्व परमन् इव वाचमुठ त्वः शृण्वन् शृण्वात्यन्यम् ।

उतो त्वस्म तन्व विसृज्य आवेष पन्थ उरासी सुवाताः ॥

(श्वन्० १०।६।३१।३।)

आज उकी विद्वत्तरामके आपके समझ उपस्थित किया जाता है। अमृततरामके निरूपण करने बान इस पपम प्रकरण में तीन मन्त्र हैं। तीनों मन्त्रोंके प्रत्येकके तीन २ अक्षर होते हैं। राजनीतिपद्य, धर्मनीतिपद्य, विज्ञाननीतिपद्य, इसप्रकार तीनोंमें तीनोंपद्योंका समावेश

१-विज्ञानीतिः = कारखरुटीरकर्म मनोमयम्

२-धर्मनीतिः = मूसरुटीरकर्म प्राणमयम्

३-राजनीतिः = स्थूलरुटीरकर्म वायुमयम्

“ कुर्वन्नेह कम्पायि ” २

३-पञ्चधानमाखरुतन्त्रम्—“वाक्”

१-विज्ञानीतिः = कारखरुटीरकर्म मनोमयम्

२-धर्मनीतिः = मूसरुटीरकर्म प्राणमयम्

३-राजनीतिः = स्थूलरुटीरकर्म वायुमयम्

“ असुर्या नाम वे लोकत्रा ” १

उपर्युक्त तात्त्विकके विषयक्रमको इत्यङ्गम करक ही भागक प्रकरण देसनाबाहिर ।

१—गूढोत्मा नामसे प्रसिद्ध विद्याकर्ममय अष्टात्मा

कारखरुटीरपरकमात्मप्राप्तय भोगतन्त्रम्—

मन

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तं न भुञ्जीथा मागृथ कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

जगत् (संसारे) यन्किञ्च (यन् किमपि अकारं) इह सर्वं (तत्सर्वमपि बस्तुजात) ईशा (जगत्पिता बोधयोरुत्पत्त) आवास्य (अभिध्याय-इतिविशेषः) । तेन ( ईशसत्तया ) सत्केन ( प्रवृत्त-अनुना ) भुञ्जीथा ( भोग कुञ्च ) । कस्य स्विद्ध (कस्यापि) यन् मागृथ । “जगत्मे जो कुञ्च अकार ई, यह सब ईशरी सत्तासे आश्रित समझना बाहिर । ईशदाय जोह इह ( निष्क मिर इह ) पदाय से ही भाग करना बाहिर । किनी के (पदाय) विल्ली एत्था क्तयथा” यह इ मन्त्रम अक्षरय ।

पाठक मोचते होय कि प्रसिद्धा परी गह भी कि प्रथम प्रकरणमें अष्टात्माया बर निक परत किया जायग । एव वनसाया जातारे कुञ्च अकार अक्षरी । न उपर्युक्त भुनि के अक्षरी

से रोगिके प्राण पसेरू जड़जातेहैं । निदर्शन मात्रहै । आप अपने उपयोग में आनेवासी वस्तुओंको नियत स्थानपर रखदेतेहैं, एव समय-समय पर उनसे कामलेते रहतेहैं । उपरोक्त तन सक्तेन भुञ्जीया' इस आदेशको न मानमें बाधा कोई व्यक्ति आपकी सुख्यवस्थित वस्तुओंको अपने कामके लिए लेजाताहै, अथवा अस्तम्यस्त करदेताहै । सोचिए अब आपकी समय पर वे वस्तुएँ अस्तम्यस्त भिखतीहैं अथवा उनमेंसे कोई वस्तु (जिसके बिना आपका उस समय का कार्य रुक जाताहै) नहीं भिखतीतो क्या हासत होतीहै । अनुभव रिकिकी इस कठिनताका अनुमान लगासकतेहैं । कहना नहीं होगा कि आज भारतवर्षमें अपने इस उपयोग सनातन धर्म आदेशकी अवहेलना कर अपने समानमें कैसी अशान्ति उत्पन्न करदी है । बड़ा भारी छोटे भारीके न्यायप्राप्त सत्वको हड़पना चाहता है, पुत्र पिताके सत्वपर अनधिकार प्रेष्य करना चाहताहै, पराया धन-पराई स्त्री सत्वपर यथेच्छ आक्रमण किया जा रहाहै । फलतः भारतका प्रत्येक गृहस्थ आशामुखी बन रहाहै । हमारा विनाश हो रहाहै, हमारे दितचिन्तक न्यायालयोंका पोषण हो रहाहै । जमींदारोंके अत्याचारोंसे ब्रह्म गरीब किसान अपने सत्वमें क्लिप्त होतेहुए अपनी दर्द मरी आँसुओंसे भारतके वैभवको भस्मसात् कर रहेहैं । छंसारको अपने सद्गुणदेशोंका पाठ पढ़ाने बाधा, छंसारमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेबाधा—'सर्वे सन्तु निरामयाः' का उद्घोष करनेबाधा भारतवर्ष आज श्रुत आदेशोंका तिरस्कार करताहुआ छंसारकी दृष्टिमें कैसा शिक्कृत हो रहाहै, यह बतसाना लेखिनीके सामर्थ्यके बाहरहै । ऐसी अवस्थामें समाज शान्ति के लिए यह पहिछा-प्रधान अतएव आवश्यक कर्त्तव्य होजाताहै कि हम पराए सत्व पर कभी दृष्टि न डालें । भ्यक्तिक-समाजक-देशक-राष्ट्रक-इतनाही नहीं समस्त विश्वक इतिमें करपाव्यहै ।

दृष्टरेका वस्तु लेखकको कब ?, जबकि उसपरले उलक स्वामी अपना सत्व हटादे । जबतक उल वस्तुके छाप उलक ममत्वहै, तबतक उसे सर्वे का तुम्हें कोई अधिकारनहींहै । आप उपवनमें भ्रमछाप जावई । आपकी दृष्टि सुषण की खानपर पड़गी । एही स्थितिमें यह कभी मत समझे कि इसका स्वामी कोई नहींहै । बलो अपनही लेलें । विश्वास करो, उस प्रदेश का जो अधिकारिहै, वही इस खानका भी स्वामीहै । यदि बिना उसकी अनुज्ञाक तुम्हें उसपर

भावपरितोष की ही साधनी है। गुरुकृपा से गीताशास्त्र के सम्बन्ध में अभ्यस्यकास में जो जो विचार उद्भूत हुए हैं, उन्हें सिध्द कर दिया गया है। प्रसन्न के अनुसार उसी अस्तम्बल्लिपि संग्रह को गीताभाष्य नाम दे बाबा गया है।

अब एक प्रश्न इस सम्बन्ध में शेष रह जाता है। उसी का समाधान कर अक्षयनिवेदन समाप्त किया जाता है। पूरे में शिवाचरण के सम्बन्ध से जिन दो सधिमिषर्ता का विगृहण कराया गया था, उन के आधार पर सहसा हम यह मान लेने के लिए बाध्य होयते हैं कि हमें भारतीय आदर्श के अनुसार सांसारिक वैभव का सबषा शिरस्कर कर, समय पर जो रक्षा सूखा मिले उस खाकर अहोपत्र आत्मज्ञानविम्वन में ही निमग्न रहना चाहिए, केवल आत्म्य की ही उपासना करनी चाहिए। कर्ममय विष्व अशान्ति का कारण है। फलतः कर्मयोग का एकान्त-परित्याग ही कर देना चाहिए।

यदि सबभुव भारतवासियों का यही आदर्श है तो वह दूर से ही प्रणम्य है। यदि बोधी का के लिए कर्मयोगसंप्रण इस विगृह आत्मवाद को उपास्य भी मान लिया जाय तो कर्म (सधिन कर्म) की कृपा से कर्ममय विष्व में उ पच होने कला, एष कर्मसाधक कर्मोन्निवों को जन्म स ही साथ अपने बाबा पुरुष सांसारिक कर्मों का एकान्त परित्याग करय, यह सर्वषा असम्भव है। उग्रशैमर, सभाव संगमन सामाजिक निष्पन्न, सुध्वरत्वा आवि के विवा संसार में शान्ति नहीं रह सकनी। उधर आत्मयानी की दृष्टि से यह सब अशान्ति क मूल है। ऐसी दूरय में हमें कहना पड़ता है कि कर्म-योगसंप्रण आत्मवाद केवल पुस्तक की ही वस्तु है। उसे श्वय दारिकभ्य कर्मनि नहीं दिया जासकता। अन्ततोगत्वा हमें उसी पधिम क आर्क पर विध्वन करना पड़ता है।

‘ही नि-वि-वि को दूर करन के लिए शिवाचरण हमारे सामन आया है। गीता शास्त्र की दृष्टि में अक्षय ही विगृह आत्मवाद शिवा शब्द अनुसार है, जेष्ठ दि-“न स सम्म तरादेव सिद्धि समधिमाप्नुति” - ‘न कर्मणामनारम्भाभ्यङ्गस्य पुरुषाऽनुते” शब्दिके-निगमित्यते से शब्द है। कर्म-योगसंप्रण सामबन्धि का नगण्य महाशु है।’

दुर्भाग्य से कुछ गद्याब्दियों से भारतीय विद्वानों ने विशुद्ध ज्ञानयोग का ही प्रतिपादन किया है। कल्पित जगन्निष्पावाद के भ्रान्तोह में बाध कर हमें कर्मसम्पत्ति से ग्रन्थ कर विषय गया है। उसी साम्प्रदायिक दुरुपदेश से व्याप्तसन्तान ने कर्म से मुक्त मोक्ष लिया। सभी आत्म निरुपता का बेधुरा राग आसायने बने। सब के अन्त करणों में "संसार मिथ्या है, कर्म छोड़ो" इस विषय कीच ने अपना धर कर लिया। परियान इस का यह हुआ कि इस देश ने अपना सारा वैभव कर्मठ जातियों के येत थड़ा दिया। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत अपनी इसी मयङ्कर मूल से सरियों के लिए परतन्त्रता की जञ्जीरों से जकड़ दिया गया। व्याख्याता विद्वानों की सीखा यही समग्र नहीं हुई। शास्त्रों में भी उन्होंने ने यही छाप लगा दी। कुछ व्याख्याताओं में तो गीता जैसे बुद्धियोग-शास्त्र तक को ज्ञानयोग के रंग में रंगने में कोई कमी न की। अस्तु व्याख्यादोष से किस प्रकार हमारे सम्झाण विह्वल होकर हैं, यह सीमांसा करने का प्रकृत में अवसर नहीं है। पाठकों को इस का उधर तो खय गीतानाम्भ ही देदेना। हमें यहाँ केवल यही कहना है कि गीताशास्त्र की दृष्टि में कर्मयोगबन्धु ज्ञानमार्ग का कोई महत्त्व नहीं है।

तो क्या गीता कर्मरिप्रहलक्षण विज्ञानवाद का प्रतिपादन करती है! क्या गीता ने हमें यह आदेश दिया है कि हम दिन दिन नर नर पातक आभिष्कार करते जाय, एव उन के द्वारा अपनी आवरवकलाएँ पूरी करते जाय! क्या गीता पूर्व से हमें पश्चिम की ओर खेनागा चाहती है! क्या गीता ने आत्मलक्षण ज्ञान से बन्धित रखते हुए हमें विधैभव की ओर आकर्षित किया है? नहीं! कभी नहीं!! सबया नहीं!!

जिस प्रकार कर्मयोगबन्धु विशुद्ध ज्ञानयोग गीता की दृष्टि में हेय है उसी प्रकार कर्मरिप्रहलक्षण विशुद्धविज्ञान मार्ग भी दुष्प्रवस्तु है। जिस विज्ञान (कर्म) के मूल में ज्ञान नहीं रहता, वह विज्ञान दृष्टिक बनता हुआ हमारे नाश का ही कारण बन जाता है। विशुद्ध विज्ञान पपाय में भूतमाग की संपृद्धि का कारण बनता हुआ भी शान्तिबन्धु आत्मा के अनुग्रह से बन्धित रहता हुआ अन्त में श्रान्ति का जनक बन जाता है। फलतः यह कर्मसन्धु विशुद्ध विज्ञानवाद भी फलन्यासपप में महाप्रतिकम्बक सिद्ध होनाता है।

ज्ञान-कर्म भेद से उभरते के दो ही सत्तात्र मार्ग हैं, एव पूर्ण कानानुसार गीता दोनों का ही विरोध करती है। ऐसी अवस्था में विज्ञप्ता होती है कि गीता कइती क्या है? उत्तर गीता से ही पूर्णिए। गीता जाहती है, ज्ञान-कर्म का समन्वय, ज्ञान विज्ञान का एकीकरण, आत्म-विश्व का सम्मिश्रण। विश्वविज्ञान उद्यम, परन्तु अथ मूस में आत्मा प्रतिष्ठित रहे। आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ, परन्तु विज्ञानमूला विश्वविभूति का उच्छेद न हो तब। ऐसा विज्ञान जो आत्म अशान्ति, किंवा विश्व अशान्ति का कारण है, सर्वथा त्याग्य है। ऐसा आत्मज्ञान जो विश्वसम्पत्ति का विरोधी है, त्याग्य है। हम आत्ममूक पारलौकिक सुख चाहते हैं, और अथरप चाहते हैं। दूसरे शब्दों में यही हमारा परमपुरुषार्थ भी है। परन्तु हम यह कमी नहीं चाहते कि उस परमपुरुषार्थ के साथ अपना ऐहिलौकिक सार्थ सभग छोड़ें।

उद्यम भोजन, सुन्दर वेशभूषा, प्रजाहृदि, सयुद्ध वैभव, राजसत्ता, साम्राज्य सुखोपभोग, धन, मगर, राष्ट्र, सिद्धि कला, वास्तव्य, आदि सभी कुसु हमें चाहिए। पश्चिमे ऐहिलौकिक सम्पत्ति, फिर पारलौकिक पुरुषार्थ। पश्चिमे यहाँ सयुद्धि, फिर यहाँ आनन्द। हम आनन्द के उपासक हैं। हम यहाँ भी दुःखी क्यों रहें। आनन्द हमारा जन्म सिद्ध अभिस्वर है, साम्राज्य सुख हमारी बपोती है, स्वतन्त्रता हमारा आराध्यमन्त्र है। हमारी आत्ममाधना से अनुचित धाम उठते हुए यदि कोई मरणासन्न हमारी स्वतन्त्रता पर, हमारे साम्राज्य पर, हमारे ऐहिलौकिक सुखों पर, हमारी शान्ति में, हमारी उपासना में हमारी ज्ञानबर्षा में, हमारे वाशिम्य में, हमारे कला-क्रीडा में, हमारी सम्पत्ता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा तो हम बोड़ी देर के लिए ज्ञान-उपासना सब कुसु छोड़ देंगे। उस समय सब से पहिबा, एव सुस्य कथम्य हमारा यही होगा, जो कि वर्तम्य राजवैभव के स्वधिकार से बञ्चित अर्जुन के सामने मगधान के राजा व्यास वा, एव विश्वकर्षम्य के बस पर योगी अर्जुन ने पुनः अपना उद्यमैव प्राप्त किया वा। उस समय हमें हमारी-  
“युद्धाय ह्यनिश्चयाः” इस शास्त्रवा से कोई भी न विग्न सकेग।

क्योंकि हम जानते हैं, परलून राष्ट्र का कोई धर्म नहीं, कोई शास्त्र नहीं। उसे ज्ञान धर भी सुख नहीं। शुद्धम का क्या धर्म, क्या शास्त्र, क्या सम्पत्ता, क्या आभरणकल्पार्थ। पश्चि

नाम मात्र के लिए कुछ हो भी तो इन से हम साम नमा उठ सकते हैं। स्वतन्त्र-परतन्त्र की पक्षी सीमांसा शाब्दकारों में हमारे सामने रखी है। देखिए भगवान् मनु इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

पद्यत् परचञ्च कम्म तसपत्नेव नर्भयेत् ।

पद्यदात्मवसं स्यात्तत्तत् सेवेव यस्तव ॥

सर्वं परचञ्च दुःखं सवमारमवयं सुखम् ।

एतद्विधात् समोसेन सत्त्वयं सुख-दुःखयोः ॥ (मनुः ४।१५८-१५९)

। जब सुखी रहना हमारा उद्देश्य है तो फिर हम यहाँ भी दुःखी क्यों रहें। प्रथम जब भगवद् स्वरूप है, जब वह विश्वकर्म में निरन्तर रत रहता हुआ भी निष्काम सुखी है तो उसी के अशक्त रूप हम क्यों विश्व से ग्लानि करें। अपरय ही हमें उच्च उपाय का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिसके प्रमाण से विश्वासस्त्रिमूल दुःख को आक्रमण करे नहीं, एवं जिससपत् सम्बन्धी सुख हटे नहीं। वह उपाय है एकमात्र ज्ञान-विज्ञान की समष्टिरूप बुद्धियोग। उस फल मन्वर्तक है—एकमात्र गीताशास्त्र।

हम जानते हैं कि हमारी मोहनिया से परब्रह्मकोनें पर्णोपत आम उठना है। हम यह भी समझ गए हैं कि हमारे अतीत सामान्य वैभव को सामान्य विस्तार को, सम्पत्ता को जगद्गुरुत्व को कल्पना के काखे अक्षरों से ढका गया है। हम यह समझने में भी अब पीछे नहीं है कि हमारे अतीत का जो इतिहास हमारे सामने रखा गया है, जो मौखिक परिदृष्टि अतर्थाई गई है, वह सामान्यविज्ञान की करिणत छाया है। परन्तु इस समझ के साथ साथ हमें यह भी प्रतीक्षा करनी है कि अपने इस बुद्धियोगशास्त्र (गीताशास्त्र) के बल से उन निष्प्राप्तकारकों से पुन पुन कर वरदा करें। समय अपने पर आयसन्तान कभी प्रतियोग से पीछे न हटेगी। पहिले वह ऐहलौकिक अमृतदम को अपने अभिन्नर में करेगी, पीछे पारलौकिक सुख की चिन्ता करेगी। उसी शुभमुहूर्त को शीघ्र से शीघ्र उपस्थित करने के लिए राष्ट्रमियों के सामने राष्ट्र-भाषा में ही यह विज्ञानभाष्य नए कलेबर से नया संदेश सुनाने के लिए उपस्थित हुआ है। राजपुत्रों के एक कोने में बैठकर इस संदेश को विपिकर कर देना जहाँ ईश्वरीय प्रेरणा है,

यहाँ यह राष्ट्र के कोने कोने में व्याप्त होना, इसके लिए इस्वीय प्रेरणा का वरदान राष्ट्र में ही बनेगा।

हमारा विश्वास है कि यह माध्यम माठीय संस्कृति को सुरक्षित रखने में पूरा सफल होगा। कारण इसमें केवल प्रमाणवाद का ही आश्रय नहीं लिया गया है। अपितु प्रमाण प्राबुल्य के साथ साथ युक्तिवाद, तर्कवाद, विद्वानवाद, दशानवाद आदि का भी समन्वय करने की चेष्टा गई है। अब सच्चा से यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि इस माध्यम की गभीरता का दृष्टिकोण क्या होगा? तूतरे शब्दों में यह प्राचीन व्याख्याताओं की अपेक्षा—क्या गभीरता का बतलायेगा?

प्राचीन व्याख्याताओं में गीताशास्त्र के १० अध्यायों को ६-६-६ इस क्रम से तीन भागों में विभक्त करते हुए गीता को ज्ञानयोग—मोक्षयोग—कर्मयोग का निरूपक माना है। कुछ एक प्राचीनों को दृष्टि में गीता विशुद्ध ज्ञानयोगग्रन्थ है कुछ एक साम्प्रदायिक इसे विशुद्ध भक्ति योगशास्त्र मानते हैं, एवं कुछ एक राष्ट्रप्रेमी इसे कर्मयोगशास्त्र मानने का अभिमान करने लगे हैं। दार्शनिक दृष्टि से सभी प्राचीनमूल सुम्बन्धित हैं। परन्तु गीता विशुद्ध दशान (ज्ञान) ग्रन्थ नहीं है, अपितु ज्ञानसुक्त विज्ञानमय है। विज्ञानदृष्टि से उसकी तीनों ही योग अप्योग हैं। पाठकों को विश्वास कराना चाहिए कि गीता ज्ञान—भक्ति—कर्म तीनों में से एक का भी निरूपक नहीं करती। अब तक जो बुद्धियोग व्याख्याताओं की दृष्टि से परोक्ष रहा है गीताशास्त्र उसी का ही निरूपक से एकमात्र उली का निरूपक कर रहा है। अतएव हम यह ज्ञान—भक्ति—कर्म त्रिती नाम से व्यवहृत न होकर 'बुद्धियोगशास्त्र' नाम से ही सम्बोधित होगे।

बुद्धियोगदृष्टि से गीता को चार भागों में विभक्त माना जासकता है। कारण इस का यही है कि बुद्धियोग वैराग्य—ज्ञान—ऐश्वर्य—धर्म मेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों का अरुण बतसाने बाकी चार विषय क्रमशः राजपिपिषा, सिद्धपिषा, रामपिषा, आपपिषा इन भागों से प्रसिद्ध है। अग्रिम के ६ अध्यायों में वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिका राजपिपिषा का, आगे की २ अध्यायों (७-८) में ज्ञानबुद्धियोगप्रवर्तिका सिद्धपिषा का, आगे की ४ अध्याय



यों (६ १० ११ १२) में ऐश्वर्यबुद्धियोगप्रवर्तिका रात्रविद्या का, एष अन्त की ६ अध्यायों में अर्च्यबुद्धियागप्रवर्तिका आपविद्या का निरूपण हुआ है। इन विद्याओं के रहस्य बतलाने वाली २४ उपनिषदे इस शास्त्र की महाविशेष्य हैं। इन २४ उपनिषदों में १६० उपदेश हुए हैं। यही गीताशास्त्र का विषयदिग्दर्शन है।

गीताशास्त्र हमें सुखी बनाता चहता है। इस सुख के प्रतिबन्धक, एष अन्त के प्रवर्तक गिने गिनाए चार ही शशु हैं। वे चारों आसक्ति, मोह अस्मिता अभिनिवेश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आसक्तिभाव रगसक्ति, द्वेषसक्ति भेद से दो भागों में विभक्त है। यदि इनकी पूरक विद्या की जाती है तो चार के स्थान में पांच अन्त होजाते हैं, जैसा कि—'प्रविद्या-स्मितारागद्वेषाभिनिवेशाःपञ्चानेगाः' ( पा यो० सू० २।३ ) इस योग्यदि से स्पष्ट है। परन्तु विद्यालक्ष्य में रागद्वेष दोनों एक हैं। अनुकूलबन्धन राग है, प्रतिकूलबन्धन द्वेष है। बन्धनता दोनों में समान है। बन्धनता ही आसक्ति है। अतएव गीताशास्त्रने दोनों का आसक्तिशब्द से ही प्रकट कर दिया है। आसक्तिअन्त की चिह्नितता वैश्वबुद्धियोग है, मोह-अन्त की चिह्नितता ज्ञानबुद्धियोग है, अस्मितानन्त की चिह्नितता ऐश्वर्यबुद्धियोग है, एष अभिनिवेशअन्त की चिह्नितता भ्रमबुद्धियोग है। चारों में से एक के भी अनुदान से शेषतीनों अन्त निवृत्त हो जाते हैं। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्र का रहस्य है।

आत्मनिवेदन आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। अस्तु अब पाठक यह आशा कर रहेंगे कि इस निवेदन के अन्त्यबहुितोत्तरकाळ में ही गीताभाष्य उनके सामने आजायगा। परन्तु अभी उन्हें और थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इस प्रतीक्षा का कारण यही है कि गीता एक विज्ञानशास्त्र है। विज्ञानशास्त्र की कुछ एक सतन्त्र परिभाषाएं हुआ करती हैं। बिना उन परिभाषाओं का ज्ञान प्राप्त किए शब्दार्थ सबया अविज्ञान बना रहना है। इस परिभाषा के परिषय के लिए भाष्य से पहिले कुछ लिखना और आवश्यक बन गया है।

इस परिभाषा प्रकाश की यों तो अनेक भागों में विभक्त किया जासकता है, परन्तु प्रकाशक से इसके तीन ही अधिकांश बनते हैं। पहिला अधिकांश तो स्पष्टता व

सम्बन्ध रखता है, शायद दोनों अधिष्ठाण मूलग्रन्थ से सम्बन्ध रखते हैं। मूलग्रन्थ की कुछ परिभाषाएँ तो शायद मूलग्रन्थ से सम्बन्ध रखती हैं, एवं कुछ परिभाषाएँ ऐतिहासिकभाव से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार ऐतिहासिकपरीक्षा विषयपरीक्षा भेद से मूलग्रन्थ की परिभाषाओं में दो अधिष्ठाण बन जाते हैं। इसी दृष्टि से हमने इस परिभाषा प्रकरण को दो भागों में विभक्त करना आवश्यक समझा है। गीता का मूल विषय जितना बुरा है उससे अधिक सुविधिय गीतोपदेश्य श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण के जीवन में हम अमन्त विरुद्ध भावों का सम्बन्ध पाते हैं। एक ओर ब्रह्मसुक्तियों के साथ रास बिहार दूसरी ओर गीता का उपदेश। एक ओर पृथिव्य मण्डल, दूसरी ओर विश्वरूप प्रदर्शन। एक ओर अप्पत्यवाद की परान्याय दूसरी ओर कष्टी-वादन। सचमुच कृष्ण कोई अलौकिक लक्ष्य हैं। यों तो गीता अपने विषय की महत्ता से ही एक अलौकिक ग्रन्थ है परन्तु गीता की स्थापति का प्रधान श्रेय एकमात्र अलौकिक श्रीकृष्ण को ही है। विमर्श छोड़े समय का उपदेश अलौकिक है, उसका पूर्ण स्वरूप कसा अनुभूत होगा। यह एक विशिष्टात्म विषय है। इसी विश्वासा को पूरी करने के लिए विरुद्ध विज्ञान दृष्टि से श्रौत प्रमाणाँ के आधार पर सर्वप्रथम गीताशास्त्र का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। अष्टत्रयपरमक श्री कृष्णकृतनिरूपण नामक यही प्रथमकाण्ड है। अष्टत्रयपरमक यह प्रथमकाण्ड अगस्त १९०० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। मूलिक प्रथमकाण्ड प्रकाशन के अनन्तर क्या प्रकाशित होगा? इस प्रश्न का मर शायद गीताशाय की इच्छा पर ही निर्भर है।

ग्रन्थकर्ता अनन्तर हमारी दृष्टि शायद की साधारण परिभाषाओं पर, नाम पर, रचना का काल पर स्वरूप से प्रतिपाद्य विषय पर, ऐतिहासिक घटनाओं पर जाती है। इसके अनन्तर मूलविषय से सम्बन्ध रखने वाली अनन्तर परिभाषाओं पर दृष्टि जाती है। इस विश्वासा को शान्त करने के लिए ही दूसरा पीलाकाण्ड हमारे सामने आता है। एवं इसे हमने 'गीताविज्ञान माध्यमभूमिका' नामसे सम्बोधन किया है। परीक्षाकाण्ड नाम की यह मूलिका अगस्त १९०० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है, एवं इसे तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथमकाण्ड बहिरङ्ग दृष्टिप्रधान बनाता हुआ ऐतिहासिकपरीक्षात्मक है। आगे के दोनों अष्ट अन्तरङ्गदृष्टिप्रधान होने हुए विषयपरीक्षात्मक हैं।

बहिरङ्गपरिभाषात्व क सूक्तिका प्रथमसूत्र में विन विषयों का निरूपण हुआ है, उन की विस्तृत सूची खण्ड के आरम्भ में ही उद्धृत हो चुकी है। पाठकों के परिचयाय अन्तरङ्ग परिभाषात्मक दूसरे-तीसरे खण्डों की भी सञ्चित विषयसूची उद्धृत कर दी जाती है—

## गी०वि०भा०दि०खं० की सञ्चित विषयसूची

### ❁ विषयप्रवेश

#### १-दार्शनिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा

क-भारतीयपददार्शनवाद (६)

ख-भारतव्यद्वाददार्शनवाद (११)

ग-भारतीयभाष्यदार्शनवाद (१८)

घ-भारतीयपदत्रिशदार्शनवाद (३६)

ङ-सर्वदार्शनसमन्वय

क-शारीरक(व्यास)तन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा

ख-प्राधानिक(कपिक)सम्मतआत्मपरीक्षा

ग-वैशेषिक(कप्याद)तन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा

ङ-दार्शन सम्मत आत्मा का मौलिकब्रह्म

#### २-वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा

क-आत्मप्रतिपादक गौणशास्त्र

ख-आत्मनन्दमीमांसा

ग-निर्गुण-सगुणमीमांसा

घ-वस्तुतामपरीक्षा

ङ-ब्रह्मात्मपरीक्षा

क-सुखात्मपरीक्षा

ख-ईश्वरतामन्वूहरहस्य

ग-जीवात्मन्वूहरहस्य

घ-आहोतेयसञ्चार

#### ३-ब्रह्मकर्मपरीक्षा

क-सुधिमूत्रवपयकदशवादरहस्य

ख-त्रिसल्लवाद(ब्रह्मकर्मबन्धवाद)परीक्षा

ग-त्रिसल्लवाद(सदसञ्चार)परीक्षा

घ-असञ्चारपरीक्षा

ङ-सञ्चारपरीक्षा

घ-सिद्धान्तवादपरीक्षा

## १-कर्मयोगपरीक्षा

क-योगसङ्गति

(२) सख-निष्पत्तीमांसा ।

(१)-कर्ममाग की दुस्वभाव ।

(३)-कर्मफल के निरूपक ।

ख-वर्णव्यवस्थाविज्ञान

(१)-व्यवस्था वणसृष्टि ।

(१)-वर्णव्यवस्था में सामाजिक नियंत्रण ।

।२-वर्णनिरुक्ति ।

(३)-वर्णविभेद का जन्म से है, अपवा कर्म से

(१)-वर्णनिरुक्ति-वित्तिमुखावस्थासृष्टि ।

(८)-व्यवस्थासृष्टि के धर्मभेद

(२)-व्यवस्थासृष्टि-वर्णव्यवस्था ।

(९)-व्यवस्थासृष्टि के सम्बन्ध में परिष्करी

(३)-समाजानुगामी वर्णव्यवस्था ।

विधानों के विचार ।

ग-सामयविज्ञान

घ-संस्कारविज्ञान

(१)-संस्कार-परतन्त्रता की परिमाणा ।

(१)-संस्कारसंस्कारसृष्टि ।

(२)-ईश्वर की विभूति और उसकी प्राप्ति के उपाय

(२)-संस्कारों की सर्वव्यापकता ।

(३)-व्यवस्थाविज्ञान ।

(३)-सामाजिक धर्मसंस्कार ३२ संस्कार ।

(४)-सामयविज्ञानों का मौलिक स्वरूप ।

(४)-संस्कारसंस्कारविज्ञान ।

(५)-संस्कारसंस्कारविज्ञान ।

ङ-कर्मवन्त का वर्गीकरण-

(१)-कर्मनिष्पत्तीमांसा ।

(५)-गतिनिष्पत्तीमांसा ।

(२)-संस्कारनिष्पत्तीमांसा ।

(६)-संस्कारनिष्पत्तीमांसा ।

(३)-व्यवस्थासृष्टिनिष्पत्तीमांसा ।

(७)-व्यवस्थासृष्टिनिष्पत्तीमांसा ।

(४)-व्यवस्थासृष्टिनिष्पत्तीमांसा ।

(८)-व्यवस्थासृष्टिनिष्पत्तीमांसा ।

भाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड समाप्त

२

## २—ज्ञानयोगपरीक्षा—

क—उक्तप्रचलित सांख्यनिष्ठ

ख— ” योननिष्ठ

ग— ” भक्तिनिष्ठ

घ—निकृष्टकर्म-भक्ति ज्ञाननिष्ठ (कस्मिन्ना)

ङ—हेतुकर्म-भक्ति ज्ञाननिष्ठ (शास्त्रीया)

च—उपादेयकर्म-भक्ति-ज्ञाननिष्ठ (सशोधिता)

छ—आस्था बुद्धियोगनिष्ठ (भगवत्सम्मता)

ज—विक्रम-सकाममीमांसा

झ—नैकम्यलक्षण ज्ञानयोग

## ३—भक्तियोगपरीक्षा—

क—भक्ति का प्रचलितरूप

ख—वेदसुगकासीन भक्तिमार्ग

ग—वेदसुगकासीन भक्तिमार्ग

घ—द्विरपवर्गसम्मत भक्तिमार्ग

ङ—पौराणिक भक्तिमार्ग

च—नैकम्य भक्तिमार्ग

छ—सर्वबादसम्मत भक्तिमार्ग

ज—उपासना के विविध लक्षण

झ—सन्नक्ती उपासना

ञ—अन्नक्ती उपासना

ट—अभ्यक्ती उपासना

ड—प्रतीकोपासना

ड—प्रतिरूपप्रतिमोपासना

ड—भाष्यमयी प्रतिमोपासना

ख—निस्तानोपासना

त—मूर्तिनिर्माणा रक्ष्य

ध—गीता का संशोधित भक्तियोग

## ४—बुद्धियोगपरीक्षा—

क—बुद्धियोग का स्वरूप निश्चयन

ख—बुद्धियोग के आविर्भावक

ग—बुद्धियोग का प्रमत्तत्व

घ—बुद्धियोग की परम्परा

ङ—बुद्धियोग का उदय-स्थिति

च—धर्मलक्षण बुद्धियोग

## १-कर्मयोगपरीक्षा

### क-योगसद्बुद्धि

(१)-कर्मयोग की दुरुवृत्ति ।

### ख-वर्षाव्ययवस्थाविज्ञान

(१)-वर्षाव्ययवस्था की वृत्ति ।

(२)-वर्षानिर्दिष्टि ।

(३)-व्यवस्था-वित्तिसृष्टि ।

(४)-वर्षानुसिद्धि वर्षाव्ययवस्था ।

(५)-समाप्तानुसिद्धि वर्षाव्ययवस्था ।

(२) सज-विष्णुमीमांसा ।

(३)-कर्मत्व के निर्वानिक ।

(६)-वर्षाव्ययवस्था में सामाजिक नियंत्रण ।

(७)-वर्षाव्ययवस्था में जन्म से है, कर्म का कर्म से

(८)-वर्षाव्ययवस्था में धर्ममेद

(९)-वर्षाव्ययवस्था के सम्बन्ध में परिचय

विज्ञानों के विचार ।

### ग-आप्तप्रविज्ञान

(१)-आप्तप्र-परतन्त्रता की परिभाषा ।

(२)-ईश्वर की विभूति और उसकी प्राप्ति के उपाय

(३)-आप्तप्रविज्ञान ।

(४)-व्ययव्ययवस्था के मौलिक रहस्य ।

### घ-सत्कारविज्ञान

(१)-सत्कारशब्दरहस्य ।

(२)-सत्कारों की सर्वव्यापकता ।

(३)-भारतीय धर्मशास्त्रों में सत्कार ।

(४)-आप्तप्रसत्कारविज्ञान ।

(५)-वैवसत्कारविज्ञान ।

### ङ-कर्मव्ययवस्था का वर्गीकरण

(१)-कर्मव्ययवस्था की परिभाषा ।

(२)-सत्कारव्ययवस्था पदकर्म ।

(३)-उदकव्ययवस्था पदकर्म ।

(४)-आप्तप्रव्ययवस्था पदकर्म

(५)-शान्तिव्ययवस्था पदकर्म ।

(६)-शान्तिव्ययवस्था पदकर्म ।

(७)-शोकव्ययवस्था पदकर्म

(८)-विद्युतव्ययवस्था कर्मव्ययवस्था

भाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड समाप्त

## २—ज्ञानयोगपरीक्षा—

क—ओरप्रचक्षित सांख्यनिष्ठा	ख—उपायेयकर्म-भक्ति-ज्ञाननिष्ठा (सशोभिता)
ख— " योननिष्ठा	ङ—भाराध्या बुद्धियोगनिष्ठा (भगवत्सम्भवा)
ग— " भक्तिनिष्ठा	ज—निष्काम-सकाममीयांसा
घ—निरुद्धकर्म-भक्त-ज्ञाननिष्ठा (कल्पिता)	झ—नेत्रकम्पटक्षय ज्ञानयोग
ञ—ह्यकर्म भक्ति ज्ञाननिष्ठा (शास्त्रीया)	

## ३—भक्तियोगपरीक्षा—

क—भक्ति का प्रचक्षितरूप	झ—सकामती उपासना
ख—देवयुगकाशीन भक्तिमार्ग	ञ—अज्ञवती उपासना
ग—धेययुगकाशीन भक्तिमार्ग	ट—अन्यवती उपासना
घ—द्विरपयगर्मसम्भूत भक्तिमार्ग	ड—प्रतीकोपासना
ङ—पौराणिक भक्तिमार्ग	ढ—प्रतिरूप प्रतिमोपासना
च—दार्शनिक भक्तिमार्ग	ण—माकमयी प्रतिमोपासना
छ—रूढिवादसम्भूत भक्तिमार्ग	त—मिथानोपासना
ज—उपासना के विविध सङ्घ	थ—मूर्तिनिर्माणा रहस्य
	द—गीता का सशोभित भक्तियोग

## ४—बुद्धियोगपरीक्षा—

क—बुद्धियोग का स्वरूप निश्चयन	ख—बुद्धियोग की परम्परा
ख—बुद्धियोग के व्यापिभाषक	ङ—बुद्धियोग का उद्भव-विरोधाव
ग—बुद्धियोग का प्रभक्ताव	च—धर्मब्रह्मण बुद्धियोग

क-ऐश्वर्यसङ्घस्य बुद्धियोग

क-वैराग्यसङ्घस्य बुद्धियोग

ख-ज्ञानसङ्घस्य बुद्धियोग

ख-गिासिद्धान्तविमर्श

५—गीतासारपरीक्षा—

भाष्यभूमिका तृतीयखण्ड समाप्त

३

बहिरङ्ग—भक्ततन्त्रपरिभाषानिरूपणरत्नक (भूमिकाखण्ड) तीन खण्डों में विभक्त इस दूसरे परीक्षाखण्ड के अन्तर्गत मूलखण्ड हमारे सामने आता है। २४ उपनिषदों की अपेक्षा से यह मूलभाष्य २४ खण्डों में विभक्त किया है। इन २४ उपनिषदों के नाम, उपनिषदों में प्रतिपादित विषय सबका प्रस्तुत भूमिखण्ड के विषयविभागप्रकरण में निर्दिष्टन करवा दिया गया है। सब मिलकर यह विज्ञानभाष्य लगभग ७००० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है जो कि भूष्यकर्मियों पासक मरतकर्म की दृष्टि में सतिस ही कहा जायगा। यही हमारे अन्तनिवेदन की विज्ञानभूमि है।



उक्त आत्मनिवेदन लिखने का एक विशेष कारण है। उस कारण के परिचय से पाठक स्वयं इस निवेदन की आवश्यकता का अनुभव करेंगे। किन्तु ही महानुभावों में साक्षात् रूप से, एवं कितने ही सहयोगियों ने पत्रद्वारा हमें यह सूचित किया है कि तुम्हारे लेख में विस्तार आवश्यकता से अधिक रहता है। साथ ही मैं विषय अनेक बार (पद पद पर) दोहराया गया है। ऐसी पुस्तकें सोकरुणि का कारण नहीं बन सकती।

सम्पन्नों का सम्भव अन्वय ही सामयिक है, इसीलिए उपादेय भी कहा जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हम उन के इस अनुशासन को न मानने की श्रद्धा कर रहे हैं। फुटनोटों की शिष्टा हमें विद्यासम्पत्ति से बञ्चित रखती है। यदि हमें आधुनिकता का स्वरूप आधुनिकता के सामने रखना है तो इस के लिए हमें आधुनिकता का ही अनुगमन करना पड़ेगा। हमें अपने मस्तिष्क से फुटनोटों की बद्ध निष्कास कर उसे स्पष्टि-मेधा-मनीषा-प्रज्ञा आदि विषय संस्कारों से युक्त करना पड़ेगा। मनुकरुणिकता का एकात्मत परिष्कार करना पड़ेगा। 'सेकिएट्रल सेग्वेन (Book and Longway) संस्कृत दी' केवल यह कहने भर से काम न चलेगा। अर्थोपार्जन के लिए समयको निमग्नित करना पड़ेगा। इस के लिए अपनी आवश्यकताएं कम करनी होंगी। ज्ञाप्याय को सुसम बनाना पड़ेगा। तभी आधुनिकता के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त होसकेगा। अहोरात्र दूसरे दूसरे कार्यों में संलग्न रहते हुए, समा, सोसाइटी, टीपार्टी गवर्नपार्टी आदि में सतत संलग्न रहते हुए साहित्यज्ञान से कभी काम नहीं उठया जा सकता। आप तो विस्तार और पुनरुक्ति की कहते हैं, हमारा तो यह भी विश्वास है कि आधुनिकता को हिन्दीभाषा का रूप देना भी एक बहुत बड़ा पाप है। परन्तु क्या करें, परिदृष्टिकरण ऐसा करना पड़ रहा है। अन्वय हिन्दीभाषा द्वारा शाब्दिक वास्तविक मर्म जान लेना भी हमारी दृष्टि में असम्भव सा ही है।

मनुकरुणिकता का अनुवर्णनी अन्वय ही झट झट्टे टुकटों से समाप्त की क्यहू (साथ) मिला सकते हैं। परन्तु हम से ऐसी आशा करना व्यर्थ है। जिसे ज्ञाप्याय से प्रेम होगा, उस के लिए यह विस्तार और पुनरुक्ति उपादेय सामग्री होगी। यह हमारा सौभाग्य है कि ऐसे वातावरण में ही

एक व्यक्ति हमें ऐसा निष्ठा है, जो भीक्षुमर पश्चिमी शिक्षा का अनुगमन करता हुआ भी हमारे इस विस्तार को धोर भी अधिक विस्तृत देखना चाहता है। मधुसूदनसिंह के क्यूरेटर सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीवासुदेवसरणजी एम ए. एस् एस् बी में शपथपत्रमात्र के दो भाग प्राप्त करने पर हमें लिखा था—

“ करते हैं कि वे प्रतिपाद्यविषय का धोर भी अधिक विस्तार करें। कारण ऐसा आयोजन गताधिक्यों में कहीं एक बार ही होता है”।

बोही दर के लिए मनुसीनिए, हम इस कार्य में अयोग्य हैं। हमें सचेत से सिखना नहीं था, भया भी अशुभ है, पुनर्कृति को भी भत्तार है। परन्तु क्या एक ही व्यक्ति से सब व्यसारे करना उचित है। अहोरात्र भ्रम करके वैदिक विनोद संकलन करें अथवा सत्या से दूर करते हुए जैसे जैसे प्रकाशन का आयोजन करें। उस पर भी साध होय हमारे ही हिस्से में। क्या समाज का कोई कर्तव्य नहीं है। क्या एक कुरक लेती के साथ साथ पीठ कर, धानकर रोटी बनाकर अपने हाथों आरके मुख में डाल सकेंगे ! अस्मभ ! आप भोक्त हैं, हम श्रमक हैं। हमने अन्न उत्पन्न कर दिया, अन्न उसे परिष्कृत बनाकर भोग्य योग्य बनाना आपका कर्तव्य है। फेंकें, खिंचें, समादन कर, डार डार मच्छते फिरें, झोठे झोठे ट्रेड सिद्धें, समाजों में भीक्षार करते रहें क्या एक अस्मभमनुष्य के लिए यह सब कुल सम्भव है !

जितन ही सिद्धोत यह भी संकेत किया है कि तुम इतिहास पक्को, साथ ही में सम्पासी बन जाओ, तब काम होसक्य है। खगलम् ॥३॥ दोनों के लिए हम तो समय आनेपर अथवा ही प्रयत्न करेंगे। परन्तु यह सब कुछ कर लेने पर तो सम्तोष होनायगा। इससे पहिले क्या अपनी सम्पादकी को भी छोड़ दिया जाय ! क्या बिना इतिहास पके, धोर कपड रंगे साहित्यो-द्वार पर कोई अर्थ मार्ग नहीं है ! “न गन्तमन्विष्यति मूर्खते हि तत्”। इतिहास पकवा जैसे हमारे लिए आप आकरपक समझने हैं, जिसे हमें सम्पासी बनाने में आप उत्सव बना

रहे हैं, वेसे आपका भी तो कुछ कर्तव्य होना है। क्या सहज साहित्य आपकी कपौती नहीं है ? क्या आप द्विजाति नहीं हैं ? क्या आप अपन्यास नहीं कर सकते। असु वत्तमान में तो हम और हमारी यह साधारण क्षिति जैसी है, वैसी है। जिनकी रुचि हो वे अपनावें, नहीं तो नास्तिकवाद (नास्तिकवाद) का मूलमन्त्र है ही। इसी मूलमन्त्र के सखीकरण के लिए आवश्यक निवेदन करने की आवश्यकता हुई। अथवा है साहित्य प्रेमी हमारी सखीकारिता के लिए हमें क्षमा करेंगे।

विनीत—

मोतीसामशर्मा-गौड़ः

जयपुरीय





१—विषयोपक्रम





पुष्पीभूत भेषगोपाङ्गनान् मूर्त्तिभूत भागधेय यद्भूनाम् ।  
एकीभूत गुणविच श्रुतीनां त्रयामीभूत ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥



वा, उपनिषद्, श्याससूत्र (वेदान्तदर्शन) इन तीन शास्त्रों का समुच्चय विश्व  
समाज में "प्रस्थानत्रयी" नाम से प्रसिद्ध है। श्रुति-स्मृति पुराणपरब्रह्मक सना-  
तनधर्मसम्प्रदाय की कुत्रकुत्रा में सुप्रतिष्ठित ब्रह्मती श्री सम्प्रदाय भारतवर्ष में प्रच-  
लित हैं, उन सब की मूलप्रतिष्ठा यही प्रस्थानत्रयी है। इसीलिए प्रायः सभी  
सम्प्रदायाचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर अपनी अपने छतन्त्र भाष्य लिखे हैं। जिनो

प्रस्थानत्रयी का आशय लिए कोई भी अपनी सम्प्रदाय को सुरक्षित नहीं रखसकता। इस सम्बन्ध  
में हमें यह स्मरण रखना होगा कि जिन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं, उन की दृष्टि  
तात्कालिक परिस्थिति की ओर ही विशेषरूप से रखी है। देव-काल-पात्र की योग्यता को सर्व  
में रखते हुए, दूसरे शब्दों में सामयिक परिस्थिति को उद्देश्य में रखते हुए ही आचार्यों ने भाष्य  
लिखे हैं। यही कारण है कि हमारी दृष्टि में यह सम्प्रदायवाद "अधर्म" शब्द से सम्बोधित न  
होकर "यत्" शब्द से ही सम्बोधित हुआ है।

अप्रतिष्ठित नित्य नियम धर्म है। वह निश्चयानुचित होने से शाश्वत है। इसीलिए 'सर्वसमासमादान'  
इस निर्बन्धन के अनुसार इसे सन्तानधर्म कहा जाता है। धार्मिक परिस्थिति के अनुसार केवल परत  
समय के लिए ही उपयुक्त व्यक्तिविशेष के द्वारा बनाए गए उपदेशानुसृत नियमों को यमवि 'यत्वाद'  
है। धर्म पर यत् में ही अन्तर है। आज मनुसंहिता में जो धर्मग्रन्थों के द्वारा बताया है संस्कृत में यह यत्  
कहा गया है। आज मनुवाद में ही धर्म का स्थान महत्त्व का रखा है। इस विषय का निराद  
विषयन "धर्मोऽयं स्वधर्मः" (गीता ३।१५) इत्यादि श्लोक मान्य में देखना चाहिए।

मत्त का भूक्ति सम्बन्ध की कल्पना से सम्बन्ध है, अतएव मत्त प्रत्येक दशम में अनेक ही होते हैं। धम्म बहो अभिमानाव पर प्रतिष्ठित होता हुआ सग एव है, यहाँ मत्त भिन्नभाव को अपना आचार अनाद्य हुआ नानावाद से ही सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में जो समझिए कि धम्म की मूल प्रविष्टि बहो प्रकृतिविद्विद नित्य विद्वान है, यहाँ मत्तवादों की आचारभूमि सामयिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला दृशय है। विद्वान का ईशरीय जगत् से सम्बन्ध है, दशम का मानवदृष्टि से सम्बन्ध है। ईशरीय विद्वान बहो सम्पूर्ण विश्व के लिए एक है यहाँ मानवदशम प्राप्तीय मद्भिन्न मानवसमाज की परिस्थितियों के भेद से अनेक है। अपने अपने परतल पर दोनों ही सुव्यवस्थित हैं। भारतीय आचार्यों ने अहं सामयिक परिस्थिति के अनुसार विभिन्न पदों का अनुगमन करने वाली विभिन्न सम्प्रदायों का सञ्जावन किया है, यहाँ उन्होंने नित्यविद्वानसिद्ध धर्मप्रव को भी पुरुषरूप से सुव्यवस्थित रखा है। अनेकत्व के साथ साथ पञ्चत्व को अग्रताए रहना ही भारतीय धर्म, एव सम्प्रदायों की विशेषता है। इसी शाश्वतधर्म की कृपा से सच्चा पुरुष २ जाने बली भी सम्प्रदाए भारतम में आदर की दृष्टि से देखी गय हैं।

सम्प्रदायों का यह आदर मात्र उक्त प्रस्थानत्रया पर ही अवलम्बित है। टीक इसके विरुद्ध यदि किसी मद्भुक्तिने प्रस्थानत्रयी का एकात्मता निरादर करते हुए, अप्रथ मीमांसा समय मसङ्ग उपाधुपात इतुवा, धनसार, निर्वाहकर्म, उपक्रम, उपसहार आदि व्यत्ययार्पणनिष्ठापक नियमों की उपेक्षा करते हुए साकल्यना से मगमना कर्म करते हुए किसी सम्प्रदाय को बसाने की चेष्टा की है तो वह अपने इस प्रयास में सर्वथा विफल हुआ है। उदाहरण के लिए बौद्धमत को ही लीजिए। भगवान् बुद्ध उस समय की असामान्य विमूर्ति की, इसमें कोई सन्देह नहीं। साथ ही में वे अपने समय के आधुनिक थे यह बात सने में ही कोई आपत्ति नहीं। इनके इन्ही लोकोत्तर गुणों से प्रभावित होकर सनातनधर्मियों ने इनका अन्तारशब्द से सम्मान भी किया। परन्तु इनकी यह सम्प्रदाय प्रस्थानत्रयी का निरादर करने वाली हुई, बुद्ध को वैदिक

उक्त विषय का निरादर विवेचन स्वमिद्विज्ञाबम प्यमूमिकाग्रन्थ - 'क्या उपनिषत् ब्रह्म है ? इस प्रश्नकीप्रका में देखा जाय।'



साहित्य निरपेक्ष प्रतीत हुआ, इन्होंने ही एतद् शब्दों में वेद की निन्दा की। नस फिर क्या था। वेदमूलक व्यायत्रादि सुख की इस उच्छ्रंससता को सहन न कर सकी। परिणाम इसका यह हुआ कि अवतार कोटि में प्रसिद्धि रहने बाल यही सुख भागे जाकर "नास्तिक" शब्द की उपाधि से अस्मद्धृत कर द्विगुण व्यायत्रादि को उनका आदेश अणुमात्र भी मान्य न रहा। यही अवस्था परम सुधारक श्री स्वामी दयानन्दजी के सम्बन्ध में घटित हुई। स्वामी दयानन्द वेदों के विश्वान् ये या नहीं इस सम्बन्ध में हमें विशेष शक्य नहीं है। हाँ स्वामीजी के सम्बन्ध में यह बात निःसंदिग्ध थी कि वे हिन्दू जाति के परम हितैषी थे। हिन्दुत्व की दुर्दशा से उनका अन्तस्तप्त क्षुब्ध था। रुद्रिवादों से जगन्नरित मृतप्राम हिन्दुत्व को पुनरुज्जीवित करने के लिए स्वामीजी भागे वेंगे। अपनी इस नवीन सम्प्रदाय के निम्नलिखित में स्वामीजीने सुख की तरह प्रस्थानप्रथी की उपेक्षा तो न की, परन्तु अथ के सम्बन्ध में अपनी कल्पना का आशय लिया। चिरम्तन पद्धतियों की उपेक्षा कर अपनी कल्पना से नवीन पद्धतियों का निम्नलिखित का किपात्मक सनातनधर्म का गूहा घोट बाबा। मृतपितृश्राद्ध बैसा वैदिककर्म भी इनकी दृष्टि में अपैरिक्त रहा। परिणाम इस उच्छ्रंससता का क्या हुआ ? यह हमारे सामने है। व्यायसमान को जन्म लिए आज एक शताब्दी भी नहीं हुई, और उसके सिवात उसी के अनुयायी विद्वानों की दृष्टि में खोस्ले जन्मने लगे। और भागे मद्रिए। महात्मा गंधी मगवान् की देन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। हिन्दू जाति को अपनी इस धरोहर पर पूख अनिमान है। राजनैतिक क्षेत्र में हम महात्माजी को सर्वोच्च आसन देने के लिए तत्पार हैं। परन्तु धार्मिक क्षेत्र के सम्बन्ध में अब हम महात्मा जी का निर्धेय देखते हैं तो सहसा इत्कल्प होजाता है। प्रस्थानप्रथी में सबमान्य गीताशास्त्र महात्माजी का, एव उनके अनुयायियों का परमात्म्य मय है। इस दृष्टि से महात्माजी पूरे शास्त्र मूल, एवं उनके ईश्वरवादी हैं। परन्तु गीताध करने में उन्होंने भी अपने सुद्धिवाद का ही समा-ग्रय लेने की अनभिज्ञता श्रेया की है। फलत इस सम्बन्ध में वे भी सुख-दयानन्द की तरह विफल मनोरथ ही रहे हैं। तात्पम कहन का यही है कि सम्प्रदाय निर्माण में नीमोंसा समुत्साह सुख प्रस्थानप्रथी का अनुगमन प्रत्येक दशा में आकरक है। शकर-राधानु-बन्धन निम्नार्क

मत्त का चूक मत्तप की कल्पना से सम्बन्ध है, अतएव मत्त प्रत्येक दृष्ट में बनेक ही होते हैं । धर्म जहाँ धर्मिजन-मत्त पर प्रतीष्ठित होता हुआ सत्ता एक है, वहाँ मत्त भिन्नता को अपना आधार बनाता हुआ नानावाद से ही सम्बन्ध रखता है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि धर्म की मूल प्रसिद्धि जहाँ प्रकृतिसिद्ध निष्प विज्ञान है, वहाँ मत्तवादों की आधारभूमि सामयिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला वर्तमान है । विज्ञान का ईशरीय जगत् से सम्बन्ध है दर्शन का मानवसुद्धि से सम्बन्ध है । ईशरीय विज्ञान जहाँ सम्पूर्ण विश्व के लिए एक है, वहाँ मानवदर्शन प्रांतीय मोक्षमत्त मानवसम्पन्न की परिस्थितियों के मद्द से बनेक है । अपने अपने परात्म पर दोनों ही सुस्पष्टित हैं\* । भारतीय भाषाओं ने जहाँ सामयिक परिस्थिति के अनुसार विभिन्न पदों का अनुभव करने वाली विभिन्न सम्प्रदायों का सञ्चालन किया है, वहाँ उन्होंने निष्पविज्ञानसिद्ध धर्मरूप को भी पुरुरूप से सुरक्षित रखा है । अनेकत्व के सत्य साप एकत्व को अपनाए रहना ही भारतीय धर्म, एक सम्प्रदायों की विशेषता है । इसी शाश्वतधर्म की कृपा से सत्तया रूपक २ जाने वाली भी सम्प्रदाय भारतवर्ष में व्यापक की दृष्टि से देखी गई हैं ।

सम्प्रदायों का यह व्यापक भाव उक्त प्रस्थानत्रया पर ही अवलम्बित है । टीक इसके विनोद यदि किसी मन्दबुद्धि प्रस्थानत्रयी का एकान्ततः निरादर करते हुए, अथवा शीघ्रता सत्तया मसङ्ग उपासना, इतुता, अथवा, निर्वाहकर्म, उपक्रम, उपसंहार आदि साधनार्पणका एक नियमों की उपासना करते हुए, सकल्पना से मनमाला धर्म करते हुए किसी सम्प्रदाय को खजाने की चेष्टा की है तो यह अपने इस प्रयास में सर्वथा निरुक्त हुआ है । उदाहरण के लिए बौद्धमत को ही लीजिए । भगवन् बुद्ध उस समय की असाधारण विभूति थी, इसमें कोई सन्देह नहीं । साप ही में वे अपने समय के महासुधारक थे, यह मत्त खने में भी कोई आपत्ति नहीं । इनके इन्हीं शोकोत्तर गुणों से प्रभावित होकर सनातनधर्मियों ने इनका अक्षरशब्द से सम्पन्न भी किया । परन्तु इनकी यह सम्प्रदाय प्रस्थानत्रयी का निरादर करने वाली हुई, बुद्ध को वैदिक

\* एक विषय का निरुद विवेचन उपनिषद्द्विधाधम प्यमुमिह्यमत्तम 'कया उपनिषत्तु बहू है । इस प्रबन्धोपमा है देखा जाय ।

की तृष्टि कर सकता है। साय ही में वह अपनी इस संकुचित दृष्टि से एपाकयन्त्र अपना कल्याण भी कर सकता है। परन्तु विज्ञानमाप्य सर्वहित का सञ्चासक है। जूकि कर्त्तव्यन में प्रस्थानप्रयी पर एक भी विज्ञानभाव्य नहीं है, अतएव इस पर विज्ञानदृष्टि से विचार करना भावश्यक समझ गया है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सवप्रथम शतपथविज्ञानमाप्य का कुछ अथ पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अनन्तर दृशोपनिषत् विज्ञानमाप्य का प्रकाशन हुआ। यद्यपि लोकदृष्टि की प्रधानता के कारण सबसे पहिले गीतामाप्य का प्रकाशन ही न्याय प्राप्त था। परन्तु इस महाग्रन्थ के प्रकाशन में हम असमय थे। अतएव अतक यह काम रुक रहा। यह इस भाष्य का सौभाग्य है कि इसे कसकसे के कुछ धनिकों के द्वारा प्रोत्साहन मिला है, कुछ स्वरूप इस का श्रीगणेश कर दिया गया है।

भूमिका लिखना आसकस की प्रथमलि प्रयासी है। इसी प्रयासी का अनुरोध मानते हुए हमने भी इस सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक समझ है। हमारे विचार से किसी भी ग्रन्थ की भूमिका में शास्त्रोपदेष्टा आचार्य, शास्त्रवर्तक का मुख्य उद्देश्य, शास्त्रवर्तिपान्ति प्रधान प्रधान विषयों का सामान्यरूप स दिग्दर्शन शास्त्र से सम्बन्ध रचने बाने भिन्न भिन्न व्याख्याताओं के विचार पूर्वक उन के विचारों की स्वतन्त्र समामोचना इत्यादि विषयों का समावेश करना आवश्यक होनाता है। इन विषयों में से शास्त्रोपदेष्टा आचार्य के सम्बन्ध में भूमिका प्रकरण में कोई विचार न किया जायगा। इस के लिए हमने “गीता का आचार्य श्री छप्पू” नामसे एक खलत्र ग्रन्थलिखना आवश्यक समझ है। अतएव लिखने पर वह भी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने की चेष्टा की जायगी। अभी हमें शेष विषयों का ही दिग्दर्शन करना है। इस सम्बन्ध में आरम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि प्रस्तुत भूमिका में जो विचार प्रकट किए जायगे, उन का दारुनिकमात्रों से विशेष सम्बन्ध न रहेगा। ऐसा करने का मुख्य कारण यही है कि दर्शन का ज्ञान से सम्बन्ध है। एव ज्ञान को उद्देश्य मान कर गीता के सम्बन्ध में जितना विचार विमर्श अपेक्षित है, वह दर्शनमूलक प्राचीन भाष्यकारों, एव व्याख्याताओं के द्वारा गत्यर्थ है। हमारी दृष्टि में गीताशास्त्र महान् के “ज्ञानं तऽहं सविज्ञानमिदं

माध्यम्य भावि सम्प्रदाय इती पय का अनुगमन करने के कारण आज तक जीवित हैं ।

पूर्व की पद्धतियों से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि प्रस्थानत्रयी पर आज जिस भाषायों का माध्यम उपलब्ध हो रहे हैं, उन सब का भिन्नमात्रात्मक दार्शनिक दृष्टि से ही सम्बन्ध है । हमारे विचार से अक्षर्य ही इन ग्रन्थों पर विज्ञान माध्यम रहे होंगे । गीता और व्याससूत्रों को पौड़ी देर के लिए छोड़ भी दिए जाय, तब भी उपनिषद्, एव इतर वेदमन्त्र के सम्बन्ध में ही विज्ञानभाष्यों की सत्ता का किसी दृष्टि से अभाव नहीं माना जा सकता । वे वेदमाध्यम रहस्यब्रह्म, निदानग्रन्थ, गाथाग्रन्थ, कुम्भपात्रग्रन्थ, निषिद्धग्रन्थ आदि नामों से प्रसिद्ध रहे होंगे, इस अनुगमन को सर्वथा निम्न नहीं माना जा सकता । यह आर्यवर्षा का दुर्भाग्य है कि आज उन वैज्ञानिक ग्रन्थों में से एक भी ग्रन्थ उसे उपलब्ध नहीं हो रहा है । सम्प्रदायः साम्प्रदायिक युग से पहिले पहिले ही यह उपपत्तिग्रन्थ स्मृतिगर्भ में विसीन होगए होंगे । यही कारण है कि किसी भी साम्प्रदायिक आचार्य के साम्प्रदायिक माध्यम में दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त विज्ञान-इतिहासादि अन्य भागों का विचार उपलब्ध नहीं होता । उपनिषद्—गीता—व्याससूत्र इस तीनों पर कितने भी माध्यम हमें उपलब्ध हो रहे हैं, उन सबका एकमात्र दार्शनिक दृष्टिसे ही सम्बन्ध है ।

यह आरम्भ में ही निवेदन किया जा चुका है कि दार्शनिक दृष्टि का वेदवच से सम्बन्ध है । ऐसी दशा में साम्प्रदायिक दृष्टि से अपने अपने दृष्टिकोण से अपनी अपनी सम्प्रदाय की पुष्टि के लिए सबका उपयोगी होते हुए भी यह दार्शनिक माध्यम सावैशिशिक नहीं बन सकते । वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में, किंवा आर्यसाहित्य के सम्बन्ध में भगवान् मनु का "सर्व वेदात् प्रसिद्धपति" यह बचन, एव आयासहित्यवेत्ता भारतवर्षीय ऋषियों के महान् को प्रकट करने का—'एतद्देशममृतस्य सत्त्वशाद्ग्रजमनः स्व स्वै परित्त शिष्टैरन् पृथिव्यां सब मानवाः' यह बचन प्रस्थानत्रयी को केवल दार्शनिक दृष्टि प्रधान मानने से बचाय बरिताय परी हा सकता । उक्त बचनों को बरिधार्य मानने के लिए हमें एकमात्र वैज्ञानिक दृष्टि का ही आशय लेना पड़ेगा । वैज्ञानिक विज्ञान में साम्प्रदायवाद का समावेश नहीं है । यह विश्व की निराल निमृति है । उससे अनुगमन का कल्याण हो सकता है । साम्प्रदायमाध्यम साम्प्रदायिक



षड्याम्यशेषतः” इन शब्दों में ज्ञानयुक्त विद्यानवाव है। इसीलिए गीताभाष्य का हमने “महा-  
श्रीताविज्ञानमा य’ नाम रक्षता अन्वय समग्र है। हमारा विश्वास है कि यह भूमिका गीता  
प्रेमियों के सम्मुख एक ऐसे सवया नूतन, नहीं मही अस्तिपुरातनभाव को उपस्थित करेगी कि जिस  
के आभार पर वे—“गीता मुगीता कर्षभ्या किमन्यैः शास्त्रविस्तारैः” इस प्राचीन सूक्ति को  
अक्षरशः अदितार्थ करने में समर्थ हो सकेंगे।

इति भाष्यभूमिकाया-

विषयोपक्रम

—१—







२—सिंहावलोकन

३—शास्त्रशब्दनिर्वाचन

४—शास्त्र का सामान्य उद्देश्य

५—संस्कारम्बरूपनिर्वाचन

— . —



## ❀ श्री ❀

### २—सिंहावलोकन

मन्त्र—ब्राह्मणरूप अपौरुषेय वेदशास्त्र को छोड़कर और जितने भी शास्त्र हैं, उन सब का कोई न कोई कला (कला) अन्वय हुआ है। अपौरुषेय वेद से किसी दृष्टि में कम महत्त्व न रहता हुआ भी गीताशास्त्र श्रीकृष्ण द्वारा प्रवृत्त होने के कारण पौरुषेय कहलाता है। विरव के सवधेष्ट मन्त्रापुरूप दृष्ट्य ने गीता का उपदेश दिया है इसलिए गीता का महत्त्व नहीं है। अमिषु गीता वेद के शिरोपतः वेद के अन्तिम भागरूप उपनिषत् के ज्ञानसङ्ग्रह विज्ञान तत्त्वों को बोधगम्य शब्दों द्वारा हमारे सामने रखती है, इसलिए गीता सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित है। उपनिषद् तत्त्वों का जैसा निरलेपण गीता में हुआ है, वैसा अम्ब्र देखने में नहीं आता। यही कारण है कि अपने अधिकारसिद्ध स्मृति शस्त्र की उपेक्षा कर गीता आज उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हो रही है। आयासाहित्य में जितने भी शास्त्र उपसम्पन्न होते हैं उन सब के निर्माताओं की अपेक्षा गीताशास्त्र के निर्माता भगवान् कृष्ण का आसन सर्वोच्च है। इस धरातल पर सृष्टि के आरम्भ से अबतक जितने महापुरुष अक्षरीय हुए हैं, उन सब में सुन्दर स्थान गीताचार्य को ही दिया गया है। यही नहीं, अन्वय पुरुषों में भी एकमात्र कृष्ण को ही “पूजास्वतार” शब्द से संबोधित किया गया है। इस प्रकार सन्म्यापक सच्चिदानन्द ब्रह्म के पूजास्वतार, महामहिमशाली अमृत भगवान् (कृष्ण) के सुसंपन्न से त्रिभिःसूत वेदतत्त्वप्रदर्शक गीताशास्त्र अन्वय ही वेगतिरिक्त इतर सर्वशास्त्रों की तुलना में सर्वोच्चस्थान प्राप्त करने का अधिकार रहता है।

हम यह मानते हैं कि मामूलीसृष्टि की उत्पत्ति का जैसा प्राकृतिक नियम है, उसी के अनुसार कस के करग्रास में सौहृदसत्त्वों से निर्गमित दक्षी क गर्भ में कृष्ण ने जन्म लिया था। हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं कि कृष्ण में साधप्रकृष्टिसुखम सृष्टिका मत्तण, मासनचोरी, फन्दुककीड़ा, बाजगोष्ठी में विचरण आदि बाधोचित सभी धम्म शिव धाम थे। साप ही में दाम्बस्वभाव सन्नातोत्पत्ति देव-दि -गुरु-गाध आदि में पूर्ण निष्ठा, समयोचित नीतिमाग का अन्वयमन्त्र, आपत्तिकाम में वन्दुवर्ग की रक्षा, आश्रम

धर्म का यथाविधि परिपालन, समय समय पर सुख-दुःखादि इन्द्रियों का उत्प्रेषण, यथाकास भौतिक शरीर का परिष्कार, आदि मानव सुखन धर्मों का भी कृष्ण के ध्यान में सम्मिलन था। इस प्रकार मानवधर्मों के सर्वात्मना विद्यमान रहते हुए भी कृष्ण नेते अमानव पुरुष मान लिए गए। किस आधार पर उन्हें अवतार कहा गया? क्यों उन्हें पूर्वजन्म नाम से सम्बोधित किया गया? "गीता के आचार्य श्रीकृष्ण" नामक सतन्त्र ग्रन्थ में इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा की गई है। अस्मदादि साधारण जनों की दृष्टि में श्रीकृष्ण एक भौतिक मनुष्य की भक्ति प्रतीत होते हुए भी किन्हीं गुप्त कारणों के कारण अलौकिक पुरुष थे। ऐसे अलौकिक पुरुष का यह ग्रन्थ गीता भी यदि विश्व में अलौकिक माना जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है।

### ३—शास्त्रशब्दनिवचन

श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत् शास्त्र है। शास्त्र के रहस्याप (बैज्ञानिक रूप) को न जानने के कारण आज हमें इस शब्द को संस्कृत वाङ्मय भारतीय ग्रन्थों का ही वाचक मान लेना है। बल्कि दम्य जायतो शास्त्र शब्द के निवचन विज्ञान के अनुसार व्यर्थसाहित्य की तरह ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी, तमगु, कनाडी, गुजराती, बङ्गला, परतो, मारवाड़ी आदि सभी भाषाओं के साहित्यिक ग्रन्थों को 'शास्त्र' शब्द से सम्बोधित किया जा-सकता है। "पेसा करने से लाभ होगा, पेसा न करने से हानि होगी"—"पेसा करने से हानि होगी एमा न करने से लाभ होगा" "पेसा करो, पेसा मत करो" "इस तरह करो, इस तरह मत करो" इस प्रकार के अविधि एवं निषेधात्मक वचनों का संग्रह ही शास्त्र कहलाता है। तत्त्वविषयों की पूर्ण परीक्षा करने वाले जिन महापुरुषों में अपम चिरकालिक अनुभव से (परीक्षा करने में असमर्थ हयारे जैसे साधारण व्यक्तियों के कल्पना के लिए) शब्द द्वारा जो पद हयारे सामने रखे हैं, विधि निषेधात्मक, पूर्ण परीक्षित, अदृष्ट सर्वमान्य शब्दचिह्नक वही पद हयार लिप् शास्त्र है।

‘शास्’ का अर्थ है आदेश, आज्ञा, हिदायत । ‘प्र’ का अर्थ है, आदेश के पाठन की विधि, माग, पद्धति, तरीका । आदेश की पद्धति का प्रतीपादक शब्द संग्रह ही “शास्-प्र” का अनुसार “शस्त्रम्” है । उद्गु मुहाबरे के मुआक्रिक आप को इस तरह समझना चाहिए कि— एक नातजुबेकार की तरफ़ों के लिए उस की बहयूदी के लिए, उसे जानवर से इम्तान बनाने के लिए, उसे पाक साफ करने के लिए एक तजुबेकार आन्दिस और आशिम जुदापरस्त शम्स के लिए बतौर इलहाम के बतसाईं गइ कानिस व कानिस हिदायतों व उन के इस्तेमाल के तरीकों का मजमुआ ही ‘शरअ’(शास्त्र) है, हिदायतनाम्य ही शास्त्र है ।

अब देखना यह है कि शास्त्र शब्द की उक्त व्याख्या में गीताशास्त्र कहाँ तक सफल हुआ है । इस धरातल पर जन्म लेने कला प्राणी बनने जन्मकास से, जन्मकास से ही नहीं, अपितु गमकास से ही आरम्भ कर मृत्युपर्यन्त निरन्तर सुख की कामना किया करता है । भूख कर भी वह कभी दुःसाकसख की इच्छा नहीं करता । परन्तु व्याख्य है कि सर्वथा अनैच्छिक यह दुःख निम्नत्रय की कोई अपेक्षा न रखता हुआ पद पद पर इसे परिपीडित किया करता है । इस प्राकृतिक परिदृष्टि के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दुःख का अन्वय ही किसी प्राकृतिक धर्म से सम्बन्ध है । जब दुःखमोह में हम परत-त्र हैं तो बिना किसीतक-मितकके हमें यह भी यह मान लेना चाहिए कि दुःख के साथ साथ समय समय पर दुःखभर के लिए जो हमें सुख का अनुभव हुआ करता है वह भी प्रकृति दधी का ही अनुभव है । न हम हमारी इच्छा से दुःखी होते, एव न हम हमारी इच्छा से सुखी बनते । यदि सुखप्रार्थि का हमारा इच्छासातन्त्र्य के साथ सम्बन्ध होता तो संसार में कोई भी प्राणी दुःखी न रहता । अनिच्छा से उपरिप्लव होने बाल दुःखों को सभी व्यक्ति इच्छा से प्राप्त होने की सम्भावना बाध सुखों के बख पर मगने में समर्थ होनात । इस दिग्दर्शन से कहना हमें यही है कि दुःखमोह में निमग्न मनुष्य को विपुलकृतवत् जो दृष्टिक सुख का अनुभव हुआ करता है, वह भी परमार्थकोटि में जाकर दुःख ही है । इसीलिए अधियों ने कहा दुःख को प्रतिपुलनेदना कहा है, कहाँ यह दृष्टिक सुख ( सांसारिक वापिक सुख ) अनुपुलनेदना शब्द से सम्बोधित हुआ है । उभयपिप इस दुःख का मूल कारण क्या है ? सनत

धर्म का यथाविधि परिपालन, समय समय पर सुख-दुःखादि दुःखभावों का उद्रेक, यथाकाल भौतिक शरीर का परिवर्तन, आदि मानव सुखम धर्मों का भी कृष्ण के जीवन में सम्मन्वय था। इस प्रकार मानवधर्मों के सर्वप्रधान विषयगत रहते हुए भी कृष्ण कैसे अमानव पुरुष मान लिए गए ? किस आधार पर उन्हें अद्वैत कहा गया ? क्यों उन्हें पूर्णब्रह्म नाम से सम्बोधित किया गया ? "भीता क प्रार्थार्थ श्रीकृष्ण" नामक सतम्ब ग्रन्थ में इन्हीं प्रश्नों की सीधे सीधे की गई है। अत्यन्त साधारण जनो की दृष्टि में श्रीकृष्ण एक बौद्धिक मनुष्य की भाँति प्रतीत होते हुए भी किन्हीं गुप्त कारणों के कारण अलौकिक पुरुष थे। ऐसे अलौकिक पुरुष का यह ग्रन्थ गीता भी यदि सिद्ध में अलौकिक माना जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है।

### ३—शास्त्रशब्दनिर्वचन

श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् शास्त्र है। शास्त्र के रहस्य (बैज्ञानिक अर्थ) को न जानने के कारण आज हमें इस शब्द को संस्कृत शास्त्रम आर्योप ग्रन्थों का ही वाचक मान रक्खा है। बलुन दम्ब जायतो शास्त्र शब्द के निर्वचन विज्ञान के अनुसार आपसाक्षिप की तरह ग्रीक, लटिन, अरबी, फारसी, उर्दू, हिन्दी, नेमगु, फनादा, गुजराती, पञ्जाबी, पारसी, मारवाड़ी आदि सभी भाषाओं के साहित्यिक ग्रन्थों को 'शास्त्र' शब्द से सम्बोधित किया जा-सकता है। ऐसा करने से लाभ होगा, ऐसा न करने से हानि होगी—“ऐसा करने से हानि होगी पमान करने से लाभ होगा” ‘ऐसा करो, ऐसा मत करो’ ‘इस तरह करो, इस तरह मत करो’ इस प्रकार के अर्थों पर निर्भरता करने का संभव ही शास्त्र कहलाता है। तत्त्वज्ञानों की पून परीक्षा करने वाले जिन महापुरुषों ने अपने निरव्यक्त अनुभव से (परीक्षा करने में असमर्थ हमारे जैसे साधारण व्यक्तियों के कल्याण के लिए) शब्द शास्त्र जो पद हमारे सामने रक्खा है, विधि निर्धारण, पून परीक्षण, अद्वैत सर्वव्याप्य शब्दशक्तिपद की पद हमारे लिए शास्त्र है।

नूत जीवप्रवापति में वे सब कक्षाएँ विद्यमान हैं जो कि दूर में निय प्रतिष्ठित हैं। 'स वा एव आत्मा बाह्यमप प्राणमयो मनोमयः' (शत० प्रा० ११।७।२।६।) इस ऋषय सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में मन-प्राण-वाक् यह तीन कक्षाएँ प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों आत्मकक्षाओं का अन्वयसत्त्वा में क्रमशः कारणशरीर (मन), सूक्ष्मशरीर (प्राण), सूक्ष्मशरीर (वाक्) रूप से विकास हुआ है।

प्रथमाश्रमय मनोमय प्रपञ्च कारणशरीर है, देवनाभामय प्राणप्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है एवं नूतनाश्रमय वाक्प्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है। सब के ऊपर सूक्ष्मशरीर का वेद्यत है, इस के भीतर सूक्ष्मशरीर प्रतिष्ठित है, इस के भीतर कारणशरीर की सत्ता है, सर्वान्त में सगान्तरतम विद्युत् आत्मा प्रतिष्ठित है। आत्मज्ञान के निरुपाधिक-सोपाधिक भेद से दो भिन्न माने गए हैं। विद्युत्, निरुपाधिक, एक ही आत्मा निरुपाधिक है। इस के सम्बन्ध में शास्त्रोद्देश कुण्ठित है। कारण इस का यही है, कि शब्दातीत इस विद्युत् आत्मा का शब्दात्मक शास्त्र न फोड़ उपकार कर सकता, न अपकार कर सकता। यह तो सदा ही निरुपाधिक, निरुपाधिक, निरुपाधिक, एवं अनन्तकल्पवायुगुणाकार है। यही आत्मा माया कृपा गुण, विकार अज्ञान, आशय इन उपाधियों के कारण सोपाधिक बनता हुआ वाह्य मन-प्राण-वाक् तीन सत्ताओं में परिवर्तित हो जाता है। आत्मा की यह तीनों सत्ताएँ क्रमशः आत्मा-प्राण-पशु इन नामों से भी व्यपहृत हुई हैं। आत्मा मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, यही कारण शरीर है। प्राण प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है, यही सूक्ष्मशरीर है। पशुभाग बाह्यमय बनता हुआ अर्धप्रधान है, यही सूक्ष्मशरीर है। 'आत्मा उ एव संप्रैतत् प्रथम्' (शत० १।३। १) इस धीरे सिद्धान्त के अनुसार आत्मरूप कारणशरीर, प्राणरूप सूक्ष्मशरीर एवं बाह्यमय सूक्ष्मशरीर तीनों के समुच्चय को हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। इसी आधार पर—'आत्मा वै तन् (शरीरम्)' (गन० ६।७।१६।),—'आत्माना वा इमानि सत्ताएवज्ञानि ममवन्ति' (गन० ६।२।३।५),—'प्राणो वै ब्रह्म (आत्मा)' (गन० १।६।००।),—'आत्मा वै पशुः' (श्री प्रा० १।७।) इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित

प्रथिमापा करने पर भी शाश्वत सुख प्राप्त क्यों नहीं होता ! शाश्वत सुख की प्राप्ति का उपाय क्या है ! कौन से कर्म नित्य सुख के प्रतिषेधक हैं ! हमें कौन से कर्म करने चाहिए, एवं कौन से कर्म नहीं करने चाहिए ! जो प्रत्येक इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने में समर्थ है, वही शास्त्र कहलाता है। गीतोपनिषत् इस सम्बन्ध में पूर्ण सफल हुआ है। इसने सिद्धि-निषेधात्मक कर्म अकर्म का पूरा विवरण करते हुए शाश्वत सुख की प्राप्ति का उपाय बतलाया है, अतएव हम इसे अक्षर्य ही शास्त्र शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं।

आर प्रश्नर की सिद्धान्तियोगनिष्ठा के विशिष्ट निरूपण के साथ साथ भयवान् न सुखप्राप्ति के अक्षर्य साधनरूप १६० उपनिषद् गीता शास्त्र हमारे सामने रक्त हैं। आर ओर जितने भी शास्त्र हैं वे अक्षर्य-कर्म के अक्षर्य के कारण अक्षर्य हैं। किसी में केवल अक्षर्य की प्रधानता है, एवं कोई कर्मयोग को ही उपाय बतला रहा है। दूसरे शास्त्रों में यों समझिए कि किसी ने ज्ञानरूप को महत्व दिया है तो किसी ने कर्म का पछड़ा भारी रक्ता है। परन्तु अक्षर्यशास्त्र जहाँ ज्ञान का सम्पूर्ण निरूपण करता हुआ दर्शनशास्त्र है वहाँ सिद्धान्त का भी इस में पूर्यरूप से निरूपण हुआ है। अक्षर्यक दर्शन, एवं कर्ममूलक विज्ञान दोनों का सम्पूर्ण निरूपण करता हुआ सिद्धि निषेधात्मक यह शास्त्र अक्षर्य ही सर्वांगीय शास्त्र कहा जासकता है।



## २-शास्त्र का सामान्य उद्देश्य

जगत् कि पूर्व में कहा जानुशक है या शक्य है का संशय है। उनक परिपाकन को सिद्धि अक्षर्यन का उद्देश्य का ही भाव शास्त्र है। इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होने है कि सिद्धि-निषेधात्मक इस शास्त्रशास्त्र का उद्देश्य क्या है / अक्षर्य का अक्षर्य का अक्षर्य का अक्षर्य, यह शास्त्राक्षर्य हमारा क्या उद्देश्य कर सकत है / इन प्रश्नों का सक्षर्यान् दक्षर्य यह भाव ही कर शक्य, तथापि न सक्षर्यि अक्षर्य वहाँ भी सक्षर्य सक्षर्य का प्रयोजन, किन शास्त्र का सामान्य उद्देश्य को जान लेना अक्षर्यवक्षर्य न होगा। (अक्षर्यशास्त्रि का अक्षर्य



भूत जीवप्रवापति में वे सब कक्षाएँ विद्यमान हैं जो कि दृष्ट में नियम प्रतिष्ठित हैं। 'म वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय' (शत० भा० १३।३।२।६।) इस ब्राह्मण सिद्धांत के अनुसार आत्मा में मन-प्राण-वाक् यह तीन कक्षाएँ प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों आत्मकक्षाओं का अभ्यात्मसंस्था में क्रमशः कारणशरीर (मन), सूक्ष्मशरीर (प्राण), स्थूलशरीर (वाक्) रूप से विकसित हुआ है।

प्रज्ञानप्राप्तय मनोमय प्राणशरीर है, देवनाभामय प्राणप्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है, एव भूतनात्रामय वाक्प्रपञ्च स्थूलशरीर है। सब के ऊपर स्थूलशरीर का वेष्टन है, इस के भीतर सूक्ष्मशरीर प्रतिष्ठित है इस के भीतर कारणशरीर की सत्ता है, सर्वान्त में सन्नान्ततम विशुद्ध आत्मा प्रतिष्ठित है। आत्मशरीर के निरुपाधिक-सोपाधिक भेद से दो विक्त मानें गए हैं। विशुद्ध, निरुद्ध, एकल आत्मा निरुपाधिक है। इस के सम्बन्ध में शाब्दोद्देश कुण्ठित है। कारण इस का यही है कि शब्दातीत इस विशुद्ध आत्मा का शब्दात्मक शास्त्र न कोई उपकार कर सकता, न अपकार कर सकता। यह तो सदा ही निष्कशुद्ध, निष्कपुद्ध, निष्कमुक्त, एव अनन्तकल्पशुद्धाकार है। यही आत्मा माया क्रमात् गुण, विकार, अज्ञान, आशय इन उपाधियों के कारण सोपाधिक बनता हुआ उक्त मन-प्राण-वाक् रूप तीन सत्ताओं में परिणत हो जाता है। आत्मा की यह तीनों सत्ताएँ प्रथम आत्मा-प्राण-पशु इन नामों से भी व्यवहृत हुई हैं। आत्मा मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, यही कारणशरीर है। प्राण प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है, यही सूक्ष्मशरीर है। पशुमाय वाङ्मय बनता हुआ अर्थप्रधान है, यही स्थूलशरीर है। 'आत्मा उ एफ. सभेत्तव प्रपय' (शत० १ १।३।२) इस धीत सिद्धांत के अनुसार आत्मरूप कारणशरीर, प्राणरूप सूक्ष्मशरीर एवं वाङ्मय स्थूलशरीर तीनों के समुच्चय को हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। यही आधार पर—'आत्मा वै तन् (शरीरम्)' (शत० ६।३।२।६।),—'आत्मा वा इमानि सर्वाण्यध्वानि भवन्ति' (शत० १।३।३।५),—'प्राणो वै प्रथम (आत्मा)' (शत० १ १।६। ०।),—'आत्मा वै पशुः' (शत० प्रा० १-१।३) शब्दों के नियम बचन प्रतिष्ठित

अभिज्ञानापा करने पर भी शास्त्रन मुक्त प्राप्त क्यों नहीं होता ? शास्त्रन मुक्त की प्राप्ति का उपाय क्या है ? कौन से कर्म नित्य सुख के प्रतिबन्धक हैं ? हमें कौन से कर्म करने चाहिए, एवं कौन से कर्म नहीं करने चाहिए ? जो मन्थ इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने में समर्थ है, वही शास्त्र कहलाता है । गीतोपनिषत् इस सम्बन्ध में पूर्ण सफल हुआ है । इसने विधि-निषेधात्मक कर्म अकर्म का पूरा विरलेपण करते हुए शास्त्रन मुक्त की प्राप्ति का उपाय बतलाया है, अतएव हम इसे अन्वय ही शास्त्र शास्त्र से सम्बोधित कर सकते हैं ।

चार प्रकार की विद्याभुक्तियोगविद्या के विशद निरूपण के साथ साथ मन्थान् न सुखप्राप्ति के अन्वयतम साधनरूप १६० उपदेश गीता द्वारा हमारे सामने रखे हैं । और और कितने भी शास्त्र हैं वे मन्थ-कर्म के व्यतिक्रम के कारण अपूर्ण हैं । किसी में केवल मन्थ की प्रधानता है, एवं कोई कमभाग को ही उपाध्य बतला रहा है । दूसरे शब्दों में यो समझिए कि किसी ने ज्ञानपक्ष को महत्व दिया है तो किसी ने कर्म का पक्ष ही भारी रखा है । परन्तु गीताशास्त्र जहाँ ज्ञान का सम्पक् निरूपण करता हुआ दशनशास्त्र है, वहाँ विज्ञान का भी इस में पूर्णरूप से विरलेपण हुआ है । अन्वयतम दशन, एवं कर्ममूलक विज्ञान दोनों का सम्पक् निरूपण करता हुआ विधि-निषेधात्मक यह शास्त्र अन्वय ही सर्वाष्टय शास्त्र कहा जा सकता है ।

## २-शास्त्र का सामान्य उद्देश्य

जिसे कि पूर्व में कहा जा चुका है आदेश शक्तियों का संग्रह एवं उनके परिपालन की विधि बतलाने वाले शब्दसंग्रह का ही नाम शास्त्र है । इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि विधि-निषेधात्मक इस गीताशास्त्र का उद्देश्य क्या है ? अमुक काम करो अमुक काम मत करो, यह शास्त्रादेश हमारा क्या उपकार कर सकता है ? इन प्रश्नों का समाधान यद्यपि यह भाष्य ही कर देगा, तथापि सदम सङ्गति के लिए यहाँ भी संक्षेप से शास्त्र का प्रयोजन, किन्तु शास्त्र के सामान्य उद्देश्य को जान लेना अनावश्यक न होगा । ईश्वरप्राप्ति के अर्थ-

भूत जीवन्मायति में वे सत्र कक्षाए विद्यमान हैं जो कि दशर में निय प्रतिष्ठित हैं। 'स वा एष आत्मा बाह्यमप प्राणमयो मनोमय' (गण० प्रा० ११।७।२।१।) इस प्रकृत सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में मन-प्राण-वाक् यह तीन कक्षाए प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों आत्मकक्षाओं का अर्थात्संस्था में क्रमशः कारणशरीर (मन), सूक्ष्मशरीर (प्राण), सूक्ष्मशरीर (वाक्) रूप से विस्तृत हुआ है।

प्रधानाश्रय मनोमय प्रथम कारणशरीर है, दशमाश्रय प्राणप्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है एवं भूतमाश्रय वाक्प्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है। सत्र के उपर सूक्ष्मशरीर का वेष्टन है, इस के भीतर सूक्ष्मशरीर प्रतिष्ठित है इस के भीतर कारणशरीर की सत्ता है, सर्वात्मि में सशान्तरतम विद्युद् आत्मा प्रतिष्ठित है। आत्मशरीर के निरुपाधिक-सोपाधिक भेद से दो विभक्त माने गए हैं। विद्युद्, निष्कल, एकल आत्मा निरुपाधिक है। इस के सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश कुण्डित है। कारण इस का यही है, कि शब्दातीत इस विद्युद् आत्मा का शब्दात्मक शास्त्र न कोई उपकार कर सकता, न अपकार कर सकता। यह तो सदा ही निरुद्युद्, निरुमुद् निरुमुक्त, एवं अनन्तकल्प्याणुगुणाकर है। यही आत्मा माया कला गुण, विचार अज्ञान, आशय इन उपाधियों के कारण सोपाधिक बनता हुआ उक्त मन-प्राण-वाक् रूप तीन सत्याओं में परिणत हो जाता है। आत्मा की यह तीनों सथाए क्रमशः आत्मा-प्राण-पशु इन नामों से भी व्यवहृत हुई हैं। आत्म मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, यही कारण शरीर है। प्राण प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है, यही सूक्ष्मशरीर है। पशुभाग बाह्यमय बनता हुआ अर्थप्रधान है, यही सूक्ष्मशरीर है। 'आत्मा उ एव समेतत् प्रथम' (गण० १।३। १) इस भीत सिद्धान्त के अनुसार आत्मरूप कारणशरीर, प्राणरूप सूक्ष्मशरीर एवं बाह्यमय सूक्ष्मशरीर तीनों के समुच्चय को हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। इसी आधार पर—'आत्मा च तन् (शरीरम्)' (गण० ६।७। ६।),—'आत्मना वा इयानि सत्वाण्यज्ञानि प्रभवन्ति' (गण० ६।१।३।५),—'प्राणो वै प्रथम (आत्मा)' (गण० १।६। ०।),—'आत्मा वै पशुः' (गण० १। ७।) इत्यादि निम्न वचन प्रतिष्ठित

हैं। तन्मू (स्पृहशरीर), एवमस्र (सूक्ष्मशरीर) को भी श्रुतियों ने व्याप्य शब्द से सम्बोधित किया है। इन तीनों की समष्टि एक व्याप्य है, यही सोगाधिक व्याप्य है। त्रिकोपाधिक व्याप्य जैसे त्रिचि-रोप कहलाता है, एवमेव त्रिकोप सोगाधिक यही व्याप्य सविशेष कहलाया है। यही सविशेष व्याप्य वेद में प्रजापति शब्द से सम्बोधित हुआ है। व्याप्य प्राण शु की समष्टि ही प्रजापति है।

उक्त माय-कला व्याप्ति परिमहों के न रहन से जो त्रिचिरोप अर्थात् त्रिप्लव, निर्गुण प्रविकारी निरञ्जन, एवं पाप्याओं से शून्य था, वही उक्त परिमहों से युक्त होकर सविशेष बनता हुआ प्रजापति नाम धारण कर पायी, सकल सगुण सचिकारी साञ्जन, एवं पाप्याओं से युक्त होजाता है। परिमहदशा में व्याप्य की वास्तविक अन्वयति क्व क्षिरोमान होजाता है। मस्तिन सब युक्त व्याप्य के इस मस्तिन प्रकार से अत्रेप्रज्ञ आत्मा (विज्ञानात्मा-मुक्ति) एवं इन्द्रियसंवाचक मन्वानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) दोनों मस्तिन होजाते हैं। रुसन कर्तव्यकतन्वयविक्रम जात रहता है। ऐसी दशा में य तो मनुष्य कि कर्तव्यविक्रम बन जाता है, अपन सुख की काङ्क्षा से दोषाय-मन्वाप्तःकरण बनता हुआ, उत्पन्नार्ग क्व व्याप्य सत्य हुआ और भी अधिक पट्ट में निमग्न हो जात है। इस व्याप्य के निराकरण के लिए व्याप्य पर व्याप्य हुए मायवि परिमह दोनों को हटा या नितान्त आकरक है। जिस प्रक्रिया (तरीके) से यह दोष परिमार्जित होते हैं उस प्रक्रिया को ही शास्त्रों में "संस्कार" कहा जाता है। भारतकर्म के सभी शास्त्रों का एकमात्र मुख्य उद्देश्य आत्मसंस्कार ही है। कथना न होय कि इस उद्देश्य में गिनाशास्त्र न जैसी सफलता प्राप्त की है, जैसी सफलता में अन्य शास्त्र पीछे ही रहे हैं।

प्राचीन शास्त्रमर्त्या के अनुसार व्याप्य की स्पृहकथारूप स्पृहशरीर के संस्कार के लिए अपवर्ण का उद्देश्य आधुर्बदशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। प्राणकथारूप सूक्ष्मशरीर के संस्कार के लिए मन्वादिपर्मशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। एवं मनोमय कारणशरीररूप व्याप्य के संस्कार के लिए उपनिषद्शास्त्र एवं तन्मूव्याप्यनमृत शरीररूपशास्त्र (ध्यासदशन) प्रवृत्त हुए हैं। इन तीनों शास्त्रों को कर्मशास्त्रों की शरीरों को मुख्य मानते हुए, इतर दोनों शरीरों की रक्षा का भी पूरा ध्यान रखा गया है। आधुर्बदशास्त्र सदा यह ध्यान रखेगा कि स्पृहशरीर के हित के साथ कहीं सूत्र

एक कारखशरीर पर आघात न होना। एवमेव सूक्ष्मशरीर के संस्कारक धर्मशास्त्र को संस्कारकशास्त्र के संस्कारकशास्त्र के अन्तर्गत, एक आत्मनिष्ठा को सद्य में रख कर ही धर्म देशों का विधान करना पड़ेगा। इसी प्रकार अर्थशास्त्र, किंचिद् वेदान्तशास्त्र आदि का भी मेद से ही आत्मनिष्ठा का विधान करेगा। प्रत्येक शास्त्र को अपने-मूलसम्पन्न की रक्षा के लिए इतर दोनों शास्त्रों की रक्षा का पूरा ध्यान रखना पड़ता है यही तत्पर्य है।

यही कारण है कि कारखशरीर (संस्कारक वेदान्तशास्त्र) साथ साथ ही में मन्वना की पवित्रता, एक सूक्ष्मशरीर की (स्नान-आहार विहार आदि रूप निष्पन्न शास्त्र) बहिःशरीर को आवरण समझना है। इसी प्रकार धार्मिक संस्कार भी आत्मसंस्कार-देवसंस्कार-भूतसंस्कार मेद से ही ही माँगों में विभक्त माने गए हैं। यही स्थिति आधुनिकशास्त्र की है। इस तरह यद्यपि तीनों ही शास्त्र तीनों शरीरों के उपकारक बनते हुए 'प्रजापतिसंस्कारशास्त्र' नाम से व्यक्त हो सकते हैं। तथापि तीनों के समुच्चय की दृष्टि से हम इतर दोनों शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र को ही प्रधानरूप से प्रजापतिसंस्कारशास्त्र कहना उचित समझते हैं। कारण इस का यही है कि वेदान्तशास्त्र प्रधानरूप से आत्मसंस्कारक है, जेव दोनों भागों में यह अप्रधान है। धर्मशास्त्र प्रधानरूप से प्राणसंस्कारक है, शेषभागों में गौण है, एवं आधुनिक शास्त्र प्रधानरूप से पशुसंस्कारक (भूतसंस्कारक) है शेषभाग में गौण है। इतर हमारा गीताशास्त्र आत्मा-माय-पशु तीनों का समानरूप से संस्कारक बनता हुआ अक्षर ही तीनों से अधिक महत्व रखता है। गीताशास्त्र पर दृष्टि डालिए। बड़ा आप को बड़ा विस्तार के साथ भूतमय सूक्ष्मशरीर के संस्कारक आहार-विहारों का परिपूर्ण विधान मिलेगा। प्राणमय सूक्ष्मशरीर के संस्कारक मायशुद्धि, सत्संशुद्धि, आदित्य आदि का उपबृहत् उपलम्भ होगा। एक मनोमय कारखशरीर आत्मोपविक्रम बुद्धियोग्य संस्कारों का प्राचुर्य मिलेगा। यही तो इस शास्त्र की सर्वशास्त्रापेक्ष्य उत्कृष्टता, महत्ता, एवं अपूर्वता है। निष्कर्ष यही हुआ कि "आत्मा माय-पशु समष्टिरूप (कारख-सूक्ष्म-सूक्ष्मशरीररूप) सविशेष आत्मा का संस्कार करना ही शास्त्र का सामान्य उद्देश्य है। एवं अपने इस उद्देश्य में यह गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की अपेक्षा सर्वात्मना सफल हुआ है।

## ५-सस्कारस्वरूपनिर्वचन

किसी दोषयुक्त वस्तु को जिस प्रक्रियाविधेय से निर्दोष बनाया जाता है, वह प्रक्रिया विशेष ही सस्कार है। किन्ना सस्कार के वस्तु का प्रतिरिक्त स्वरूप विनातीय धर्मा (दोषों) के कारण नियम बना रहता है। नियमता कुटिलता है, इस कुटिलता से उसके एकत्वभाव का विनाश होजाता है परन्तुसब स्थिति भिन्न होजाता है, नानामापरूप वस्तु (मात्र) का उदय होजाता है। ठीक इसके विपरित समता एकत्वभाव की प्रवर्तिका बनती हुई एकत्वमुक्त प्रपूत भाव की स्वरूपसमर्पिका बनती हुई एकत्वमुक्त अपूतभाव (वस्तुस्वरूपरक्षा) की साधिका बन जाती है। जिस प्रक्रिया से अम्युरय एवं निश्चयसमूहा इस समता का दूसरे शब्दों में एकत्व का उदय होता है, वही प्रक्रिया 'सम्-स्कार' भाव की जननी बनती हुई सस्कार शब्द से संबोधित हुई है। 'संभोग्यकीमात्रे' इस निरुक्त सिद्धान्त के अनुसार "सम्" शब्द एकत्व का बोधक है। 'सम्' एकत्व है, एकत्व ही समत्व है। इस समत्व को सम्पादित करने वाली प्रक्रिया ही सस्कार है। सुखात्म से सस्कार ही सस्कार रूप में परिणत होजाता है। वह ऐसी कठिन प्रक्रिया है, जिससे पदार्थ की अवनतिमूला नियमता दूर होजाती है, एवं उस विमुक्त सम्भवयोग का उदय होजाता है। इस प्रयत्न के सम्प्रधान के लिए दोषमार्जन, गुणापान हीनाङ्गपूर्ति इन कर्मा को ही सामने रखना पड़ेगा। इन्हीं तीनों प्रक्रियाओं से पदार्था में उक्त अतिशय उत्पन्न होता है।

सबसे पहिले दोषमार्जन को ही लीजिए। दोष की कोई निम्न परिभाषा बना डालना भी एक जटिल समस्या है। किसी की दृष्टि में एक धर्म दोष है, वही धर्म किसी अन्य की दृष्टि में गुण है। स्वयं शास्त्रों में भी दूय-क.व-पाम-द्रव्य-भ्रष्टा के व्यतिरिक्त से गुण-दोषों का परस्पर में सस्कार स्पष्टार दख्य गया है। उदाहरण के लिए सख्यपत्र गुण माना गया है। परन्तु-"वर्णिनां हि तपो यथा साह्यनूनां वदेत्" इत्यादिका से इस नियम का भी यत्र यत्र अन्वयद मिश्रता है। "मा हिंस्यात् सदा भूतानि" के अनुसार बहिंसा गुण है, हिंसा दोष है। परन्तु-"तस्मापठे यथाऽवना" इत्यादि रूप से पहिले पठ्यहिंसा को गुण माना

गया है। ऐसी दशा में गुण-दोष का कोई स्थापक संकल्प बना डालना एक प्रकार से असम्भव ही हो जाता है।'

यह सब कुछ होने पर भी प्रयास करने पर एक संकल्प अन्वय ही बन जाता है, जिसे कि हम गुण-दोषभावों का सामान्य संकल्प कह सकते हैं। "मिन करणों से अपने अन्त-रात्मा में दुःख, अज्ञानि क्षोभ, अशांति आदि भावों का उदय होता है, एवं हमारे जिन कर्मों से दूसरे माणियों में दुःखादि भावों का उदय होता है, वे सब कारण "दोष" शब्द से सम्बोधित किए जा सकते हैं। जिनमें ही कर्म ऐसे हैं, जिनसे हमारी तो उन्नति होती है, परन्तु दूसरों को उनसे कष्ट होता है। ऐसे स्थापक कर्म सभी कर्म वैयक्तिक सुख के कारण बनते हुए अत्यन्त दोष ही माने जायेंगे जैसा कि—“सुखते ते स्वय पापा य पचन्त्यात्मकारणात्” (गीता ०३१)। इत्यादि वचन से स्पष्ट है। कारण इसका यही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रह कर ही अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करना है। ऐसी स्थिति में इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि यह अपनी शान्ति सुख के साथ साथ समाज की शान्ति, सुख का भी पूरा ध्यान रखे। वैयक्तिक स्वार्थमात्र ही भागे जाकर समाज की अशांति का कारण बन जाती है।

विचार करने से प्रतीत होता कि व्यक्तियों के समूह का ही नाम समाज है, समाज समष्टि ही राष्ट्र है, एवं राष्ट्रसमष्टि ही विश्व है। इन चारों में मूलभूततः व्यक्तित्व ही है। यदि सभी व्यक्ति अपने अपने हितों को ही प्रथमता देते जाय तो इन स्वार्थी व्यक्तियों का संपठित समाज भी स्वार्थी बनता हुआ राष्ट्र के नाश का कारण बन जाय। राष्ट्रनिर्माण अन्य राष्ट्रों की अशांति का कारण बनता हुआ अन्ततः स्वयं विश्व अशांति को अपनी निजामन्त्रि बनाले। इस प्रकार यह व्यक्तिसवार्थ, किंवा व्यक्तिस्वातन्त्र्य परम अशांति का कारण बन जाता है। ऐसी दशा में केवल वैयक्तिक हितसाधक कारणों को कभी गुण नहीं माना जा सकता। हमारे कर्मों से हम भी दुःखी न हों दूसरे भी दुःखी न हों प्रसुत हमारे उपकार के साथ साथ दूसरे भी हमारे कर्मों से उन्नत हों, यही गुणभाव कहलावेगा। ठीक इसके विपरीत 'मिन करणों से हम

भी दुःखी रहें, दूसरे भी दुःखी रहें, ये सब कारण दोष माने जायेंगे" गुण-दोष का यही लक्षण शकसम्भूत है। "यस्मान्नोद्दिश्यते सोको, सोकाश्नोद्दिश्यते च यः" (गीता-१२।१५।) "परस्पर भावयन्ताः श्रेयः परमनाप्स्यथ" (गीता० १।११।) इत्यादि शीघ्र सिद्धान्त उक्त लक्षणों का ही सम्बन्ध कर रहे हैं।

उक्त दोष बिन कारणों से हमारी अभ्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होगये हैं, उन कारणों को मन्विय के लिए रोकना, एवं साध ही में पहिले से संबन्धित संस्काररूप दोषों को समूह नष्ट कर बाधना ही पहिले का एक मुख्य दोषमार्जनसंस्कार है। बिन कारणों से उक्त लक्षण गुणमय पहिले से आत्म में प्रतिष्ठित हैं, उन कारणों को सबस बनाते हुए साध ही में उन सबस कारणों के द्वारा ओर ओर गए गुणों का आत्मा में आधान करना ही दूसरा गुणाधानसंस्कार है। जिस पदार्थ का अज्ञ मज्ञ रहता है उस की पूर्णता निश्चिन्त रहती है। यदि एक कुर्सी का पाया टूटा हुआ है तो सर्वथा निर्दोष होती हुई भी वह अपूण है। लकड़ी साफ सुथरी है, दोषमाग्न संस्कार हो रहा है। पालिस होखी है गुणाधानसंस्कार भी निश्चयन है। परन्तु अज्ञ मज्ञ से लोगों संस्कारों के रहने पर भी कुर्सी अपूरी है, अपूण है, निरर्थक है। यही दशा आत्मसंस्था की सम-स्तिर। आत्मा सर्वथा निवृत्त है, साध ही में उस में अपने गुण भी निश्चयन हैं। परन्तु यदि आत्म का अज्ञ निश्चल है तो वह अपूण है। सर्वधर्मोपपन्न प्रजापति (आत्म) के अनेक अज्ञ होते हैं। जब तक वे सब अज्ञ पूर्ण नहीं रहते तब तक प्रजापति अपूण रहता है। अपूणता इत्यवस्था को उच्छिन्न कर देती है। पृथिव्य का आधान केन्द्र के आधीन है, एवं आत्मपूणता पर केन्द्रभाव का विकास अभ्यन्तित है। अज्ञहीन बन जाने से इत्यवस्था उच्छिन्न होजाता है, इत्यवस्था की उत्कृष्टता से पूण्य का उत्प्रेद होजाता है। यदि सर्वाज्ञपूषि है तो केन्द्रभाव के पूर्णोदय के साथ आत्मवश का पूर्ण उदय है। ऐसा बलवान् आत्मा ही महानात्मा, किंवा महात्मा कहलाता है। पूण्यलक्षण महत्भाव ही इस का महा भाग्य (बरा दास्य-महाशय) है, यही आत्मशक्ति (willpower) है। दोष भी नहीं हैं, आत्मोपयुक्त बहिरंग गुणों का भी आधान है। परन्तु इससे ही काम नहीं चल सकता। यमी क्षमा, दया, कृपा, निग्रह, अनुग्रह, तितिक्षा आदि सत्क-



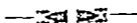
धर्मस्थानीय आत्मा के अन्तरङ्ग अङ्गों की प्रतिष्ठा और अपक्षित है। क्रोध, इष्या, मोम, माह, मन्, मात्सय, हिंसा, परनिन्दा, योग-वेष्य आदि विन कारणों से आत्मा के उक्त अन्तरङ्ग अङ्ग नष्ट होजाते हैं, उन कारणों को नष्ट करने के लिए इन के प्रतिद्वन्द्वी गान्ति, नि स्वार्थभाव, उदारता, मुक्तहस्तता, आत्मसयम, निरभिमानीता, सर्वहितरति, अहिंसा, परगुणभयसा, गुणदशन आदि अङ्गपूर्क कारणों को उदित कर देना ही तीसरा हीनाङ्गपूर्ति संस्कार है। इन तीनों संस्कारों से संस्कृत आत्मा सब तरह से परिपूर्ण, एव सुसमृद्ध बनता हुआ अपने पुरुषार्थरूप जीवन के मुख्य उद्देश्य को सफल बनाने में समर्थ बन जाता है।

निष्पन्न यही हुआ कि आत्मा के पूर्ण अभ्युदय के लिए उक्त तीनों संस्कार, दूसरे शब्दों में त्रिपथा एक ही आत्मसंस्कार का अनुगमन करना आवश्यक होजाता है। इन तीनों में दोषमार्जन संस्कार मुख्य माना गया है। कारण इसका यही है कि जब तक आत्मा के दोष नहीं हटा दिए जाते, तब तक न तो उक्त परम्य गुणों का आधान होसकता, एवं न हीनाङ्गपूर्ति संस्कार को ही प्रवेश करने का अवसर मिलता। जैसे एव चिह्ने मक्ष पर रक्त-पीत-हरितादि रंगों का आधान तब तक सर्वथा असम्भव है, जब तक कि पक्ष पर चड़े हुए दोषरूप मक्ष एव चिह्नाई को न हटा दिया जाय। यह दोष आत्मा के अन्तःस्थ में प्रतिष्ठित गुणों के महाप्रतिकारक हैं। मात्स्यक प्रकाश के लिए यह तिमिर है। यह दोष आत्मा एव आत्मगुणों के अन्त (मध्य में) प्रतिष्ठित होजाते हैं। अतएव इन्हें संस्कृत साहित्य में “अन्त-अयति-गच्छति” इस निवचन के अनुसार अन्तराय कहा गया है। यह आत्म प्रकाश को मस्तिन करले हुए बुद्धि-मन-इन्द्रियादि आत्मपरिग्रहों को भी मस्तिन कर लकते हैं। इसीलिए—“अन्तरायतिमिरोपगान्त्य” इत्यादि रूपसे दोषरूप अन्तराय को तिमिर कहा गया है। बिना इनके हटाए सब प्रयत्न व्यर्थ है। इसी आधार पर तीनों संस्कारों में शाब्दोंने दोषमार्जन संस्कार को ही विशेष महत्त्व दिया है। यद्यपि शास्त्र इतर दोनों संस्कारों का भी प्रतिपादन करते हैं परन्तु मुख्य सत्य दोषमार्जन संस्कार ही है, एव अपने इस मुख्य उद्देश्य में हमारा गीताशास्त्र सब तरह सफल हुआ है। यह तो हुई संस्कार शब्द की सामान्य निरूपण।

बहिरङ्गरति

अरि सामने वे संस्कार बच जाते हैं, जिन्हें सनातनधर्मी श्रौत-स्मार्चसंस्कार कहा करते हैं ।

उक्त श्रौत स्मार्च संस्कार ४० मणों में विभक्त मनें गए हैं । इनमें २२ श्रौत संस्कार हैं, एव १८ स्मार्चसंस्कार हैं । इन संस्कारों से ही द्विजाति का द्विजातित्व सम्पन्न होता है । विना संस्कार के जो मूज्य एक काष्ठ के छोड़े का है, वही मूज्य असंस्कृत द्विजाति का है । आज जो भारतवर्ष में धर्मम्यथिष्ठम देखा जाता है, इस का मूळ कारण संस्कारों का अभाव ही है । संस्कारदोष से ही हम आज अवर्म्म को धर्म मान रहे हैं, एव धर्म का तिरस्कार कर रहे हैं । अस्तु इन सब श्रौत-स्मार्च संस्कारों का भूमिकाद्वितीयसंस्कारगत कर्मवोगपरीक्षा नाम के प्रकरण में विस्तार से वैज्ञानिक निरूपण किया जाने बाबा है, अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर अन्त में यही क्लृप्ता देना चाहते हैं कि आत्मसंस्कार करना ही शास्त्रों का मुख्य सच्य है, एव आत्मा के स्पृह-सूत्र-स्वरण इन तीनों पदों का संस्कार करता हुआ गिताशास्त्र अवरप ही इतर आत्मसंस्कारक शास्त्रों को अवेदा उक्त्य है ।







६—गिताफासमीमांसा



६—गतिशालमीमांसा





## ❁ श्री ❁

### ६-गीताकालमीमांसा

उक्त शीर्षक के आधार पर सम्मस्त पाठक यह अनुमान लगायेंगे कि हम इस प्रकरण में गीताग्रन्थ का रचनाकाल बतसाने वाले हैं। इस सम्भावना को निर्मूलक करते हुए नियोगारम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि गीताग्रन्थ से हमारा अभिप्राय युगधर्म है। जिस पद्धति से आर्षप्रणाली में कालनिर्णय करने का नियम है, उसी पद्धति से यहाँ भी निष्पत्तिकाया जायगा। प्रस्तुत गीताग्रन्थ भगवान् व्यास की रचना है, एक व्यास का समय महाभारत-समकालीन है। फलतः इस सर्वनिश्चित गीताग्रन्थनिर्णय के सम्बन्ध में कुछ कदना सिद्धोपेय है। व्यास ने अपने शिष्यों द्वारा भगवान् का उपदेश स्मृत किया है, यह उपदेशसमूह ही वास्तविक गीताग्रन्थ है। प्रकृत प्रकरण में हमें उसी मूलगीताग्रन्थ के काल के सम्बन्ध में विचार करना है। भगवान् की वास्तविक गीता का उपदेश सर्वप्रथम कब हुआ! यही विचारणीय है। यद्यपि स्वयं गीता ने—

“इमं विनश्यते योगं शोकवान् इत्यभ्ययम् ।

विषत्वान् मनने माह मनुर्ब्रह्माक्षेपऽश्वरीत् ॥” (गी०४अ०१२ख०)

इत्यादिरूप से मूलगीताग्रन्थनिर्णय के सम्बन्ध में कुछ संकेत किये हैं। परन्तु जिस प्रकार महाभारतग्रन्थ सर्वसाधारण को विदितप्रामाण्य है, वैसे वैकल्यतयुग का सर्वसाधारण को परिचय नहीं है। कारण इसका यही है कि वैकल्यतयुग का देवयुग से सम्बन्ध है, देवयुग का वेदयुग से सम्बन्ध है, एक वेदयुग का वैदिक इतिहास से सम्बन्ध है। इधर भारतीय विद्वानों ने कुछ समय से वेद में इतिहास का अन्वय मान रक्खा है। फलतः वास्तविक निर्णय से उक्त कालनिर्णय से सर्वसाधारण को क्या, विद्वान् भी बञ्चित हैं। इसलिए गीताग्रन्थ के सम्बन्ध में हमने कुछ शीघ्रता करमा आवश्यक समझा है।



## ३-आदियुग

प्रकृति देवी की अनुकम्पा से आगे जाकर मनुष्य की बुद्धि में पोशा सा विकास हुआ।  
 स्यों स्यों इन की बुद्धि विकसित होने लगी, स्यों स्यों इन्होंने अपने जीवन में क्रमिक सुधार करना  
 आरम्भ किया। मग्न रहने में इन्होंने ब्रह्मा का अनुभव किया। इन की दृष्टि सर्वप्रथम पशुओं  
 के शरीर पर गई। इन्होंने देखा कि पशुओं की गुण्ठेदिए प्रकृतिद्वारा चर्मवेष्टन, एव पुच्छ से  
 उष्ण रहती हैं। इसी पशुशिक्षा के आधार पर इन्होंने भी वृक्षकण्डू, शुष्कपत्र, पशुचर्म आदि  
 से अपने अशोभाग को ढकना आरम्भ किया। आतप-वर्षा से बचने के लिए इन्होंने पत्थियों  
 के घोंसलों से शिक्षा ली, पानी-ऊँस के घोंसलेनुमा मकान बनाए गए पशु-पत्थियों के पार  
 स्परिक सपटन को देखकर इन्होंने अपना भी सपटन आरम्भ किया, चकमक प पर से अग्नि  
 का आविष्कार किया, कच्चे मांस के साथ मुना हुआ मांस भी व्यवहार में लाने लगे/  
 हथियों के आसूषणों का उपयोग आरम्भ हुआ, पशुचर्म के वेष्टन से वायुविरोध (डोसक) बना  
 कर सामुहिक विनोद की शिक्षा प्राप्त की, पशुगणन आरम्भ हुआ, अरी अपनी छोटी छोटी  
 सतन्त्र मण्डलियाँ बनाई गईं, इन का एक एक मुखिया बनाया गया, अन्न-पान आदि से  
 सचारी का काम लिया जाने लगा, हिंसक पशु, एव शत्रुदस से प्राण पाने के लिए पाषाण-सोह  
 आदि के अपरिष्कृत शस्त्रों का भी उपयोग होने लगा। इस प्रकार इस युग में मनुष्य की सम्पत्ता  
 का धीमेधेह हुआ। इसी लिए हम इसे आदियुग नाम से व्यवहृत करते हैं। हजारों वर्षों तक  
 इसी युग का प्राचाम्य रहा। इस युग के स्मारक भी आज हमें आज्ञाच प्रदेशों में प्रचुरमात्र में  
 उपलब्ध होते हैं।

## ४-मणिजायुग

इस युग में मानवसम्पत्ता का एक प्रकार से पूर्ण विकास हुआ। मामनीर्म्मण, हथि  
 कर्म, कपास-देशम आदि के बनों का निर्म्मण, पश्चात्ती व्यवस्था, सोकसपायक शासन (प्र

## २—प्राची युग

आगे आकर जीवसर्ग का विकास हुआ । किसी अपि स्थिति की मानस प्रेरणा से साम्प्रदायिकता जड़ घेतनरूप भातु मूल-जीव नाम के तीन जीवसर्गों का विकास हुआ । इस युग के सम्य प्राची पशु ही माने गए । क्योंकि इस युग के मनुष्यों के गुरु यही पशु थे । इसी दृष्टि से इस युग को हम पशुयुग भी कह सकते हैं । इस युग के सम्य में हमारे ज्ञान ने खोन आरम्भ की । उड़ी अन्वेषण के आभार पर हम इस अनुमान पर पहुंचे कि आरम्भ में मनुष्य का जीवन पशुओं की भांति ही व्यतीत होता था । दूसरे शब्दों में इस युग में पशु ही मनुष्य के ठिकक थे । पशु सर्वथा नम्र रहते हैं, परस्पर में सदा करते हैं, सदा पशु निश्चय पशुओं को मार कर खाते हैं । वर्षा-भूष आदि के अक्षय से बचने के लिए वृक्षों की छाया, पर्वत कन्दराओं भूमिगत का आश्रय लेते हैं । जड़की घास, फल पत्ते आदि ही इन की भोजन सामग्री है । उच्चलीन मनुष्यों में भी इन पशुधर्मों को ही अपनी जीवशास्त्र का साधक बनाया । इस युग के मनुष्य सर्वथा नम्र रहते थे । पशुओं का, एवं मनुष्यों का कथा मंड, जड़की कन्द-मूल फल हम का भोजन था । भूमि इन की शय्या थी । परस्पर में बात बात पर सड़ते झगड़ते रहना हम का सामाजिक धर्म था । अपनी सत्तानों को शिक्षक पशुओं से बचाने के लिए यह पर्वतकन्दराओं, वृक्षशालाओं, एवं गड्डों अपि का आश्रय लिया करते थे । भ्रम का प्रयोग सर्वथा अज्ञात था । केवल पशुओं की अनिष्टक की तरह "बा-बा-बा-बा-हो-हो" अपि सैकृतिक भाषा के द्वारा ही इन के मन्वहार सम्पादित थे । गोरुवा शिम्पाजी कनमानुष, सिंह, प्णम, ब्राह्म अपि शिक्षक पशुओं से परिपुष्ट, म्णामयाकह, दुस्तर उग अफ्रिका के जंगलों में रहने वाले, उच्छलघण, सर्वथा नम्र, पूर्वअसम्भ्य, एवं नरमसमष्टी जंगली मनुष्य आज भी उस युग की याद रिखा रहे हैं । मनुष्य की यह अवस्था भी हजारों वर्षों तक रही होगी, क्योंकि साम्प्रदायिकता का विकास अमरः ही हुआ करता है ।

### ३-आदियुग

प्रकृति देवी की अनुकम्पा से आगे जाकर मनुष्य की बुद्धि में योद्धा सा विकास हुआ। ज्यों ज्यों इन की बुद्धि विकसित होने लगी, त्यों त्यों इन्होंने अपने जीवन में क्रमिक सुधार करना आरम्भ किया। नग्न रहने में इन्होंने सजा का अनुभव किया। इन की दृष्टि सर्वप्रथम पशुओं के शरीर पर गई। इन्होंने देखा कि पशुओं की गुप्तिविरए प्रकृतिद्वारा कर्मवेदन, एव पुच्छ से उद्धी रहती हैं। इसी पशुशिक्षा के आधार पर इन्होंने मी वृक्षफलकण, शुष्कपत्र, पशुचर्म आदि से अपने अधोभाग को ढकना आरम्भ किया। आतप-बर्षा से बचने के लिए इन्होंने पक्षियों के बोंसलों से शिक्षा ली, पानी-छस के बोंसलेनुमा मकान बनाए गए पशु-पक्षियों के पारस्परिक सम्बन्ध को देखकर इन्होंने अपना भी सघठन आरम्भ किया, चकमक प पर से अग्नि का आविष्कार किया, कच्चे मांस के साथ गुना हुआ मांस भी व्यवहार में खाने लगे/ दृष्टियों के आमूषणों का उपयोग आरम्भ हुआ, पशुचर्म के वेदन से बाधविरोध (ढोलक) बना कर सामूहिक विनोद की शिक्षा प्राप्त की, पशुगावन आरम्भ हुआ, अपनी अपनी छोटी छोटी सतम्भ मण्डलियाँ बनाई गईं, इन का एक एक मुखिया बनाया गया, अथ-। तम आदि से सपरी का काम लिया जाने लग्य, हिसक पशु, एव शत्रुदण्ड से शय्य पाने के लिए पाषाण-सोह आदि के अपरिष्कृत शस्त्रों का भी उपयोग होने लगा। इस प्रकार इस युग में मनुष्य की सम्पत्ता का श्रीगणेश हुआ। इसी लिए हम इसे आदियुग नाम से व्यवहार करते हैं। हजारों वर्षों तक इसी युग का प्राबल्य रहा। इस युग के स्मारक भी आज हमें जाङ्गल प्रदेशों में प्रचुरमात्र में उपलब्ध होते हैं।

### ४-मणिजायुग

इस युग में मानवसम्पत्ता का एक प्रकार से पूर्ण विकास हुआ। पामनिर्मय, कनि-कर्म, कपास-नेशन आदि के बनों का निर्मय, पश्चात्ती व्यवस्था, लोकसत्तात्मक शासन (प्र

जात्य), शरीर भूरा तद्वाग्यदि क्व निम्नगुण, उषान उरबन आदि ह्ये व्यसत्या, गम्भरविद्याह पदवि, ज्ञान-क्रिया-मध-गिर्य के आभार पर मानवसम्पन्न क्य चार भागों में विभाजन विविध वैज्ञानिक आनिष्कार आदि इस युग की प्रधान प्रदान नियोगाए हैं । इन्ही नियोगकों के कारण इस युग को इन पणसम्पन्न कह सकते हैं । हमें तो यह कहने में भी कड़े सशेष नहीं होय कि जिस सम्पत्ता सृष्टि एव विज्ञान पर आन परिषनी देश अभिमान कर रहे है, इन सब विषयों में मस्तिष्कायुग कही आगे बढ़ हुआ था ।

मस्तिष्का नामक तत्त्वहीन मानव सम्पन्न की व चारों धेसिए उस युग में क्रमशः साध्य, महाराजिक, भामास्वर सुपिन इन नामों से प्रसिद्ध थीं । देवयुग में व विच्छिन होने वाली सत्यवत्या का मूल पक्ष ही आर धेसिए थी । इस सत्यवत्या की पुत्रता करत हुए होने इस निष्कष पर पदुबना पङ्गा है कि परम बड़ निक ज्ञानप्रधान साध्य उस युग के साक्ष्य थे । पर अन्तर्णी, महाभनुदर महापत्रिक उम युग क क्षत्रिय थ । कृषि, गोरक्षा, शक्तिग में दक्ष, पूर्ण सम्पन्न आन्धर उस युग क वैश्य थ । पर शिष्टाशिया में पारसत, सवाबतेषा में नि सार्य बुद्धि से संश्रम सुपिन उस युग के छत्र थ । इन चारों जातियों का नेतृत्व साध्यजाति के ही हाथों में था । मानी मूर्त प्रतिभ्य क बल से इसी साध्य जाति ने प्राकृतेह तरों की परीक्षा इय सर्वे प्रथम पञ्चमेया (उमयते) क्य आनिष्कार किया था । इन्ही के हाथ आनिष्कृत पञ्चविषा क आभार पर आग जाह (दशयुग में) जीवरास्यत्र-या क प्ररधक प्रज्ञा क अ ग्य से उन के गण पुत्र संयत्ता न ब्रह्म का मूल बनात हुए दक्षिणादी में पञ्चविषा का प्रसार किया था । ११युग स पहिले सम्पूर्ण विश्व में साप्यो का ही प्रभुत्व था, साथ ही में यह ईश्वरपदी भौम दत्ताओं क सिद्धि थी । मगर यह साध्यजाति में 'दूर्ध्वाः' सुरद्विषः' शक्यति नामों से प्रसिद्ध हुए । साध्यजाति का ईश्वरपदा पर शिवास न था । यह इतल प्रतिक्रिदि क्षत्रिक विज्ञान क उगमक थ । जो एतान आन क्षत्रिर्द्धागतपदी मासिनसों को मिस रहा है । वही एतान साप्यो का था । इन का अभिमान था कि "हृत् क निवत निष्को थे हो विश्व रचना हुई है । उन निष्को का नदी-नदी मान कर दीक पदना में आन करन पर मनुष्य भी नयन विश्व का निर्माता कर

सकता है। हम विज्ञान के व्यापार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा आदि भी बना सकते हैं। जब प्रकृति पर ही विश्वप्रपञ्च का पर्यवेक्षण होता था है तो ऐसी दृष्टा में सबैसा स्वयं प्रकृति से अतिरिक्त एक अतन्त्र ईश्वर की कल्पना में अपने बौद्धबगद की शक्ति नयी खर्च की जाय। जूकि ठाकासीन महाराजिक-आमास्रगदि इतर आक्षिपों पर इन्हीं का अङ्गुश था, सब इन्हीं के आदेश पर चसते थे, अतएव यह मणिब्रायण साध्ययुग नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। मणिजा उस समय में मानव समाज की सामान्य संज्ञा थी। यज्ञविद्या में निष्ठात, यह से ही यज्ञकर्मा का सम्पादन करने वाली इसी साध्यजाति का स्वरूप मतसाती दुर् यजुःश्रुति कहाती है—

अग्नेन यज्ञमयनन्त देवास्तानि भर्माँषि प्रयथान्यासन् ।

वे इ नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

(यजुः संहिता — १०) ।

दशयुग में यह ले ईश्वर का पत्रन किया जाता था। परन्तु साध्य खोग यह से यज्ञ का ही पत्रन करते थे। दूसरे शत्रों में वे विज्ञान से विज्ञान का ही प्रसार करते थे। इन की शासन-प्रस्थापी में प्रजात-प्राप्तक गस्तन्त्र की ही प्रभावता थी। इस युग का प्रथम पूर्व के युगों की अपेक्षा अधिक समय तक रहा।

## ५—स्यद्धोयुग

पूर्व में मतसाया गया है कि सम्पत्ता, संस्कृति, एवं विज्ञान की पराकथा पर पड़ुवे हुए भी साध्य एकेश्वरवाद पर, किंवा ईश्वरसत्ता पर विश्वास नहीं रखते थे। इस अनीश्वरवादप्रधान अखिकमिज्ञानवाद की प्रवृत्तता का भागे जाकर परिणाम यह हुआ कि इन का मतवाद इन्हीं के पारस्परिक विरोध का कारण बन गया। गणन्यात्मिका शासनप्रस्थापी भी इस विरोध की उठे सक थी, फलतः सृष्टि के सम्बन्ध में १० अक्षतर मत प्रवृत्तित होगए। जो कथह अयन

जात्म), बापी कूट तन्त्रादि का निर्माण, उषान उपवन आदि की व्यवस्था, गन्धर्वविद्या पदवि, ज्ञान-क्रिया-मध-शिल्प के आधार पर मानवसमाज का चार भागों में विभाजन विविध वैज्ञानिक आविष्कार आदि इस युग की प्रधान प्रधान विशेषताएँ हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस युग को हम पूरुषसम्पुग कह सकते हैं। हमें तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होता कि जिस सम्प्रदाय सत्कृति एवं विज्ञान पर आज पश्चिमी देश अभिमान कर रहे हैं इन सब विषयों में मखिजायुग कहीं आगे बढ़ चुका था।

मखिजा नामक तत्कालीन मानव समुदाय की वे चारों ओरिए उक्त युग में क्रमशः साम्य, महाराजिक, आमास्वर, तुपिन इन नामों से प्रसिद्ध थीं। वैश्वयुग में आविष्कार होने वाली व्यवस्था का कर्म मूल यही चार ओरिए थी। इस व्यवस्था की तुलना करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि परम ब्रह्म निक ज्ञानप्रधान साम्य उक्त युग के आद्यकाल में। पर मप्रतापी, महाभनुदर महापत्रिक उक्त युग के अग्रिम थे। कृति, गोरदा, वाणिक्य में बह, पूर्ण सम्पन्न आमास्वर उक्त युग के वैश्व थे। एवं शिष्टाविद्या में पादकृत, समानवेद्य में निःस्वार्थ सुद्धि से संज्ञान तुपिन उक्त युग के अग्र थे। इन चारों जातियों का नेतृत्व सापत्राति के ही हाथों में था। अग्नी अर्पण प्रतिष्ठा के अन्त से इसी सापत्राति ने प्राकृतिक तरतों की परीक्षा कर सर्व प्रथम पशुविद्या (केमेट्री Chemistry) का आविष्कार किया था। इन्हीं के द्वारा आविष्कृत पशुविद्या के आधार पर आगे जाकर (वैश्वयुग में) भौमवैश्वयन-या के प्रवर्धक प्रज्ञा के आवेग से उन के श्रेष्ठ पुत्र अयथा ने ब्रह्म को मूल बनाते हुए वैश्वविद्या में पशुविद्या का प्रसार किया था। वैश्वयुग से पहिले सम्पूर्ण विश्व में साम्यों का ही प्रमुख था, साथ ही में यह ईश्वरवादी भौम वैश्वताओं के विरोधी भी थे अन्ततः यह आप्तसाहित्य में "पूर्व देवाः" "सुरद्विपाः" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुए। सापत्राति का ईश्वरसत्ता पर विश्वास न था। यह केवल प्रकृतिसिद्धि अथिक्त विज्ञान के उपासक थे। जो स्थान आज अथिक्तविज्ञानवादी नास्तिकों को मिला रहा है, वही स्थान साम्यों का था। इन का अभिप्राय था कि प्रकृति के नियत नियमों से ही विश्व रचना हुई है। उन विषयों को मखिजायुग नाम कर ठीक पदवि में काम करने पर अनुभव भी नहीं मिला कि विश्व का निर्माण का



है। यही क्रान्ति आने जाकर शान्ति की मूलप्रतिष्ठा बन जाती है। इन प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार सार्यों के आविवेक से फले हुए मतवाद ने जोम उत्पन्न किया। इस जोम ने महाशांतिपरायण प्रिण्डोपजीवी तृपितों में भी सर्वर्ष उत्पन्न कर दिया। तृपित जाति का उस समय नहीं महत्त्व था जो कि महत्त्व आज दक्षिणभारत के शुद्रों का है। पाठकों को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि इसी तृपित जातिने एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया, जो कि शान्ति का दूत बनकर अग्ये जाकर विश्वशांति का कारण बना।

उस महापुरुषने सबसे पहिले प्रचलित विभिन्न दस बार्दों पर कुतराभाव करते हुए एकल मूक ब्रह्मवाद की स्थापना की। इसी महापुरुष की कृपा से सबसे पहिले एकेचरवाद मूक राजतन्त्र की स्थापना हुई। उस विभूतिने यह घोषणा की कि यदि इन १० सौ मूर्तों का कोई एक मूक आचार नहीं माना जाता है तो यह सभी मत सर्वपा सिण्या हैं। ईश्वरस्य के बिना इन की प्रतिष्ठा किसी भी अवस्था में अनुष्ण नहीं रह सकती। इसी मन्तव्य के आचार पर इसने दसों बार्दों की प्रतिवन्दिता में सिद्धान्तवाद की स्थापना की। महापुरुष के इसी प्राथमिक सुचार को रूप में रखकर मन्त्रभूति कहती है-

नासदासीचो सदासीचदानीं नासीद्रजो नो ष्योमा परो यव ।

किमाचरीवः कुइ कस्य शर्म्यन्ममः किमासीद्गहन गमीरय ॥१॥

न पृथुरासीदधृत न तर्हि न रात्र्या ब्रह्म चासीव भकेतः ।

आनीववार्त स्वधया तवक तस्माद्धान्यन्न पर किञ्चनास ॥२॥

सम चासीत्तमसा गुम्हमेरेऽपकेत ससिस सर्वमा इदम् ।

तृष्येपनाभ्वपिहितं यदासीव तपस्तन्माहिना जायतैकम् ॥३॥

(ऋग् सं १०।१२।१-२-३) ।

सम्प्रदायों में देख्य जाता है। कहीं कछह साण्ड्युग में म्यास होमया । साण्ड्युगसीन ये ही १० फ्त श्रुत्संहिता में सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, अपोमवाद, अपरवाद, रमोवाद, अम्मोवाद, भावरण्यवाद, अहोरात्रवाद, सद्यवाद इन नामों से प्रसिद्ध हैं। सत्य सिद्धांत सदा एक होता है, निरपविद्यामूलक सत्य सिद्धांत में शिरोचक्र बनसर नहीं हैं। इकर साण्ड्युग १० फ्त मानते थे। परिणाम इस का यह हुआ कि इन विभिन्न मत-दों की कृपा से तत्कालीन मानव समाज में संघर्ष उत्पन्न होगया। इस संघर्ष का मूलकारण अनीश्वरवादमूलक प्रजातन्त्र ही था। इसी संघर्ष ने तत्कालीन संगठन, एक शक्ति में ठेस सद्यई, कछह का साम्राज्य होमया। इस प्रकार एक बार इस बड़ी हुई वैज्ञानिक सम्प्रदाय ने विश्व के सामने उसी प्रकार एक म्हा संकट उपस्थित कर दिया, जैसा कि संकट अर्पणोद्गा विद्यानमदमत्त राश्ट्रों की कृपा से आज उपस्थित होछा है। इस संकट की निवृत्ति कैसे हुई ? यह अगो की युगम्भीर्वासा से सिद्धित होछा। इस सद्ययुग को हम सद्ययुग, विरोरयुग, कनइयुग, अगाम्ययुग, अन्नित्युग, विपन्नयुग, इत्यादि नामों से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

## ६-देवयुग

शान्ति होती है, शोभ उत्पन्न करने के लिए। शोभ होता है, शान्तिप्रसार के लिए। शान्ति अशान्ति की जननी है, अशान्ति शान्ति की जननी है। संयोग वियोग का जनक है, वियोग उपयोग का जनक है। मान अमान का मूलक है, अभाव अर्थ का स्वरूप संपादक है। उन्नति अवन की प्रथा है, पतन उन्नति की प्रथा है। सुख का मूल दुःख है, दुःख का मूल सुख है। जन्म मृत्यु का कारण है मृत्यु जन्म का कारण है। सहनशीलता ही अशान्ति की जननी

इन बातों पर हाँ-नाथों से भीतर-बाह्य प्रथाओं के अन्तर्गत पर कीडवर हाँ । सत्यमन्त्र बंधन हुए हैं। विराट् प्रियावा राधे कर्णों अथ वे मन्त्र देणने चर्चिदें।

है। यही क्रान्ति आगे जाकर शान्ति की मूढप्रतिष्ठा बन जाती है। इन प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार साध्यों के अतिवेक से फँसे हुए मतवाद ने जोम उत्पन्न किया। इस जोम ने महाशय-न्तिपरायण शिरोपजीवी तृपितों में भी संघर्ष उत्पन्न कर दिया। तृपित जाति का उस समय नहीं महत्त्व था जो कि महत्त्व आज दक्षिणभारत के शुद्रों का है। पाठकों को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि इसी तृपित आतिने एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया, जो कि शान्ति का दूत बनकर आगे जाकर विश्वशान्ति का कारण बना।

उस महापुरुषने सबसे पहिले प्रचलित विभिन्न दस बार्दों पर कुठाराघात करते हुए एकल मूढक द्रष्टावाद की स्थापना की। इसी महापुरुष की कृपा से सबसे पहिले एकेचरवाद मूढक सन्नतत्र की स्थापना हुई। उस निमूलमें यह घोषणा की कि यदि इन १० सों मयों का कोई एक मूढ आचार नहीं माना जाता है तो यह सभी मत सर्वथा निर्या हैं। ईश्वरसत्ता के बिना इन की प्रतिष्ठा किसी भी अवस्था में असंभव नहीं रह सकती। इसी मन्तव्य के आचार पर इतने दसों बार्दों की प्रतिद्वन्द्विता में सिद्धान्तवाद की स्थापना की। महापुरुष के इसी प्राथमिक सुचार को ब्रह्म में रखकर मन्त्रभृति कहती है-

नासदासीधो सदासीचदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।

किमासीधः कुह कस्य शर्मन्मन्मः किमासीद्गहन गभीरम् ॥१॥

न सृष्टुरासीदसृष्ट न तर्हि न राश्या अह्म आसीत् प्रकेतः ।

घानीदवातं स्वधया तदक तस्माद्धान्यन्न पर किञ्चनास ॥२॥

तम आधीचमसा गृह्णाम्रेऽप्रकेत ससिस सर्वया इवम् ।

तुष्केषनाभ्यपिहितं यदासीत् तपस्तन्माहिना जायतैकम् ॥३॥

(अक्षर १०।१२।१-२-३) ।

शुक्ति इसी महापुरुषने सबप्रथम ब्रह्मवाद की स्थापना की थी, अतएव तत्कालीन नियम के अनुसार यह "ब्रह्मा" की उपाधि से विभूयित किए गए । यही ब्रह्मा देवयुग के आदि प्रवक्तृक माने गए, जिस कि "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्भूत विश्वस्य कथा मुचनस्य गोप्ता" (मुण्डकोपनिषत् १.१.११) इत्यदि वचन से स्पष्ट है । उस युगमें यह नियम था कि जो सिद्धान्त जिस तत्त्व की सबप्रथम परीक्षा करता था उसे उसी नाम से विभूयित किया जाता था । अग्नि, वायु, मत्स्य, अग्नि, सूर्य, अग्नि आदि आप जितने नाम सुनते हैं वस्तुतः यह सब तत्त्वों के नाम हैं । जिन महापुरुषोंने इन तत्त्वों की परीक्षा की, वे, एव उनके ब्रह्मर भी उन्हीं नामों से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि ऋषिराहत्यादि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है ।

अतः प्रकृत में ब्रह्मवाद्य यही है कि अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा का अर्थ अग्नि आदि तत्त्व था, प्रकृतिसिद्ध था । अतएव यह आदि ब्रह्मा "स्वयम्भू" नाम से प्रसिद्ध हुए । एकेवर बाद की स्थापना के अनन्तर ब्रह्मा ने प्रकृतिसिद्ध नित्य ब्रह्मा के अनुसार यहाँ भी आर प्रकृति की सृष्टिसंस्था प्रसिद्धि की । नित्यसिद्ध अपौरुषेय वेदतत्त्व के आधार पर वेदप्रथम प्रकृत हुए, यही पहिली वेदसृष्टि कहलाई । नित्यसिद्ध त्रैलोक्य के अनुसार इसी पृथिवी पर लोक व्यवस्था की । पृथिवी को पद्म मान कर इसे आठ भागों में विभक्त किया गया । यही पार्थिव विभाग पुराणों में "अष्टाशुचनकोश" नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस विभाग में देवभिसोकी एवं आसुरभिसोकी नाम की दो संस्वार बनाई गईं यही दूसरी लोकासृष्टि कहलाई । इसी प्रकार पञ्चसिद्धि, पञ्चजन, पञ्चवपयी आदि रूपसे प्रजासृष्टि की व्यवस्था की । सर्वात्म में प्रकृतिसिद्ध नित्य वर्णधर्म के अनुसार जातुधर्मधर्म को प्रकृत किया गया । इस प्रकार जैसे प्रकृतिसिद्ध नित्य ब्रह्मा के प्राणमुख से अपौरुषेय वेदसृष्टि आपोमुख से लोकासृष्टि, वाक्मुख से प्रजासृष्टि, अन्नगर्भित अन्नारमुख से धर्म-

एकर तादृशों के ब्रह्मर पूर्णवी का विचारण होने तरह के हुआ है । वे ही तत्त्वों विभाग क्रमशः ब्रह्ममुखकोश प्राणमुखकोश, वाक् मुखकोश तत्त्वों से प्रसिद्ध है । इन का विचार विवेचन पुराणग्रन्थ में, पर उक्त विवेचन रावणविद्यानाम प्य मूर्तवर्ण में देखना चाहिए ।

सृष्टि हुई है, उसी नियम के अनुसार पुष्कर (धुन्न रा) में उत्पन्न होने वाले इस स्रग्भू ब्रह्मा ने भी मन्त्रात्मक वेदसृष्टि, देशत्रिसोकी-आयुत्रिसोकीका स्रग्भू, प्रजाविनागरूपा प्रजासृष्टि, एव प्रजा को प्रकृति के नियमानुसार बसाने के लिए धर्मसृष्टि की।

प्रहसिषत् ग्रधि, इन्द्र, वरुण आदि मौमदेवताओं का विकास किया गया। हैहय, कालकेय, दौहृद, मौषे, वृष नमुधि, स्वष्टा धृपाकपि आदि असुरों की व्यवस्था हुई। ब्राह्मण, सैधिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्गों का, एव अन्त्यत्र अन्तपावसापी, दम्पु, म्नेरुक् इन चार अवस्थाओं का विभाग किया। चतुर्वेद के साथ साथ स्यक्ति का उपकार करने वाली ब्राह्मण्य, सूरस्य वानवस्य, सन्पास इन चार आश्रमों की व्यवस्था की गई।

२० आर्यात्मक भारतवर्ष को देशत्रिसोकी का मनुष्यलोक माना गया। जिस भारतवर्ष की मध्यरेखा उम्मेन है, पूर्वीसीमा चीनसमुद्र (पलोसी-पीतसमुद्र) है, पश्चिमसीमा महीसागर ( मडिदेनिगसी Madetarenon Sea) है, दक्षिणसीमा मिच्छवृत्त स्थानीय साहा है, उत्तरसीमा शबखावत (शिशावक) पर्वत है, ऐसे इस महाभारत भारतवर्ष के सम्राट् वैवस्वतमनु बनाए गए। मनु के सम्बन्ध से ही यह लोक मनुष्यलोक, एव यहाँ की प्रजा मानव नाम से प्रसिद्ध हुई। अग्नि देवता यहाँ के अतिशय (अभिष्ठाता) शबसोनपात् ( शपसराय ) बनाए गए। मनुष्य-लोक का भरख पोषण करने के कारण ही यह अग्नि "भारत" कहलाए। वैसा कि— 'अग्ने यहाँ अग्नि प्राक्षय भारतेति' ( यजु सं० ) इत्यादि मनुस्मृत से सिद्ध है। भारत अग्नि द्वारा शसित होने से ही यह लोक भारतवर्ष कहलाया या, एव यहाँ की प्रजा भारतीय कहलाई।

शम्भुशावत पर्वत से आरम्भ कर शिमशय तक का सारा प्रान्त भीमत्रिसोकी का अन्त-रिष लोक माना गया। शम्भु यहाँ के शम्भुसोनपात् बनाए गए। यहाँ की प्रजा पक्ष राक्षस गन्धर्व, सिधाव, गुणक, सिद्ध, किष्कर आदि विधियों में विभक्त की गई। यहाँ अन्तरीक्ष्य प्रजा त्रियग्योनि कहलाई। सुप्रसिद्ध नन्दववन, कानववन, वैष्वाववन, उम्भवन, रम्भवन आदि महावन इसी लोक की शोभ बढ़ाते थे। सुप्रसिद्ध जाम्भुवद् नाम का सुवर्ण इसी रपाव का मौख था।

हिमाचलप्रान्त एव प्राम्नेह (पामीर) यहाँ का सर्गलोक हुआ । इन्द्र यहाँ के सबसे नगाह बनाए गए । यहाँ की प्रजा देवता कहलाई । साथ ही ये इसी इन्द्र को अष्टेतिनिभान का लोकपाल, एव पूषदिकू का दिक्पाल बनाया गया । बड़छ को पानी के-निभान का लोकपाल, एव पश्चिम दिशा का ऋक्षस बनाया गया । अद्रमा को अ्योधि-आश्रयभूम का लोकपाल, एवं उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया गया । यम को पनरानियों-पितरों का लोकपाल, एवं दक्षिण दिशा का ऋक्षस बनाया गया । ब्रह्मसूक्त राजतन्त्र को राजा सम्राट् म्वाराट् निराट मे से चार धेखियों में विभक्त किया गया । प्रजात्र का समूह निनाश किया गया ।

इसी प्रकार अफ्रिका अमेरिका योरोप नाम के तीन महाप्रान्त असुरों को दिये गए, वही असुरप्रिसोकी कहलाई । अग्ने अ्येष्ठ पुत्र अ्यर्षा को त्रयीविद्या का पहिला शिष्य बनाया । अ्यर्षा ने सरस्वती नदी के समीप सर्वप्रथम यज्ञ की स्थापना की । यह स्थान लग भग ६७॥ अक्षांश पर पड़ता है । प्रयाग के समीप त्रिगुणचेत्र में हुए होने वाली सुता सरस्वती, एवं पश्चिमभारत की पूर्वीसीमा पर स्थित सिन्धुनद के उस पार अक्षिशुभ्रम के समीप नहने वाली प्राची सरस्वती, इन दोनों सरस्वतियों से यह सरस्वती भिन्न है । इस की सत्ता लगभग उत्तररूप में है । देव्यसोम इसी में अक्षभूपस्नान ( यज्ञान्तस्नान ) किया करते थे । यहाँ यज्ञविरोधी असुर अ्यद्रवल्ह करने में प्रायः असमर्थ ही रहे, अत एव यह स्थान "अ्यपराजिताग्निम्" नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस सरस्वती में अ्यगतर सप्त शय्या नष्टि मिळती हैं । यही मदी अ्यमान से 'मानक्याग्नीम्' नाम से प्रसिद्ध है । अ्यर्षाशय्या प्रत्यक्षारस्त यज्ञ के बल पर देव्यसोम असुरों को समय समय पर परास्त करने में सफल हुए हैं ।

सब से बड़ी विद्यता उस पुत्र की यह थी कि भारतीय प्रजा का कर्म देवे व की ओर से नियमित होला था । इस के प्रतिरुद्ध में भारतीय प्रजा की भोजन, अ्य द्रादन अ्यस्स्य, विभिन्नता, एव अ्य अ्यपरपरान्तों का भार राजतन्त्र पर था । अरिबनीकुमार यहाँ के प्रधान विद्विगक था । शमदह अ्यम (अग्ने ) के अ्यप था । असोपारा में तीन वर्ष के अिर्दिष्ट से अ्य अ्यधिन रहता था । शिपाप्रधार के अिर्द तीनो छोड़ो में करपप, पतिष्ठ,

अङ्गिरा, ऋगु, भरद्वाज, अत्रि, आदि प्रमुख कुलपतियों की आपसता में प्रक्षुब्धता, एवं महाशालाएँ सुम्पस्थित थीं। रात्रतन्त्र को सुम्पस्थित करने वाले ग्राम, नगर, अश्वट, सर्व आदि का निम्नाय हुआ था। सेना, सेनाध्यक्ष, ग्रामणी, सूत, पाषाण छत्ता आदि १४ रत्न रात्रतन्त्र के सम्बाहक थे। वैज्ञानिक तत्वों की ही परीक्षा के लिए सिन्धुनद से पश्चिम भाग में बसिष्ठप्रकृष्य के समीप प्रथमित होने वाली सरस्वती नदी के समीप एक महाविज्ञानशाळा थी। यह शाळा “सूर्यसदन” “विज्ञानमण्डल” आदि नामों से प्रसिद्ध थी। सौम, प्लव, दिव्य, सूत, इत्यदि स्पष्ट अक्षरों में संचारी विविध विधानों के आविष्कार का अर्थ ही विज्ञानमण्डल को मिला था। निगम-ग्रामण्य मेद से विद्याओं के दो विभाग भी इसी युग में हुए थे। ४-वेद, ६-उपवेद, ६-वेदाङ्ग, ६-उचाराङ्ग इस प्रकार निगम को १८ भागों में विभक्त किया गया था। १८-संहितायं, १६ सिद्धान्त ६ ऋषयः, १० यामयः, ८-दापरः, ६-तत्र, सम्य १२० आगम के अन्तर्गत विभाग हुए थे। महासूक्तिका की व्यवस्था के लिए नित्य सिद्ध कृत, वेदा, दापर, कस्मिमेद से अत्रुर्गुमी का आविष्कार हुआ था।

इस प्रकार उस महातन्त्रायी महीश्वर के महाशिरष के गुप्त रहस्यों के आधार पर महाशान् स्वरूपने इस मुसोक में ही सब कुल व्यवस्थित कर दिया। इन्होंने अन्तः स्थान काकेयश पथ बनाया। यही स्थान आज “एशियामिनेर” (Aslaminor) नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही दहरशिया (कोठी एशिया) भी कहा जाता है। ईश ब्रह्मा के सम्बन्ध से ही दक्षमैत्रोक्ष्य, एवं एशियामिनेर एशिया रूप में परिणत हुआ है। एशिया शब्द एशिया का ही विकृतरूप है। सम्पूर्ण एशिया उन लोगों की प्रातिष्ठिक संरक्ति (मौरुसी जापदाद) है, जो कि ईश ब्रह्मा के, एवं इनके द्वारा आविष्कृत वेदधर्म को मानने वाले हैं।

हमें (भारतीय) एशिया के हैं, एवं एशिया हमारी है। आगम महाशान्मण्डल हमारे एवं हमारी एशिया के अस्तित्व हैं। अस्तित्वसेधारणपण्य आपसति ने उन का, एवं उन के वरुणों का पर्याप्त आविष्कार कर दिया। यहाँ तक कि इन्होंने अपने लिए, एवं अपनी सन्तति के लिए भी कुल न छोड़ा। उभर अस्तित्व महाशान्मण्डल अस्तित्व की श्रौत करे, तिथि की सीमा का भी उक्तवचन

कर गए, किंवा कर रहे हैं। इस व्यर्थवादि को यह भी विदित न रहा कि यह आठ महातुम्ह  
 भारत में हमारे अतिथि हैं। क्या ही अन्धा हो, व्यर्थसन्तान जब तक अपने स्वरूप को न  
 पहिचान ले, तबतक वे बनने मग की रक्षा के लिए स्वदेष्ट की यात्रा का विचार निश्चित करते।  
 कहीं ऐसा न हो कि यह शप्तवादि उम मूल कर विष के लिए एक महासंकट उपस्थित  
 कर दे।

यह तो हुआ देव्युगम्पत्स्या का विस्मरण, अब प्रकृत का अनुसरण कीजिए।  
 सप्तमू मनु के विवस्वान् नाम के पुत्र हुए। विवस्वान् के ८ पुत्र, एव १ कन्या हुई। इनमें  
 श्रेष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु नाम से, एवं कन्या इसा नाम से प्रसिद्ध हुई। यही दोनों क्रमशः सूर्य-  
 पेश, एव चन्द्रमंड के मूल प्रवर्तक हुए। विवस्वान् की विष्वात्रा इवा कन्या पश्चिमा में महा  
 निष्ठात थी। इस महाविदुषी के द्वारा पश्चिमा को पूर्ण प्रोत्साहन मिला था, अतएव पश्चिम  
 में इस के स्वरूप इक्ष्वाकान नामक कम क्षेत्र निभान किया गया। पश्चिम विवस्वान् ही मा  
 रतर्ष के प्रथम सम्राट् थे तथापि यह कभी मरतर्ष न आए। इन की वीर्य दशा में ही,  
 इनके द्वारा श्रेष्ठपुत्र इक्ष्वाकु को उत विचार प्राप्त हुआ। उत अविचार को खर मारतर्ष  
 में बनेवाले सूर्यमंडलों में यही पहिले सम्राट् थे। इन्होंने ही अयोध्या नाम की राजधानी  
 स्थापित की जैसा कि आगे के ऐतिहासिकरण से स्पष्ट होजायगा।

उक्त देव्युगभास से विश्व पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मानवबुद्धि जितना  
 विकास कर सकती है, देव्युग में वह विकास चरम सीमा पर पहुँच चुका था। दुर्बलवश कर्म  
 की अकारणबुद्धि ने आगे जाकर देव्युगकासीन व्यवस्था का सर्वात्मता उन्मूलन करते हुए सदा  
 के लिए अपने भास पर कब्जा का टीका बगा लिया। आज देव्युगम्पत्स्या मिहृष्ट प्राप्त है। हम  
 अपनी मूर्खता से आज सब कुछ खो बैठे हैं। जिन (भारतीय) असंख्य मनुष्यों के पूर्वजों में किती  
 समय समस्त विश्व को एक बार सम्पन्न, संशुद्धि, शिक्षा, शिष्टता, ब्रह्मा आदि का पाठ पढ़ाया  
 था, आज उन्हीं पूर्वजों की संतानों को सम्पन्न बनाने का वे अक्षरान जब हुआ अभिमान करते देखे  
 जाते हैं तो सहसा हमारे मुख से निकल पड़ता है—“कामाय तर्षम ममः”। महाभारत युद्ध में



सूर्यचक्रियों की ओर से अयोध्या नरेश महाराज सुविभ्र सामिल हुए थे। सुविभ्रराज विश्वान की १२० वीं पीढ़ी में मने लगे हैं। भगवान् रामचन्द्र विश्वान् से ६३ वीं पीढ़ी के भारतीय सप्त हुए।

उक्त परिस्थिति को सामने रखते महागीताकाव्य की मीमांसा कीजिए। भगवान् ने कहा है कि 'मैंने सब से पहिले विश्वान् को गीता का उपदेश दिया है। विश्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को, इस प्रकार परंपरया यह बोग बना आरहा था। पर तु कबखटोप से यह सुप्त होगया आज उसी मिलुप्त को का रहस्य तुसे बतला रहा हूँ"। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्पूर्ण गीताकाव्य भगवान् का अपना उपदेश नहीं है। भगवान् का अपना मत आरम्भ के ६ अध्यायों में प्रतिपादित केवल राजपरिचया है। सिद्धचिया, राजचिया, आपचिया इन तीनों का संशोधितरूप भगवान् ने गीता में समाविष्ट कर लिया है। ऐसी रक्षा में हम भगवान् की मूल गीता केवल राजपरिचया को ही कहेंगे। "एव परम्परामाण्डयिणं राजपर्ययो विदुः" से भी यही शक्ति निकलती है। अथवा ही अपने किसी अन्य स्तर से यह महाभारत देवयुग के आरम्भ में नियोग होग्य, एव चि जन् ने इस का स्वीकार स्वीकार करते हुए उस अशौकिक गीतायोग का उद्देश्य लिया होगा। हमारी दृष्टि में राजपरिचयात्मिका मूलगीता का बही समय होना चाहिए। महाभारतकाव्य में तो भगवान् उस पूर्वोक्त बोग का संस्कारमात्र कर रहे हैं। रही मीमांसकों की बात, से तो सचविहित है। मीमांसकों का भास का मुद्दिमेष है, इसे स्वीन नहीं जानता। "सब से पहिले भगवान् ने विश्वान् का कहा" इस उक्ति के सम्बन्ध में क्या कहा? विश्वान का रूप यः स्थावि प्ररतों के समाधान की जिज्ञास सामाविक थी। इसी दृष्टि से हयें युगवर्मा का दिग्दशन कथना पका।

इसी सम्बन्ध में हम अपने कुछ सतप्र उद्गार भी प्रकट करना चाहते हैं। उक्त देवयुग कालीन व्यवस्था के आधार पर पाठकों को सम्मन्तः यह स्वीकार करलेने में तो कोई आपत्ति न होगी कि हमारा सर्वोन्निश्चय देवयुग था, जिसका कि महाभारतयुग से कई सहस्र वर्ष पूर्व होना निश्चित है। महाभारतकाव्य को तो उन्निश्चय न कह कर एक प्रकार से हम हमारा अन्तर्निश्चय ही कहेंगे। भाई भाई में घोर शत्रुता, अथवा सम्पत्ति-सा, निम्नीय पुनर्कर्मद्वारा पर-

स्वराज्यपहरण सम्बन्ध कहलाने बाणों के हाथों अग्निहोत्र विधान कर्मा का सम्पन्न, सम्पन्नपंडी में एक निरपराध आर्यसत्ता के सतीत्य पर आक्रमण आदि कर्म हीं इस युग को निष्कण्य क-  
 १००० उदाहरण हैं। जिस प्रकार सायणयुग के अनन्तर होने वाले संवत्सुग के उद्योग के लिए  
 वरुणसंस्थापक सगन्धू ब्रह्मा का अवतार हुआ था, अथेतायुग में उद्योग राक्षसविन्द के दमन के  
 लिए मगधान् राम का अवतार हुआ था इसी प्रकार इन्द्र के मन्त्र में एव कर्त्त के आत्म में  
 वरुणसंस्थापक इस भीषणयुग की मयङ्कर अन्ति का दमन करने के लिए ही राजर्विधि का पुन  
 ब्रह्मरुक् सर्वेश्वर मगधान् कृष्ण का पूर्ववर्तार हुआ था। धर्मगानि ही अवतार का कारण है। इस  
 दृष्टि से भी हम महाभारतयुग को अन्ति कास कह सकते हैं।

महाभारत से पहिले हजारों वर्ष तक देवयुग रहा। देवयुग से पहिले सहस्रों वर्ष तक  
 मन्वयुग रहा। इससे पहिले सहस्रों वर्ष तक सायणयुग, किंवा मखि वायुग का प्रभुत्व रहा। इससे  
 पहिले विरकाय तक अयुग का महत्व रहा। इस से पहिले पशुयुग की प्रतिष्ठा रही। अनुपान  
 लगाए, महाभारत से कितने हजार वर्ष पहिले मनुष्यसम्पत्ता का विकास होगया होगा। महा  
 भारत को आज लगभग ५ सहस्र वर्ष हुए। पूर्व कल्पानुसार महाभारतकाल में तो हमारी सम्पत्ता  
 का एक प्रकार से अन्त ही होगया था। पश्चिमी सिद्धन् जहाँ से (महाभारतकाल से, अथवा अधिक  
 से अधिक महाभारत से कुछ शताब्दियों पहिले से) हम र इतिहास का आरम्भ मानते हुए हमारी  
 सभ्यता-असभ्यता को कछोटी पर कसने का अर्थ का साहस करते हैं, हम कह सकते हैं कि  
 हमारे मौखिक स्त्रों (वेद-पुराणादि) का आधार से यह काल तो हमारा अन्तकाल है। हम  
 क्या ये धीरे क्या होगए, इस प्रश्न की मीमांसा के लिए तो हमें ५ सहस्र वर्ष पहिले  
 का देवयुग, एवं सायणयुगकामीन इतिहास का ही अन्वेषण करना पड़ेगा। कुछ गद्या

७ वसुदेव अवतार प्रकृतितन्त्र एवं राजतन्त्र पर स भी मर्मों के विवरण हैं। आर्यिक वसुदेवों का  
 वृद्धिगत के अन्तर्गत ही एक राजकीयिक युगों का उद्योगकाल से अन्तर्गत है। इन अवस्थाओं का विवरण  
 विवेक पुस्तकालयके अन्तर्गत से देखा जाय।



मानव सम्पत्ता के इतिहास पर पश्चिमी विद्वानों ने वास्तव में पूर्ण परिश्रम, एवं विपुलधन व्यय किया है, इस में कोई सन्देह नहीं। यह उन्हीं के अध्ययन का ही फल है कि आज एक ऐसा राष्ट्र उन का सेवक बन रहा है, जिस ने कि अपनी मौखिकता के बल पर किसी समय सम्पूर्ण विश्व पर अपना एकेश्वर शासन प्रतिष्ठित कर रखा था। हाँ तो तुलनात्मक दृष्टि के विचार सौकर्य के लिए यह ज्ञान लेना आवश्यक होगा है कि इन पुरुष पुत्रों ने हमारी, किंवा मानवसमूह की मौखिकता के सम्बन्ध में अपने क्या उद्गार प्रकट किए हैं।

वर्तमान इतिहासवेत्ताओं के अन्वेषण के अनुसार मानव्युग को ११ भागों में विभक्त किया जा सकता है, एवं उन भागों को क्रमशः १-पाषाणयुग, २-धातुयुग, ३-द्रविडयुग, ४-आर्ययुग, ५-सूषयुग ६-पुराणयुग, ७-बौद्धयुग, ८-राजपूतयुग, ९-इस्लामयुग, १०-प्रभुयुग, ११-ब्रिटिशयुग इन नामों से सम्बोधित किया जा सकता है। इन सब युगों का उन्हीं के विषय एवं सर्वापसत्य ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण हो चुका है। अतः प्रकृत में सिद्ध वेदक की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकरण सङ्गति के लिए, साथ ही में राजनीति विद्यारत्न इन राजनीतिकों के किसी गुप्त रहस्य को सर्वसाधारण के सामने रखने के लिए संक्षेप से इन का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

## १-पाषाणयुग

मनुष्य की प्राथमिक अवस्था का इसी युग से सम्बन्ध है। इस युग के पूर्वपाषाणयुग, एवं उत्तरपाषाणयुग भेद से दो विभाग किए गए हैं। जङ्गली पशुओं का संसर्गबल, मरुभूमि मण्डल, मालवप्रदेश, पर्वतराज्य, भूमिगतों, वृक्षच्छाया में विश्राम, आदि धर्म दोनों पाषाण युगों में साम्य हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि पूर्वपाषाणयुग में मनुष्य हिंसक पशुओं के आक्रमण से बचने के लिए साधारण (प्राकृतिक) पत्थरों (देवों) का उपयोग करते थे, इस समय उन्हें अग्नि का पत्थर था, कबामांस ही इन की मुख्य सामग्री थी, शरीर पर व्याख्यादन का सर्वथा अभाव था। उत्तरपाषाणयुग में पोषण का सुधार हुआ। इसी युग में शब्दों के प्रथम

पर से आग पैदा करना सीखा । इसी मणि की सहायता से कपड़े मांस के साथ साथ मुना हुआ अंस भी व्यवहार में आने लगा । नम्रता को दूर करने के लिए वक्रकल-पशुचर्म शुष्कपत्र आदि का उपयोग आरम्भ हुआ । प्राकृतिक पापाखदोषों के रक्षण में साधारण परिष्कार के साथ पापाख के रक्षण करने लगे । इस समय तक इन्होंने वेदकआदि से केवल गुप्त अण्डों का ही भेदन किया था, इसलिए एक प्रकार से इस उदर पापाखयुग को भी हम नम्रयुग ही कहेंगे ।

## २-घातुयुग

बुद्धि के सामाजिक क्रमिक विकास से मनुष्य ने सवप्रथम सौह विद्यम, क्रांश्य (सोहा-पीतल-कंस) इन तीन घातुओं का पता लगाया । इस युग की यही प्रधान विशेषता थी । इसी आधार पर हम इसे पातुयुग कह सकते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ समय में ही इन्हें लाम का भी पता लग गया । इन चारों घातुओं में क्रांश्यघातु ही विशेषरूप से उपयोग में आया, अतएव इसे क्रांश्ययुग नाम से भी सम्बोधित किया गया । लौह के रक्षण एवं आभूषण बनार पर । तांबा-पीतल के मेल से क्रांसी के कलन बनाए पर । मिट्टी की दीवारों के आधार पर छपर के मकानों का आभिकार हुआ । पशुपालन आरम्भ हुआ । साधारण रूप से खेती भी की जाने लगी । वक्रकल एवं शुष्कपत्रों के रक्षण में चर्मचर्मों का विशेष उपयोग होने लगा । सामान्यरूप से छोटे छोटे गिरोहों के रूप में संघठन भी आरम्भ हुआ । इस प्रकार इस घातु युग में व्यवसम्यक उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा ।

## ३-द्राविडयुग

इस युग में सम्यका विशेषरूप से विकसित हुई । पूर्णपापाखयुग को जहां हम निरान्त असम्ययुग, उदरपापाखयुग को असम्ययुग, एवं धातुयुग को सम्यतारम्भयुग कह सकते हैं, वहीं द्राविडयुग अर्द्धसम्यवायुग कहा जासकता है । इसी युग में सामयभाक्तीमूकक प्रजातल

का अर्थमिच्छा हुआ, प्रथम बनाए गए, पचासियों का सभजन हुआ, सासन के लिए पंचासियों के लिए एक एक मुखिया बनाया गया, मिट्टी-इंठों के साधारण मन्थन बनने लगे, सवारी के लिए बोदे, रथ आदि व्यवहार में आने लगे। धम्म के सम्बन्ध में इन्होंने अर्थमिच्छा का ही अनुगमन किया। प्रसिद्ध लोग इन्हीं का पूजन करते थे, सर्पा को अपना आराम देखा मानते थे। पितरों के निमित्त अन्नदान करते थे, भूत-प्रेतादि पर विश्वास करते थे, साप ही में इनके मन से कल्पित रहते थे। इस प्रकार आधिकारिक से सम्पन्न होते हुए भी प्रसिद्ध लोग प्रायः असम्पन्न, अर्थमिच्छाही, एवं मूर्ख ही थे।

## ४-आर्ययुग

यह वही कार्यात्मिक मीपण युग है, जिस की कल्पनाने इन्द्र की मौलिकता का सर्वथा नाश किया है। पाषाणयुग की तरह इस युग के भी पूर्वआर्ययुग, एवं उत्तरआर्ययुग भेद से दो विभाग माने गए हैं। अग्नेदिग्निर्माण पूर्वआर्ययुग की सबसे बड़ी, एवं महाकूर्स विरोधता है। अग्नेदिग्नि आर्षा का सबसे प्राचीन सम्पत्ता ग्रन्थ है। आग्नेदिग्नि इसी युग में कर्मणः पञ्च-केन एवं सायवेद नाम के दो सम्पत्ता ग्रन्थों की रचना हुई। आप्तवेद इस पूर्वआर्ययुग की अन्तिम रचना है। इन चार वेद ग्रन्थों के कारण ही हम इस पूर्वयुग को वेदयुग भी कह सकते हैं। इस युग में अन्न लोभ अग्नि, वायु मूर्धन्य, पानी, नक्षत्र, ग्रह आदि प्राकृतिक पदार्थों से प्रभावित होकर इनकी सृष्टि किया करते थे। इन्हें प्रसन्न करने के लिए अन्न में घी-सिद्ध-सोमरस आदि विविध द्रव्य मिला करते थे, इसी प्रक्रिया को वे यज्ञ कहते थे, जब ठीक अग्नि-वायु-सूर्यादि पदार्थों को देखकर मानते थे। इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वे यज्ञ में समक समय पर पशुबलि भी पकाते थे। इस अग्नि में डालने से जो अन्न बचता था, उसे अन्नमत् पवित्र मानते हुए देखा का प्रसाद समझ कर खाते थे। इस आर्यवासिने समय समय पर कई बीतों को भी उत्पन्न किया। बौद्धपाल की माया का यद्यपि अर्थमिच्छादि विरहस होलाय था, परन्तु ऐतन्नकला का इस युग में सर्वथा अभाव था। उस समय कोई

स्थिति न थी। जिन वेदग्रन्थों का पूरा में उल्लेख किया गया है, उनकी रचना केवल वाणी से ही हुई थी, परस्पर की धृति, धनय से ही साय काम चलता था, इसी लिए वेद को भुवि कहा गया।

जब इन की भुवि का पोषा विकास और हुआ तो उन्होंने एकेचरबाद का परिवर्ण प्राप्त किया। इससे पहिले पूर्ववैदिकयुग में यह अनेक देवताओं पर ही विश्वास करते थे। 'संपूर्ण विश्व का सम्बाहन कोई एक हासक है, एक वह हासक ईश्वर है' यह उन्हें विदित था। इस जिस युग में उन्होंने एकेचरबाद का पता लगाया, वही युग उत्तरभार्ययुग, किंवा उत्तरवैदिककाल नाम से सम्बोधित हुआ। इस युग में आर्यों ने आत्मनिष्ठा के सम्बन्ध में अच्छी उपनि की। द्विधि का भी इसी युग में विकास हुआ। तत्कालीन रहन सहन, रीति रिवाज, देवतास्तुति, शासकों के बलि, परस्पर के बर्बाई आदि धीरों की गाथाएं यह आदि के प्रतिपादन के लिए ही उक्त चार वेदग्रन्थ प्रचलित हुए।

इस प्रकार दो युगों में विभक्त इस भार्ययुग में नगर बनाना, खेती करना, सुन्दर मकान बनाना, कपास-रेखम के कल बनाना, लिखना पढ़ना, शासन करना, आदि बातों में आय सोग निपुण होगए। इन्हीं सब विशेषताओं से हम इस युग को सम्पुण कह सकते हैं। आर्यों का मूल निवास (उत्तर में) पामीर प्रदेश में था। सम्पन्नविकास के साथ साथ जब इन की जन संख्या बढ़ने लगी तो इन्हें रहने के लीए अन्य स्थान खोजने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः (उत्तरस्थ) आने मूलनिवास पामीर से आय सोग पूर्व-पश्चिम-दक्षिण इन तीन दिश्यों में विस्तृत होगए। जो भार्य पूर्व में आकर, वहां के आदि निवासी असम्पन्न मनुष्यों को युद्ध में परास्त कर वहां सदा के लिए बस गए, वही आज चीनी, जापानी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। पश्चिम प्रांत को अपने अधिकार में करने वाली भार्यनाथि युरोपियन कहलाइ।

दक्षिण में जो भार्य आए, उन्होंने वहां के मूल निवासी अनाया पर घोर आभाचार किए। सम्पन्न का अणुमात्र भी त्याग न रखते हुए इन अर्यों में यसाकार से दक्षिणवर्ति के मानबोधित अधिकार भी लीन लिए। उनका सब तरह बहिष्कार किया गया। उन्हें मीपण

पत्रखाए दी गई। भार्य का सम्मान करने पर इन गरीब असमक बनार्य के कानों में मरम सीमा इच्छावाश गया। भार्य का दश करलेने मात्र से बनार्यों को प्राणदण्ड तक दिया गया। बनार्यों ने बनने प्रजापारों की सीमा यही पर समाप्त न की, अपितु बनने नीतिग्रन्थों में (मनु-स्मृति आदि प्रामाण्यों में) सदा के लिए बैसी ही प्रामाण्यिक आजाए लिपिबद्ध कर दी। इस प्रकार इन अतिथि भार्यमें दक्षिणस्य बनार्य के आतिथ्य के पुरस्कार में सदा के लिए उनके सत्य झीमकर उन्हें पशु बना डाला। यही भार्य + भारतीय कृषिशास्त्र। वेदकृतशास्त्र, किंवा संहिताकृतशास्त्र प्रामाण्यिक एक उपनिषद्कृतशास्त्रक उत्तरप्रामाण्यिक का यही सक्षिप्त (किन्तु कल्पित) दिग्दर्शन है।

## ५-सूत्रयुग

पानीर से बस कर जब भार्य लोग भारतवर्ष में आकर बस गए तो क्रमशः उन्होंने एक मित्रता की हेतुमत्त से बनना साम्राज्य विस्तार करना आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों इनका साम्राज्य दृढ़मूढ बनता गया, त्यों-त्यों इन के साहित्य में भी क्रमिक विकास होने लगा। परिणाम स्वरूप इसी साम्राज्ययुग में सुप्रसिद्ध कथिब्रह्म-ऋषिणादादि ६ आस्तिक दर्शनों की रचना हुई। सविज्ञ-कथिब्रह्म-योग-मीमांसा-नेतय-व्यासमूर्तों की रचना काब के सम्बन्ध से ही यह

। इन सम्बन्ध से पठने को वह स्वयं रचना करिए। इतिहासकार जन परिचयो लेखकने पानीर से रचित में इन बले पाठों के प्रचारविधि अष्टों पर एन एन मंत्राय अत्यन्तमः सः कथिब्रह्म व्यास सेवा है, पाठों का (बद म नरतकठिब्रह्म का) एन मूर निरू करने का अत्यन्त प्रयत्न किया है कि किन्तु कथिब्रह्मक यह कथिब्रह्म अतिशय काब भी मयतक म नरतकठिब्रह्म का प्रयत्न अत्यन्त दुष्का उन राजा उद्योगों की रा भविष्य का कथिब्रह्म बन रहा है।

४. दर्शनशास्त्र का उद्भव म की यह मतमेव है। १. १८-१९ तक दर्शन मान कर है। बरतुन-शास्त्र (व्यासमूत्र) प्रकाशिक (इतिहास) कथिब्रह्म (मीमांसा), इन आस्तिक दर्शन के प्रकाश में किन्तु अत्यन्तमः काब पर अति अतिशय दर्शन है। इन प्रकार दर्शन है ही होने है। इन कथिब्रह्म-शास्त्र का निरूपण अत्यन्त उच्च-व्यक्त के "शास्त्रिक आत्मपरीक्षा" प्रकाश में देकरा करिए।



युग सूत्रयुग कहलाया । इस प्रकार इस युग में अपने राक्षसविस्तार के साथ साथ आर्यों ने व्यापारिक क्षेत्र में पूरा उत्थिति करते हुए साहित्य का विस्तार किया । इसी काल में सुप्रसिद्ध वाल्मीकिरामायण की रचना हुई । इसीलिए इस युग को रामायणकाल भी कहा जा सकता है । दार्शनिक सूत्रों के साथ साथ धर्मसूत्रों की रचना भी इस युग में हुई ।

### ६—पौराणिकयुग

इस युग में बनावटी कथाओं के द्वारा साधारण जनता का मनोरञ्जन करते हुए आर्यों ने अपने धर्म का प्रसार करना आरम्भ किया । धर्मप्रसार के लिए राष्ट्रसात्म्य, एवं साहित्य पूर्णता निता त अपेक्षित है । सूत्रयुग में दोनों कमिए पूरी हो चुकी थी । फलतः इन का धर्मप्रसार की ओर ध्यान जाना आवश्यक था । उत्तरआर्ययुग में उपनिषद्मूला जिस आत्मनिष्ठा का विकास हुआ था, वह इस युग में एक प्रकार से दब गया । इस का मुख्य कारण था प्राद्वण समाज । भारतीय कर्मठ ब्राह्मणों के हाथ में समाज का नेतृत्व आगया । प्रत्येक काल में ब्राह्मणों का शासन चलने लगा । यहाँ तक कि एक सम्राट् को भी इन के अनुशासन से अनुशासित होना पड़ा । दण्डनिधान में ब्राह्मणों का भागिक निर्णय सर्वोच्च माना जाने लगा । सार्वजनिक तत्कालीन निगमक ब्राह्मणों में बियों, एवं शूद्रों के सम्बन्ध में बड़ी कड़ी आहार निकाली । जो अपवाचार आर्यों में आरम्भ में इन्हें जाति पर किए थे, उन से भी कहीं अधिक अपवाचार शूद्रों पर होने लगे, वे अद्वैत माने जाने लगे ब्राह्मण के साधारण से अपमान पर इन्हें बंध दण्ड दिया जाने लगा सार्वजनिक अधिकारों से इन्हें वञ्चित किया गया यह कर्म के पहाने अर्द्धपशु यज्ञि दान की वेदी पर चढ़ाए जाने लगे । इस प्रकार समाज पर इन कर्मठ ब्राह्मणों का निरङ्कुश शासन प्रदीष्टित होगया । इन की यह चरता कई शताब्दियों तक अरामा तत्पन्व गृह्य करती रही ।

कत्रहाए दी गइ । आर्य का सामना करने पर इन गरीब असमक बनार्य के कानों में मरम सीमा रखवाया गया । अ.प का रग्य करने मात्र से बनायों क्रे प्राणदण्ड तक दिया गया । आयोंने बनाने प्रसाधारों की सीमा यही पर समाप्त न की, अपितु बनाने नीतिप्रयों में ( मनु-स्मृति आदि भगम्पुर्णों में ) सदा के लिए बेसी ही अमानुषिक आहाए लिपिबद्ध कर दी । इस प्रकार इन अस्त्रिय आर्योंने दक्षिणस्य बनार्य के आशिय के पुरस्कार में सदा के लिए उनके स्वत्व हनिकर उग्रे पशु बना हाया । यही आर्य +मार्तीय कहलाए । वेदकालात्पक, सिंहा संहिताकालात्पक पूर्वमाध्युग एक उपनिषत्कालात्पक उत्तरमाध्युग का यही सक्षिप्त (किन्तु कल्पित) दिग्दर्शन है ।

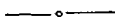
## ५-सूत्रयुग

पामीर से कब कर जब आर्य लोग भारतवर्ष में आकर बस गए तो क्रमशः उगोंने एक निजेता की हैसियत से बनाना साम्राज्य विस्तार करना आरम्भ किया । उगोंने उगोंने इनका साम्राज्य दक्षिण बगता गया, एगों एगों इन के साहित्य में भी क्रमिक विकास होने लग्य । परि याम लक्षण इसी साम्राज्ययुग में सुपसिद्ध करिब ४कलाशादि ८ आशिक दर्शनों की रचना हुई । सन्धि-कवि-योग-नीलस्य-गेठम-म्यसमूत्रों की रचना काल के सम्बन्ध से ही यह

। इस सम्बन्ध में पठने की बहु रकार रखना चाहिए । उगेशिराएर एव परिच्छी लेखकोंने पामीर से दक्षिण में जाने वाले आर्यों के आर्वाङ्ग विच उगों पर एगें एगें मंत्रण अस्त्रयुग अ कल्पित तास कथा है, आगों ने ( काल में न उदरगियों का ) एगें कूर सिंह करे का जवन्त प्रकाश किया है कि किमिक अस्त्रयुग कालनिष्ठ उगोंके अत्र भी भारतवर्ष में सुदक्षक का अस्त्रयुग बनता हुआ उगें उगों लेखने की रा चकिकि का अस्त्रयुग बन रहा है ।

X-वर्गनगरण के उत्तरग म कों की समयेर है । १ १८-१९ १९ तक दर्शन बाल कर है । वसुगण शरतक (प्राणयुग) प्रथमिक (अपैठयुग) वरीतिक (अपैठयुग), तान प्वास्तिक दर्शन है एव अंगार लाल स्वास्तिक, अत्र यह तान कल्पिक दर्शन है । इस प्रकार दर्शन १ है हुने है । इस सम्बन्ध नि-युग काल निष्ठ निवेदन अर्थिक विधानकरक के "शास्त्रिक आ मपदीका" प्रकरण में देखना चाहिए ।

शक्ति के क्षीण होने का एकमात्र कारण था, सम्प्रदायवाद । शैव-शाक्त-कापालिक-नाम आदि विभिन्न मतवादों ने राष्ट्रसंघ क्षिप्त मित्र हो गया । परिणाम में मछलम्बात्मक राजाओं को पूर्ण उच्छ-  
 स्ख बनने का अवसर मिल गया । इन विभिन्न शाक्तों की उच्छ्वसलता से प्रजा में अस्थान्ति  
 व्याप्त हो गई । आपसम्बन्धता पुनः एक बार निपटि में फँस गई । इपवर्षन की शृंखला से ही प्रायः इस  
 गणतन्त्रसुग का आरम्भ हुआ । समाज का अथर्वस, शरीरस, पेश्वर्यस, विद्यास तपोस  
 सब कुछ लुप्त हो गया । अराजकतामूलक, किंवा बहुराजकतामूलक जातिद्वेष ने राष्ट्र में गृहकलह का  
 बीज बपन कर दिया । सब अपनी अपनी अहम्बन्धता के मद से राष्ट्रशक्ति को जग्जरित करन  
 लगे । राजासो ग इन्द्रिय पतयल बन गये । जरा जरा सी बातों पर भारतीय अनेकेको राजा आपस  
 में ही सङ्घर्ष कर अपनी शक्ति का नाश करने लगे । इस प्रकार अर्ध-एक शासन के नाम पर  
 प्रजा का उच्छ्रोणण होने लगा ।



### ८—इस्लामयुग

“विद्विषयों की आपस की कूट कदर का हितसाधन करती है” यह कहानी प्रसिद्ध है ।  
 भारतवर्ष को आने जाकर इसी कहानी का उद्धार बनना पड़ा । भारतवर्ष की उक्त पतन्नायस्था से  
 विधर्मी मुसलमानों में पूरा पूरा लाभ उठ गया । इतिहास प्रसिद्ध मोह-मद की प्रसिद्धि, सोनुग  
 मुहम्मद्गौरी ने सन्ध्य भारतवर्ष पर आक्रमण कर ही तो उठा । उस समय भारतवर्ष का  
 निम्नताता शीतक एकमात्र अचिरामचौहान भारतीयों की आश्रयभूमि बना हुआ था । परन्तु  
 भारत के दुभाग्य से संयोगिता के अनामिक प्रेमपाश में यह पृथिवीपत्र गौरी द्वारा पराल हुए ।  
 इस पक्षी से भारत पर सौभाग्यस्य सदा के लिए अलत हो गया । भारत की कूट ने जयचन्द जैसे  
 पुत्रों को अनेक कर शतप्रता का उन्मूलन कर डाला । मन्मथ विजेता गौरी ने बाणस छोड़ कर  
 गुलाम बुतपुद्दीन को भारत का सम्राट बना कर नेत्रा, इस्लामयुग का यही पहिला भारतीयसम्राट  
 था । इस प्रकार दृष्टपराध के चक्र से अमर गुलाम सिन्धवी तुगलक, सैय्यद्, साफी यह  
 पांच पयनरथ भारतवर्ष की उन्मथी का अरहरल करते रहे । साफी वर अन्तिम सम्राट इति-  
 हास प्रसिद्ध इम्राहीमनामी था । इतिहासप्रसिद्ध मुगलसाम्राज्यनस्थापक शीरर शायर न इम

### ७—बौद्धयुग

पौराणिकयुगकासीन शासकवर्गों के निरङ्कुश आधिपत्य से जब तत्कालीन सम्राज्य घुम्ब होगया, जब पशुवृत्ति की पशुति सीमा का अतिक्रमण कर गई तो सम्राज्य में एक नवीन क्रांति का अग्र हुआ। इस क्रांति को प्रेरणादान मिथा वैराग्य की प्रतिमूर्ति गौतममुद्द से। इन्होंने संसार के सामने बहिष्सा का एक नवीन ही आदर्श उपदिष्ट किया। गौतममुद्द के उपदेशों से प्रभावित होकर सम्राज्य ने वैदिकधर्म, किंवा ब्राह्मणधर्म का तिरस्कार करना आरम्भ किया। परिखासकर ब्राह्मणधर्म की इतिभी के साथ साथ पशुवृत्ति, एव ब्राह्मणों की निरङ्कुशता का भी अन्त होगया, वैदिकधर्म अस्तप्राय होगया, ब्राह्मणों का महत्व जाता रहा, एक प्रकार से सम्पूर्ण विश्व इस नवीन बौद्ध मत में दीक्षित होगया। सामान्य जनता की कौन कहे, कब बड़े राजाओं, सम्राटों तक ने बुद्धमत का अनुगमन किया। सच पूछा जाय तो कहना पड़ेगा कि बौद्धमत के इस महाविस्तार का एकमात्र अग्र उन्मेष्य को ही था। भारतवर्ष के अन्तिम सम्राट् देवनागिरिपदरिणी अशोक ने भी कठिणविजय में होने वाली बहिष्सा से क्लान्त होकर बुद्धमत का आश्रय लेलिया था। अथ सम्राट् बुद्धमत के महाप्रचारक थे जैसा कि उन के पुत्र—कन्या के प्रचार, एव सिंहासेखों से स्पष्ट है। कहना न होय कि कई शताब्दियों तक भारतवर्ष इस ( बौद्धात्मिक ) मत का आक्रमण सहता रहा। आगे जाकर भगवान् शङ्कराचार्य ने उत्तरार्धयुगकालीन, अन्ध्यात्मवादमूक उसी उन्मेष्य का आश्रय लेते हुए बौद्धमत को क्षिप्त भिन्न किया। तत्कालीन कुपारिजमह तन्त्रिय मण्डनमिथ आदि कर्मठ ब्राह्मणों के उद्योग से, एव शङ्कर के उपदेशों से पुनः एक बार भारत ब्राह्मण धर्म का अनुयायी बन गया।

### ८—बहुराजतन्त्रयुग

जब तक भारतवर्ष में बौद्धयुग का आभास रहा तब तक साम्राज्यशासनप्रणाली एक प्रकार से सुरक्षित रही। परन्तु आगे जाकर यह साम्राज्यवाद सर्वथा उच्छिन्न हो गया। साम्राज्य

## ११—वृत्तिशुद्धि

परमप्रतापी, अनुसन्धाहसी, पूरुषसम्प, दुर्भय वैज्ञानिक विदित्य सोमोने देखा कि भारत  
 ११ भाष्य महादु सी बन रहा है। सदेशीय वर्षों का आक्रमण, विधर्मी मुसलमानों का आस्था  
 चार, पुचपाक लोगों की अर्थसासता आदि से भारतीय प्रजा भाव संप्रस्त है। परबसरूप दया  
 की प्रविष्टि उन सम्पों के हृदय में बलसा का स्रोत उमक पका। पचति इन की यह हृष्टा कमी  
 नहीं थी कि इन अपने सुसपुत्रसाधायसुसु बने छोड़कर उतनी दूर जाकर स्पथ का सक्र  
 मोक्ष से। परन्तु उनसे यह न बेखा गया कि हमारे ही सभातीय मनुष्य इस प्रकार दु स पावा  
 करें, ए३ हम तटस्थ बने हुए आमन्द मनाते रहें। बस, हाँ बस एकमात्र इसी उपकारभाक्ता  
 से प्रेरित होकर उन्होंने सदेश के सम्पूर्ण सुखों को जलाजलि समर्पित कर भारतकमुम्भय के  
 बक्षरपथ पर बड़े ही शुभ मुसूच में पादार्य्य करने का कष्ट कर ही ले बाला। यहां आकर  
 उन ज्वालुषोनें किया क्या! सुनिए!

सबसे पहिले उन्होंने अराजकता दूर की। लूट ससोए करने वाले डाकुषों का दमन  
 किया। मुसलमानों के भीषण आलाचारों से संप्रस्त प्रजा का श्राख किया। निर्बल राजाषों को  
 आत्रय दिया। देश की आर्थिक उच्छति के लिए अवैज्ञानिक कला-कौशल का समूल विनाश  
 कर वैज्ञानिक प्रशाखियों का प्रसार किया। जिन मन्दबुद्धियोंने इस शुभ काम में बाधा डाली,  
 उनको ऐसा मयदूर हण्ड दिया गया कि फिर कोडे मधेप्य में इस प्रकार उच्छति में बाधा  
 डालने का साहस न कर सक्य। विवासभातियों को फाँसी के तहते पर लटकवाया गया। प्यता  
 प्यत की सुविधा के लिए सड़कें बनवाईं, छाया सुदबाए। शिष्या की समुच्छति के लिए बड़े बड़े  
 फॉलेज स्थापित किए। रक्षा के लिए सभाति सेना रन्धी ग्य। कम्पनी द्वारा शासनप्रशाखी में  
 पूरुष सुभार किया गया। योग्य स्पक्षियों को विशुद्ध उराधिशन से सम्मानित किया पथ। इस  
 प्रकार इन महापुरुषोंने नि स्याप माब से, निधय ही नि स्यापमाब से आरक्षण की, ए३ मा  
 लीय प्रजा की उस विन्धक्युग से रक्षा की। शेर-बकरी एक राट पानी पीने लगे। सर्वत्र  
 शान्ति का साभाश्य स्थापित होग्य। मानो एक बार फिर से सन्धुग अ्यग्य। इय भारतक

हीम को युग में पगल कर मास के धाक से अपने मस्तक की शोभा बढ़ाई, यही पहिवा मुगल बादशाह था। बाबर ने अपने अन्वयुग से जिस मुगलशाहअब्दुल क़ादीरकान किया था, राजनीति विद्वान्, समवहस्य वेला अफ़्जल ने उसे पुष्टित, एक पद्धति किया। एवं अन्वयुग-सिद्धान्त अफ़्जल ने अपनी दुर्म्ति से मुगलशाहअब्दुल को खिल मित्र किया। वस यही से इस्लामयुग का पतन आरम्भ होता है।

शाह गैरी से आरम्भ कर अफ़्जल तक इस्लामयुग का प्रसूत रहा। इस युग का सङ्कट कठकाने के लिए पहिचानी ऐतिहासिकोंने कितने अन्वयुग कहे गये होंगे, उन अन्वयुगों के सामने सम्भवतः उनका हार घात साहित्य भी कुछ न होय। सब पूजा जाय तो उन की इतिहास लिखने की शक्ति का पूर्ण अन्वयुग इस्लामयुग के इतिहास में ही इत्ये है। अन्वयुग विचारणीय विद्वानों को यह निश्चित होगया है कि इस इतिहास का कितना महत्व है, इसमें कितनासा अन्वयुग है, एवं कितनासा अन्वयुग कथित है।

## १०-अन्वयुग

इस्लाम, एक अतिशयुग के मध्य में एक अन्वयुग और आता है। इसे हम अन्वयुग भी कह सकते हैं। पण्डितों की सट्टा, मराठों की शूरवीरता, भीम, सली, कन्न, अन्वयुग वर सुदूरों का दोरा इत्यादि इस युग की प्रधान विशेषताएँ हैं। न इस युग में राजतन्त्र था, न प्रजातन्त्र था। या तो एकत्र अन्वयुग, किंवा अन्वयुग। सर्वत्र अन्वयुग अन्वयुग अन्वयुग पद्धति था, भारतीय प्रजा महा हुआ थी। यह बाहरी थी कि इस अन्वयुग में अन्वयुग अन्वयुगों से उस की अन्वयुग, अन्वयुग दूर करे। अन्वयुग उन्वयुग देर में अन्वयुग ने उस की अन्वयुग न सुनी। सुनी तो अन्वयुग। अन्वयुग रहने अन्वयुग अन्वयुग।

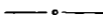
## ११-ब्रिटिश युग

उत्तमप्रतापी, अतुलसाहसी, पूर्वसम्य, दुर्बल वैज्ञानिक ब्रिटिश सेमोंने देखा कि भारत-वर्ष आज महादुःखी बन रहा है। स्वदेशीय वस्तुओं का आक्रमण, विघर्षीय मुसलमानों का अत्याचार, पुर्तगाल लोगों की अर्थात्साहसा आदि से भारतीय प्रजा आज सन्नत है। पञ्चसंस्कृत दया की प्रतिनिधि उन समयों के हृदय में कड़वा का स्रोत उमड़ पड़ा। जबकि इन की वह श्रद्धा कभी नहीं थी कि हम अपने सुसंस्कृतसाम्राज्यसुख को छोड़कर इतनी दूर जाकर अर्थ का सुकृशोध से। परन्तु हमसे यह न देखा गया कि हमारे ही साम्राज्य मनुष्य इस प्रकार दुःख पाया करें, एवं हम तटस्थ बने हुए ध्यानन्द मनाते रहें। वस, हाँ वस एकत्र इसी उपकारभावना से प्रेरित होकर उन्होंने अंग्रेजों के सम्युक्त सुखों को जवाबदारी समर्पित कर भारतसुखधरा के अत्यन्त पर अके ही सुम सुदृष्ट में पादापण करने का कष्ट कर ही तो जाला। यहाँ आकर उन कृपासुखोंमें किया क्या। सुनिए।

सबसे पहिले उन्होंने अराजकता दूर की। लूट कसोट करने वाले डाकुओं का दमन किया। मुसलमानों के भीषण अत्याचारों से संश्रुत प्रजा का प्राण किया। निराल राजाओं को अश्रय दिया। देश की अर्थिक उन्नति के लिए अर्थवैज्ञानिक कला-कौशल का सम्युक्त निगारण कर वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रसार किया। जिन मन्दबुद्धिओंमें इस शुभ काम में बाधा आती, उनको ऐसा मयाहर दण्ड दिया गया कि फिर कोई मन्त्रिम्य में इस प्रकार उन्नति में बाधा आने का साहस न कर सका। विधासुधासियों को फाँसी के तख्ते पर बलकिया गया। पाठ-प्यत की सुविधा के लिए सबके जनबाद, टाकाव सुदधर। शिक्षा की समुन्नति के लिए बड़े बड़े कॉलेज स्थापित किए। रक्षा के लिए खजाली सेना रखी गई। कम्पनी द्वारा शासनप्रणाली में पूर्ण सुधार किया गया। योग्य व्यक्तियों को विशुद्ध उपाधिदान से सम्मानित किया गया। इस प्रकार इन महापुरुषोंमें निःस्वार्थ भाव से, निश्चय ही निःस्वार्थभाव से भारतवर्ष की, एवं भारतीय प्रजा की उस विश्वस्युग से रक्षा की। जेठ-बकरी एक घाट पानी पीने लगे। सर्वत्र शान्ति का साप्राश्य स्थापित होगया। मानो एक बार फिर से सत्ययुग आगया। इस भारतवर्ष

सियों के सौम्य से सन् १८८१ तक प्रिण्डिग साम्राज्य अनुष्णरूप से शान्ति का झेल  
बहाता रहा ।

परन्तु न मालुम इन भारतीयों को उसके बड़े क्या सनक सवार हो गई कि एक एक सन्  
१८८४ में फ्रांज़िस नाम की एक सत्वा को जन्म देही तो जाला । सोग करते हैं यही से  
प्रिण्डिग अन्धपतनयुग का आरम्भ होगया । कहते होंगे, एवं कहते रहें । हम तो इस कल्प  
में कोई विश्वास नहीं रखते । हमें तो प्रिण्डिग साम्राज्य के पशुबस पर आब भी + + + +  
रो + + सा + + ००० + + + है ००० + । हाँ हम यह अन्धरय ही नहीं जानते कि  
पशुबस एवं आत्मबस की प्रतिस्पर्धा में कौन विजय प्राप्त कर सचता है ? इसका उत्तर तो फ्लो-  
विज्ञान के पण्डित ही देसकते हैं । हमारी दृष्टि में प्रिण्डिगयुग का यही संक्षिप्त इतिहास है ।  
आगे क्या होगा ? उत्तर कामधुरूप से पूर्ण, अथवा अरने ज्यों से पूर्ण— 'तमै नम  
कर्मणे । अधिक विज्ञाना हातो कमलस्य प्रतिपादित गीताशास्त्र को अपना गुरु बनाए ।



प्रसङ्गोपात्त यह भी विचार कर लीजिए कि ठक युगों की अगम्यता के सम्बन्ध में उन  
एतिहासिकों का क्या विचार है । सन् १८८७ से परमशान्तिसेवाक प्रिण्डिगयुग का  
आरम्भ होता है । इन दृष्टि से प्रिण्डिगयुग का प्रसार हुए अन्धतक लगभग १ वर्ष होते  
हैं । सन् १७ ७ में आरम्भ की मृत्यु होती है । यही से अन्धयुग आरम्भ होता है । इस  
गणना के अनुसार लगभग १५ वर्ष तक अन्धयुग की सत्ता सिद्ध होती है । सन् १२०९  
के लगभग बहुराजतन्त्रयुग किंवा राजपूतयुग का आरम्भ होता है । यही से मुहम्मदगौरी की  
रुपा से इस्लामयुग का आरम्भ होता है । फलतः इस्लामयुग ५०० वर्ष तक भारतवर्ष में प्रति-  
ष्ठित माना जासकता है । सन् १५२ के लगभग हर्षवर्धन की मृत्यु होती है । यही से बहुराज  
तन्त्रयुग का आरम्भ होता है । यह युग लगभग ५५० वर्षतक अपनी व्याप्ति रखता है ।  
इं सन् से पूर्व ५७७ (बी० सी०) में गौतम बुद्ध ने जन्म लिया । यही से बौद्धयुग का



आरम्भ माना जाता है । इस प्रकार लगभग ११०० वर्ष पक्व इस शान्तयुग का प्रसुप्त रहा । ईसवी सन् से ५००० वर्ष पूर्व क्रमशः धार्ययुग, भ्रूजयुग, पुराणयुग का प्रसुप्त रहा । अर्थात् आज से लगभग ७ हजारवर्ष पहिले से आययुग का आरम्भ हुआ । एवं लगभग ४॥ हजार वर्ष तक उक्त तीनों युगों का क्रमिक भोग सिद्ध हुआ । इसा से = हजारवर्ष पूर्व त्रिवि युग की सत्ता मानी गई । अर्थात् आज से १० हजारवर्ष पहिले त्रिविद्ययुग का आरम्भ हुआ, एवं लगभग ३ हजार वर्ष पर्यन्त प्रसिद्धों का प्रसुप्त रहा । अब धातुयुग, एवं पापायुग यह दो युग बच जाते हैं । इन दोनों का काल अभी तक अनिश्चित सा है । इस प्रकार उनके अनुमान से मूलसम्पत्ता के क्रमिक विकास का उक्त इतिहास १०-१५ हजारवर्षों के भीतर भीतर समाप्त होमाता है ।

व्याप्य इस का यह हुआ कि भारतवर्ष की, भारतवर्ष की ही नहीं अपितु संसार की सम्पत्ता के विकास का इतिहास १०-१५ हजार वर्षों में समाप्त है । इधर भारत में अक्षर निष्ठा करने व से आर्यों का अम्युदयकाल केवल ४-५ सहस्र वर्ष पहिले से सम्बन्ध रखता है । साय ही में इन का यह अम्युदय केवल आर्य से ही सम्बन्ध रखता है । लौकिक विषयों के अम्युदय में, राष्ट्रमति के सम्बन्ध में भारतीय आर्य प्रायः असमर्थ ही रहे हैं । न उन के प्रश्नों में उन का कोई कमबख्त इतिहास है, न इस सम्बन्ध में पुगत्त्व विभाग-की ओर से ही कोई प्रमाण ही निष्ठा है । इन सब परिस्थितियों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जिसे उन्नति, किंवा विकास कहना चाहिये, उस का अर्थ-शक्ति में, दूररे उठने में भारतवासियों में प्रायः अभाव ही रहा है । इसी अभाव से यह अपने साधारण सञ्चालन में असमर्थ बनते हुए दूर-दूरों का आधेप लेना आवश्यक समझने लगे हैं ।

## युगतालिका

१—पाषाणयुग	{ <ul style="list-style-type: none"> <li>१—पूर्वपाषाणयुग → नितान्तअसम्भययुग</li> <li>२—उत्तरपाषाणयुग → असम्भययुग</li> </ul>	} → अज्ञात
२—पातुयुग	→ कांस्ययुग, सम्यतारम्भयुग	} → अनिश्चित
३—द्विविद्ययुग	→ अर्द्धसम्भययुग	} → ई०से०स० स०पू० भारम्भ(३०००)
४—भार्ययुग	{ <ul style="list-style-type: none"> <li>१—पूर्वभार्ययुग → ऋग्वेदकाल → बहुदेवतायुग</li> <li>२—उत्तरभार्ययुग → उपनिषत्काल एकेश्वरयुग</li> </ul>	} → ई०पू०५स०
५—सूत्रयुग	→ दर्शनकाल, रामायणकाल	} सेपूभा
६—पुराणयुग	→ पद्यकालियुग, प्राकृतकाल	} (६५०)
७—बौद्धयुग	→ अहिंसायुग, बौद्धिकपम्भडासयुग	} → ई०पू०५५० स(११०)
८—बहुराजतयुग	→ रामयुग, सत्यताहासयुग	} → ६४२स(५५)
९—इस्नामयुग	→ अत्याचारयुग	} → १२ दश(५०)
१०—अन्धयुग	→ विप्लवयुग, क्रान्तियुग	} → १००७स(१५०)
११—मिथिगयुग	→ शान्तियुग, गृहसमृद्ध-सम्भययुग	} → १८७से(१००)



उक्त युगों में किना तर्काय है एष किना अय कालनिक है, इसकी मीमांसा करने का न तो प्रकृत में अवसर है, एवं न इस विषय के स्वीकरण की हम योग्यता ही रखते। हाँ इस सम्बन्ध में यह स्वीकार कर लेने में किसी मा तथ्य का कोई भावति नहीं करनी चाहिए कि ब्रिटिश जातिने मानवसम्पत्ता के सम्बन्ध में युगधर्मा का जो स्वरूप हमारे सामने रक्खा है तबतक हमें उसके सम्बन्ध में किसी तरह की टीका टिप्पणी करने का अधिकार नहीं है, जबतक कि हम अपनी ओर से इस सम्बन्ध में प्रमायों के आधार पर अपने युगधर्मा का स्वीकरण न करदें।

मान लीजिए, उन्होंने जो कुछ लिखा गस्त लिखा। परन्तु आपने क्या किया, न लिखा, न पढ़ा, सबथा अकर्मस्य बने रहे। ब्रिटिशजाति एक कम्मठ जाति है, उसमें स्वदेश प्रेम कूट कूट कर मर है और वह प्रेम वहाँ केवल आदर्श की ही वस्तु नहीं है। वह वीरजाति अपने कर्षणों से अपना स्वदेश प्रेम प्रकट कर रही है। किसी भी जाति के दोषों की मीमांसा करते हुए उस के गुणों की उपेक्षा कर देना कृतघ्नता है, पाप है। और फिर गुणवत्त्वका प्रकृति के साम्राज्य में विचारण करने बासा कौन सा मनुष्य दोषों से बचा है— 'सवारम्मा हि दोषका धूमेना' परिपाटना"।

परि समाजोबनतमक द्विधि से हम विचार करते हैं तो हमें निश्चयात्त हो कर कहना पड़गा कि गुण—दोष की तुलना में उन्हीं का आसन सर्वोच्च है। उनका धर्म्यप्रेम उनका देश प्रेम, उनका कर्षणप्राप्तन उनका उपाय माननाएँ, हम भारतवासियों के लिए शिक्षासूत्र है। अभी कई शताब्दियों तक उनसे हमें सीखना पड़गा। उनका आदर्शवाद कम्म को अपने गम में रखता है, और हम निरुद्ध आदर्शवादी हैं। जो आ शमन व्यवहार की वस्तु न बने उस आदर्शवाद का क्या महारथ। 'हमारे वितामह ऐसे थे, बसे थे' इस निरर्थक भाग्यदम्बर से हवात कोई बन्धना नहीं होसकता। अभी हम बसे हैं, ठिबर जा रहे हैं, इस वर्तमान क्षिति के आधार पर ही हमें वर्तमान सम् का के साथ तुलना करनी होगी और निश्चय रूप से इस तुलना में हमारा आसन उनका अपेक्षा भीषा ही रहेगा।

युगतालिका

१-पाषाणयुग	<ul style="list-style-type: none"> <li>१-पूर्वपाषाणयुग → निशान्तप्रसभ्ययुग</li> <li>२-उत्तरपाषाणयुग → प्रसभ्ययुग</li> </ul>	} → ७५००
२-पातुयुग	→ कौस्तुभयुग, सम्यतारम्भयुग	} → अनिश्चित
३-विद्युतयुग	→ अर्द्धसम्यतायुग	} → ई०से० ८००० स०पू० भारतम् (३०००)
४-आयुयुग	<ul style="list-style-type: none"> <li>१-पुरुषायुग → ऋग्वेदकाल → बहुदेवतायुग</li> <li>२-उत्तरआयुयुग → उपनिषदकाल → एकेश्वरयुग</li> </ul>	} → ई०पू० ५००० से पू आ (४५०)
५-सूत्रयुग	→ दर्शनकाल, रामायणकाल	}
६-पुराणयुग	→ पद्यसिद्धयुग, ब्राह्मणकाल	
७-बौद्धयुग	→ अहिंसायुग, बौद्धधर्मप्रवृत्तयुग	} → ई०पू० ५५० से (११०)
८-इन्द्रायुग	→ रामायणयुग, सम्यताहासयुग	} → ६०२० (५५०)
९-इन्द्रायुग	→ अर्द्धसम्यतायुग	} → १२६० (५०)
१०-अन्ययुग	→ विष्णुयुग, कालियुग	} → १००० (१५०)
११-विद्युतयुग	→ गान्धियुग, पूरुषसद-सम्ययुग	} → १५०० (१००)

कि उन्होंने केवल एक ही मन्त्र में राष्ट्र के सम्पूर्ण प्रभुत्व रख कर डाले हैं । मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।

आ राष्ट्रं रामम्यः शूर इष्योऽतिष्यापी महारयो जायताम् ।

दोग्धी धेनुः, सोढानङ्गान्, आशुः सपि, पुरन्धिर्योपा, जिष्यु रयेष्टः ।

समयो युवांस्य यजमानस्य शीरो जायताम् ।

निक्रामे निक्रामे नः पञ्चपो र्षर्षु !

फनवदो न न ओपभयः पश्यन्ताम् ।

योगक्षमो नः कल्पताम् ।

(सुबोधसंहिता २.१७८।२२२०५)

मन्त्र का अन्वय यही है कि —“हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी उत्पन्न हों । राष्ट्र में क्षत्रियर्षी शूर, धनुर्दारी, नीरोग एवं महारयो उत्पन्न हों । गाय बृष धेनेवासी, बैस बोम्बू डोहनेवाला घोडा तेज कउनेवाला, आ कपगुणवती, रषी ज्यष्ठीस उत्पन्न हों । यजमान का युवा पुत्र समाश्रित, एक शीर उर न हो । समय समय पर पञ्चय र्षी करता रहे । हमारे लिए ओपभिर फनवती भय कर पकती रहीं । ( इस प्रकार हे ब्रह्मन् ! आप हमारे लिए) योग-क्षेम का निवाह करते रहीं” ।

अब इस के तात्त्विक अर्थका विचार करिए । राष्ट्र की सबसे पहिली माग है ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण । ज्ञान का अधिष्ठता र्म ही ब्राह्मण है । किसी भी राष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उस की ज्ञानशक्ति को सर्वोत्तमना सुरक्षित रखा जाय । आधिष्ठित राष्ट्र न शीर बन सकता, न सम्पत्तिशाली बन सकता । ज्ञान को मूलमें रखकर ही राष्ट्र अपना अस्तित्व कर सकता है । ब्रह्मवच ( ज्ञानवच ) ही क्षत्रवच ( क्षियाशक्ति ), एवं विद्बच ( अर्थशक्ति ) की

हम भारतीय बड़े आत्मिक के साथ कहा करते हैं कि हमारा वैदिक साहित्य सारा का सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। हमारी फर्जोसफती (दर्शन) सर्वोत्कृष्ट है। परन्तु हिन्दू आदर्श का उपयोग करने वाले सम्प्रदायमित्री उन भारतीय विद्वानों, एवं राष्ट्रीय नेतृत्वों से हम पूछते हैं कि उन्होंने अपने साहित्य की रक्षा के लिए क्या प्रयत्न किए और क्या कर रहे हैं? हम तो देखते हैं कि हिन्दुत्व का आम्बुग्न करने वाले वे नेता रक्षा के प्रयत्न के स्थान में वैदिक साहित्य को लिम्बूक बनाने का ही उद्योग प्रदान कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में राष्ट्रनिर्माण में भारतीयता का क्या प्रतिफलक बन रहे हैं।

अपने मौखिक साहित्य की उपेक्षा करने वाला राष्ट्र क्या अपना आदर्श कभी सुदृष्टित कर सकता है? असम्भव। राष्ट्र का क्या स्वरूप है? राष्ट्र को किन किन शक्तियों की आवश्यकता है? कौन सा राष्ट्र संपूर्ण राष्ट्र कह सकता है? राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए किन किन उपायों का आवश्यकन अपेक्षित है? इन प्रश्नों का कर्त्तव्य समाधान करने वाले वे राष्ट्रीय नेता राष्ट्र का ह्योन सा उपकार कर रहे हैं। यह हमारी समझ में न आया और न आन की आवश्यकता। जब कि इन का राष्ट्रनिर्माण हमारी वैदिक राष्ट्रनिर्माण शक्ति से ठीक उल्टा है। वैदिकसाहित्य को, किंवा भारतीय शास्त्र को राष्ट्रोन्नति में बाधक समझने वाले "अन्वनेन नीयमाना ययाम्बा" नीति का अनुसरण करने वाले उन राष्ट्रीय नेताओं को यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिकसाहित्य केवल परमोक्त सम्पत्ती अत्यात्मवाद का ही प्रतिपादक नहीं है, बल्कि यह हमारी ऐहिकोक्तिक आवश्यकताओं का भी भ्रम पर्याप्तशक्ति है। उदाहरण के लिए एक मन्त्र उनके सामने उपदिष्ट किया जाना है। उसी के आधार पर उन्हें मान लेना पड़गा कि वैदिकसाहित्य का किंवा वैदिक मार्गशुद्धी गीताशास्त्र का राष्ट्रनिर्माण में स्थितता उपयोग है। हमारा राष्ट्र कसब हो? सम्भवतः इस प्रश्न के समाधान के लिए आज के राष्ट्र शक्तियों को एक महापोषा लिखना पड़गा और सम्भवतः वह भी राष्ट्र निर्माण की पूरी पूरी ध्यायना करने में असमर्थ ही रहेगा। उभर महर्षियों की अमोक्तिक वाणी का यह समकार है

कृत्रियका ब्रह्मसर्वस्वी ब्राह्मण के आदेश पर चलता हुआ राष्ट्रका में पूरा समर्थ बन जाता है 'शूर इयञ्चोऽतिभ्याधी महारयो जायताम्'।

राष्ट्र को ब्राह्मण के द्वारा ज्ञानशक्ति मिली कृत्रियके द्वारा क्रियाशक्ति मिली, अब सर्व प्रधान अर्थकर्म की समस्या राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हुई। ब्रह्म-क्षत्र गोत्रा हैं, अर्थ गुप्त है। इन दोनों रक्षकों से अथवस्त सुरक्षित रहना हुआ उचरोत्तर समृद्ध बनता रहता है। यही अर्थ ब्रह्म राष्ट्र की तीसरी मांग है, जिस की रक्षा करना हुआ ब्राह्मण-कृत्रियवर्ग जय भी अपने स्वरूप का रक्षा करने में समर्थ होता है। जिस राष्ट्र का अर्थकर्म समृद्ध एवं सतन्त्र होगा उसी राष्ट्र में ज्ञान का विकास होगा, एवं वही राष्ट्र शासनदण्ड का सञ्चालन करने में समर्थ होसकेगा। अथवरत्नता ही राष्ट्रपरतन्त्रता का मूल कारण है।

राष्ट्र की अर्थशक्ति कृषि, गोवश, व वाणिज्य इन तीन भगों में विभक्त है। इन तीनों कर्मों का संवाहन करने वाला भी एक स्वतन्त्र वर्ग अपेक्षित है। आध्यात्मिक अतिवैदिक आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने वाला ब्राह्मणवर्ग आधिमौलिक (शत्रु के) आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने में अस्त कृत्रियवर्ग दोनों अर्थशक्तिसामक कृषि गोरक्षा-वाणिज्य नहीं कर सकते, और नहीं करना चाहें। अथवर ही इस त्रिविध अर्थ-कर्म के लिए राष्ट्र का एक स्वतन्त्र समुदाय नियत करना पड़ेगा, एवं वही वर्ग 'वैश्य' कहलाएगा "कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्"।

धर्मस्थानीय अथवर धर्मस्थानीय अथवरङ्ग आक्रमण रक्षक ब्राह्मण धर्मस्थानीय बहिरङ्ग आक्रमण रक्षक कृत्रिय, इन दो रक्षकों से रक्षित वैश्य गुप्त रहेगा, सुरक्षित रहेगा। परिष्काम्याधम्मालुग्गमी एक चौथा दल और नियत करना पड़ेगा वही राष्ट्र का सेनाबल होगा, एवं वही वर्ग "आशुद्रवनि" (सेनाभाव के लिए बन्दी से जल्दी दौड़ पड़ने वाला) इस सिक्कम के अनुसार शूद्र कहलाएगा। अर्थशक्ति से ही सम्बन्ध रहने वाला राष्ट्र का कल्याण-कौरव इस चौथे वर्ग के लिए ही नियत करना पड़ेगा-"परिष्काम्यात्मक ज्ञम्य शूद्रस्याप स्वभावजम्"।

मूळ प्रतिष्ठ है। जो अक्षय्य अक्षय्य की उपाय करता है, वह अपने साथ साथ राष्ट्र के एक नगर का भी निमित्त बनता है—“यद् अक्षय्यं तद्वाक्षय्यो अक्षय्यं चैव माण्डूक्यम्” ।

केवल ज्ञानका से ही राष्ट्र समृद्ध नहीं बन सकता यह भी निश्चित है क्योंकि समृद्धि का मूल-पेड़ है कुछ कर्म किया जाना, तब समृद्धि होती। जो कर्म ज्ञान कला में निम्न है, वही कर्म भी करने बने, यह संभव नहीं है। ज्ञान का अन्वेषण अन्तर्भाव का ही अन्वेषण रहता है। सांख्यिक कर्मा में व्यस्त होने का कर्म अन्वेषणिक कर्मों राष्ट्र को ज्ञानदान नहीं कर सकता। उसका तो एकमात्र काम होगा, उद्विग्नता से उत्थित होकर अन्वेषण से ज्ञान का अनुष्ठान करते हुए आदेश देना, धर्म बतलाना। ऐसी दशा में इस ज्ञानोपासक अन्वेषणिक अन्वेषणिक के अतिरिक्त राष्ट्र को एक ऐसा ही और चाहिए, जो अक्षय्य के अन्वेषणिक उपायों द्वारा राष्ट्र का एक बन करता है। यही धर्म अक्षय्यकर्मणम् । यही हमारे राष्ट्र की दूसरी धर्म होती—“या राष्ट्रं रानन्वय” ।

जिस प्रकार राष्ट्र के अक्षय्यका को अन्वेषणिक होना आवश्यक है, एकेन कर्मा अक्षय्य का भी कुछ विशेष योग्यताओं का रहना आवश्यक है। सबसे पहिली योग्यता है “शूरता” । अक्षय्य शरीर से बसकन होना चाहिए। निरक्षय अक्षय्य राष्ट्र समृद्धि नहीं कर सकता। दूसरी योग्यता है—“इष्यता” । केवल शरीरका राष्ट्रका में तब तक असमर्थ है जब तक कि एक-कदम पास में न हो। शक्यता ही शक्यता प्राप्त कर करता है। तीसरी योग्यता है—“प्रतिष्ठापी” । शरीर भी स्वयं ही शक्यता भी परम्परा है परन्तु समय समय पर यदि लोगों का आक्रमण होता रहे तो एक बलवान अक्षय्य भी शक्यता में काम न लेसकेगा। इसलिए इष्य के साथ साथ इसे व्याधि ( रोग ) से भी रक्षित रहना चाहिए। चौथी योग्यता है—“महारथः” । बलवान, शक्यता, निरोग अक्षय्य को राष्ट्रका के लिए दूर दूर तक अनुष्ठान करना पकता है। बिना बल ( रथ-नीकर-युद्ध-गज-पुराण आदि ) के शक्यता यह अनुष्ठान कर्म सम्भव नहीं हो सकता। सुसमृद्ध राष्ट्र के लिए बलवान सम्पत्ति का होना भी अनिवार्य है। इन चार भागों से युक्त



द्वित्रियका ब्रह्मर्षिस्त्री ब्राह्मण के आदेश पर चलता हुआ राष्ट्ररक्षा में पूरा समय व्यत जाता है 'शूर इषब्धोऽतिष्याधी महारथो जायताम्' ।

राष्ट्र को ब्राह्मण के द्वारा ज्ञानशक्ति मित्री क्षत्रियके द्वारा क्रियाशक्ति मित्री, अब सर्व प्रधान अर्थबल की समस्या राष्ट्र के सम्मुख उपपन्न हुई । ब्रह्म-क्षत्र गोत्रा हैं, अर्थ युक्त है । इन दोनों रक्षकों से अर्थबल सुरक्षित रहता हुआ उत्तरोत्तर समृद्ध बनता रहता है । यही अर्थ बल राष्ट्र की तीसरी मांग है, जिस की रक्षा करना हुआ ब्राह्मण-द्वित्रियकर्मा जय की अपने स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होता है । जिस राष्ट्र का अर्थबल समृद्ध एवं सतन्त्र होगा उसी राष्ट्र में ज्ञान का विकास होगा, एवं वही राष्ट्र शासनदृष्टक से सञ्चालन करने में समर्थ होसकेगा । अथपरन्तत्रता ही राष्ट्रपरतन्त्रता का मूल कारण है

राष्ट्र की अर्थशक्ति कृषि, गोपश, व शिद्यय इन तीन मर्गों में विभक्त है । इन तीनों कर्मों का संवाकन करने बाबा भी एक स्वतन्त्र बर्ग अपेक्षित है । व्यापारिक, अधिविद्विक आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने बाबा ब्राह्मणर्षि आधिभौतिक (सत्रु के) आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने में अस्त द्वित्रियकर्मा दोनों अर्थशक्तिसाधक कृषि गोपश-वाशियन नहीं कर सकते, और नहीं करना चाहिए । चकरय ही इस त्रिविध अर्थ-कर्म के लिए राष्ट्र का एक स्वतन्त्र समुदाय नियत करना पड़ेगा, एवं वही बर्ग 'वैश्य' कहलाएगा "कृषि-गोपश वाशियन वैश्यकर्म स्वभावसम्' ।

धर्मस्थानीय अथवा धर्मस्थानीय अन्तरङ्ग आक्रमण रक्षक ब्राह्मण, धर्म-वासीय बहिरङ्ग आक्रमण रक्षक क्षत्रिय, इन दो रक्षकों से रक्षित वैश्य युक्त रहेगा, सुरक्षित रहेगा । परिवर्त्यापन्मानुगामी एक चौथा दल और नियत करना पड़ेगा वही राष्ट्र का सेवक होगा, एवं वही कर्मा 'धायुद्रवनि' (सेवामात्र के लिए बन्दी से बन्दी दीक पकने बाबा) इस निवृत्त के अनुसार शूद्र कहलाएगा । अर्थशक्ति से ही सम्बन्ध रखने बाबा राष्ट्र का कला-कौशल इस चौथे का के लिए ही नियत करना पड़ेगा "परिचर्यात्मक इत्यं शूद्रस्याप स्वभावसम्' ।

(पासिस) भाषि सामाजिक रोग तो प्रमथ ही प्रकृति को दूषित करते देखे गए हैं। यही कुछ एक उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमथ है कि हमारा दोष संक्रमणमय के कारण आगे जाकर प्रकृति मयडल को दूषित करने का कारण बन जाता है। यदि किसी राष्ट्र में समय पर दृष्टि नहीं होती, भोषधिए फलवस्ती नहीं बनती रोग से मलम समाज संक्रमत रहता है, शिशुर्मा कि अकाल मृत्यु हो जाती है तो हमें विश्वास करना चाहिए कि मलम ही हममें, हमारे राष्ट्र ने राष्ट्र संभालक राजा ने, राष्ट्र के माननीय व्यक्तियों ने प्रकृति विरुद्ध कर्म किया है। ठकाल प्रकृतिरुहस्पेठा मासण से निदान कराना चाहिए, एव प्रकृतिबोभणान्ति के लिए शान्ति, दुष्टि, पुष्टि आदि विकिरसा कएनी चाहिए।

प्रकृति का जसा स्वरूप है, प्रकृति का जैसा नियम है, उन नियमों का समझ ही वेदशास्त्र है, एवं उस सनातनशास्त्र के वे सनातन प्रकृतिरुहियम ही 'धम्म' किंवा 'सनातनधम्म' है। बर्षाभमधम्म ही इस धम्म का मौक्तिक व्याख्या है। यही गीताशास्त्र का ( बखमेदानुसार अधिकारी मेह से नियत सधम्म है। सधम्ममुकुल कर्तव्य कर्म में निवत रहना ही प्रकृति के अनुकूल बचन है। जो राष्ट्र इस अनुकूलमय का अनुग्रही है, "यही प्रकृतिसंयुक्त मय से--"निकामे निक्षये नः पत्रन्यो बर्षतु फलपसो न भोषपय पश्यन्ताम्" यह कहने का अधिकार रख सकता है।

राष्ट्र इन सब व्याधर्मों से चाहता क्या है ? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर है--"योगं क्षयो नः फलपनाम्"। राष्ट्र अपनी स्वरूपका करता हुआ योग चाहता है, और क्षय चाहता है। धम्म प्राप्त योग है प्राप्तधम्म का स्थिर रहना क्षम है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र की क्षम और हो भी क्या सकती है एवं वैदिक साहित्य के अतिरिक्त राष्ट्र को इस योग-क्षम की सर्वोच्च पद्धति बतवाने का सा शास्त्र भी दूसरा क्षम है।

अथ हमारा राष्ट्र क्या कर रहा है ? यह भी देख लीधिए। ज्ञानप्रधान मयबल एव ज्ञियाप्रधान मयबल दोनों का मय सुत है प्राप्त है--मयप्रधान निरुबल और सेवाप्रधान मयबल।

ज्ञानसाधक वैदिकसाहित्य भी अन्धकार से आवृत हो रहा है, परिष्कामत तदनुयायी श्राद्धशास्त्री भी वेदगुण्डिका का परिष्कार करता हुआ सो रहा है। शस्त्रानुगामी ऋषियुग भी पौरुष हीन बन रहा है, और दोनों का आसन ग्रहण कर रक्खा है वैश्यवर्ग, एवं शूद्रवर्ग ने। आज वैश्य हमारे अभिगन्ता (पथप्रदर्शक) बन रहे हैं शूद्र हमें सम्मार्ग मत्वा रहें हैं दक्षिणवर्ग रक्षक बन रहा है। प्रकृतिक्रम मार्गों से युक्त राष्ट्र अष्टाष्ट, किंवा कुक्षित राष्ट्र बन रहा है। आज हममें—  
 “य यथा मां प्रपद्यन्ते तस्तिषेव मनाम्यहम्” ( जैसे के साथ तैसा ) इस आदेश के पाठन करने की शक्ति नहीं है। हो भी कैसे सकती है, जब की अकस्मान्तीय वैश्य हमारे अभिगन्ता बन रहे हैं। आज हमारे एक गाछ पर कोई तमाषा बगाना है तो हमारे अभिमात्रक हमें यह शिक्षा देते हैं कि तुम फौरन दूसरा गाछ मी उन आतक्यपियों के समने कर दो। इसके अतिरिक्त ये निबिड करें भी तो क्या करें, जब कि इन्होंने प्रज्ञापराध से तमाष का प्रत्युत्तर देने पाठे प्रसन्न—अन्न बन्न का तिरस्कार कर रक्खा है।

यह है हमारे राष्ट्र का वर्जित रूप। और ऐसे वर्जित राष्ट्र का अभिमान करते हुए ही हम उनकी समालोचना करने के लिए आगे बढ़ जाते हैं। रामनीति की बातें तो एक नैतिक शिक्षान् ही जामें हैं उनके सम्बन्ध में हमें यह अन्वय ही कहना एक मानना पड़गा कि, जिस भारतीय साहित्य के आदर्शवाद की गथा में हम अगमा पसीना बहाते रहते हैं, उस साहित्य की रक्षा का जो स्तुत्य प्रयास परिचयी शिक्षकों की ओर से हुआ है एक हो रहा है, उसे देख कर कहना पड़ता है कि-वास्तव में वे ही वर्तमान युग के श्रेष्ठ हैं। उनकी कृपासे जिन अलम्ब वैदिकग्रन्थों का हमें दर्शन करने का सीमाव्य प्राप्त हुआ है, प्रत्युत्कार में हमारे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे हम उनके भेद कर सकें। फिर मी हनुमान् भारतवर्ष उनकी इस उपकारशक्ति को कभी मुझ नहीं सकता। और इस अहोरात्र 'धर्म-धर्म आनन्द आदर्श वेद वेद, हिन्दुत्व हिन्दुत्व' का चिन्तन करने पाठे हमने क्या किया, यह स्पष्ट है। इस लिए हमने कहा है कि हमें उनकी खोज की समालोचना करने का तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक कि पहिले हम हम न बन जायें। युगधर्मसम्बन्धी प्रासङ्गिक अन्वय सम्यक्त करते हुए अन्त में हमें इस युगधर्ममीमांसा से यही नतबाना है कि साध्ययुग के अन्तर्गत अन्वयभूषणा के द्वारा आशिष्युत देवयुग का आरम्भवाच ही गीतोपदेश का प्राथमिक वाच है, और यही गीता हासमीमांसा का सक्षिप्त निदर्शन है।



## ७-गीतानामामासा

- १- भगवच्छब्दरहस्य
- २- गीताशब्दरहस्य
- ३- उपनिषच्छब्दरहस्य
- ४- भगवद्गीतोपनिषत्-नामरहस्य
- ५- गीतानामनिरुक्ति



## ७-गीतानाममीमांसा



न विद्वान् कश्चिन्न कोस इत्याद्य गीताशास्त्र आज विश्व में "गीता" नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि गीता विद्वानशास्त्र है, एवं विद्वानधारा काव्यशास्त्र को लेकर ही प्रभावित होती है, इसलिए गीताशास्त्र के नाम के सम्बन्ध में भी हमें विद्वानशक्ति से ही काव्यशास्त्र की मीमांसा करनी पड़ेगी। परमेश्वरीकृत्य के पूर्ण अन्तर् महापुरुष भगवान् ब्रह्मदेवकृत्य के मुख्यपुरुष से तत्त्विकरूप से विनिश्चय, एवं कृत्यरूपपावन महामुनि व्यासदेव की सखिनी से ब्रह्मदेवकृत्य से हुए इस गीताशास्त्र का 'भगवद्गीतोपनिषत्' यह पूरा नाम है। यही नाम संक्षेपमात्र के कारण आगे जाकर "गीता" इन दो अक्षरों में परिचलित हो गया है। ठीक नाम में भगवत्-गीता-उपनिषत् यह तीन विभाग हैं। इन तीनों ही विभागों के सम्बन्ध में तर्कबाही प्रश्न उठा सकता है।

ब्रह्मदेव कृत्य ही भगवान् हों यह बात नहीं है। कृत्य की तरह व्यास-कपिल-कण्व-पतञ्जलि आदि अनेक महापुरुषों को सनातनधर्मियों ने भगवत् शब्द से सम्बोधित किया है। यन्तु हम देखते हैं कि भगवान् कृत्य के अतिशय चो छोड़कर भगवान् व्यास, भगवान् कपिल दि इतर महापुरुषों के अति प्रथम हैं, उनमें से किसी के भी आदि में भगवत् शब्द का सम्बन्ध नहीं देखा जाता। व्यास विद्वित यद्यपि भारत पुराणादि को पर्ये भी भगवत् शब्द भारत भगवत्पुराण नहीं कहता। ब्रह्मदेवकृत्य उपायण का अज्ञेय भगवत् शब्द नाम न सुना गया। फिर क्या कारण है कि आज साहित्य में एकमात्र गीता शास्त्र ही 'भगवद्गीता' शब्दों के रूप से भगवत् नाम पूर्वक प्रसिद्ध हुआ। अथर्व ही गीता सम्बन्धी इस भगवत्शब्दव्यवहार का कोई मौखिक रहस्य होना चाहिए।

यही अथर्व गीता शब्द की है। परि गीता शब्द का अर्थ गान (गायन) है, तब तो इस शास्त्र का गीता नाम सर्वथा अप्रासंगिक है। यद्यपि यह ठीक है कि किसी गुण कारण क

अनुसार कृष्ण सगीत क महाप्रेमी थे । सय गीताशास्त्र में भी "वेदानां सामवेदोस्मि" यह कहते हुए भगवान् ने अपना सगीतप्रेम प्रकट किया है । यही नहीं, जीवनसगिनी बंशी का प्रेम भी इस विषय का पोषक है । परन्तु मुख्यतः यं समुपस्थित श्रेयार्थ अर्जुन को भगवान् ने वाचसिन्धुओं के आचार पर यह स्फुर अत्यात्मविषयका उपदेश दिया होगा, यह एक उपहासस्पन्द कल्पना है । यदि गद्यतत्त्वक न मान कर गीता शब्द को 'कथिता'—'वक्ता' इस प्रकार वक्ति परक माना जाता है तो फिर इस द्रविक प्राखायाम की कोई आबरपकता नहीं रह जाती । फिर तो सीधे से शब्दों में "मगवत्कथिता"—"मगवत्कृता"—"मगवद्विरचिता" इनमें से किसी एक नाम को चुन लेना सरल पड़ता । फलतः गीता शब्द भी अवरप ही किसी गुण रहस्योद्घाटन से सम्बन्ध रखने का सा सिद्ध होता है । म्यास्ने किसी तत्त्वविषय के लिए ही यह द्रविक प्राखायाम किया है ।

उपनिषत् शब्द भी यही जटिल समस्या उत्पन्न करता है । संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् मंद से षोडशय वेद के ४ विभाग माने जाते हैं । उपनिषत् भेद का अन्तिम भाग है, अतएव इसे अन्त कथा जाता है । वेद के अन्तिमभाग में ही उपनिषत् शब्द (प्राचीनों की दृष्टि में) निरूढ माना गया है । गीता वेद का अन्तिम भाग नहीं है, यह भी सम्मिथित है । उपनिषत् शब्द का श्रुतिशास्त्र से सम्बन्ध है । एव गीताशास्त्र श्रुतिशास्त्रों का अनुसरण करता हुआ स्मृतिशास्त्र है । कोई भी भारतीय विद्वान् गीता को श्रुतिशास्त्र किंवा वेद का अन्तिम भाग मानने के लिए तय्यार नहीं है । इन सब स्पष्ट परिधिपत्तियों के रहते हुए भी गीता जैसे स्मृतिशास्त्र को एकम्यत्र श्रुतिशास्त्र में निरूढ उपनिषत् शब्द से कैसे एवं क्यों सम्बद्ध किया गया । इस प्रकार गीताशास्त्र के मगवत्-गीता-उपनिषत् यह तीनों ही शब्द हमारे सामुख एक जटिल समस्या रख रहे हैं । इस समस्या को सुबखने के लिए ही गीता-नामदीर्घाप्रकरण पाठकों के सामने आया है । इतने प्रश्नः उक्त तीनों विभागों के रहस्या पर ही निरूपण होगा ।



## १-भगवच्छब्दरहस्य

सब से पहिले हमें यही विचार करना होगा कि शास्त्रोंने “भगवान्” शब्द का क्या अर्थ किया है। किन्तु गुणों किन्हीं शक्तियों से व्यक्तिविशेष भगवान् कहलाने लगते हैं। वैसे तो आर्यभट्टि भगवान् शब्द से प्रधानरूप से विश्वकर्मा ईश्वर का ही प्रथम्य करती है। ईश्वरत्व गीता के—“यो लोकत्रयमाविश्य विमर्शम्यय ईश्वरः” (गीता १५।१७)। इस सिद्धांत के अनुसार अभ्यय पुरुष का वाचक है। यह अभ्यय पुरुष, किंवा ईश्वर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी असङ्ग है, अविच्छिन्न है, सर्वत्र एकरूप से व्याप्त है। जैसा कि गोपबन्धुति कहती है—

सर्वत्र भिषु निद्रेषु सनासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न भवेति तद्व्ययम् ॥ (गो० प्रा० पू० १।१६) ।

इस प्रकार स्वस्वरूप से एकरूप से व्याप्त रहता हुआ भी यह व्यापक अभ्यय योगमाया की कृपा से अनेक रूप धारण कर लेता है। योगमाया इसे खण्ड खण्डरूप में परिच्छिन्न कर सकती है। वही स्वयंस्वरूप, किंवा अशरूप “जाय” नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, वैसे कि—‘ममैवाशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः’ (गीता० १५।७), ‘अथो नानाव्यपदेशात्’ (ब्रह्मसू० २।१ ४३)। इत्यादि वचनों से सिद्ध है। इसी खण्डमान के कारण अभ्यय की प्रातिष्ठिक शक्ति तिरोहित होनाती है। योगमाया ही अभ्ययस्वरूपदर्शन की महाप्रतिबन्धिका है। ईश्वरको जीव बना कर, जीव को ईश्वरभाव से श्रुत करने वाली यही योगमाया है। योगमाया के आच्छरण से ही जीव अपने प्रातिष्ठिक व्यापक ईश्वरान्धभाव के दर्शन में असमर्थ होता हुआ दुःख पाया करता है, वैसे कि—“नाहं मच्छायाः सर्वस्य योगमाया समाटन” (गीता० ७।२५) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इसी योगमाया ने जीव को मगवच्छक्ति से वधित कर रक्खा है।

उक्त मगवच्छक्ति को प्राप्त करने के लिए योगमाया का आच्छरण इत्यना आवश्यक है। उक्त आच्छरण के इत्ये ही उसी प्रकार अभ्यय की प्रातिष्ठिक शक्तियों का विकास होनाता है, वैसे

कि मेधावरण हटने से नित्य प्रकाशित सूर्य प्रकट हो जाता है। वस जिस जीव में बिना किसी प्रयास के अन्तःकाय से ही योगमया का आवरण हटा हुआ रहता है, वही जीव अपनी शक्तियों के प्रभाव से भवदान् कहलाने लगता है। ऐसे ही जीव महापुरुष प्रधानपुरुष, अवतार अथि नामों से सम्बोधित हुए हैं। अन्वय पुरुष में प्रधानरूप से ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, एवं वसशक्ति (अर्थशक्ति) यह तीन महाशक्तिर प्रतिष्ठित हैं। इतर अन्वतर सब शक्तियों का इन्ही तीनों शक्तियों अन्तर्भाव है। इसी शक्तिप्रयी का दिग्दर्शन कपती हुई उपनिषद्सुक्ति कहती है—

न तस्य फलय फरणां च विद्यते न तत्समश्चाभ्यपिक्रम श्रूयते ।

परास्य शक्तिर्विभिधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-चल क्रिया च ॥

(श्वेता० उप० ६।१५) ।

परिभाषाविज्ञान के अनुसार पर शब्द अन्वय का वाचक है, अतएव तम की उक्त ज्ञाना दि शक्तिर पराशक्ति मान से स्पष्टान हुई हैं। इन तीनों में प्रत्येक की अन्वतर अनेक शाखाए हैं। इस प्रकार इन तीन का अने जाकर अन्तःशक्तियों पर पर्यवसान होता है। इसी शक्त्यात्मन्य को सूचित करने के लिए “विभिधैव श्रूयते” कहा गया है। इसीलिए अन्वयेवर अन्तःशक्तिमान् कहा जाता है। इन अन्तःशक्तियों में ६ शक्तिर ही ‘मग’ नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्ही ६ शक्तियों के आधार पर मगतम्पत्ति प्रतिष्ठित है। मगतम्पत्तिरसकृत्तारादिका मगमिका इन्ही ६ शक्तियों का उल्लेख करते हुए अमिपुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, त्रियः ।

ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव परयां मग इतीरणा ॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, यह ६ शक्तिर ही ‘मग’ कहा जाती हैं, एव जिस में यह मग रहते हैं, वह मगान् कहा जाता है। चूँकि यह शक्तिर अन्वयेवर की प्राप्ति शिक शक्तिर हैं एव—‘ईश्वरः सवमून नां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति’ (गीता १०।६१)के अनुसार जब, अतन सब भौतिक पदार्थों के केन्द्र में मगशाही ईश्वररूप प्रसिष्ठित है। इस दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थों को हम मगान् कह सकते हैं। समष्टि-म्यष्टि रूप से उभयथा सब वस्तु वस का

ही वचन है। “सर्वं स्वस्तिचिदे मम” — “सर्वप्रवेध सन्म” इत्यादि द्युतिए इसी ब्रह्मव्यापकत्व का स्पष्टीकरण रखी हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार आत्मज्योति सर्वोत्कृष्ट ज्योति मानी गई है। कारण इस का यही है कि सूर्य—चन्द्र—अग्नि—विद्युत्—तारक आदि भूतज्योतिए जहाँ प्रकाशित वस्तुओं का ही ज्ञान करने में समर्थ है, वहाँ आत्मज्योति (ब्रह्मज्योति) प्रकाश, एव अन्वकार दोनों का ज्ञान करवाती है। भूतप्रकाश की सत्ता में आप अन्वकार नहीं देख सकते। परन्तु आत्मप्रकाश में आप दोनों का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। साथ ही में भूतप्रकाश की प्रतिष्ठा भी आत्मप्रकाश ही है। ज्ञान ज्योति के आधार से ही उक्त पाँचों भूतज्योतियों का परिज्ञान होता है। अतएव हम इस ज्ञानात्मक आत्मज्योति को ज्योतिषां ज्योतिः कहने के लिए तय्यार हैं। वैसे कि द्युति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो मान्ति कुतोऽपमपि ।

तमेव मान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(मुण्डको०२।२।६)।

ज्योतिषां ज्योतिमत्तृण आत्मज्योति स्वयं प्रकाशित है, अतएव हम इसे स्वज्योति कहने के लिए तय्यार हैं। वस जो तब सूर्य की भाँति अपने आप भासता रहता है, अपने आप प्रकाशित रहता है, वही तब (आत्मज्योति, “भासने” के अनुसार “मम्” नाम से प्रसिद्ध है। अथवा तब तब के आगमन से मनुष्य मायुक्त (चेतनायुक्त—प्रकाशयुक्त—ज्योतिष्मान्) बन जाता है, जो तब मनुष्य में प्रविष्ट होकर उसे तेजस्वी बना देता है, वही तब “येनाती भाति” इस व्युत्पत्ति से “मम्” कहा जाता है। आत्मज्योति का ही नाम “मम्” है। जिस के द्वारा यह “मम्” प्राप्त होता है, दूसरे शब्दों में जो शक्तिविशेष “मम्” प्राप्ति के साधक हैं उन शक्ति विशेषों को ही—“येन म प्राप्यत” इस व्युत्पत्ति से “भग” कहा जाता है। धर्म—ज्ञान—वैराग्य—दूर्य—यत्—शी यह षड् धर्म ही म प्राप्ति के द्वार हैं। इन्हीं षड् धर्मों के धारण मनुष्य म मान को प्राप्त होता है। ऐसी दशा में हम अन्तर्य ही मप्राप्तिसाधनभूत उक्त षड् धर्मों को भग शब्द से

सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं। जिस में यह भग विकसित रहते हैं, वही महापुरुष भगवान् कहलाता है।

पूर्वरूपानुसार जब सभी प्राणी हृदयस्थ भगवाणी अन्यत्र प्रसिद्ध के कारण भगवान् हैं, तो इस भगवत् शब्द में क्या विशेषता है? इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए भग के प्रति-शब्दीभय का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। राग-द्वेष, संमोह, अस्मिन्ता अभिनिवेश इन चारों की समष्टि अविद्यामुद्दे है। एवं वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धम्म इन चारों की समष्टि विद्यामुद्दे है। अन्यत्रत्व के विद्या (ज्ञान) एव कर्म नाम के दो पाठ हैं। द्विधातुमूर्ति अन्यत्रत्वा ही हमारा प्रत्यगात्मा है, इसी का नाम हृदयस्थ "ईश्वर" है। इस के अस्तित्वनिष्ठ जिज्ञा नात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि प्रतिष्ठित है। इसी बुद्धि में उक्त चार विद्याभाग, एव चार अविद्याभाग अस्तित्व से प्रतिष्ठित रहते हैं।

बुद्धि में अक्षर्य ही विद्या (ज्ञान) अविद्या (अज्ञान) दोनों में से एक मात्र नित्य प्रतिष्ठित रहेगा। साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अभ्यवात्मा के विद्याभाग से बुद्धि का विद्या भाग प्रकट रहता है, एवं कर्मभात से बुद्धि का अविद्याभाग प्रकट रहता है। इसी प्रकार बुद्धि के विद्याभाग से अन्यत्र का विद्याभात प्रकट रहता है, एवं बुद्धि के अविद्याभाग से अभ्यत्र का कर्म भात प्रकट रहता है। यदि वैराग्य ज्ञान, ऐश्वर्य्य धम्म इन चारों विद्यामुद्दियों का द्विधातुमूर्ति अभ्यत्र के विद्याभाग के साथ योग करा दिया जाता है तो बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। ठीक इस क विपरीत यदि राग-द्वेष, संमोह अस्मिन्ता, अभिनिवेश इन चारों अविद्यामुद्दियों का द्विधातुमूर्ति अभ्यत्र के कर्म भाग के साथ योग होजाता है तो बुद्धियोगनिष्ठा गिर जाती है।

बुद्धि और प्रत्यगात्मा के मध्य में अविद्यारूप पाप्म का आचरण होजाता है। यही अविद्याचरण दुःख का मूळ कारण है। इस आचरण को हटाने की शक्ति एकमात्र बुद्धियोग की ही है। उक्त बुद्धियोग से कर्म से उत्पन्न होने वाले अविद्याबुद्धिरूप पाप्माओं से उत्पन्न आचरण अपने आप निवृत्त होजाता है। अरुम् बुद्धियोग से राग-द्वेषात्मक आचरण ज्ञानबुद्धियोग से संमो-हात्मक अज्ञानाचरण ऐश्वर्य्य बुद्धियोग से अस्तित्वबुद्धि आचरण, एवं धर्मबुद्धियोग से अभिनिवेश-

सदृश आबरु छूट जाता है। इस अविद्यात्मक आबरु के हटने का परिणाम यह होता है कि अन्वयात्मा में प्रतिष्ठित भग नाम के जो स्वरूप धम्म हैं, वे आबरु से रहित होते हुए विद्यानात्मा पर पूर्ण अनुग्रह कर सकते हैं, यही आत्मसाक्षात्कार है। बुद्धिसहकृत कर्मात्मा का बुद्धियोग द्वारा प्रत्यात्मसम्पत् प्राप्त कर लेना ही आत्मसाक्षात्कार है। कर्मात्मा सदृश जीव पर प्रत्यग्न ससदृश भगवन्माषष्ठिद्वयस्य भगवान् का यही अनुग्रह है। इसी अनुग्रह से अन्वय की भग-सम्पत्ति का उपभोग करने में समर्थ बनता हुआ बुद्धियोगस्य कर्मात्मा महापुरुषकोटि में आता हुआ भगवान् बन जाता है। प्रत्यात्मा का यह प्रकाश पुत्र आत्मा के विद्याभाग से इसी बुद्धियोग द्वारा प्रादुर्भूत होता

हमने कहा है कि सूर्य-चन्द्र-विपुतादि पाँचों मृतज्योतियों की प्रतिष्ठा प्रत्यात्मज्योति है। इस सम्बन्ध में यह और जान लेना चाहिए कि प्रकृति मण्डल में प्रत्यात्मसदृश यह परमात्मज्योति सबपथ विश्वकेन्द्रस्य ज्योतिर्विन सूर्य में ही अवतीर्ण होती है। इसीलिए पाँचों मृतज्योतियों में सूर्यज्योति को ही मुख्य माना गया है। सूर्यसत्ता आत्मसृष्टि की परिचायिका है, एव सूर्याभास प्रलयकाश का सूचक है। यह परमात्मज्योति पहिले सूर्य में आती है, सूर्यरश्मिद्वारा यह हमारे मृतार्या नाम के कर्मात्मा में प्रतिष्ठित होता है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि इदमस्य ईश्वर का हमारी अत्यात्मसंस्था के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर सूर्य के द्वारा ही होता है। सौरत्रिसोफी नाम की रो-सी त्रिसोफी में जितने प्राणी हैं, उन सब की मूलप्रतिष्ठा सूर्य ही है। इसी पारम्परिक आत्मसम्बन्ध को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१-हिरण्यमपे परे कोश विरज मङ्ग निष्कसम् ।

तच्छुभ्र ज्योतिषां ज्योतिरायुर्गोपासतेऽमृतम् ॥ (सुयजको० ०।२।६)।

२-यथा सुपर्णा अमृतस्य मागवनिमेष विद्याऽमिच्छरन्ति ।

इतो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमन्वाविवेश ॥

(श्रुक से० १।१६।२१) ।

१-यस्मिन् वृत्ते मन्वद् सुषुप्ते निषिगन्ते सुषुप्ते चापि निषे ।

तस्येदाहु पिप्यन्न स्वाद्ग्रे तन्नो नराद्यः पितर न वेद् ॥

(श्रुत् स० १।१६।१२-१) ।

“तद्यत्किञ्चावाधीनमादिसान् सर्वं तन्मृत्युनासम्” (शत० १०।५।१।५।)

इस निगम के अनुसार सूर्य से नीचे नीचे का साग प्रपञ्च मृत्युप्रधान है, एवं सूर्य से ऊपर ऊपर का साग विक्त अमृतप्रधान है । जिस प्रकार एक सुपख ( पक्षी ) अपने पक्षों से आकाश में बड़ी दूर तक दौड़ जगता रहता है, एवमेव सूर्यनिम्न को आधार मान कर चारों ओर लोकासोक स्थान तक व्याप्त रहने वाली सूर्यरश्मि अमृत एवं मृत्युलोक में तथा सूर्य निम्न करती है । इसी संश्रय सादर्य को सक्षय में रखकर इन रश्मियों को सुपख कहा गया है । सूर्य से ऊपर रहने वाला अमृतमग्न आत्मज्योति है, इस ओर जाने वाली सूर्यरश्मि अमृतारवा के अग्ररूप ज्ञानज्योति को अपने उतर में लेकर उसे विज्ञानशाप सूर्यज्योति में प्रविष्ट करती रहती है । यह प्रक्रिया अनन्तर चलती रहती है । आगे आकर यह इन ( सूर्य ) इन्हीं रश्मियों के द्वारा अपने से नीचे प्रतिष्ठित पुरपुरलोक के भौतिक रस का सत्य भी पान करता रहता है, एवं इस भौतिक रस से मृत्युलोक में रहने वाली प्रजा का भी पोषण किया करता है ।

इस प्रकार रश्मियों द्वारा ऊपर से अमृतरस एवं नीचे से मृत्युरस दोनों को लेकर अमृत-मृत्युमय बनता हुआ सूर्य विश्व के मध्य में अपनी सहस्र किरणों से तप रहा है । अमृत लोकस्थ विज्ञानज्योति से युक्त यह सूर्य रश्मिद्वारा इस पृथिवीलोक में बुद्धि का प्रवर्धक बनता हुआ बुद्धिरूप से ही हमारी अल्पतमसत्त्वा में प्रविष्ट होता है । अमृतलोकस्थ विद्वान्मनज्योति सूर्य में आकर सूर्यस्य मृतज्योति से संश्लिष्ट बनकर मृतज्योतिप्रधान बन जाती है । यही सौरमृतज्योति पृथिवीलोकस्थ मनुष्यशरीर में रश्मिद्वारा प्रविष्ट होकर बुद्धिरूप ज्ञानज्योतिरूप में परिणत हो जाती है ।

कारण यह है कि सूर्य से उत्पन्न ज्ञानज्योति है, इस ओर हमारा भौतिकशरीर है, दोनों के मध्य में सूर्य है । ज्ञानज्योति सूर्य में आकर तद्रूप में परिणत हो जाती है ।

यहाँ से ज्ञानयोगिनिर्मिता ओ भूतयोगि रश्मिद्वारा हमारे नीतिकण्ठीर में आती है, वही हमारी आध्यात्मिक ज्ञानयोगि कहलाती है। "यथा सुपथोः०" इत्यादि मन्त्र का यही निष्कप है।

ब्रह्मात्मत्व फलपरवाय भेद से आध्यात्मिक विज्ञान में दो बृह माने गए हैं। ब्रह्मात्मत्व का ईश्वरतन्त्र, किंच प्रकृतितन्त्र से सम्बन्ध है। एव कर्मात्मत्व का जीवतन्त्र, किंच विजृम्भितन्त्र से सम्बन्ध है। इन दोनों में से "यस्मिन् एते मध्वदः सुपथोः" इत्यादि मन्त्र में जीवतन्त्रा सम्बन्धी कर्मरक्षण का ही प्रश्न है। सचित कर्मों के आधार पर जन्मकाण्ड में नवीन नवीन कर्म सत्कारों का सचन, पुन जन्म पुन सत्कार, शक्यत् परिचरित इस कर्म सतान का ही नाम कर्मात्मत्वबृहत् है। इसी कर्मबृहत् पर जीवात्मा प्रतिष्ठित रहता है। इस बृहत् पर प्रतिष्ठित जीवात्मा शुभाशुभकर्मों का फल भोग करता है। अतएव इसे मध्वद् कहा गया है। बुद्धि भोगसाधन है। यह बुद्धितन्त्र साक्षात् आध्यात्मिक सूर्य है। इस आध्यात्मिक सूर्य से दो प्रकार की रश्मिए निकलती हैं। रश्मिए एक ही तरह की हैं। केवल भोगमद से इन की दो अवस्थाए हो जाती हैं। जाग्रदवस्था में यह रश्मिए निरान्तर्गत महिम्न विषयों का रसास्वादन करती हैं। एव सुपुष्टिकाष्ठ में, (जब कि इन्द्रियसहित मन अपने ऐन्द्रियक विषयों से हट कर बुद्धि में विसीन होजाता है यह बुद्धिरश्मिए आत्मा में विसीन होती हुई) निश्चिन्त आत्मा का ही उपभोग करती हैं। आनन्दानुभव का त्रेतभाव से सम्बन्ध है। इधर सुपुष्टि में त्रेतभाव तिरोहित हो जाता है। अतएव ऐसा अनुभव जाग्रदवस्था में हमें विषयानन्दोपभोग में होता है, वैसा अनुभव सुपुष्टि में आत्मानन्दोपभोग में नहीं होता। दूसरे शब्दों में जाग्रदवस्था में समुदायनन्द है, सुपुष्टि में शन्तानन्द है। पहिला आनन्द विषयानन्द है दूसरा आत्मानन्द है। पहिला आनन्द अशान्ति का मूल है दूसरा आनन्द शान्ति का वृत्त है। पहिले आनन्द से पक्कन होती है, दूसरे आनन्द से पक्कन मिटती है। जब बुद्धिरश्मिए आत्मा नन्द में विसीन हो जाती है तो सुपुष्टि हो जाती है। जाग्रदवस्था के उपक्रम में पुन वे रश्मिए मित्र की ओर प्रवृत्त होती हुई ख ख ऐन्द्रियक विषयप्रवृत्त में सलग्न बन जाती हैं। जिस की बुद्धि अपने विज्ञानजन्मक उस आनन्दरश्मि को मूल बना कर विषयों में अमासक्ति पूर्वक प्रवृत्त

होती है, उसे शुभ फल मिलता है। टीका इसके विपरीत जिस की बुद्धि अपने द्वितीय आत्मा को निःसृत करके निष्कर्मों में आसक्ति पुरुषक प्रवृत्त होती है, वह उस उच्छम फल को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। दूसरे शब्दों में आत्मानुग्रहिणी बुद्धि मन्त्रवत्स्वरूपसम्पादिका है, ऐसे ही व्यक्तिओं को अमृतता का झलक मिलता है। विशुद्ध योगानुग्रहिणी बुद्धि मन्त्रवत्ति से प्युत कर देती है। इन्हीं दोनों परिस्थितियों का सहीकरण करती हुई मुक्ति कराती है—

पराञ्च स्वानि मृत्याव स्वपन्मुत्सम्पात् पराद् परपति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्दीर्घं मन्त्रगतमन्त्रमैतद्दाष्टवचचतुरपुत्रत्वमिच्छन् ॥

( कठोप० २।१११ ) ।

आत्मा के साथ बुद्धि का योग कराने से परमानन्द सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, मन्त्रवत्-पद प्राप्त हो जाता है, यही निष्कर्म है। द्वितीय मन्त्र इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस ब्रह्मण्य से यह मन्त्रीमन्त्र सिद्ध होना है कि अमृत-ब्रह्मण्य त्रिक केन्द्र में प्रतिक्रियित, अतएव अमृतपुत्रपुत्रस्य स्युष्य पूषिनीलोकाश्च मनुष्य मं बुद्धिरूप से (रश्मिद्वारा) प्रवेष्ट करता है। यह बुद्धि मेघ विज्ञानात्म्य है। इसी विज्ञान के कल पर मैं अपनी शरीरपात्र का सञ्चालन करने में समर्थ बनता हूँ। चूंकि बुद्धि का उत्पादान स्युष्य है, अतएव बुद्धि में घाट प्रकार के कर्मफल होनाते हैं। स्युष्य में जितना सा अमृतता मन्त्रक अमृतभाग है, उस से तो वैराग्य-ज्ञानादि चार प्रकार के विद्याभाव उत्पन्न होते हैं। एक जितना सा मन्त्रभाग है उस से राक्षस-मोहादि चार प्रकार के अविद्याभाव विकसित होत हैं। मन्त्रप्राप्त रहित मन्त्रवत् सम्पादक विद्याबुद्धि, भवों का ही विचार कीजिए।

पहली विद्याबुद्धि वैराग्यसञ्चाल है। पुत्र, कर्म, बन्धु, अनुचर पशु, स्त्री, गृह, विद्या, राज्यवैभव, वस्त्र, अमृततादि लौकिकसमुच्चयितक भौतिक परिकरों के प्रति अपनी बुद्धि को सर्वथा उपलब्धीय बना राखना ही वैराग्य है। जो व्यक्ति इन लौकिक विभवों को उपलब्ध से दृश्य है, निश्चय कश्चित् उस का आत्मा संपूर्ण विभवों से निश्चल है। जितने ही मनुष्य दस



रूपों के काम से ही प्रसन्न हो जाते हैं। कितने ही ऐसे भी हैं, जिन की दृष्टि में दस लाख का भी कोई महत्व नहीं है। मानना पड़ेगा कि इन की भाषा अधिक विशाल है। ऐसी दशा में जिसने संसार के सम्पूर्ण वैभव का विस्कार कर डाला, उस की महत्ता का तो कहना ही नया है। यही पहिली महात्म्य संपत्ति है। संसार का वैभव जिस महापुरुष की दृष्टि में सपना मगम्य है, वह अक्षर ही महात्मा है।

दूसरी विधासृष्टि ज्ञानसत्तया है। वो तो सभी को पोषा बहुत ज्ञान है, परन्तु न सो हम इस सामान्य ज्ञान को मग ही कह सकते एवं न ऐसे ज्ञानी को महात्मा ही कहा जासकता। यद्यपि ज्ञान की अनेक भाग्य हैं, परन्तु अभी दो ज्ञानधारियों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। एक द्रष्टृस्वभावज्ञान है, दूसरा स्मृतिसृष्टय ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान पहिला ज्ञान है, एवं शब्दमयजनित ज्ञान स्मृतिसृष्टय ज्ञान है। "विषुव में इतनी शक्ति है, यह शक्ति है, इतने समय में इतनी खर्च होती है" यह सुन लेना स्मृतिसृष्टय ज्ञान है, एवं खम परीक्षा द्वारा प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करना पहिला ज्ञान है। योही Theory जान लेना दूसरा ज्ञान है, प्रैक्टिकलवर्क Practical work पहिला ज्ञान है। विज्ञानद्वारा आजमाइश किया हुआ ज्ञान प्रायनिक है, एवं धृतिज्ञान दूसरा है। इन दोनों में प्रथम ज्ञान को ही 'मग' कहेंगे।

आत्मदादि साधारण मनुष्यों का ज्ञान स्मार्थज्ञान है। हमने केवल सुन कर ही उस विषय पर विश्वास कर लिया है कभी परीक्षा नहीं की है। इसीलिए हम महात्मा नहीं कहसकते। जो मनुष्य जिस अर्थ का इशा (परीषद-अनुभवकर्ता-साक्षात्कर्ता) होता है, वह उस अर्थ में 'तम महात्मा' कहलाता है। यही उस विषय के निर्णय में प्रमाण माना जाता है। तत्र महात्मा का अर्थार्थ है, "उस में आप"। आप शब्द महत्व का सूचक है। किसी विषय को जानने वाला उस विषय की अपेक्षा से तभी महात्मा कहला सकता है जब कि वह उस विषय का साक्षात्कर्ता हो। पूर्ववचन को ही सफलसाक्षात्कार में प्राप्त कहा जाता है, प्राप्त को ही आत कहा जाता है। एक मनुष्य ने आजमायात् कर रखा है, दूसरे ने शब्दद्वारा सुन भर रखा है। दोनों में साक्षात्कार करने वाला ही तम महात्मा कहा जायगा, एवं आजमायक में इसी आत का उपदेश

सर्वमान्य होगे। आत्मविद्या के साथ ही तत्र मवान् मूकक आत्ममात्र का सम्बन्ध नहीं है। अस्तित्व संसार के सभी मनुष्य अपने अपने द्रष्टृत्वसंज्ञक ज्ञान की अपेक्षा से तत्र मवान् बनते हुए आत हैं, और वे अकरय ही उत उत विषयों में प्रमाण हैं। कोसी, जमार, घोमी नाई, घोर, बेरया आकू सब अपने अपने विषयों में तत्र मवान् हैं। आत शब्द का किसी नियत व्यक्ति, किंवा निश्चित विषय के साथ ही सम्बन्ध नहीं है। अस्तित्व या जिस विषय का द्रष्टा है, (बाहे वह किसी आति का हो) उस विषय में बही आत है। इसी अविग्राम को व्यक्त करते हुए—“आतोपदेशः शब्दः” इस गौतमसूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन करते हैं—

“आतः सल्लु सात्वात्कृतपम्मा, यथार्थदृष्ट्यार्थस्य विरुपाय  
पिपया प्रयुक्त उपदेशः। सात्वात्करणपर्यस्याऽऽस्ति। तथा प्र  
सते इत्यातः। श्रुत्प्यार्थस्तेच्छानां समानं सद्यत्, तथा च  
सर्वेषां व्यनहाराः प्रवर्चन्ते” (वा०भा०— १।१।७।) इति।

उक्त द्रष्टृत्वसंज्ञक ज्ञान को भी हम दो मार्गों में विभक्त करेंगे। एक अतीन्द्रियपदाय-द्रष्टृत्वसंज्ञक ज्ञान है, इससे इन्द्रियसापेक्षपदायिन्द्रियसंज्ञक ज्ञान है। आतता दोनों में ही समान है, परन्तु मगन्ता में विपन्ता है। अतुष्टि इन्द्रियो के प्रयास से जिस ज्ञान का प्रत्यक्ष किया जाता है, वह इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान है। भौतिकप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाला जितने भी आविष्कार हैं सब का इसी से सम्बन्ध है। परन्तु जहाँ हमारी दृष्टिदिर्घं काम नहीं देस करती वहाँ यह ज्ञान स्पर्ध सिद्ध हो जाता है। भूत-मविष्यत्-स्वर्ग-नरक-आत्मा परयात्मा आदि का प्रवर्ध स्तीन्द्रिय है। इन के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान अवरुद्ध है। यहाँ केवल तपोमूला योगमात्रदृष्टि ही सक्षम होती है। इसी को विष्णुदृष्टि, आधुदृष्टि आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। यही ज्ञान “मग” कहलाएगा। जो अपनी विष्णुदृष्टि से सज्जा परोक्ष, एव इन्द्रियातीत विषयों का साक्षात्कार करने में समर्थ है, ठसी का यह ज्ञान अतीन्द्रियपदायिन्द्रियसंज्ञक ज्ञान है। यही ज्ञान भग शब्द से अभिप्रेत है। ऐसे ज्ञानी ही मगवान् कहलाते हैं। इसी विष्णुदृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए अमियुक्त करने हैं—

आविर्भूतप्रकाशानामनभिष्पुतचेतसाम् ।

असीतानागतज्ञान प्रत्यक्षात्त निशिष्यते ॥१॥

अतीन्द्रियानसंशेषान् परयन्त्यार्षेण चक्षुषा ।

ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन भाष्यते ॥२॥

सीसरी विषाद्युद्धि ऐश्वर्ययत्नस्युष्या है । स्वत सिद्ध एव योगसिद्ध अग्निमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व इन आठ सिद्धियों की समष्टि ही ऐश्वर्य नाम का तीसरा अंग है । वास्तुतः इन आठों का ईश्वरसंस्था से ही सम्बन्ध है । अस्तित्व को आत्मा, एव विचमेद से दो भागों में बाँटा जासकता है । आत्मवच स्वतन्त्रवच है, विचवच भावित वच है । शरीर चैत्कि आत्मा का विच है, आत्मा की सम्पत्ति है, अतएव शरीरवच का विचवच में ही अन्तर्भव मान लिया जाता है । इन दोनों में आत्मवच ऐश्वर्य है, एव विचवच को भी पढ़ा जाता है । ईश्वर सम्बन्ध से ही यह आत्मवच ऐश्वर्य नाम से सम्बोधित हुआ है ।

यही ईश्वर झोटे से झोटा कीटाणु बना हुआ है, यही इस का अखिमामात्र है । यही महाविद्य रूप में परिणत होरहा है, यही इसका मूमाभात्र है । संसार में जो भारी से भारी पदाव है, वह भी ईश्वरीय शक्ति ही है, एव हलही से हलकी वस्तु भी यही है । वह एक स्थान पर बैठे हुआ ही सम्पूर्ण पदार्थों को अपनी सीमा में लिंग हुए है, यही प्राप्ति भात्र है । वह बाहर भीतर सब स्थानों में यथेच्छ विहार कर रहा है, यही इस का प्राकाम्य भात्र है । वह अन्तर्पामी सब का शास्ता बन रहा है यही इस का ईशित्व है । उस मूत्रा रमाने अपने निपत्तिदण्ड से सब को वशवर्षी बना रक्ता है, यही इस का वशित्व है ।

जीव न अणु से अणु बन सकता, न महान् से महान् बन सकता । जीवात्मा (मनुष्य) अपनी शक्ति से उतना ही रहता है, जितना कि वह उस के त्रिगुणमहान् में पक्षित से निपत रहता है । यदि किसी मनुष्य में यह शक्तिए जगत्काय से ही देखी जाती हैं तो उसे मनुष्य न कह कर ईश्वर कहा जाता है । यदि किसीने योगप्रक्रियानिष्ठेय से उक्त सिद्धिए

प्राप्त की है तो उसे योगी कहा जाय है ।

इसकी ही इन आठों सिद्धियों का देवभोगियों पर अनुग्रह होता है । ब्रह्मराजस-पिशाच-गन्धर्व-पितर-ऐन्द्र-पान्नापख-आस इन आठों देवभोगियों का निवासस्थान आम्बरगत है । इन में जन्मकास से ही यह सिद्धि प्रियम्न रहती है । मनुष्य भी प्रविष्ट-विशेष से इनमें प्राप्त कर सकता है, बिना कि निम्न स्थिति निदरुणों से राह है ।

### १-आश्रमा

अमुता की ही आश्रमा कहते हैं । इच्छामत्र से कुछ से छोटा शरीर बना देना आश्रमा सिद्धि है । योगशास्त्रोक्त मन समसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । इसी सिद्धि के बल पर पद्मपुत्र मारुति ( इन्द्रमन ) अति सूक्ष्मशरीर बना कर सुरसा के शरीर से बाहर निकलने में समर्थ हुए थे । इसी शरीर से राक्षसों की दृष्टि से बचते हुए उन्होंने ब्रह्मा में सीता का अन्वेषण किया था ।

### २-महिमा

महिमासिद्धि अश्विन के ठीक विपरीत है । शरीर को वषट्क बढ़ा लेना ही महिमा है । आश्रुप सम्बन्ध में होने वाल जन्मप्रलय में मत्स्यरूपवारी मीन विष्णुने इसी के प्रभाव से अति शीघ्र अपना महाविशास शरीर बना रखा था । इसी शरीर के आभित रहने वाली भौका पर बैठकर कल्पिय महर्षियों के साथ पाश्रुप मनुने जसौत्र ( समुद्री दफन ) से श्रास पाया था ( देखिए अत. भा ०११ ) । इसी के प्रभाव से इन्द्रमन ने सुरसा की शरीर वृद्धि के साथ अपना शरीर बढ़ाया था ।

### ३-गरिमा

शरीर को वषट्क भारी बना लेना ही गरिमा है । माया कुन्ती एक सती त्रीशरी के साथ पान्नों पाण्डव १२ वर्षों के लिए वन में निकल गए थे । परिभ्रमण करते करते वह सोम

एक बार एक ऐसे सरोवर के पास जा निकले, जिसमें एक सुन्दर कमल का पुष्प तैर रहा था। द्रौपदीने सावसा प्रकट की कि मेरे लिए पुण्य और आने चाहिए। इस नारीदृष्ट के कारण भीम को जाना पड़ा। खोज ही खोज में यह निपच पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ माकृति पहिले से ही बैठे थे। उन्होंने अपने वरपुत्र भीम के वसामिमान को दूर करने के लिए इसी गरिमा का आशय लिया। हनुमान ने अपना शरीर इतना बोग्रस्त बनाया कि दशसहस्र हाथियों के बस का वसामिमान करने वाले मोटे तखे भीम से अरुणकाय माकृति टस से मस न किए जासके। सङ्केश की राजसभा में इसी के प्रभाव से बालिपुत्र युवराज अङ्गद का पैर किसी से स्थानप्युत म हुआ। इसी सामाजिक बस के कारण भगवान् कृष्णने महाकाय, एवं महावशिष्ठ आएँ जैसे योद्धा को परास्त किया।

## ४-लघिमा

शरीर को पयेष्ट्र वायु से भी हसका बना उना लघिमा है। इससे पारिभाकर्षण का कोई असर नहीं रहता। इट सिद्धि को प्राप्त कर छने वाला मनुष्य विमानादि साधनों के बिना भी आकाश में बिचर सफत है। भीमदक्ता इसी सिद्धि के आधार पर आकाश में तूम करते थे। इसी के प्रभाव से हनुमान समुद्रोन्मथन में समथ हुए थे। इसी के प्रभाव से परमभाग वत नारद आकाश माग में बिचरत हुए भगवान् कृष्ण के समीप, एवं अन्यान्य स्थानों पर पढथा करते थे। पारथा-स्थान-समाधि भद से योग के तीन अङ्ग माने गए हैं। दीव फलत तक आदर पूवक इन तीनों का पन्वास करते रहने स कसातर में तीनों का सयम हो जाता है, वही 'सयम' है। "कायाकाशयोः सम्बन्धसयमात्, सधुत्ससमापत्तेश्चाका गगमनम्" इस पातञ्जल सिद्धान्त के अनुसार शरीर का आकाश के साथ पूण सयम होजाने से शरीर शुक्लाकर्षण से निमुक्त होला हुआ तल (ईई) क समान हसका हो जाता है।

## ५-प्राप्ति

एक स्थान पर बने हुए २००, अथवा अधिक दूर पर स्थित वस्तु को आकाश द्वारा

अपने पास मग्न होना ही प्राप्ति है। पर्यन्त के शिखर पर फस जा रहे हैं। इस निष्ठा से सिद्ध योगी मृतक पर खड़े खड़े ही फस जा रहे हैं यही प्राप्ति है।

## ६-प्राकाम्य

पृथिवी, जल, तेज, वायु, इत्यादि मौखिक पदार्थों में जो अभिघात होता है वह इस सिद्धि से हट जाता है। इसके बस से योगी पानी की तरह पृथिवी के अन्तस्तल में प्रवेश कर सकता है, महाकठिन पाषाणदि शिखरों में प्रविष्ट हो सकता है। विरकास पर्यन्त यथेच्छ पाषाण की गहराइयों में रहने पर भी इसका दम नहीं घुट सकता। अग्नि इसे नहीं जला सकता। सात तारों में नियन्त्रित रहता हुआ भी यह अदरय हो सकता है। अरासेध के आकस्मिक आक्रमण होने पर इसी शक्ति के प्रमाण से मन्वान् कृष्णने सज्ज में बसी हुई शरिका म एक दिन के भीतर सब यादों को पहुँचा दिया था, एक युद्ध के लिए उसी दिन सौट आए थे। महा राज मद्य भी इस सिद्धि में निष्ठात थे। प्रासाद का द्वार चाह मित्रता ही छोड़ क्यों न हो नष्ट हुए बिना हीनस्य उनमें प्रवेश कर जात थे। रिक्त घट उन की दृष्टिमात्र से जलपूर्ण हो जाते थे। अष्ट सतः इन्द्राम्बुज से प्रस्रवित होता था। महाराज अतुपय के सारथि बने हुए मद्य जिस समय दमयन्ती सपम्बर में पहुँचे तो महासती दमयन्तीने अपनी दासी केरी को सारथी के पास (उन की जाँच करने के लिए) भेजा। कारण इस सन्देह का एकदम या अतुपय का होने की सपम्बर में पहुँच जाना। उसने निष्कार किया है कि हो न हो सारथि के रूप में आयतन ही है। नक्ष ही उस समय रथ हाँकने में महाकुण्डल मने जाते थे। केशी महा! पहुँचती है, एवं मद्य के उन अमृत चरित्रों को देख कर विस्मित हो जाती है। तुरन्त वापस सौटती है और दमयन्ती से कहने लगती है—

इन्द्रमासाय सखार नासौ पिनयते क्वचिद् ॥

त तु इष्टा यथासद्गमुत्सपति यथामुत्सम ॥१॥

संकरेऽप्यस्य तु महान् विचरो जायतऽधिकम् ॥

तस्य मत्तापनापार्यं कुम्भस्नभोपकल्पिता ॥२॥

से तेनावेदिता। कुम्भाः पूर्यां एवायवस्तता ॥  
 तृष्णमुष्टिं समादाय सन्निवृत्तं सयावपद ॥३॥  
 अथ महत्सितस्त्रं सहासा ह्यप्यवाहनः ॥  
 चन्द्रमुत इष्टा विस्मिताहयिज्ञगता ॥ ४॥

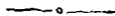
(५० भा० भवनपर्वे ७५ अ०) १

### ७—ईशित्व

ब्रह्मलौकिक कर्म करने योग्य प्राप्त शक्तिविशेष ही ईशित्व है। अग्निमादि सिद्धियों को दूसरों में बाँच देना ही ईशित्व है। इसी ईशित्व के प्रभाव से अग्न्यान् कुम्भ से अग्निमा प्रवेश से गोब्रह्मन् पर्वत को हलका बना कर उसे कन्दुक की तरह अपनी अगुली पर ठठा किया था, द्वारिका में बड़े बड़े हुए ही शोपदी का चीर बढ़ा दिया था। अक्षय होजाना भी इसी सिद्धि के अन्तर्गत है।

### ८—वैशित्व

अपने से प्रमत्त बलराही को भी बश में कर लेना वैशित्व है। इसी सबबसिद्धि के प्रभाव से पूम्ण काशियदह में छूट पड़े थे, एष विपश्चर सर्पा का दमन का छाया था। इसी सिद्धि के प्रभाव से महर्षियों के तप पूल पवित्र आश्रमों में शिखरक पशु परस्पर में अविभक्त विभक्त बने रहते थे।



चौथी विषयसिद्धि धम्मनसुखा है। प्राकृतिक वित्त नियमों की समग्रि ही धर्म है। धर्म ही कर्तव्यकाय की प्रतिष्ठा है। महर्षियों ने इस कर्ममूलक शिल्पधर्म के आधार पर सुप्रसिद्ध बणा भ्रमधम्म की व्यवस्था की है। वे ही व्यवस्थाकाय धर्मशास्त्र नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिस व्यक्ति की अन्तःकाय से ही धम्म की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, जिस के जीवन की प्रत्येक क्रिया स्वत एव धम्मपय का अनुसरण करती हो, वही परमधर्मिष्ठ कहलाता है। ऐसी स्वाभाविक धर्मवृत्ति ही भग कहलाती है। जब तक धम्मरथा है, तभी तक धर्म की स्वरूपरथा है। धर्मोद्धार धारण विधा हुआ धम्म धर्म की धारण करता है। धर्म का यदि परित्याग कर दिया जाता है तो वह

प्रसिद्धात्कर्म उच्यते अर्थात् किं अत्र कर्म दासता है। इसी अर्थानुसार से व्यवहार करते हैं—

यौ गृहः सन् प्राप्तयते स धर्म इति कथ्यते ॥

धर्म एक इति इति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

## ५—पशु

पशुका भ्रम यथा है। यद्यपि इस का बुद्धिपूर्वक के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि मनस्य-  
रूप सन्मान में इस का व्यवहार ही उपयोग होता है। यह एक प्रकार का धर्म-प्राण है। इस  
का प्रभव कर्म-धर्म है। कर्म-धर्म के रेत, श्रद्धा, फल-यत्न करनेवाले माने गए हैं। जिस की  
अध्यात्म-धर्म में वह अत्र यथा-प्राण जन्म से प्रसिद्धि रहता है, वही लोक में यथा-प्राण है।  
इस दृष्टि से कि स्थिति ही स्थिति बड़े बड़े उच्च फल करते हैं, परन्तु उन्हें यथा नहीं मिलता।  
यही नहीं, कभी कभी तो इन धर्म-धर्मों की पुरस्कार में व्यवहार भी मिल जाता है। उभर स्थिति ही  
धर्म-धर्मों की ही हैं जिन्हें बिना कारण, अपवाद साधारण कारण से भी यथा मिल जाता है। ऐसे  
कारण पर हमें मानना पड़ता है कि यथा का व्यवहार ही प्रकृति से सम्बन्ध है। जिस में यथा-प्राण  
होता, वही लोक में यथा-प्राण है। जिस में यथा-प्राण न होता, वह यथा-प्राणिक धर्म करता  
हुआ न व्यवहार का ही नद २ प्रयोग।

## ६—श्री

श्री नाम न मन का बुद्धिपूर्वक के साथ सम्बन्ध है। शरीर-धर्म ही भी है। शरीर का  
धर्म न बुद्धिपूर्वक है। श्री से धर्म का विभाग होता है। शरीर की अन्तर्गत कारण ही धर्म-धर्म है।  
श्री नाम का ही बुद्धिपूर्वक के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह जोर की धर्म जो का सम्बन्ध बुद्धि-  
पूर्वक के साथ नहीं है। इस की अर्थानुसार धर्म। धर्म यथा बुद्धिपूर्वक प्रकृति से यथा-प्राणिक।



अभी इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि जिस में ठरु मगसगृह्ये अन्तकास से भिन्ना प्रयास के छत विद्यमान रहती हैं वह मानव शरीरवारी होजा हुआ भी मगधान् कहखाता है ।

अन देखना हमें यह है कि कृष्ण में मगसगृह्ये सम्पादक ठरु मग ये, अथवा नहीं । सबसे पहिले क्रमप्राप्त बैराग्य को ही बीजिर । जिस आचार्यने बैराग्यभुक्तियोगम्बुवा राजर्षि विद्या के उपदेश से अनुन को राग-द्वेष रहित बना डासा, वह जय कैसा होगा, यह विचार ही व्यन है । “नानाशतयवातुम्भं बर्ष एव च कर्मणि” यही वाक्य बैराग्यका का सूचक है । ये वाहते तो एक म्हासाभाष्य का निर्माख कर सकते थे, परन्तु नहीं । उन्होंने ऐसी राज्य-स्तिप्सा की कभी वासना भी न की । कंस का साभाष्य उन की निजी सम्पत्ति हो गई थी, परन्तु उन्होंने क्या किया, यह सर्वनिरित है ।

यही वाक्य ही न की थी । जब कृष्ण की ज्ञानशक्ति की ओर दृष्टि जाती है तो हमें स्तम्भ रह जाना पड़ता है । ज्ञान मग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र ही पपात्त प्रमाय है । जिस गीताशास्त्र का मन्थन करते करते सिद्धान् पक गए हैं, जो श्रीवाशास्त्र समस्त विश्व का आराध्य देव बन रहा है, उसके उपदेश के ज्ञान की सीधंसा करना अपने आप को प्रायश्चित का भागी बनाना है ।

ऐश्वर्य के सम्बन्ध में भी विशेष शक्त्यम्य मही है । ऐश्वर्ययोग के प्रथम प्रवर्षिक भगवान् शङ्कर जहाँ पोलोचर कहखाते हैं, वहाँ इस योग के परमाचार्य कृष्ण योगीश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं । योगाचार्य शङ्कर से तो योगियों के आचार्य कृष्ण थे । वाक्यावस्था में समय समय पर भगवान् ने अपने इस ऐश्वर्यमात्र को प्रकट किया है । दुर्योधन की रात्रसमा में दूतावस्था में इसी योग का दिव्यार्थन हुआ है । अयप्रमवध के सम्बन्ध में मरु अर्जुन की प्रसिद्धा रसा के लिए इसी योग का आधप लिया गया है । शिरदूखरूपप्रदर्शन भी इसी योगका सूचक है ।

इसी प्रकार धम्म के भी कृष्ण म्हापषपाती हैं । कर्षाश्मनूतक धम्म, एव प्रतिपादक धर्मशास्त्र दोनों के यह अनन्य मरु हैं । “तस्माच्छास्त्र प्रमाय ते०” इत्यादि रूपसे बड़े आदेश के साथ भगवान् ने अपनी भयनिष्ठ प्रकट की है ।

यश और श्रीमान् भी स्पष्टतम हैं। पाण्डव विजय का श्रेय फिसे मित्रा, उग्रसेन की उग्र पुनरावृत्ति के यश के मागी कौन थं। बाध, वृद्ध युवा, आदि सभी अवस्था के प्राची किश की सरसमाधुरी से मोहित थे। इस प्रकार कृष्ण में हमें दू बों भगों की पूछ म्याप्ति मिल रही है। अतएव हम अवरम ही इन्हें भगवान् कहा सकते हैं। भगवान् ही नहीं, अपितु कृष्ण को अक्षयुतभगवान् कहा जासकता है।

यश एव श्री के विद्वान के साथ साथ चतुर्विध विद्याबुद्धियोग का विद्वान करण गया। अथ क्रमप्राप्त चतुर्विध अविद्याबुद्धियों पर भी एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा। पाठक यह न भूलें कि सूर्य में अमृत-मृत्यु नामक दोनों भागों का समावेश है। इनमें से अमृतभाग ही उक्त चतुर्विध विद्याबुद्धियों का स्वरूप सम्पादक है। इस सूर्य में त्रितना सा अर्धभाग है, यही चतुर्विध अविद्या बुद्धियों का स्वरूप सम्पादक है। वे ११५ का प्रतिद्वन्द्वी राग-द्वेष है, ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी समोह है, ऐश्वर्य का प्रतिद्वन्द्वी अहिंसा है, एव अर्ध का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है। जिस प्रकार विद्याबुद्धिचतुष्टयी, किञ्च ६ शक्तियों में 'भग' शब्द निरूढ है एवमेव इस अविद्याबुद्धिचतुष्टयी में "योगमाया" शब्द निरूढ है। महात्म्या से मिल सकने के कारण ही इस हरिमया को योगमाया कहा जाता है। नानामात्र मृत्युमात्र है, जसा कि- 'मृत्यो स मृत्युपाप्नोति य इह नानेव परपति' ( कठोप० ३।१० ) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। योगमाया ही नानामात्रक मृत्युमात्र की प्रतिष्ठा है। मृत्युत्तर ही पूर्वकल्पानुसार अविद्याबुद्धियों का जनक है। अतएव मृत्युप्रधान इस अविद्याचतुष्टयी को हम अवरम ही 'योगमाया' शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। योगमाया इरेऽतद सया समोहये जगद्' (सप्तमती) इस स्वाच सिद्धान्त के अनुसार यही योगमाया मृत्युत्तरण मोह की प्रवर्तिका मन्त्री गई है।

योगमाया और भग दोनों प्रतिद्वन्द्वीभाव हैं। होता यह है कि योगमाया की कृपा से बुद्धि का एकत्रकषण अवस्था में उन्मिष हो जाता है। नानामात्रक अविद्या के समावेश से बुद्धि अनेक शास्त्रों में परिरात हो जाती है। यही इस बुद्धि का मृत्युत्तरण अवस्था-

साय है। इस अभ्यवसाय से व्यवसायपरिमता एक बुद्धि का विकास दब जाता है। फलतः बुद्धिसद्विषय स्मृतात्मा का विद्यामाय पराशक्तियों से निस्व संपन्न रहता हुआ भी प्रकाशित नहीं रहता। इसीलिए साधारण मनुष्य न्यायोह में पड़ते हुए कर्तव्याकृतम् विवेक से श्रुत होभात हैं। यही इनके दुःख का मूल कारण है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैमाचरेमि सर्वमिदं ततम् ।

माहितं नाधिजानाति मामेव्य परमव्ययम् ॥ (गी० ७।१३) ।

यदि इसके सिपरीत म्या नाम के श्रुतिवैत विद्याबुद्धियोग के उदय से अविद्याबुद्धि पर प्रकाशित हो जाती है। अविद्या आवरण के हटव ही बुद्धि में स्वस्थता उत्पन्न हो जाती है। बुद्धि का समभाव में परिश्रुत होते ही आत्मा के विद्याप्रकाश का बुद्धि पर अनुभव हो जाता है। यही इस का आत्मसाक्षात्कार है, यही भगवत्प्राप्ति की प्राप्ति है, यही इस की भगवत्ता है। भगवत्ता ही वे अनन्त आत्मशक्तिरूप अपने आप प्रकट होकर इस भगवान् को सर्वज्ञ बना बासती हैं। इसी भगवत्ता सबकुछ से यह अतीत अनामत सब कुछ जान लेता है। उत्पत्ति, प्रलय, प्रागति, मति, विद्या, अविद्या सब कुछ इसके लिए प्रलक्ष्यत् हो जाते हैं। इसे अपने पूर्वजनों का पूरा परिश्रान हो जाता है यही जातिस्मरता है। इसी आधार पर भगवान् ने अजुन के “अपर भवतो जन्म परं जन्म विवस्वताः” यह जिज्ञासा करते पर— ‘बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव शार्जुन । तान्यहं वेदं सर्वाणि न त्वं मेत्य परम्यत्’ यह समाधान किया है। विरितवेरितम् इसी भगवान् का लक्षण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव मृतानामागतिं गतिम् ।

वेदिनियामविद्यां च स पाठ्यो भगवानिति ॥

भगवान् किसे कहा जाता है? इस प्रश्न का समाधान हो चुका। अब प्रकृत विषय के साथ उक्त समाधान का सम्बन्ध कीजिए। विद्यादइस समय बुद्धियोगनिष्ठा सम्बन्धी वैराग्य, ज्ञान,

पेश्यत, धम्म इन चार मार्गों पर अभ्यसन्ति हैं। हमारे वास्तुदृश्य में इन चारों मार्गों का विकास था, अतएव इन्हें मगवान् माना गया। अपने कर्मात्म के बुद्धियोग द्वारा प्राणायामवृत्त अभ्यस में प्रतिष्ठित करते हुए समभाव में परिणत कर लेना ही अभ्युत्पत्तमात्र है। “अभ्यसयात्मनिष्ठ स्वमत्पुत्रत्वम्” इस वृत्त के अनुसार अभ्यस्यामनिष्ठ ही अभ्युत्पत्ति है। वस्तुतस्तु अभ्युत्पत्तमात्र का “बुद्धियोगनिष्ठत्वमभ्युत्पत्तम्” यही सत्य समझना चाहिए। कारण इस का यही है कि बिना बुद्धियोगनिष्ठ के समस्तवृत्तयोग का उदय नहीं होता एव बिना समता के आत्म के अभ्युत्पत्त भूमि का विकास नहीं होता। फलतः बुद्धियोगनिष्ठ को ही अभ्युत्पत्तमात्र के प्रति कारणता सिद्ध हो जाती है।

जब अभ्युत्पत्तमात्र का बुद्धियोगनिष्ठ के साथ सम्बन्ध है तो एक निप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। वेदव्यास ऋषि-ऋष्यादि ऋषियों को भी इस दृष्टि से अभ्युत्पत्तमगवान् कहा जाता चाहिए। क्योंकि वैताम्य-ज्ञान ऐश्वर्य-धर्म इन चारों बुद्धियोगनिष्ठों में से इन ऋषियों में अक्षय ही एक एक दो दो बुद्धियोगनिष्ठ विद्यमान थीं। जब कि हम में बुद्धियोगनिष्ठ थी, एवं बुद्धियोगनिष्ठ ही अभ्युत्पत्तमात्र का कारण है तो ऐसी दशा में हम अक्षय ही इन्हें भी अभ्युत्पत्तमगवान् कहा सकते हैं। इस निप्रतिपत्ति के निराकरण में हमें केवल यही बतलाना है कि अभ्युत्पत्त शब्द चारों मार्गों में ही योग्य है। कश्चित् में संकटों वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं परन्तु पक्ष केवल कर्म ही कहलाता है। इसी प्रकार बुद्धियोगनिष्ठ के कारण सभी मगवों के अभ्युत्पत्त रहने पर भी अभ्युत्पत्त नहीं कहलाता है, जिस में कि चारों बुद्धियोग होते हैं।

वस्तुतस्तु बिना चारों बुद्धियोगों की समष्टि के अभ्युत्पत्त मगवत्व उत्पन्न ही नहीं होता। कारण इस का यही है कि चार वृत्त अभ्यसना की वृत्ति के मूलकारण हैं। जब तक चारों में से एक भी वृत्त (हेतु), तब तक पूर्णरूप से अभ्युत्पत्तमात्र का उदय न होता। पूर्णता में ही इत्यमात्र का विकास सम्भव है, इत्युत्पत्ति ही पूरा समता की प्रवर्तिका है। पूर्णसमता ही अभ्युत्पत्तमात्र की जननी है। यदि चारों में एक बुद्धियोग है तो एक दोष दृश्य। येन दोष ज्यो के त्यो नहीं तो आधिक्यरूप से अक्षय ज्यो। जब तक दोषों का प्रसंग ही विद्यमान है, तब तक एक द्यो में

अभ्युत्पन्नत्व के भाजाने पर भी पूर्णअभ्युत्पन्नत्व असम्भव है। प्रकृता तो चारों निष्ठाओं की समष्टि नर ही अस्तित्वमें है। ऐसी दृष्टा में हम उसे ही एकमात्र अभ्युत्पन्नमगवान् कहेंगे, जिसमें कि चारों निष्ठाओं का अन्तर्भाव से ही पूरा विकास होगा। वेदव्यासादि में एक एक दो निष्ठाएँ ही थीं, अतएव वे कम्बल मगवान् कहलाए, परन्तु कृष्ण में चारों का पूर्ण विकास था, अतएव वे अभ्युत्पन्नमगवान् कहलाए। इतर मगवानों की अपेक्षा कृष्ण की मगवत्ता में यही विशेषता है।

सब वेदव्यासादि मगवानों में—'कृष्णस्तु मगवान् स्वयम्' यह कथन हुए कृष्ण की अभ्युत्पन्नमगवत्ता स्वीकार की है। कृष्ण में चारों मग थे, यह तो विशेषता है ही। परन्तु इस के साथ ही साथ से बड़ी विशेषता यह है कि उक्त चारों बुद्धियों का स्वरूप सब से पहिले कृष्ण ने ही संसार के सामने रक्खा है। इसीलिए इन्हें अभ्युत्पन्नमगवान् के साथ साथ जगद्गुरु भी माना गया है—(कृष्णे कन्दे जगद्गुरुम्)। अभ्युत्पन्नमगत्व ही महापुरुषत्व का द्योतक है। यह जीव की अपेक्षा विसङ्ख्य कर्म है।

विद्यासमुच्चित कर्म के कारण से जीव की सात संस्थाएँ हो जाती हैं। अग्नि-वायु-सू-र-न तीनों के कारण से कर्मप्रधान स्वनिज, चतुर्विज्ज, जीवज मेद से असङ्ग, अन्तःसङ्ग, ससङ्ग नाम की तीन जीवसंस्थाएँ प्रकट होती हैं। अग्नि का कर्म से सम्बन्ध है, एव अग्नि-वायु इन्द्र तीनों एक ही अग्नि की वन तरल-विरल नाम की तीन अवस्थाएँ हैं। अथ इन तीनों जीवसंस्थाओं को हम कर्मप्रधान कहने के लिए तय्यार हैं।

उक्त तीनों जीवसंस्थाओं में से ससङ्ग नाम की तीसरी संस्था के कर्मात्मसंस्था, विद्यात्मसंस्था, ईश्वरसंस्था मेद से अन्तर्गत तीन विभाग होजाते हैं। इन तीनों में कर्मात्मसंस्था ससङ्ग जीव कर्मप्रधान है, विद्यात्मसंस्था ससङ्गभाव जगय (विद्या-कर्म) प्रधान है, एव तीसरा ईश्वरसंस्था ससङ्गभाव विद्या प्रधान है।

तीनों में से ईश्वरसंस्था ससङ्गभाव पुनः ऊर्ध्वसंस्था, भीतस्थ, एवं विभूतिस्थ मेद से तीन भागों में विभक्त है। यह तीनों ही व्यापविषय विद्याप्रधान हैं।

## सप्तसंस्थो जीव

- (१) १—बैबानराधिसस्याः—घसङ्ग —-सनिज —→ कम्मपधान (६) ।  
 १—(२) २—तैजसषापुसंस्थाः—घन्त सङ्गः—बद्धभिज्जः—→ कम्मपधान (८) ।  
 (३) ३—प्राज्ञात्परुपेन्द्रसंस्थाः—ससङ्गः—प्रीवज्ज—→ कम्मपधानः (७) ।

- (३) १—कम्मात्मसस्याः—→ कम्मपधानः (६) ।  
 २—(४) २—विदामाससंस्थाः—→ विद्यापधानः ५ कम्मपधानः (५) ।  
 (५) ३—ईश्वरसंस्था—→ विद्यापधानः ४ — (४) ।

- (५) १—ऊक्सस्याः—→ विद्यापधाना ३ — (३) ।  
 (६) २—श्रीसंस्थाः—→ विद्यापधानः २ — (२) ।  
 (७) ३—विभूतिसंस्था—→ विद्यापधान १ — (१) ।

जिन जीवात्माओं में ऊर्कू—श्री—विभूतिरूप १ वा २वा, ३ वा मग विकसित रहता है, व जीवात्मा इधरधर माने जाते हैं यही इन की बलविक्रिया है। ऐसे ही व्यक्ति अन्वयपुरुष के आश्रित विकास के कारण के महापुरुष कहनाते हैं ऐसा कि मगवान् करते हैं—

यद्यद्विभूतिमतसत्त्वं श्रीमवृत्तिवेषव वा ।

तत्तद्वावगच्छत्वं मम तेजोऽग्रसन्मवम् ॥ (गीता ०१०१।४१)।

अपने एक ही रूप से अनेक व्यामसरूपों में व्याप्त रहना ही ईश्वर का विभूतिमात्र है। इस विभूति सम्बन्ध से महामायाव्यक्तिमत्त विश्वभर अन्वय योगमायाव्यक्तिमत्त जीवात्माओं के साथ उची प्रकार पुक्त हो रहा है, जैसे कि एक ही सूर्य योगमायाव्यक्तिमत्त अपने सब पावत् प्रतिकर्मों के साथ अतन्त्रात्मा विभूति सम्बन्ध से व्याप्त रहता है। मगवान् इच्छा सत्वात्मा के अन्वय से, अत

एव उक्त सत्त्वात्मा की तरह यह भी सर्वलोकसाक्षी बनते हुए विभूति सम्बन्ध से जीवमात्र में म्याप्त थे। इस दृष्टि से अवरण ही उन्हें इक्षर कहा जासकता है। इसी विभूतिमात्र का विद्युद्गर्जन कराते हुए द्वैगायन कहते हैं—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामत्र देहिनाम् ।  
 योऽन्तर्धरति सोऽप्यत्र क्रीडनेनेह देहमाक ॥१॥  
 अनुग्रहाय मृतानां मानुष देहमास्थितः ॥  
 भजते शक्योः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥२॥

( श्रीमद्भागवत् १०।३३ ) ।

बैराग्य—ज्ञान—ऐश्वर्यादि ६ प्रकार के भगों की समष्टि ही धीतत्व है। यह ६भों मात्र भी धीकृष्ण में पूर्णरूप से विद्यमान थे, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। इतर साधारण आत्माओं की अपेक्षा जो आत्मा असाधारण स्व से युक्त रहता है, वही सर्वातिशयमावयुक्त आत्मवत्त उर्कृतस है। भगवान् कृष्ण में यह उर्कृतस भी पूर्णरूप से विद्यमान था। इन सब प्रकारों से भगवान् कृष्ण का अम्युतमग्नरत्न मधीमाति सिद्ध होजाता है। इसी अलौकिक मात्र का कारण धीकृष्ण ईश्वरवत् उपास्य मान गए। इसी विशेषता के कारण इतर भगवानों की अपेक्षा इनका विशेष महत्त्व माना गया। इसी विशेषता को सूचित करने के लिए गीताशास्त्र के साथ भगवत् शब्द का सम्बन्ध जोड़ा गया। इसी वैशिष्ट्य के कारण गीताशास्त्र भगवद्गीतो पनिषद् नाम से प्रसिद्ध हुआ। सभी तास तास हैं, परन्तु भूपाबतास ही तास कक्षता है। तबकी वही बात यहाँ समझिए। अनेक भगवान् हैं, परन्तु उनके सामने कृष्ण की भगवता व त्रिभिन्न सुखियोम के कारण सबभेद बन गए। इनकी भगवता के सामने व्यासादि की भगवता नीची श्रेणियों में ही रह गई। फलतः ओर किसी भगवान् का शास्त्र भगवत् नाम से व्यवहृत न होकर केवल गीताशास्त्र ही भगवत् नाम से सम्बोधित हुआ। भगवद्गीता नयी भगवद्गीता कह लानी है। इस प्रकार का वही सच्चिद उचर है।

इति मगवच्छब्दरहस्यम् ।

१

## ६-गीताशब्दरहस्यम्

यह उपनिषद् भाषान् के द्वारा कही गई है। कृष्ण ही अम्ययामप्राप्तिसाधनभूता बुद्धियोगनिष्ठ के प्रथम दश हैं। इस प्रथमदशपुरुषवृत्त दृष्टि के सम्बन्ध से हम अक्षर्य ही इस उपनिषद् को 'मगनद्वीतोपनिषद्' (मगस्ता श्रीकृष्णेन गीता कथिता-उत्तर-प्रोक्ता-उपनिषद्-मगनान् श्रीकृष्ण के द्वारा कही गई उपनिषद्) इस नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

इस प्रथम प्रश्न-कर्म मेद से दो मार्गों में विभक्त है। इन में ब्रह्मज्ञ के भी तीन विभर्त हैं, एवं कर्मतन्त्र की भी तीन शाखाएं हैं। अम्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, अक्षरपुरुष यह तीन ब्रह्म हैं, किंवा एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं। वैशेषिक दर्शन ने अक्षर का निरूपण किया है, संप्रत्यक्षदर्शन ने अक्षरब्रह्म का निरूपण किया है, एवं वेदान्तदर्शन ने अम्ययगर्भित अक्षरब्रह्म का निरूपण किया है। निस्ती शास्त्र ने विशुद्ध अम्यय का निरूपण नहीं किया है। इस कर्म्य की पूर्ति गीतराज ने ही की है। जिस अम्यय को कोई नहीं जानता था, जानता था उसे तटस्य बुद्धि से, गीता ने उसे ही अपना मुख्य रूप बनाया है। अम्यय का प्रथमदश गीताराज ही है।

इसी प्रकार कर्मरूप के ज्ञानयोग ( निवृत्तकर्मयोग ), कर्मयोग ( प्रवृत्तिकर्मयोग ), भक्तियोग ( उभययोग ) तीन विभाग हैं। इन तीनों से सर्वथा विषयवृत्त एक चौथा बुद्धियोग है। प्राचीन शास्त्रों की ज्ञानसीमा उक्त तीनों योगों पर ही विद्यमान है। संप्रत्यक्षदर्शन ने ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया है, योगदर्शन ने कर्मयोग का प्रतिपादन किया है, एवं शाण्डिल्य दर्शन ने बुद्धियोग का प्रतिपादन किया है। परन्तु बुद्धियोग गीता के पहिल स्पृष्टिगर्भ में ही विद्यमान रहा है। बुद्धियोग के प्रथमदश श्रीकृष्ण ही हैं। इस योग में ज्ञान-कर्म-भक्ति तीनों का सम्बन्ध है, जैसा कि अग्रे के प्रकरणों से स्पष्ट होगा। इस प्रकार ब्रह्मविभर्त का अम्ययविभर्त, एवं कर्म-विभर्त का बुद्धियोग विभर्त इन दोनों को संसार के छानने रखने का एकमात्र वेद कृष्ण को ही है। अम्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग प्रतिपादक गीताराज मगनान् की अपनी सम्पत्ति है, अपना मत है। गीता उन्मिष्ट शास्त्र नहीं है, अविद्य नहीं जानता है। सब मगनान् ने अपने मुक्त से यह श्रेयश की है कि गीता मेद मत है। देखिए।



ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

अदावन्तोऽनुभूयन्तो भुङ्गन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ (गीता०१।३१।)

प्रकारान्तर से विचार कीजिए । मयबान् ने “ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति” कहा दिया, इसलिए हम झोस मीच कर मोता को अपूर्वशास्त्र मानसैं यह ठीक नहीं हैं । शास्त्रान्वेषक द्वारा भ्रम को यह निश्चय करना चाहिए कि क्या वास्तव में गीता से अतिरिक्त अन्य दर्शनो में अम्ययब्रह्म, एव बुद्धियोग का निरूपण नहीं है । हमारे विचार से पर्याप्त परिश्रम करने के पीछे आप को भी इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ेगा कि सचमुच इस सम्बन्ध में गीता अद्वितीय शास्त्र है ।

यदि पाठक अवधान पूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें इस विश्व में, एव विश्वरहस्यप्रतिपादक शास्त्रों में ब्रह्मविद्या एव कर्मचर्या इन दो भागों के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का आलम्बनिक अभाव ही मिलेगा । उसार में या तो कुछ जाना जाता है, अपना कुछ किया जाता है । “जाना जाता है” यह वाक्य ब्रह्म का सूचक है । “किया जाता है” यह वाक्य कर्म का बोधक है । ब्रह्म-कर्म के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में ज्ञान-क्रिया के अतिरिक्त वास्तव कुछ नहीं है । “ज्ञाप्ते-क्रियते, किञ्चित्-ज्ञाप्ते, किञ्चित्-क्रियते, कुछ जाना जाता है-कुछ कुछ किया जाता है” इस ज्ञान-क्रिया की पारम्परिक धारा के अतिरिक्त सचमुच अन्य वस्तु का अभाव सा ही है ।

ब्रह्म का ज्ञान होसकता है, चर्चा नहीं । कर्म की चर्चा सम्भव है, ज्ञानभाव में परिणति नहीं । ब्रह्म का विद्या से सम्बन्ध है, काम का योग से सम्बन्ध है । ब्रह्म ब्रह्मविद्या है, कर्म योग है । पूर्व कथनानुसार ब्रह्मविद्या के भी अम्यय-ब्रह्मरुद्र नाम के तीन विवर्त हैं, एव योगचर्चा के भी ज्ञान-कर्मो-पादित नाम के तीन विवर्त हैं । दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि ब्रह्म ज्ञानात्मा है, कर्म कर्मात्मा है । ज्ञानात्मा भी तीन हैं, कर्मात्मा भी तीन हैं । प्रत्येक वस्तु ब्रह्म-कर्ममय है । हम दोनों के द्व विवर्त हैं । इसी व्यापारपर “पादुकीशिकमिदं सर्वम्” यह अनुगम प्रसिद्ध है ।

## ६-गीताशब्दरहस्यम्

यह उपनिषद् भाषान् के द्वारा कही गई है । कृष्ण ही अम्ययात्मप्राप्तिसाधनमृत बुद्धियोगनिष्ठा के प्रथम द्रव्य हैं । इस प्रथमद्रव्यब्रह्मण्य शब्द के सम्बन्ध से हम अवरण ही उस उपनिषद् को 'मगनद्वीतोपनिषद्' (भगवता श्रीकृष्णेन गीता कथिता-उत्तर-श्रेष्ठा-उपनिषद्-भाषान् श्रीकृष्ण के द्वारा कही गद् उपनिषद्) इस नाम से सम्बोधित कर सकते हैं ।

इस प्रथम द्रव्य-कर्म से दो मार्गों में विभक्त है । इन में प्रकृत्य के भी तीन विवर्त हैं, एक कर्मकाल की भी तीन शाखाएँ हैं । अम्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष यह तीन द्रव्य हैं, किंवा एक ही द्रव्य के तीन रूप हैं । वैशेषिक दर्शन ने अक्षरद्रव्य का निरूपण किया है, सांख्यदर्शन ने अक्षरद्रव्य का निरूपण किया है, एक वेदान्तदर्शन ने अम्ययगर्भित अक्षरद्रव्य का निरूपण किया है । विष्ठी शास्त्र ने विशुद्ध अम्यय का निरूपण नहीं किया है । इस कृत्य की पूर्ति गीतारण्य ने ही की है । जिस अम्यय को कोई नहीं जानता था, जानता था तो तटल बुद्धि से, गीता ने उसे ही अपना मुख्य ब्रह्म बनाया है । अम्यय का प्रथमद्रव्य गीतारण्य ही है ।

इसी प्रकार कर्मकाल के ज्ञानयोग ( निवृत्तकर्मयोग ), कर्मयोग ( प्रवृत्तिकर्मयोग ), भक्तियाग ( उभययोग ) तीन विभाग हैं । इन तीनों से सवथा निष्पन्न एक चौथा बुद्धियोग है । प्राचीन ग्रन्थों की ज्ञानसीमा उक्त तीनों योगों पर ही विद्यमान है । सांख्यदर्शन ने ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया है, योगदर्शन ने कर्मयोग का प्रतिपादन किया है, एक शक्तिद्रव्य दर्शन में बुद्धियोग का प्रतिपादन किया है । परन्तु बुद्धियोग गीता के पहिल सृष्टिगर्भ में ही विवर्तित रहा है । बुद्धियोग के प्रथमद्रव्य श्रीकृष्ण ही हैं । इस योग में ज्ञान-कर्म-भक्ति तीनों का सम्बन्ध है, जैसा कि ज्ञान के प्रकारों से स्पष्ट होगा । इस प्रकार प्रवृत्तिवर्त का अम्ययविवर्त, एक कर्म-विवर्त का बुद्धियोग विवर्त इन दोनों को संसार के सामने रखने का एकमात्र श्रेय दृष्ट्य को ही है । अम्ययद्रव्य एक बुद्धियोग प्रतिपादक गीतारण्य भाषान् की अग्रणी सम्पत्ति है, अपना मत है । गीता उन्मिष्ट शास्त्र नहीं है, अपितु गरीमशास्त्र है । सत्य भगवान् ने अपने मुख से यह शेषका की है कि गीता मेरा मत है । वन्दे ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुविष्टुन्ति मानवाः ।

अज्ञानन्तोऽनुभूयन्तो मुख्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ (गीता० १३।१।)

प्रकरणान्तर से विचार कीजिए । मयबान् ने “ये मे मतमिदं नित्यमनुविष्टुन्ति” कह दिया, इसलिये हम झोख मीच कर गोता को अपूर्वठाक मानसैं यह ठीक नहीं हैं । शास्त्रान्वेयक ज्ञान आप को यह निश्चय करना चाहिए कि क्या वास्तव में गीता से अतिरिक्त अन्य दर्शनों में अन्यग्रहण, एव बुद्धियोग का विकल्पण नहीं है । हमारे विचार से पर्याप्त परिश्रम करने के पीछे आप को भी इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ेगा कि सधसुच इस सम्बन्ध में गीता अद्वितीय शास्त्र है ।

यदि पाठक अवधान पूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें इस विषय में, एव विचारदृष्ट्यक्ति-पादक शास्त्रों में ब्रह्मविद्या एव कर्मचर्या इन दो मार्गों के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का अभाव नितक अभ्यस ही लियेगा । उद्यम में व्य तो कुछ जाना जाता है, अपना कुछ किया जाता है । ‘जाना जाता है’ यह वाक्य ब्रह्म का सूचक है । ‘किया जाता है’ यह वाक्य कर्म का सूचक है । ब्रह्म-कर्म के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में ज्ञान-क्रिया के अतिरिक्त वास्तव कुछ नहीं है । ‘ज्ञापते-क्रियते, किञ्चित्-ज्ञापते, किञ्चित्-क्रियते, कुछ जाना जाता है-कुछ कुछ किया जाता है’ इस ज्ञान-क्रिया की पारम्परिक धारा के अतिरिक्त सधसुच अन्य वस्तु का अभाव सा ही है ।

ब्रह्म का ज्ञान होसकता है, कर्मा नहीं । कर्म की कर्मा सम्भव है, ज्ञानमान में प रिच्छति नहीं । ब्रह्म का विद्या से सम्बन्ध है, काम का योग से सम्बन्ध है । ब्रह्म ब्रह्म विद्या है, कर्म योग है । पूर्व कथनानुसार ब्रह्मविद्या के भी अभ्यस-अक्षर हर नाम के तीन विवर्त हैं, एव योगवर्षा के भी ज्ञान-कर्मा-पास्ति नाम के तीन विवर्त हैं । दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि ब्रह्म ज्ञानात्मा है, कर्म कर्मात्मा है । ज्ञानात्मा भी तीन हैं, कर्मात्मा भी तीन हैं । प्रत्येक वस्तु ब्रह्म-कर्मात्मा है । इन दोनों के द्व विवर्त हैं । इसी अ-धारपर “पादकौशिकमिदं सधम्” यह अनुगम प्रसिद्ध है ।

गीताशास्त्र से पहिले उक्त तीन ज्ञानात्म्यों में से अष्टम्या एव अज्ञातात्मा का ही प्राधान्य था, अन्यथा सर्वथा निगूढ बना हुआ था। कर्मात्म्यों के सम्बन्ध में साम्य नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग, योग नाम से प्रसिद्ध कर्मयोग ही प्रचलित थे। भक्तियोग कथान्तिक बना हुआ था। एक दस कहता था ज्ञान प्राप्त करो, जाना, कर' मत। दूसरा दस कहता था कर्म करो, ज्ञान के लिए प्रयास स्पर्ष है। परन्तु गीताशास्त्रने— एकं सांख्य च योग च य' परपति स पश्यति' कहते हुए ज्ञानगर्भित कर्मयोग का स्वरूप सधप्रथम ससार के सामने रक्खा। यही योग बुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अर्च्य योग क साध साध भगवान् ने ज्ञानात्म्यों में से अन्यथात्मा का स्वरूप भी हमारे सामने रक्खा। प्राचीनोंने जहाँ अक्षर पर ही विद्याम मान लिया है, वहाँ गीता अम्यप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। ओर ओर शास्त्रों की तरह गीता केवल सिद्धान्त बतलाकर ही चुप नहीं हो जाती। अपितु उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप भी गीता हमारे सामने रखती है। दूसरे शास्त्रों में जो समझिर कि इतर आत्म-विषयाशास्त्र केवल सिद्धान्त बतलाते हुए जहाँ दर्शनशास्त्र ह वहाँ गीताशास्त्र सिद्धान्तों के साथ साथ उनके व्यावहारिक स्वरूप बतलाने के कारण विद्याशास्त्र है। अम्यपत्मा विद्याम है। विषाएँ शक्ति कैराय, ज्ञान, ऐश्वर्य धर्ममेद से भार हैं अतएव तत्सम्बन्ध से विषावुद्धि भी चार ही भागों में विभक्त हो जाती हैं इन चार बुद्धियोगनिष्ठों से अम्यप का विषाम्भन प्रसन्न होता है, अतएव इन्हें विषावुद्धि कह दिया गया है।

उक्त विन्दसन से प्रकृत में हमें पही कहना है कि अम्यपपुरुषकाय्या अविषाण्य बुद्धियोगकाय्या योगकाय्या इन दोनों के ग्रीठव्योपन्न होने से, एव इन्हीं के उपदेशम्य से लोक में प्रचलित होने से हम अश्व ही इसे भाषान् की गीता कह सकते हैं। मग्नान् ही इसके श्रया हैं, भाषान् ही इसके बतल है। उपन्न शम्प का अर्थ है उपक्रम। प्रथम्य रम्भस्थ का ही उपन्न कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण का प्रथम्यारम्भ पाणिनि से हुआ है, अतएव व्याकरण शास्त्र पाणिन्युपन्न कहनाया है। द्रोण नामके परिभाष ( तोष ) विशेष के प्रवर्तक महाशय नन्द थे। अतएव द्रोणपरिभाष शोक में नन्द्युपन्न कहाया है। अम्यप,

मन्त्र, एवं बुद्धियोग का प्रथमार्थ कृष्ण से ही हुआ था, अतएव उक्त के इस पीताम्ब को अन्वय ही कृष्णोपज्ञ कहा जासकता है ।

इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है । साब ही में यह विप्रतिपत्ति ऐसी है, जिस का निराकरण करना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । पूर्व में यह कहा गया है कि भारतवर्ष में जितने भी दशमग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें किसी में भी अन्वयग्रन्थ का, एवं बुद्धियोग का विरोधक उपलब्ध नहीं होता । अथर्व ही दशमशास्त्रों के सम्बन्ध में उक्त हठ बाद का आदर किया जासकता है । परन्तु वेद के अन्तिम भापरूप उपनिषद्शास्त्र के सम्बन्ध में यह अपृथक्ता किसी भी दृष्टि से चटित नहीं होती । उपनिषदों में, न वेदों उपनिषदों में ही, अपितु आरण्यक, ब्रह्मसूत्र नाम से प्रसिद्ध इतर सिद्धिभाग में, एवं संहिताभाग में भी अन्वयनिष्ठा का निरूपण हुआ है । बुद्धि ही अन्वयग्रन्थसाक्षात्कार का उपाय है, इसीका नाम बुद्धियोग है । इस बुद्धियोग सम्पत्ति से ही वैदिक साहित्य वञ्चित नहीं है । तभी तो भगवान् मनु की—“सर्वे वेदात् मसि दधति” यह सूक्ति धरिताव होती है । “शास्त्रीय एवं लौकिक अमुक विषय वेद में नहीं है” यह कहना वेद की पूर्यता पर ध्वंसात् करना है । प्रकृत में हम कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत करेंगे जिन्होंने पाठक यह अपने आप निराकरण कर लेंगे कि वेद में अन्वयग्रन्थ का, एवं बुद्धियोग का निरूपण हुआ है, अथवा नहीं । पहिले क्रमप्राप्त संहिताभाग को ही सीखिए ।

१—वि यस्तस्तन्म पठिना रभास्य नस्य रूपे किमपि स्थिङ्कम् । (श्रुत० १।१६४) ।

२—स न ऊर्ध्वे-ध्वन्ययं-पवित्रं वाव चारया । (श्रुत० ६।१४) ।

३—पुनानो रूपे ध्वन्ययं विश्वा अर्पवभिभ्रियः । (श्रुत० ८।१६) ।

४—यस्मात्त भावः परो धन्यो अस्ति,

य आधिवेश सुषनानि विश्वा । (यजुः ८।३६) ।

५—धियो यो नः प्रचोदयात् । (यजुः ३०) ।

६—पुरुष एवेद सर्वम् । (यजुः ३०) ।

गीताशास्त्र से पहिले उक्त तीन ज्ञानात्मकों में से चतुर्था, एव अक्षय्यात्म का ही प्राधान्य था, अन्वयात्म सर्वथा निगूढ बना हुआ था। कर्मव्यवस्था के सम्बन्ध में सांख्य नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग, योग नाम से प्रसिद्ध कर्मयोग ही प्रचलित थे। भक्तियोग न्यायिक बना हुआ था। एक दस कहता था ज्ञान प्राप्त करो, जानो, करो मत। दूसरा दस कहता था कर्म करो, ज्ञान के लिए प्रयास व्यर्थ है। परन्तु गीताशास्त्रने—'एक सांख्य च योग च यः परयति स पश्यति' कहते हुए ज्ञानगर्भित कर्मयोग का स्वरूप सर्वप्रथम सत्कार के सामने रखता। यही योग बुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अर्थात् योग क साय साय भगवान् ने ज्ञानात्मकों में से अन्वयात्मा का स्वरूप भी हमारे सामने रखा। प्राचीनोंने कहा अक्षर पर ही विश्राम मान लिया है, वहाँ गीता अन्वय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। ओर ओर शास्त्रों की तरह गीता केवल सिद्धान्त बतलाकर ही चुप नहीं हो जाती। अपितु उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप भी गीता हमारे सामने रखती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इतर आत्मविद्याशास्त्र केवल सिद्धान्त बतलाते हुए वहाँ दर्शनशास्त्र हैं वहाँ गीताशास्त्र सिद्धान्तों के साथ साथ उनका व्यावहारिक स्वरूप बतलाने के कारण विज्ञानशास्त्र है। अन्वयात्मा विद्यामण्ड है। विद्याएँ चूकि वैराग्य ज्ञान, ऐश्वर्य धर्ममेद से चार हैं, अतएव तत्त्वसम्बन्ध से विद्याबुद्धि भी चार ही भागों में विभक्त हो जाती हैं इन चार बुद्धियोगनिष्ठत्वों से अन्वय का विद्यामण्ड प्रसन्न होता है, अतएव इह विद्याबुद्धि कह दिया गया है।

उक्त विचारण से प्रकृत में हमें यही कहना है कि अन्वयपुरुषसङ्घटा अक्षय्यात्मा, एव बुद्धियोगसङ्घटा योगभया इन दोनों के ही अव्योपपन्न होने से, एव इन्हीं के उपरदक्षप्रभाव से लोक में प्रचलित होने से इन अक्षय्य ही इसे भाग्यम् की गीता कह सकते हैं। मन्वाम् ही इसके प्रया हैं, भगवान् ही इसके बन्ध हैं। उपरदक्ष का अर्थ है उपक्रम। प्रभवात्मान्यस्य अने ही उपरदक्ष कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण का प्रथमात्म पाणिनि से हुआ है, अतएव व्याकरण शास्त्र पाणिन्युपपन्न कहा जाता है। श्रेण्य नामके परिवाद्य ( तोष ) श्रेण्य के प्रवर्तक महापञ्च नन्द थे। अतएव श्रेण्यपरिवाद्य शोक में नन्दोपपन्न कहा जाता है। अन्वय

मन्त्र, एवं बुद्धियोग का प्रथमार्थम् कृष्य से ही हुआ था, अतएव उक्त के इस पीठाशय को अथर्व ही कृष्योपज्ञ कहा जा सकता है ।

इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है । साय ही में वह विप्रतिपत्ति ऐसी है, जिस का निराकरण करना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । पूर्व में यह कहा गया है कि भारतवर्ष में जितने भी दत्तव्यप्रथ उपसम्भ होते हैं, उनमें किसी में भी अन्ययज्ञ का, एवं बुद्धियोग का विश्लेषण उपसम्भ नहीं होता । अथर्व ही दर्शनशास्त्रों के सम्बन्ध में उक्त इदं वाद का आधार किया जा सकता है । परन्तु वेद के अन्तिम मायकूप उपनिषद्शास्त्र के सम्बन्ध में यह अपूखता किसी भी दृष्टि से घटित नहीं होती । उपनिषदों में, न वेद उपनिषदों में ही, अपितु आरण्यक, ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध इतर श्रेणिभाग में, एक संहिताभाग में भी अन्वयनिष्ठा का निरूपण हुआ है । बुद्धिही अन्वयात्मसाधारण्य का उपाय है, इसीका नाम बुद्धियोग है । इस बुद्धियोग सम्पत्ति से भी वैदिक साहित्य बञ्चित नहीं है । तभी दो भगवान् मनु की—“सर्वे वेदात् प्रसिद्धपति” यह सूक्ति धरितार्थ होती है । “शास्त्रीय एवं श्रौतिक अमुक विषय वेद में नहीं है” यह कहना वेद की पूर्णता पर व्याघात करता है । प्रकृत में हम कुछ एक ऐसे बचन उद्धृत करने कि जिनसे पाठक यह अपने आप लिख्य कर लेंगे कि वेद में अन्ययज्ञ का, एवं बुद्धियोग का निरूपण हुआ है, अथवा नहीं । पहिले क्रमप्राप्त संहिताभाग को ही लीजिए ।

१—वि यस्तस्वम्म पठिना रश्रास्य जस्य रूपे किमपि स्थिश्कम् । (श्रुत० १।१६४) ।

२—स न कर्मे श्रव्ययं पवित्र वाय पारया । (श्रुत० ३।६।४।) ।

३—पुनानो रूपे श्रव्यय निम्वा अर्पणमिश्रियः । (श्रुत० ३।६।१) ।

४—मस्मान् भावः परो अन्यो अस्ति,

य आभिवेश मुचनानि निम्वा । (यजुः २३६) ।

५—पियो यो नः प्रचोदयात् । (यजुः ३०) ।

६—पुरुष एषेद सर्वम् (यजुः ३०) ।

पर-अज-अध्यय कश्च सः शब्द अन्वयः कश्च कश्च है, एतरी इव इति संज्ञिता ये दोनों का ही निरूपण हुआ है। कश्चि अथवा अथवा अथ ही, अथ सिद्धि कथनों से स्पष्ट हो जाता है।

- १-त्राक्षरा-१-अथ वा अज- (सूत० ६।४।१।१५) ।  
 २-पुरुषो हि मन्वापति- (सूत० ७।१।१।१५) ।  
 ३-यश्च ध्येति तदध्ययम् (गो० ब्रा० पू० १।२६) ।

- २-अथारण्यक-१-स एव पुरुषा समुद्रः (ऐ० ब्रा० २।३३) ।  
 २-उद्योऽहं सोऽसौ, सोऽसौ सोऽहम् । (ऐ० ब्रा० ४।१०) ।

- ३-उपनिषत्-१-अथाखो अमानाः शुभ्रो ब्रह्मराव परत पर ।  
 २-परास्य शक्तिर्विषयैश्च श्रूयते स्वामाविकी ज्ञानवन्निश ।  
 ३-द्विष्यो धर्मैर्ष पुरुषः स ब्रह्माभ्यन्तरो ब्रह्म ।  
 ४-परात्पर पुरुषमुपैति द्विष्यम् ।  
 ५-परोऽध्ययै तर्ष एकी भवन्ति ।  
 ६-पुरुषात् परं द्विष्यन् सः काष्ठा सा परा नक्ति ।  
 ७-विद्यानिधे इत्येते यस्तु सोऽन्यः ।  
 ८-तमेव विदित्वातिष्ठत्युपनि ।  
 ९-तस्तु तं निष्कर्म व्यापमानः ।  
 १०-तद्विज्ञानेन परिपरयन्ति धीराः ।  
 ११-यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।  
 सोऽध्वनः पारयान्ति नदिष्योः परं पदम् ॥



१२-तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

१२-अप्रमत्तेन वेदस्य शरवणन्ययो मयेत् ।

निर्दशनमात्र है । वैदिक साहित्य में विशेषतः आत्मोपनिषद्ग्रन्थों में पद पद पर पर-अर्थ-गुरुप-अभ्यव्यक्ति रूप से अभ्यव्यक्ति का, एक विज्ञानद्वारा बुद्धियोग का निरूपण उपलब्ध होता है । ऐसी दृष्टि में तत्प्राप्तिक गीताशास्त्र को किसी भी दृष्टि से कृष्णोपनिषद् नहीं माना जा सकता । मगवान् ने वेदसिद्ध विषय का ही अपने शब्दों में निरूपण किया है । गीता में जिस विषयों का निरूपण हुआ है, वे वेदशास्त्रसिद्ध हैं । इन्हें अपूर्ण नहीं माना जा सकता । "तस्माच्छास्त्र प्रमाणात्" इस उक्ति से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मगवान् ने कोई नई बात नहीं कही है, अपितु शास्त्रसिद्ध विषय का ही निरूपण किया है । ऐसी दृष्टि में "ये ये मतमिदं" इस का तात्पर्य भी यही लगाना पड़ेगा कि वेदसिद्ध अभ्यव्यक्ति, एक विज्ञानयोग ही मगवान् को विशेष प्रिय हैं, मगवान् इसी मत से सहमत हैं । उपर "गीता" शब्द उपलब्धता से ही सम्बन्ध रहता है । जब कि गीताविषय के प्रथमोद्देश्य मगवान् नहीं है, तो इसे कृष्णोपनिषद् नहीं माना जा सकता । बिना इस उपलब्धता के इस शास्त्र को "मगवगीता" (मगवान् से कही गई) नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता । बात वास्तव में यथाय है । अन्वय ही उपनिषदों में अभ्यव्यक्ति, एक बुद्धियोग का निरूपण हुआ है । यह भी निर्विवाद है कि गीताने उपनिषत्सिद्ध विषय का ही निरूपण किया है । फिर भी गीता की अपूर्णता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । उपनिषदों में अभ्यव्यक्ति का निरूपण भी हुआ है साथ ही बुद्धियोग का भी । परन्तु चार प्रकार के बुद्धियोगों द्वारा अभ्यव्यक्ति का उपाय बतसाना गीता की ही अपूर्णता है । इस दृष्टि से अन्वय ही इस शास्त्र को कृष्णोपनिषद् कहा जा सकता है ।

उपनिषत् ने जिस बुद्धियोग का निरूपण किया था, उस का अर्थ विशुद्ध ज्ञानयोग समझ गया । इस भ्रान्ति का निराकरण सब से पहिले मगवान् ने ही किया "बुद्धियोग ज्ञान-कर्म दोनों का समुच्चय है, एक यह वैराग्य ज्ञान-देश्य-धर्म मेद से चार प्रकार का है" इस विषय के

पर-अत्र-अप्यय क्व सः शब्द अन्वय के वाक्य हैं, एव ही शब्द बुद्धि का सूचक है ।  
 संज्ञित में दोनों का ही निरूपण हुआ है । यही समस्या का प्रश्न भाग की है, देखा कि निष्क-  
 सिद्धि कथनों से स्पष्ट हो जाता है ।

१-त्राहण-१- अत्र वा अत्रः (शत० ६। ४। ४। १५) ।

२-पुरुषो हि मजापति (शत० ७। ४। १। १५) ।

३-यद् व्येति तद्व्ययम् (गो० प्रा० पू० १। २६) ।

२-अरस्यक-१- स एष पुरुषः समुद्रः (ऐ० ब्रा० २। ३। १) ।

२-यसोऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम् । (ऐ० ब्रा० २। ३। १) ।

३-उपनिषत्-१- अमाणो अमनाः यन्त्रो ब्रह्मरात्र परतः पर ।

२-परास्य शक्तिर्विषयैर्न श्रूयते स्वामन्त्रिणी ज्ञानप्रसक्तिया च ।

३-दिव्यो समूर्त्तः पुरुषः स ब्रह्मात्मन्तरो ब्रह्मः ।

४-परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ।

५-परोऽव्ययै सर्व एकी भवति ।

६-पुरुषात् परं किञ्चिद् सा श्रुत्या सा परा ततिः ।

७-विद्यानिये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।

८-तमेव विदित्वा तिसृषुमपि ।

९-ततस्तु तं निष्कलं व्यापमानः ।

१०-तद्विज्ञानेन परिपरमिष्ठ धीराः ।

११-यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

सोऽन्यः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

१२-तद्यच्छेज्ज्ञानं आत्मनि ।

१२-अपमत्तेन वेदस्य शरवचनमयो मथेत् ।

— ० —

निर्दशनमात्र है । वैदिक साहित्य में विशेषतः आत्मोपनिषद्भाष्य में पद पद पर पर—अन—पुरुष—अव्यय्यदि रूप से अव्ययप्रत्यय का, एव विज्ञानद्वारा बुद्धियोग का निरूपण उपलब्ध होता है । ऐसी दशा में तत्पादिकगीताशास्त्र को किसी भी दृष्टि से श्रुत्युपलक्षण नहीं माना जा सकता । भगवान् ने वेदसिद्ध विषय का ही अपने शब्दों में निरूपण किया है । गीता में अिन विषयों का निरूपण हुआ है, वे वेदशास्त्रसिद्ध हैं । इन्हें अपूर्व नहीं माना जा सकता । “तस्याच्छास्त्रं मया खंते” इस उक्ति से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् ने कोई नई बात नहीं कही है, अस्तित्व शास्त्रसिद्ध विषय का ही निरूपण किया है । ऐसी दशा में “ये मे मतमिदं” इस का तात्पर्य भी यही लगाना पड़ेगा कि वेदसिद्ध अव्ययप्रत्यय, एव विज्ञानयोग ही भगवान् को विशेष प्रिय हैं, भगवान् इसी मन से सहमत हैं । उपर “गीता” शब्द उपलक्षण से ही सम्बन्ध रहता है । जब कि गीताविषय के प्रथमोद्देश्य भगवान् नहीं है, तो इसे श्रुत्युपलक्षण नहीं माना जा सकता । बिना इस उपलक्ष्यता के इस शास्त्र को “भगवद्गीता” (भगवान् से कही गई) नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता । बात वास्तव में यथार्थ है । अन्वय ही उपनिषदों में अव्ययप्रत्यय, एव बुद्धियोग का निरूपण हुआ है । यह भी निर्दिष्ट है कि गीताने उपनिषत्सिद्ध विषय का ही निरूपण किया है । फिर भी गीता की अपूर्वता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । उपनिषदों में अव्यय का निरूपण भी हुआ है साथ ही ये बुद्धियोग का भी । परन्तु चार प्रकार के बुद्धियोगों द्वारा अव्ययप्राप्ति का उपाय नतहाना गीता की ही अपूर्वतेन है । इस दृष्टि से अन्वय ही इस शास्त्र को श्रुत्युपलक्षण कहा जा सकता है ।

उपनिषत् ने जिस बुद्धियोग का निरूपण किया था उस का अर्थ विशुद्ध ज्ञानयोग सम्बन्ध गया । इस भावित का निराकरण सब से पहिले भगवान् ने ही किया “बुद्धियोग ज्ञान-कर्म दोनों का समुच्चय है, एव यह वैतण्य ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म मेद से चार प्रकार का है” इस विषय के

प्रमाणद्वय एकमात्र धीरुष्ण ही वनें । एव इही के उपदेश से बुद्धियोग का उक्त स्वरूप शोक में प्रचलित हुआ । यदि उपनिषदों में अर्घ्यप्रतिष्ठा, एव बुद्धियोग की सत्ता मान भी सी जाती है, तब भी इन के सम्बन्ध में इतना तो अचरम ही कहा जासकता है कि उक्त विषय सपथा निगूढ ही थ । वेदक उपनिषदों के आभार पर प्रयत्न सबसूत्रों से भी आप इन दोनों के वास्तविक स्वरूप पर नहीं पहुच सकत । इस का एकमात्र भ्रम गीताशास्त्र को ही है । एव इसी दृष्टि से हम इस शास्त्र को ह्यशोभ मानने के लिए तय्यार हैं ।

इसी एकमात्र अपृथता के कारण गीता को उपनिषत् कहा गया है, जैसा कि उपनिषद् अरहस्य में विन्धार से बतहाया जाने बाबा है । सत्यधर्म के परिज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है । बिना प्रमाण के प्रमाता प्रमिति का अधिकारी नहीं बन सकता, एव बिना प्रमिति के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती । प्रमाण द्वारा ही प्रमिति पर पहुचता हुआ प्रमाता प्रमेय गन प्राप्त करने में समर्थ बनता है । प्रमाण से ही अर्घ्यप्रतिष्ठा (निधय) होती है । साथ ही में यह भी निश्चित है कि जबतक प्रमेय पदार्थ का हमें सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तबतक उस प्रमय में हमारी प्रवृत्ति भी नहीं होती । यदि प्रमेय में प्रमाता की प्रवृत्ति ही नहीं है तो प्रमेयप्रतिकूलसिद्धि की क्या ही दूर है । इस प्रवृत्ति का मूल आभार प्रमाण है । सप्रमय प्रमाण का आभार पर प्रमिति होती है । प्रमिति से आग जाकर प्रमेय में प्रवृत्ति होती है, यही प्रमेयप्रवृत्ति सन्त में फल की जननी बनती है ।

गंधार में निरतन हा पदार्थ हय हैं, त्याग्य हैं अनिष्टकर हैं । एवं चिन्हों को पदार्थ उपाय हैं प्रायः दे इत्यनरु है । एत इय पदार्थ को ही प्रमेय कहा जात है । परन्तु इन में प्रवृत्ति तभी होती है, जब कि हमें यह मासूम हो जाय कि यह प्रमय वास्तव में हमारे लिए इय है । इस इय ज्ञान की सिद्धि प्रमिति (सम्बन्धज्ञान) पर निरत है । फलतः सापेक्षान का सम्बन्ध में प्रमाण की आवश्यकता सयोग्यता सिद्ध हा जाती है ।

विषयों के कटे में उग्रनिट जात है" सुनने ही प्ररन होता है, इस में क्या प्रमाण ? उहा प्रमय सगन्धीय वेय प्रमाणकर से हमारे सामन उगतिपन होगा है । हम जाना हैं कि

बैध के उक्त प्रयोग से कई व्यक्तियों का ऊपर मिटा है । फलतः औपधिबिज्ञान में व्याप्त वैध का चयन ही हमारे लिए उक्त विज्ञान में प्रमाण बन जाता है । यही प्रमाणवाद की सार्थकता है । सही प्रमाण रहस्य को छाप में रख कर प्रमाणवादी कहते हैं—

“प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याश्चैव प्रमाणम्”

(मी०बू० १११) ।

“प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः । नार्थप्रतिपत्तिमन्तरणं प्रवृत्तिसामर्थ्यम् । प्रमाणेन स्वस्वयं ज्ञायाऽर्धमुपलभ्य तमर्थममीप्सति, जिहासति च । वस्येप्सा जिहासा-अयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्य पुनरस्याः फलेनार्थसम्बन्धः । समीहमानस्तमर्थमभीप्सत्, जिहासत् च तमयमानोपैति, जहासति वा । अर्थस्तु मुख्यं मुख्यहेतुश्च । बुद्धिः, दुःखहेतुश्च । सोऽयं प्रमाणाद्योऽपरिमल्येयः-वाणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात् । + + + + । अर्थवति च प्रमाणे प्रभावा, प्रमेये, प्रमितिरित्यर्थेयन्ति यथार्थम् । कस्मात् ? अन्यतयापायेऽर्धस्यानुपपत्तेः । तत्र यस्येप्सा जिहासा अयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाणा । स येनार्थं मिषोति तत् प्रमाणम् । योऽर्थः प्रमेयते तत् प्रमेयम् । पदार्थविज्ञान सा प्रमितिः । अतश्चैव विधास्वधत्तश्च परिसमाप्येव” (वात्स्यायनभाष्य) इति ।

प्रमेयविधि का मूलभूत यह प्रमाण तत्पद्य, अनुमान, शीघ्र भेद से तीन भागों में विभक्त है । दृष्टि, श्रुति, स्मृति, निबन्ध इन चारों प्रमाणों का उक्त तीनों प्रमाणों में ही अन्तर्भाव है । दृष्टि तत्पद्यप्रमाण है । श्रुति-स्मृति शास्त्रप्रमाण है, एवं निबन्ध अनुमानप्रमाण है । तीनों में प्रत्यक्षप्रमाण ही मूल्य प्रमाण है । क्योंकि इतर प्रमाणों की प्रामाणिकता प्रत्यक्षप्रमाण पर ही अवलम्बित है । यदि किसी व्यक्ति से यह प्रश्न किया जाता है कि क्या तुमने समुद्रदेशरक्त को जल मानते

दिया था। तो उत्तर में यह कहता है किर्मने स्वयं तो नहीं देखा, परन्तु रामबाबू से सुना था। रामबाबू से पूछने पर 'यद्दत्त से सुना था' यह उत्तर मिस्रण है। इस प्रसन्नता की यह जिज्ञासा तब तक शान्त नहीं होती, जब तक कि दृष्टांत पर इस का आभास नहीं पड़ता जाता। उसने उससे, उसने उससे इस धाराबद्धिक क्रम के अन्त में जब इसे 'अमुक ने देखा था' यह पता लगा जाता है तो उसी समय इस की जिज्ञासा शान्त हो जाती है। इसी आधार पर इतर प्रश्नों की अपेक्षा अधिकतर इस प्रायश्च प्रश्नों को हम मुख्य मानने के लिए तैयार हैं। इस प्रश्न की प्राक्कथिता बहुभाष पर निर्भर है, एवं बहु की प्राक्कथिता सत्यभाष पर निर्भर है। प्रकृति में पूर्वकथा सत्य के अस्तार है। इसी सौतेल्य से अनुचित्य का निर्माण हुआ है। अतएव बहु को अपरप ही अन्य कहा जा सकता है। इसी बहुभाष का विस्तारण करती हुई श्रुति कहती है—

' असत्यं च बहुः । सत्यं हि च बहुः । तस्मान्न-यद्विज्ञानी द्वौ विषदमानावेयात् ।  
 अहमत्रगममप्रोपमिति । य एव यथाहमदशमिति तस्मा एव अद्दृश्यात्"'  
 (गत्व०भा०) + + + एतद् मनुष्येषु सत्यं निर्दिष्टं, यच्चतुः । तस्मादापत्वात्तमाहुः  
 यत्त्वमिति । यत्तु चै स्वयं परमति, न यदानीं चान्येषां अद्दृश्यात् । तस्मादि  
 चत्तस्यभीमिव चार्थं चत्तैः । सद्योत्तरा ईमास्य सागुदिता मवति ' (ए प्रारस्य.)

मुक्त का वह कारण मन्वादिपत्र का ही कारण ही एक शिष्टोप बहस रहता है। इन निदानों का अनु-  
 गमन करने से श्री मन्वादिपत्र का कारण नहीं पच्छ। मुक्त का कारण बहस रहता है कि एक  
 विद्वान् की उपहास का अन्तर्गत की मुक्त को क प्रथम पर प्राप्त हुए वह बड़े अर्थ का कारण है ।  
 इन कारणों के अन्तर्गत का प्रत्यक्ष का प्राक्कथिता सत्यभाष पर ही है। कल्प बर्णों का अन्तर्गत का  
 कारण। अन्तर्गतों के प्राक्कथिता पर विरक्तन का मन के इस कृम का कृम मान रहा है। वह वह मन्-  
 वादिपत्र का वह मुक्त मन्वादिपत्रों का अन्तर्गत का कारण का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का  
 कारण का कारण का वह अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का  
 कारण का कारण का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का  
 कारण का कारण का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का अन्तर्गत का

‘आप के सामने दो व्यक्ति खड़े हैं। एक द्रष्टा है, एक श्रोता है। एक कहता है, मैंने अपनी आंख से ऐसा देखा है, दूसरा कहता है, अभी मैंने सुना है। इस प्रकार परस्पर में विविदमान इन दोनों व्यक्तियों में से जो व्यक्ति—मैंने देखा है, यह कहता है, उसी पर हम विश्वास करेंगे। अगर वह बहुत सत्य है, बहुत अचरम ही सत्य है। + + + + +। मनुष्यों में यह साक्षात् सत्य है, जो कि बहुत है। इसी लिए जो यह कहता है कि मैंने देखा है, उसी पर भ्रष्टा की जाती है। जो सत्य देखकर कहता है, उस एक ही का कथन उस सम्बन्ध में प्रमाण है। इसके सामने बहुत से, एक दूसरों के कथन का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विश्वदृष्टि (आंखों देखी) बात ही बोले। ऐसा करने से उस की वाग्विद्वय उत्तरोत्तर सत्यमय से युक्त होती जायगी”।

पूर्व में हमने श्रुति को शास्त्रप्रमाण कहा था। परन्तु इस प्रत्यक्षदृष्टि के सम्बन्ध में ज्ञान हम इसे प्रत्यक्ष प्रमाण ही कहेंगे। अगर वह इस का यही है कि जैसे, एक जो प्रामाणिकता प्रत्यक्षतात्मिका दृष्टि को है, वही प्रामाणिकता दृष्टिमूलक वाक्य में भी विद्यमान है। वस्तुतस्तु दृष्टि प्रमाण नहीं है, दृष्टिमूलक वाक्य ही प्रत्यक्षप्रमाण है। ‘मैंने देखा है’ यह द्रष्टा का वाक्य है। यह वाक्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जा सकता है। द्रष्टा का वाक्य श्रोता के वाक्य की अपेक्षा अधिक प्रमाण है, एवं द्रष्टा के वाक्य की अपेक्षा न्यून देखना अनुभवयुक्त दृढ़तम प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य शब्दप्रमाण की अपेक्षा न रखने वाला शब्द ही संहितभाषा के अनुसार—“श्रुति” कहा जाता है। ऐसा निरपेक्ष शब्द केवल द्रष्टा का ही शब्द हो सकता है। अगर वह सत्य है। जब तक सुनने वाले हमें कुछ सुनाते रहते हैं, तब तक “किससे सुना” इस वाक्य की अपेक्षा बनी रहता है। परन्तु जहाँ एक द्रष्टा—‘मैंने सुना नहीं देखा है’ यह बोध पड़ता है, तत्पश्चात् उक्त विज्ञाना शान्त हो जाती है। फिर अन्यवाक्य की अपेक्षा नहीं रहती। इसी रहस्य को रूप में रखकर मीमांसाशास्त्रने श्रुति (वेद) के—“द्रष्टुर्वाच्य श्रुतिः”—‘निरपेक्षो रच श्रुतिः’ यह वाक्य रचि है।

प्रत्यक्ष द्रष्टा का जो वाक्य हमारे लिए भूत होने से श्रुति है, वही उस द्रष्टा के लिए

दृष्टि है। प्रथा अपनी दृष्टि का जिस वाक्य से अभिनय करता है, वह अभिनीयमान वाक्य वहाँ उसके लिए दृष्टि है, वहाँ यही दृष्टि हम सुनने वालों के लिए सुप्ति है। हम अपनी अपेक्षा से जिसे सुप्ति कहते हैं, वस्तुतः प्रथा की अपेक्षा से वह दृष्टि है। फलतः अन्ततोगत्या दृष्टि-श्रुति अभिन्न पदार्थ बन जाते हैं। दृष्टि प्रत्यक्ष है। फलतः श्रुति भी प्रत्यक्ष है। प्रकृत्यान्तर से पौ समग्र कि संप्रत्यय का नाम दृष्टि है। प्रत्यक्षता प्रथा अपने प्रत्यय का जिन शब्दों से अभिनय करता है, वह शब्द भी इसकी दृष्टि ही है। हमारे लिए वाक्यरूपा यह दृष्टि परप्रत्यय है। हम इसे सुन कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतएव प्रथा की दृष्टिरूप इस वाक्य को हम अपनी अपेक्षा से श्रुति ही कहेंगे। देखने वाला अपने, यह कार्य को कहता है। एव सुनने वाला उसे सुनता है। श्रोत्य के सुनने के कारण ही यह द्रष्टृवाक्य श्रुति कहलाया है। जिस प्रकार प्रथा की दृष्टि सत् प्रमाद्य है, एवमेव दृष्टिप्रतिपादक प्रथा का वाक्य भी सत् प्रमाद्य ही है। अपनी आँसों देखी वस्तु के लिए जैसे अभ्य प्रमाद्य की आकरपक्या नहीं रहती, एवमेव आँसों देखने वाल के वाक्य पर भी अभिवास नहीं किया जासकता। मन्त्रशास्त्ररूप वाक्य प्रथमहर्षियों के वाक्य हैं। अस्-दारि असाक्षात्कृतधर्मा सामान्य मनुष्यों के हित के लिए असाक्षात्कृतधर्मा महर्षियों में अपनी विम्वदृष्टि से अतीन्द्रियत्वों का साक्षात् कर जिन मन्त्रवाक्यों को हमारे सामने रक्खा है, यही हमारे लिए सत्-प्रमाद्य श्रुति है।

मन्त्रशास्त्रात्मक वेद साक्षात्कृतधर्मा प्रथमहर्षियों की दृष्टि का अभिनय करने वाले हैं। अतएव "द्रष्टृर्वाचय श्रुतिः" इस उक्त सद्यस के अनुसार हम आकरप ही उक्त वेदरुशि को सत्-प्रमाद्यश्रुतिरूप कहने के लिए तत्पार हैं। वेद का आकर आकर हमारे लिए साक्षात् प्रत्यक्षप्रमाद्य है। उस के रहस्य को न जानने पर भी उस के आर्यों को हम अग्रमाद्य नहीं मान सकते। प्रत्यक्ष प्रमाद्य का यही मन्त्रित निर्देश है।



अब अनुमानप्रमाण का विचार कीजिए । “श्रौतुनानय स्मृतिः” इस वाक्य के अन्त-सार श्रोता का वाक्य संग्रह ही स्मृति कहलाता है । अनुभवश्रुति संस्कार को ही “स्मृति” कहा जाता है । अनुभव-अनुभवश्रुति संस्कार वासना कहलाता है । यह असनासंस्कारपुत्र ही आगे जाकर स्मृति का जनक बनता है, अतएव ताच्छ्रयव्याय से वासनासंस्कार को भी स्मृति कहा दिया जाता है । श्रोता जो कुछ सुनता है, उस श्रुत विषय का उस के प्रधानमन पर संस्कार हो जाता है । आगे जाकर श्रोता जब कभी कुछ बोलता है तो अपने संस्कारों को ही अभिव्यक्ति बनाता है । संस्कारात्मक संचित विषय का स्मरण कर के ही वह उपदेश देने में समर्थ होता है । इसी स्मृति किंवा स्मरणभाष के कारण श्रोता का वाक्य संग्रह “स्मृति” कहलाता है । देखने वाला का वाक्य जहाँ श्रुति है, वहाँ सुनने वाले का वद्विषयक वाक्य हमारे लिए स्मृति है । श्रुति स्वतःप्रमाण है तो स्मृति परत-प्रमाण है ।

प्रश्न का अभिप्राय हम श्रोताओं के लिए श्रुति है । श्रोता का अभिप्राय हम श्रोताओं के लिए स्मृति है । प्रश्न अपने वाक्य में जैसे ‘तत्रमन्त्रान्’ बनाता हुआ भासता है जैसे श्रोता अपने वाक्य में न तत्रमन्त्रान् है, न अतः है । वह भास द्वारा श्रुत अर्थ का स्मरण मानता है । दूसरे शब्दों में वह उस का प्रकृतक नहीं है, अपितु प्रकृतक भास के वाक्य का अभिप्राय है । इसीलिए इस अभिप्राय की बात तभी प्रामाणिक जानी जा सकती है जब कि वह मूलशक्ति के अनुकूल हो । पर्याय श्रोता की बात पर पूरा विश्वास तभी होता है जब कि वह अपने श्रुत अर्थ को वास्तविकता से युक्त बतला देता है । श्रोता जो कुछ कहता है, वह उस पर अपनी श्रुति नहीं है । अतएव वह परमार्थ ही का अभिप्राय करता है । अतएव इस पर यह वाक्य स्वतःप्रमाण के लिए वाक्यान्ताप्रमाण (श्रुतिप्रमाण) की अपेक्षा श्रुति परत-प्रमाण ही माना जायगा । श्रुति का प्रत्यक्षतात्मिका दृष्टि से सम्बन्ध है, स्मृति का श्रुति से सम्बन्ध है । अतएव हम इसे अनुमानप्रमाण कह सकते हैं । कारण में दृष्टि प्रमाण अनुमान विचार यह चार प्रमाण पतवारें हैं । इन में दृष्टि तो श्रुति का ही प्रमाण है । वं स्वयं स्मरण, पर्याय कर के ही उस विषय की संपत्ता पर पहुँचते हैं । श्रुति प्राप्यप्रमाण है, एवं स्मृति अनुमानप्रमाण है ।

येप राहा है, निरुप । निरुपसिन्धु, पमसिन्धु, आन्ध्रनिरुप, आन्ध्रनिरुप, स्वार्षसंभ्र, स्वार्षकल्प, शुद्धिमयूल् अदि मन्थ ही निरुप नाम से प्रसिद्ध हैं । अतः स्मार्त बचनों में हमारी अप्पइता क कारण जो होने विरोध प्रतीत होता है, उसे तक-न्याय दाय दूर कर जो एक निरुपि म्पकण हमारे सामने रखी जाती है, वह म्पकणपास्तप्रथा ही निरुप है । हमारे सम्पूर्ण कर्मकलाप इन निरुपमन्थों पर ही अवलम्बित हैं । सम्प्रदान की सिद्धि के लिए इन चारों प्रमायों के अतिरिक्त अन्य प्रमाय का सर्वथा अभाव ही सम्प्रदान चाहिए । जो नियम उक्त चारों प्रमायों से अक्षिप्त है, वह आवसन्तान की दृष्टि में सर्वथा उचित प्रमाण है, अतएव सर्वथा त्याग्य है । अतएव ही उक्त चारों को सख्यान में प्रमाय मानता हो, वह अत नही है । अर्थात् उत्तर का सारा सम्प सम्बन्ध सखनिस्य में ही प्रमायों का स्थित है । वह ही प्रसङ्गदृष्टि को सर्वश्रेष्ठ प्रमाय मानता है । सुनने वाले के वाक्य की अपेक्षा देखने वाले के वाक्य को विरोधरूप से प्राथमिक मानता है । सुनने वाले के वाक्य पर वह तभी निश्चास करता है, जब कि उस का वाक्य देखने वाले के वाक्य के अनुकूल होता है । यदि दोनों में परस्पर कीट विरोध प्रतीत होता है तो तर्क-न्याय की कसेरी से एक अतन्त्र किन्तु अनुकूल निरुप निकालता है । इस प्रकार प्रमायों में हम एक ही वेक नामों में अन्तर है । अतएव के महर्षियों ने विज्ञानदृष्टि से इनके दृष्टि-श्रुति आदि नाम रखे हैं, इतर वेदों में इस मूलदृष्टि का अभाव है ।

वेद दाय का वाक्य होने से श्रुति है, स्थिति श्रेय का वाक्य होने से स्थिति है । श्रुति-स्थिति नामों का यही गुण रहस्य है । उभर मनबले पश्चिमो सिद्धन् इस रहस्य को व वाचन के कारण श्रुति शब्द के सम्बन्ध में अपने यह उद्धार प्रकट करते हैं कि, वेदकाय में स्थिति का अभाव था । अर्थात्सोम कण्ठ काके ही, सुम सुमा का ही वेद की रक्षा करते थे, अतएव उम का यह सम्प्रदायमन्थ (वेद), श्रुति नाम से सम्बोधित हुआ । परन्तु उक्त रहस्यार्थ से सिद्ध पाठकों को विरहित होग्या होय कि इस सम्बन्ध में पश्चिमी सिद्धान्तों ने अत्यन्त मयद्दर मूल की है । महर्षियों ने किसी गुण रहस्य को श्रुति करने के लिए वेद को तिस श्रुति शब्द से सम्बोधित किया, उस

के सम्बन्ध में वेदसंस्काररहस्यमभिष्ट पश्चिमी विद्वानों ने ठक कड़ना की। आशय है इन की सिद्धान्त युक्ति पर, एष महा आशय है इन की हां में हां सिद्धान्त वासे उन्निष्ठ मोणी पयन्त्र मा रतीयो की सद्दुष्टि पर।

उक्त प्रमाशचतुष्टयी के आधार पर हमें अब यह विचार कहना है कि गीताराश चत प्रमाश है, अथवा परतःप्रमाश। यद्यपि गीता प्राचीनों की दृष्टि में सृष्टिराश ही माना गया है, और यह मन्तव्य किन्ती दृष्टि से ठीक भी है। फिर भी अपने चतुर्विध सुद्विभोग क सम्बन्ध में हम गीता को द्युतिमर्षादा से भी एकान्ततः बाहर नहीं निकाल सकते। गीता-विषय के कृष्ण अर्पण द्रव्य हैं, परं द्रव्य का वाक्य ही पूर्वोक्त ऋष्यानुसार द्युति है। फलतः द्युतिस्थानीय गीताराश का सतःप्रमाशत्व सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि जहां सामान्य दृष्टि से गीता सृष्टि कह जाती है, वहां इसे उपनिषत् नाम से भी सम्बोधित किया गया है। प्राचीनों के मतानुसार उपनिषत् शब्द एकमात्र वेद के अन्तिम भाग का वाचक है। गीता को उपनिषत् कहना ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाश है कि इस के प्रथम प्रकृत्य श्रीहृष्य ही हैं। जब गीताराश अकृष्णोपशब्द है तो अथर्व ही इसे मगवर्जिता कहा जासकता है।

अग्निविशेष की विक्रिस्ता स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। यही दशा गीता शब्द के सम्बन्ध में हैं। यद्यपि विक्रिस्तासि का उक्त कथन से महीमति निराकरण हो जाता है, फिर भी वेदामिनिसिद्ध विद्वान् इस निराकरण को मानने के लिए तथ्यार नहीं हैं। उन का तो यही दृष्टांत है कि गीता में मगवन्ते विष्ट अथर्वप्रज्ञा, एष सुद्विभोग का निरूपण किया है, यह पक्षि से ही उपनिषदों में विद्यमान है। मगवन्ते अर्पण कुल नहीं कहा है, अथिद वेदसिद्ध विषय का ही उपनिषद्वय किया है। जब गीताराश श्रीहृष्योपशब्द नहीं है तो इसे मगवर्जिता नाम से सम्बोधित करना भी उचित नहीं। इस प्रकार गीता नाम के सम्बन्ध में उक्त विक्रिस्तासि क मते "पुनस्तर्षैवानमम्बितो वेदाना" यह सूक्ति मद्र जाती है।

वेदमत्तो का कहना है कि गीता की तरह उपनिषदों में भी अथर्वप्रज्ञा, एष सुद्विभोग का निरूपण हुआ है। अथर्वज्ञ काय है, अथर्वप्रज्ञ कारण है। अथर्वप्रज्ञ न कार्य है, एष न

कायदे। इसी आधार पर—“न करोति न सिष्यते” ( गीता ११।३१। ) यह कहा जाता है। “न तस्य क्वाय करणं च विद्यत” यह उपनिषद्भ्रुति भी राख शब्दों में क्वाय-करणशब्द इसी अर्थ का रहस्य बतला रही है। भूः, भुव, स्वः, महः जनः, तपः एव ९ लोक राज हैं। ९ शक्तियों की मूलप्रतिष्ठा सत्त्वात्मक अर्थ है। इसी के आधार पर ९ शक्तियों की प्रतिष्ठित हैं। यही सत्त्वात्मा अर्थ्यपुरुष है जैसा कि—“यो लोकत्रयमाचिरय विमलस्य इतर” ( गी० १५।७। ) इत्यादि से स्पष्ट है। उधर—“अज्ञस्य रूप किमपि स्थितकम्” ( अर्क-संहिता ) इत्यादि मन्त्रश्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। “अज्ञोऽपि सद्यस्ययात्मा” ( गीता ४।९। ) के अनुसार अज्ञ शब्द अर्थ्य का ही वाचक है। इसी प्रकार अर्थ्य पदार्थ अज्ञ है, अर्थ्य पदार्थ अज्ञ है। अर्थ्य अर्थ्य एव अर्थ्य दोनों से पर है। दूसरे शब्दों में अज्ञ अज्ञ है। अज्ञ से पर, अर्थ्य अर्थ्य से अज्ञ, अज्ञ एव अज्ञ नाम से प्रतिष्ठित अर्थ्य अर्थ्य में है। अज्ञ से पर, अर्थ्य एव पर नाम से प्रतिष्ठित अर्थ्य अर्थ्य में प्रतिष्ठित है। “परस्तस्मात्तु माहोऽन्या” ( गीता ० = २०। )- ‘उद्यमः पुरुषात्तन्या” ( गी १५।७ ) ‘यस्मात् अरमतीतोऽहमद्वारात्वि चोद्यम” ( गी० १५।७ )- ‘अर्थ्योऽद्वारविद्या” इत्यादि पद्यन उद्यम का ही लक्ष्य कर रहे हैं। उधर— ‘अद्वारात् परतः परः” ( मुण्डक २।१।२। )- ‘परेऽन्ये सर्वे एषी भवन्ति” इत्यादि उपनिषद्पद्यन भी इसी सिद्धांत का निश्चेष्टण कर रहे हैं। गीता अर्थ्य के सम्बन्ध में जो कुछ कर रही है वह सब उपनिषदों में पढ़ि ले ले ही विद्यमान है।

यही अर्थ्य बुद्धियोग की है। अर्थ्य के साथ बुद्धि का योग करना ही बुद्धियोग है। दूसरे शब्दों में बुद्धि शास्त्र अर्थ्य के दृष्टन कर लना ही बुद्धियोग है। इस से सर्वत्रिभूत ननय निरूप हो जान है। शान एवं कर्म का समुचितरूप ही बुद्धियोग है। एतदेतिरु कर्म-रक्षण एता समुत्पन्नान पर अर्थ्यवित्त है।

तपस पीरो विज्ञाय महा कुर्वीत प्राणवा ।

तपस विद्विनामिभूः गुपति नान्यः फन्या विपेतऽवनाप ।

य एव वदु तरति शाक्यामविन, या ईवं विद्वान् ।

इत्यदि शब्द बुद्धियोग के ही सूचक हैं। वेद भी गीताशास्त्र की तरह केवल ज्ञान, एक केवल कर्मवाद का विरोधी है। प्रत्येक कर्म के उपसंहार में “एष ब्रिह” (ऐसा जानने वाला) इस ज्ञानसूचक वाक्य का सन्निवेश रहता है। यही नहीं, जिस गीता ने “एकं सास्य च योग च यः परयति स परयति” (गीता० ३।११) “न कम्मस्मान्नारम्भात्तैष्कर्म्यं पुरुषोऽनुते” (गीता० ५।११) इत्यादिरूप से सास्य-(ज्ञान)-योग-(कर्म)-सङ्घट्ट जिस बुद्धियोग को अस्तमोप कारक मतजाया है, सत्य उपनिषद् ने भी स्पष्ट शब्दों में इसी उभयसङ्घट्ट बुद्धियोग का समर्पण किया है, जैसा कि निम्न लिखित उपनिषद्श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है—

तृष्णा-सज्जा-मयं-दुःखं निपदो हर्ष एव च ॥

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥१॥

तस्माद्दोषविनाशायमुपायं कथयामि ते ॥

ज्ञानं कश्चिद्दन्त्यत्र फेवल तत्र सिद्धय ॥२॥

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥

तस्मात् ज्ञानं च योग च मुमुक्षुहृदमन्मसेत्

(योगशिखोपनिषद्)

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मशब्दों में अभ्युपगमनिषा, एक बुद्धियोगनिष्ठा के विषय मान रहते हुए कथमपि तत्प्रादिक गीताशास्त्र को धीकृप्योपब नहीं माना जासकता।

सबमुच विश्वों का उक्त वेदाभिविदेश मौलिकता से सम्बन्ध रहता है। हम भी वेद मूल के होते इस मौलिकता का पूर्ण समर्पण करते हैं। वास्तव में गौतम के विषयों का उपनिषदों में प्रथमतः निरूपण हुआ है। ऐसी दशा में गीताशब्दस्वरूप की रक्षा के लिए हमें अवरुध ही किसी अन्य उपाय का आशय लेना पड़ेगा। वह उपाय है भौती उपनिषद् एक स्मार्थी उपनिषद् का पूर्णस्फरण। आत्मनिषा को उपनिषद् कहा जाता है। इस उपनिषद्रूपा आत्मनिषा का प्रतिपादक शास्त्र भी उपनिषद् शब्द से ही प्रचलित हुआ है। यह उपनिषद् भौती, स्मार्थी वेद

फारखे । इसी आधार पर—“न करोति न सिध्यते” ( गीता १३।३१ ) यह कहा जाता है । “न तस्य क्वाप करणं च विद्यते” यह उपनिषद्भूमि भी शत्रु शब्दों में कथ-क-रखाने की इसी अभ्यय का रहस्य स्तथा रही है । भू, भुव, स्वः, महः जनः, तपः एवं लोक राज हैं । ६ ओं की मूलप्रतिष्ठा सस्वामरूप अभ्यय है । इसी के आधार पर ६ ओं का प्रतिष्ठित है । यही सत्त्वाभा अभ्ययपुरुष है जैसा कि—“यो सोऽभ्ययमाविरय विमलस्य ऽवरः” ( गी० १५।७ ) इत्यादि से स्पष्ट है । उपर—“अजस्य रूप किपपि सिद्धरूप” ( ब्रह्म-संहिता ) इत्यादि मन्त्रभूमि भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है । “अज्ञोऽपि स भव्ययात्मा” ( गीता ६ ६।— ) का अनुसार अज्ञ शब्द अभ्यय का ही भावक है । इसी प्रकार अज्ञ पदाप्य अज्ञ अभ्यय है । अभ्यय अज्ञ एव अभ्यय दोनों से परे है । शत्रु शब्दों में अज्ञ अज्ञ है । अज्ञ से पर, अज्ञ अभ्यय से अज्ञ, अज्ञ पर अज्ञ नाम से प्रसिद्ध अज्ञ अभ्यय है । अज्ञ से पर, अज्ञ पर नाम से प्रसिद्ध अभ्यय उच्यते अज्ञ में प्रतिष्ठित है । “परस्मात् भाराऽभ्यय” ( गीता ० २०। )—‘उच्यतेः पुरुषात्परम्’ ( गी० १५।७ ) ‘परस्मात् अज्ञानीतोऽभ्ययरादिव बोधमा’ ( गी० १५।८ )—‘अभ्ययोऽज्ञानात्साऽज्ञानात्’ इत्यादि अज्ञ अभ्यय का ही स्वीकार कर रहे हैं । उपर—‘अज्ञानं परत परम्’ ( मुण्डक ० २।२। )—‘परऽभ्यय स एव भवन्ति इत्यादि उपनिषद्भूमि भी इसी सिद्धांत का सिद्धांत कर रहे हैं । अज्ञ अभ्यय का अभ्यय में जो उच्यते कर रही है, वह सब उपनिषदों में प्रतिष्ठित है ।

यही अभ्यय मुद्रियोग की है । अभ्यय के साथ मुद्रि का योग करना ही मुद्रियोग है । शत्रु शब्दों में मुद्रि का अभ्यय के दखन कर तथा ही मुद्रियोग है । एत से अभ्यय अज्ञ निष्पन्न हो रहा है । अज्ञ एवं अभ्यय का समुच्चय ही मुद्रियोग है । एत शक्ति का अभ्यय का समुच्चय पर अज्ञ अभ्यय है ।

अज्ञ परीक्षा विज्ञान मन्त्रां कृत्वा अभ्ययः ।

अज्ञ विज्ञानानिष्टं गुणनि नान्यः पन्था विद्यतेऽपनाप ।

य एव अज्ञ, अज्ञानि गात्मात्परिज्ञ, या ईरे विज्ञान् ।

इत्यदि शब्द बुद्धियोग के ही सूचक हैं। वे भी गीताशास्त्र की तरह केवल ज्ञान, प  
केवल कर्मवाद का विरोधी है। प्रत्येक कर्म के उपसंहार में "पूर्व विद्" (ऐसा जानने वाला  
इस ज्ञानसूचक शब्द का सम्बन्ध रहता है। यही नहीं, जिस गीता ने "एकं सांख्यं च यो  
च य परयति स परयति" (गीता० २।४१) "न कर्मणाप्यनारम्भाभैर्कर्म्यं पुरुषोऽयनुते  
(गीता० ५।२१) इत्यादिरूप से सांख्य (ज्ञान)-योग (कर्म-अक्षय जिस बुद्धियोग को आत्मो  
कारक बतलाया है, सब उपनिषद् ने भी स्पष्ट शब्दों में इसी उमयशब्द बुद्धियोग का समर्थ  
किया है, जैसा कि निम्न लिखित उपनिषद्दर्शनों से स्पष्ट हो जाता है—

तृप्या-सज्जा-मय-दुःस्व-विपदो हर्ष एव च ॥

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स नीचः शिव उच्यते ॥१॥

तस्माद्दोषविनाशायमुपायं कथयामि ते ॥

ज्ञानं कश्चिद्वन्द्यं केवलं तत्र सिद्धये ॥२॥

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न तत्रो मोक्षकर्मणि ॥

तस्मान् ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्

(योगसिद्धोपनिषद्)

इस प्रकार उपनिषदों में विस्तृत शब्दों में अम्ययत्रसिद्धि, एव बुद्धियोगविद्या के विषय  
नाम रहते हुए कथनवि तद्व्यक्ति गीताशास्त्र को भीकृष्णोपनिषद् नहीं माना जा सकता।

सम्मुख विद्याओं का उक्त वैशमिनिवेश मौलिकता से सम्बन्ध रहता है। हम भी वेद  
शक्त के नाते इस मौलिकता का पूर्ण समर्पण करते हैं। वास्तव में गीताशास्त्र विषयों का उपनिषदों में  
प्रवृत्त निरूपण हुआ है। ऐसी दशा में गीताशास्त्रव्यवहार की रक्षा के लिए हम अत्यन्त ही  
किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वह उपाय है श्रौती उपनिषद्, एव स्मार्त्ती उपनिषद्  
का पृथक्करण। आत्मविद्या को उपनिषद् कहा जाता है। इस उपनिषद्रूपी आत्मविद्या का  
प्रतिपादक शास्त्र भी उपनिषद् शब्द से ही स्पष्ट हुआ है। यह उपनिषद् श्रौती, स्मार्त्ती वेद

से दो भागों में विभक्त माननी पड़ती है। वेद को अन्तिमभागकरा ईश-केन-कटादि शाखावेद से अनेकधा विभक्ता उपनिषत् श्रौती उपनिषत् है। गीता यद्यपि स्मृति है, परन्तु जिस गीतापाप ने अपने कर्मा से अपने आप को एक असौकिक अमानव पुरुष सिद्ध किया है उस के द्वारा कही गई गीता उपनिषत् से कम महत्त्व नहीं रखती। अतस्य ही गीताविरय के मगधान् प्रत्यक्षद्रष्टा ये। इसी आदरभाव के कारण आषाढमिषाप्रतिगादिका गीतोपनिषत् स्मार्त्वी उपनिषत् कहने योग्य है। इस प्रकार हमारे सामने दो प्रकार की उपनिषदें उपस्थित हो जाती हैं। इन दोनों के पृथक् करण के लिए ही इसे मगधोपनिषत् नाम से व्यवहृत करना आवश्यक समझ गया। श्रौती उपनिषदें सबका नियत संख्या से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसी दशा में यदि गीता का केवल 'उपनिषत्' यही नाम रख दिया जाता तो भ्रम होने की सम्भवना थी। दुस्तुक्त आत्मविषा का प्रतिपादन करने के कारण यह उपनिषत् नाम से बहित नहीं की जासकता। साक्षात् श्रुति न होने से इसे केवल उपनिषत् शब्द से भी व्यवहृत नहीं किया जासकता। वस्तुस्तु श्रौती उपनिषदों में भी पारस्परिक भेद प्रदर्शन के लिए प्रत्येक उपनिषत् के साथ ईश-केन कठ इत्यादि शब्दों को व्यवहार में आया गया है। इसी भेदव्यवहार की सूचना के लिए श्रुत्यर्थात्सारिणी इस स्मार्त्वी उपनिषत् के साथ भी मगध-गीता इन दोनों शब्दों का योग करना आवश्यक हो जाता है।

आप प्रश्न करेंगे कि यदि 'गीता' शब्द का एकमात्र यही प्रयोजन था तो फिर इस उल्लेख के स्थान में 'उल्लेख-कविता' इत्यादि सरल शब्दों में से ही किसी एक का सम्बन्ध क्यों नहीं जोड़ दिया गया? इस के उत्तर में भी कुछ रहस्य है। गीता शब्द का अर्थ है 'गाई हुई'। पहिले से विद्यमान पद्य में सरलवही वासदने से बड़ी पद्य गद्य रूप में परिवर्तित हो जाया है। 'गीतियु साया स्या' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार गेयभाग सामवेद है, एव हृद्योक्त पद्य श्रव्येद है। एक ही श्रुत्यर्थात् को त्रिगुणित कर देने से बड़ी श्रुत्यर्थात् साम बन जाता है। कितने समय में एक श्रुत्यर्थात् का उच्चारण होता है, टीक उस से त्रिगुणित समय में यदि आप उस एक ही मन्त्र का उच्चारण करेंगे वा बड़ी श्रुत्यर्थात् श्रुत्यर्थात् न कहना कर साममन्त्र कहस्योगा, जैसा कि—  
 "मूर्ध्वाप्युह साम गीयते" 'मूर्धा सम मेने वस्वाव साम' "विष साम" इत्यादि सिद्धान्तों



से स्पष्ट है। संकुचित भाव को फैलाना ही गान है, पक्ष को फैलाकर बोधना ही तो गान है। गान शब्द प्रत्येक दशा में संकोच को मूलप्रतिष्ठ बनाए रखता है। यह सच है कि भगवान् ने अपनी इस स्मार्त्ती उपनिषद् में नबोन कुछ नहीं बतलाया। परन्तु फिर भी यह मान लेने में किसी को फेर नहीं आपत्ति नहीं हो सकती कि श्रौती उपनिषदों में जो विषय सूक्ष्मतम भाषा में निरूपित हुआ है, उस का भगवान् ने व्यावहारिक रूप देते हुए बड़े विस्तार से निरूपण किया है। उपनिषद् का अर्थ जहाँ सम्पूर्ण व्याख्यान है, वहाँ गीता का मूल अर्थ अर्थव्यय है। यदि दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय तो उपनिषदों का प्रधान अर्थ परात्पर ही है। अर्थव्यय को प्रधान अर्थ बनाने वाली, एव अतुर्विभुष्टियोग का पूरा स्पष्टीकरण करने वाली तो एकमात्र यह स्मार्त्ती उपनिषद् ही है। चूंकि श्रीकृष्ण इस के द्रष्टा थे, इसलिए तो इसे उपनिषद् कहना स्वाभाविक है। साय ही में यह भीकृष्णोपनिषद् ही नहीं है, इसलिए इसे गीता कहना स्वाभाविक है। गीताशब्द वितान (पैसाव) भाव का ही चेतक है। जो अर्थव्यय अर्थ, एव ओ अतुर्विभुष्टियोग श्रौती उपनिषदों में सर्वाथा संकुचित होने से पक्कप बन रहा था वही भगवान् के द्वारा विस्तार में आकर गेष्करूप बन गया। इस श्रौती वितानभाव का सूचित करने के लिए इसे कथित, उक्ता, इत्यादि अर्थव्यय शब्दों से व्यपहत न कर वितानसूचक "गीता" शब्द सम्बोधित किया गया।

स्मरण रहिए, गीता शब्द सर्वथा यौगिक है। पञ्चबाहिरवत् इसे योगशब्द नहीं माना जा सकता। पञ्चबाहिर जिस प्रकार कमलपुष्प का भाग माना जाता है, वैसे "गीता" इस का नाम नहीं है। गीता का अर्थ है भगवान् द्वारा कही गई। गीता स्वयं क्रिया शब्द है, एव यौगिक है। अत एव इसे उपनिषद् शब्द का विशेषण ही माना जासकता है। स्वयं व्यास ने एक स्थान पर गीता के इसी विशेषणभाव को प्रकट किया है। देखिए !

समुपोद्भवनीकेषु कुरुपापदमयोर्धुषे ।

अहुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ (म० १२।१।१५) ।

यही कारण है कि अर्थात् समाप्ति पर—“भगवद्गीतायामुपनिषत्सु” यह निर्दिष्ट रहता है। यदि गीताशब्द छूट होता तो “भगवद्गीतायामुपनिषत्सु” यह मान्य रहता। इस प्रकार

गीताशब्द के उक्त निर्बचन के अनुसार यद्यपि गीता शब्द योगिक कृता हुआ विशेषण ही है, तथापि अपनी अपूर्वता के कारण यह भागे जाकर इस स्मार्त्त उपनिषद् में निकल भी बन गया है। इसीलिए विद्वत्समान में यह "गीता" नाम से भी प्रसिद्ध हो गई है। केवल गीता का नाम दिया जाता है, वहाँ अयुष्मिता, राम्मिता, त्रिगुणीता-आदि अन्य किसी गीता पर ध्यान न जाकर एकमात्र भगवद्गीतोपनिषद् ही ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होता है।

इति-गीताशब्दरहस्यम् ।

२

### ३-उपनिषत्कव्वरहस्यम्

इस सम्बन्ध में हमें विशेष ध्यान नहीं है । कारण उपनिषद्बिज्ञानमाध्यभूमिका में उपनिषत् शब्द पर पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है । केवल प्रकरणसङ्गति के लिए संक्षेप से कुछ कह देना ही पर्याप्त होगा । पूर्व के गीताभाष्यरहस्य में यह कतसाया गया है कि जिस प्रकार इश-केन-कृत आदि उपनिषदों 'श्रौती उपनिषत्' कहा जाती हैं, एवमेव गीताशास्त्र को हम 'स्मार्ती उपनिषत्' कह सकते हैं । इसी सम्बन्ध में हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है ।

आत्मविद्या जिस ग्रन्थ में यतछाई जाय, वही ग्रन्थ उपनिषत् है । श्रौती उपनिषदों आत्मविद्या का निरूपण करने के कारण ही 'उपनिषत्' नाम से व्यक्त हो गई हैं । दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि आत्मविद्या ही उपनिषत् शब्द का अन्वयेदक है । मेदक तब को ही अन्वयेदक कहा जाता है । मेदक ही उस पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् करके दिखाता है । यदि मेदक न हो तो किन्ती पदार्थ का स्वरूपबाल ही न हो । सर्वसम्मत न्यायशास्त्र के "यत्किञ्चित्पदार्थतापक्षेदकावच्छिन्ने शब्दस्य शक्तिः" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द किन्ती न किन्ती पदार्थतापक्षेदकरणाश्रित में ही सम्बद्ध रहता है । उदाहरण के लिए गो शब्द को ही लीजिए । गो इस लिए गो है कि वह इतर पदार्थ नहीं है । जिस भावने गो को इतर पदार्थों से पृथक् कर के हमारी प्रतीति का विषय बना डाला, वही मात्र मेदक, अन्वयेदक, किंवा व्यावचक कहा जाएगा । अन्वय ही गो पदार्थ में कोई ऐसी विशेषता है, जिस का कारण उदाहरक गोशब्द उसे अन्य पदार्थ नहीं बनने देता ; वही विशेषता न्यायशास्त्र में

\*-सम्पूर्ण उपनिषदों पर 'उपनिषद्बिज्ञानमाध्यभूमिका' नाम का एक लघु ग्रन्थ लिखा गया है । वह ग्रन्थ दो भागों में एक चतस्र पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है । माध्यभूमिका के "क्या उपनिषत् वेद है ?" इस प्रश्न की ओरोंछा में बड़े विस्तार के साथ उपनिषत् शब्द का तत्त्वार्थ प्रतिपादित हुआ है । विशेष विद्यता रखने वाली को वही प्रकरण कहना चाहिए ।

'गोत्र' (गोपना) नाम से प्रसिद्ध है। गोत्र स्वयं वस्तु है, इसका उत्तर 'सात्नासाहसुसम्भव' है। श्रीबामागम्य स्नात्ना (गोत्र), एव पुण्यभाव ही गोत्र का गोत्र है। यही गोपदार्थ का इतर पदार्थों से भेद करवा रहा है। मोक्षार्थ सात्नासाहसुसम्भव गोत्र में ही अपनी शक्ति रखता है, गोत्र ही मोक्षार्थ का अन्वेषक है। इसी अन्वेषक से अन्वेषित वस्तु वस्तु गोपदार्थ का शब्द के अन्वेषक और किसी शब्द से अगिनय में नहीं आसकता। निरुक्त भाव है। आप जितने भी शब्द सुनते हैं, जानते हैं, अथवा हैं उन सब के साथ (प्रत्येक साथ) एक एक सत्त्व अन्वेषक बना हुआ है। यह अन्वेषक ही शब्द की महामयदा है। अन्वेषक के कस पर ही अन्वेषित शब्द को किसी नियत अर्थ का ही प्रतीपादन करना पड़ता है। इससे हम इस निश्चय पर भी पहुँच जाते हैं कि सत्त्व साहित्य में जितने भी शब्द हैं, वे सब स्वतन्त्र अर्थों के ही वाचक हैं। कारण शब्दलक्षणमेव अन्वेषकमेव का हेतु है, एव अन्वेषक-भेद ही वस्तुत्व का मेवक है। ऐसी दशा में शब्दों का परस्पर में पर्याय सम्बन्ध मान बैठना तर्क-व्याप एव निश्चयार्थ से संभव असंभव है। जो शब्द जिस अर्थ का वाचक है, वह उसी अर्थ का वाचक है। समस्त विश्व में उस के जोड़ का उसी भाव को व्यक्त करने वाला अन्य शब्द नहीं मिलेगा। राम और दाशरथि कभी अविभक्त नहीं बन सकते। इन्द्र और इन्द्रा को कभी पर्याय नहीं माना जासकता। मिथुन और नागपक्ष को एक वस्तुत्व समझना भ्रम है। मिथ्या एव असृत का पर्याय सम्बन्ध कभी बन ही नहीं सकता। सूर्य एव सविता को पर्याय मानना किसी दृष्टि से ठीक नहीं है।

अस्तु प्रकृत में उक्त अन्वेषक मीमांसा से अज्ञाना यही है कि उपनिषत् शब्द का जो कोश अन्वेषक होय, उसी के अनुसार उसी अन्वेषकअन्वेषित तत्त्व विशेष का (उपनिषत्शब्द को) वाचक मानना पड़ेगा। यदि उपनिषदों में प्रथमतया से आपत्ति का ही निरूपण हुआ है, अत आत्मनिर्वाण को ही हम उपनिषत् का अन्वेषक मानने के लिए तत्पार हैं। इस दृष्टि से जो भी अन्य आत्मनिर्वाण का निरूपण करगा वही उपनिषत् नाम से स्पष्ट हो सकेगा। यद्यपि दृष्टों में भी आत्मनिर्वाण का निरूपण हुआ है, परन्तु दृष्टार्थ से। दृष्टन और निश्चय में

का अन्तर है। ऐसी दृश्य में व्यात्मविधात्व के साथ हमें विज्ञानशब्द और जोबन्त पदोन्नत। विज्ञान उद्भूत व्यात्मविधात्व को ही उपनिषत् का अन्वेषक कहा जाएगा। यह अन्वेषक मयादा जिस प्रकार इन्द्र-केन-कठ आदि उपनिषदों के सम्बन्ध में घटित हुए हैं। एवमेव विज्ञानसहजत मात्मविधा के निरूपण के कारण भी मयादा उसी प्रकार गीताशास्त्र में भी चरित्राप हुए हैं। अतः हम अन्वेष ही गीता को स्मार्थी उपनिषत् कहा सकते हैं।

इस प्रकार बोधी देर के लिए यदि विज्ञानसहजत व्यात्मविधात्व को उपनिषत् का अन्वेषक मान लिया जाता है तो गीता को उपनिषत् मान से स्पष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं रहती। परन्तु ऐसा मान लेना प्राचीनदृष्टि से सर्वथा असहज है। यह ठीक है कि उपनिषदों में विज्ञानसहजत व्यात्मविधा का ही निरूपण हुआ है। यह भी ठीक है कि गीता भी इसी व्यात्मविधा का निरूपण कर रही है। फिर भी गीता को उपनिषत् नहीं कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है। उपनिषत् शब्द का अन्वेषक है वेदान्तत्व। मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् रूप से मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक वेद के चार किन्नाग भागें गण हैं। मन्त्रभाग विज्ञान-स्तुति-इतिहास का निरूपक है, आरण्यक कर्मकाण्ड का, आरण्यक उपासनाकाण्डका, एव उपनिषत् ज्ञानकाण्ड का निरूपण करता है। अतः ज्ञानयोगप्रतिपादक उपनिषत् वेद का अन्तिमभाग है अतएव इसे—'सर्वे वेदान्ताः' इत्यादि रूप से न्यासादि प्राचीन भाषाओं ने वेदान्त नाम से सम्बोधित किया है। व्यस विरचित सुप्रसिद्ध शरीरकसूत्र इन वेदान्त कर्मों (उपनिषत्कर्मों) का समन्वय करने के कारण ही वेदान्तदर्शन नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार उपनिषत् शब्द एकत्र सुप्रसिद्ध वेद के अन्तिम भागत्व परिगणित इत्यादि उपनिषदों में ही निकट है। शरीर गीताशास्त्र उस वेदान्त मयादा से सर्वथा बहिर्भूत है। गीता कभी वेद का अन्तिम भाग नहीं है। ऐसी दृष्टि में वेदान्त अन्वेषक की मयादा के कारण हम किसी भी दृष्टत में गीता को उपनिषत् नहीं कहा सकते। इस विषयविषय के सम्बन्ध में विशेष न कहा कर हमें केवल यही कहना है कि गीता जिस व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट हुई है, यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। उपनिषत् को वेद के अन्तिम भाग में ही निकट मानने वाले स्वयं न्यासादि ने

‘मोक्ष’ (श्रेयसा) नाम से प्रसिद्ध है। मोक्ष कथ्य वस्तु है, इसका उचर ‘सात्नासाहसमस्वयं’ है। श्रीशामाश्रय सात्ना (लोच), एव पुष्कमात्र ही श्रेय का श्रेय है। यही श्रेयदार्थ का इतर पदार्थ से भेद करवा रहा है। श्रेयस्य सात्नासाहसमस्वयं मोक्ष में ही अपनी शक्ति रखता है, मोक्ष ही श्रेयस्य का अन्वयेदक है। इसी अन्वयेदक से अन्वयित्व वनता हुआ श्रेयदार्थ श्रेयस्य के अतिरिक्त और किसी शब्द से अभिलिख में नहीं आसकता। निरुक्त मात्र है। अन्वयित्वों में शब्द सुनते हैं, जानते हैं, बचता हैं, उन सब का साथ (प्रत्येक साथ) एक एक सत्त्व अन्वयेदक अन्वय हुआ है। यह अन्वयेदक ही शब्द की महामाया है। अन्वयेदक का वस पर ही अन्वयित्व शब्द को किसी निर्यत अर्थ का ही प्रतिपादन करना पड़ता है। इससे हम इस निश्चय पर भी पहुँच जाते हैं कि संस्कृत साहित्य में अन्वयित्वों में शब्द ही वसम इत्यन्त अर्थों के ही वाचक हैं। कारण शब्दस्वरूपमें अन्वयेदकमद का हेतु है, एव अन्वयेदक भेद ही वस्तुतत्त्व का भेदक है। ऐसी दशा में शब्दों का परस्पर में पर्याय सम्बन्ध मात्र बैठना तर्क-व्याप एव निश्चयार्थ से संभव अशुद्ध है। वा शब्द जिस अर्थ का वाचक है, वह उसी अर्थ का वाचक है। समस्त विश्व में उस के जोड़ का उसी मात्र को अन्वय करने का वाच्य शब्द नहीं मिलेगा। राम और दाशरथि कभी अन्वयित्व नहीं बन सकते। इन्द्र और बृहस्पति को कभी पर्याय नहीं माना जासकता। सिन्धु और मारुत्त को एक वस्तुतत्त्व समझना भ्रष्ट (भ्रष्ट) है। सिन्धु एव अशुद्ध का पर्याय सम्बन्ध कभी बन ही नहीं सकता। मूर्ख एव अशुद्ध को पर्याय मानना किसी दृष्टि से ठीक नहीं है।

अस्तु प्रकृत में उक्त अन्वयेदक नीम्बसा सं वनसात्ना यही है कि उपनिषद् शब्द का जो कोई अन्वयेदक होगा, उसी के अनुसार उसी अन्वयेदकान्वयित्व तत्त्व विशेष का (उपनिषद् शब्द को) वाचक मानना पड़ेगा। चूँकि उपनिषदों में प्रधानरूप से आत्मनिष्ठा का ही निरूपण हुआ है, अन्वयित्वविधान को ही हम उपनिषद् का अन्वयेदक मानने के लिए तय्यार हैं। इस दृष्टि से जो भी अन्य आत्मनिष्ठा का निरूपण करेगा वही उपनिषद् नाम से व्यवहृत हो सकेगा। यद्यपि दृष्टियों में भी आत्मनिष्ठा का निरूपण हुआ है परन्तु दृष्ट्यर्थ से। दृष्ट्य और निश्चय में

मुझ से बहर्निश गीता का महालय प्रकट होता रहता है, वे जो व्यसपीठों पर प्रतिष्ठित होकर उपदेश देते हुए उच्च कर्म अनुभव नहीं करते। वी अवस्था इतर बर्णा की है। गीतामत्र किन्तु राष्ट्रीय नेता ने स-सकमानुकूल व्यवस्था चखाने के लिए उपदेश किया। "गीता निष्कामकर्म का उपदेश देती है" याद रहिए केवल यह सिद्धांत वाक्य ही हमारा कल्याण नहीं कर सकता। हमें यह निश्चय करना पड़ेगा कि हम किन्तु कर्म में हैं एव तदनुसार हमें कौन सा कर्म करने का अधिकार है। 'निष्काम कर्म करो' इस उपदेश की भाँव में सवया अनभिज्ञत उर्ध्वलोक-कर्मा में प्रवृत्त रहते हुए गीता की कश्चित् व्याख्या बना लेना ही क्या गीतेद्देश्य की स्थिती है।

अभी कुछ समय पहिले एक ऐसे ही न्यायिक ने गीतार्थ के सम्बन्ध में अनधिकार चेष्टा का है। पश्चिमी-पूर्वीय साहित्य की तुलनादृष्टि से यद्यपि उच्च कर्म प्रयास स्तुत्य है। परन्तु गीता के मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में उसने नहीं मान्ति की है। देश के कश्चित् कर्मवाद के प्रभाव में पक कर उसने गीता को फलमयोगशास्त्र मान लिया है। उन की दृष्टि में गीता आत्मविद्याशास्त्र नहीं है, अपितु कर्मयोगशास्त्र है। अपनी इस सत्यसिद्धि के लिए उन्होंने उपक्रम-उपसंहार का पर्याप्त बल लगाया है। अन्वय ही यह इन की अनधिकारचेष्टा है। यदि गीता कर्मयोग शास्त्र होता तो इसे कर्म उपनिषत् शब्द से सम्बोधित न किया जाता। कारण स्पष्ट है। कर्म-उपासना-ज्ञान इन तीनों का प्रतिपादन पूर्व कथनानुसार क्रमशः वेद के ब्राह्मण-भारतपक-उपनिषत् भागों में हुआ है। कर्मयोग का सम्बन्ध एतन्मात्र ब्राह्मण नाग के साथ है। उपनिषत् ज्ञानयोग का सूचक है। तब तो गीता को ज्ञानयोगोपनिषत् उपनिषत् शब्द से व्यवहृत न कर कर्मयोगोपनिषत् ब्राह्मणशब्द से सम्बोधित करत हुए "मगध-श्रीत-ब्राह्मण" कहना चाहिए था। उधर गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति श्रीभद्रमगधश्रीतामूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इत्यादिरूप से उपनिषत् शब्दका सम्बन्ध सुना जाता है। उपनिषत् क्योंकि ज्ञानयोगशास्त्र है, एव गीता भी क्योंकि उपनिषत् है। ऐसी दशा में हम इसे ज्ञानयोगशास्त्र, किन्तु बुद्धियोगशास्त्र ही मानने के लिए तत्पर हैं।

कानिचित् आप प्रश्न करें कि उपनिषत्सु के भागे 'योगशास्त्रे' यह सामान्य उपसंहार है। एवं योगशास्त्र "सोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ" इस गीता सि-

उसे पूजाकार माना है। वदप्रद्य महापियों से भी उस का आसन ऊचा है। उसके द्वारा उपदिष्ट गीता का महत्व श्रौती उपनिषद् से किसी दृष्टि से भी कम नहीं माना जा सकता। गीता-प्रतिपादित आत्मविद्या का सम्बन्ध ने साधारणरूप किया है। इस दृष्टि से गीता द्रष्टा का वाक्य है। इसी साधर्म्य को लेकर, साय ही में एक पूजाकार के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण हम गीता को यत्र उपनिषद् कह देते हैं तो कोई विशेष निप्रतिपत्ति नहीं है। इसी साधर्म्य को सद्य में रखकर गीता को (स्मृति होते हुए भी) प्राचीनों ने उपनिषद् नाम से सम्बोधित कर दिया। श्रुति परिगणना में यह नहीं है, साय ही में श्रौती उपनिषद् की तुलना में इस का महत्व भी कम नहीं है, अतएव ऐसे 'स्मार्ती उपनिषद्' कहना प्रत्येक दृष्टिसे न्यायसंगत हो जाता है।

गीताराज पर आज भारतीयों की अपूर्वनिष्ठा देखी जाती है। सब से बड़ा सीमाग्र्य तो हमारा यह है कि आत्मसाक्षित्य को राष्ट्रीयता का महाप्रतिकन्धक मानने वाले राष्ट्रीय नेता, एवं तत्कालीनी सुधारक भी गीता का पूरा पूरा आदर करते हैं। इसी आदरमान के कारण उन की ओर से भी गीतार्थ करनेका प्रयास हुआ है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आर्यसाहित्य (वेदिकसाहित्य) से लेख भी परिचय प्राप्त न करने वाले इन - हानुमानों का उक्त प्रयास अर्थ के स्वान में अनर्थ का ही, वीजबपन कर रहा है। हमें उस घटना का स्मरण है कि जब देश के एक पूज्य नेता ने गीता के "शुनि वैश्व भपाके च पयिदताः समदर्शिनः" इस सिद्धान्त को आगे रखते हुए अपने एक उद्गार प्रकट किए थे कि गीता के अनुसार अन्तर्द्वेषों को आशुकर्य मानना शास्त्रविरुद्ध है। इसी प्रकार जिस आतुर्वर्षधर्म का गीता में निष्कार से निरूपण हुआ है उस का किस प्रकार इन राष्ट्रीय नेताओं के द्वारा दखन किया जा रहा है यह भी क्षिपा हुआ नहीं है। अथर्वपासन की कहीं आड़ा देने वाली गीता की आज बेसी दुर्दशा की जा रही है यह दस कर हमें अनाकू रह जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए वैश्यधर्म को ही लीजिए। "कृपिगोरक्षवाण्डियय वैश्यधर्म स्वभावतम्" के अनुसार सती गोवाहन, व्यवसाय यह तीन वैश्य जाति के सामाजिक कर्म हैं। अतः अर्थविज्ञान एवं वैयक्तिक आर्यधर्मक व्यवसाय को छोड़ कर आज कृपि गोरक्षा का ठो गाय भी शय नहीं है। यहाँ पर सीमा सम्पत्त नहीं हो जाती। अतः एक अस्मिन्नी वैश्य, जिन के



जासत् । परि भगवान् को ज्ञानयोग, किंवा सन्यास नाम ही अभीष्ट होता तो वे कभी श्राद्धयोग की निन्द्य, एव कर्मयोग की स्तुति न करते । वरिष् 1 भगवान् क्या कहते हैं ?

“न च सन्यसनादन सिद्धिं समधिगच्छति ।  
निपतं कुरु कर्म्य त्व कर्म्यं ज्ञायो यकर्म्यम् ।  
कर्म्यम् न हि ससिद्धिमास्पिता मनश्चक्षुः ।  
न कर्म्यं यमनारम्भार्थं कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।  
नानवाप्तप्रवाप्तस्य वच एव च कर्म्यसि ॥”

उक्त वाचनों के आधार पर तो हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यीशु अथवा कर्म-योग का ही मन्त्रपाठ करती है । ऐसी दशा में यदि हम गीता के “योगशास्त्र” को “कर्मयोग” का उपोद्बलक मानें तो कोई आपत्ति नहीं है । अतः कहने में बड़ी सुन्दर है, साथ ही में युक्ति एव प्रमाण युक्त ही । किन्तु भी गीता को कर्मयोगशास्त्र नहीं कहा जासकता । कैते ? सुनिष् ।

हम बतलाने आए हैं कि वेद के मन्त्र-ब्राह्मणरूप दो विभाग हैं । इन दोनों विभागों की मूलप्रतिष्ठा ज्ञान एवं कर्म हैं । विना ज्ञान के कर्म समर्थ नहीं है । इसी दृष्टि से महाविद्वानों ने ज्ञान-तन्त्र-कृतम् वेद से वेद को दो भागों में विभक्त किया है । कुछ विषय जानने के हैं, एव कुछ विषय करने के हैं । विज्ञान-स्तुति-इतिहास यह तीन विषय ज्ञातम् हैं । मन्त्रभागने इन तीन ज्ञातम् विषयों का ही निरूपण किया है । कर्मस्य विषय कर्म-उपासना-ज्ञान वेद से तीन भागों में विभक्त हैं । ब्राह्मणभाग इन्हीं कर्मस्य विषयों का निरूपण करता है । जो ब्राह्मणभाग कर्म का निरूपण करता है, वह विधि नाम से, उपासनानिरूपक ब्राह्मणभाग आराध्यक नाम से, एव ज्ञाननिरूपक ब्राह्मणभाग उपनिषत् नाम से प्रसिद्ध है । इन तीनों कर्मों में से कर्म एव ज्ञान के मन्त्रपतित उपासना योग ही बुद्धियोगविद्या है । इन तीनों में कर्मयोग यज्ञद्वारा प्राप्त होने वाले प्राकृतिक विजय का माग बतलाता है । बुद्धियोग इधरानुरक्ति द्वारा पारलौकिक शान्त सुखप्राप्ति का उपाय बतलाता है । एव तीसरा ज्ञानयोग विशुद्ध ब्रह्म का निरूपक यज्ञता इया परामुक्ति नाम से प्रसिद्ध कैवल्यमुक्तिपत्र का अनुगामी बनाता है । वस हमारे यही

दान्त के अनुसार कर्मयोग का सूचक है। ऐसी दृश्य में अक्षर ही गीता को कर्मयोगशास्त्र कहा जा सकता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि योग शब्द केवल कर्म का ही सूचक है, वह किस अन्वय पर मान लिया गया। संस्य शब्द के साथ जहाँ योग शब्द आया है, वहाँ अक्षर ही योगशास्त्र कर्म का सूचक है। परंतु सतत्र रूप से उपात्त षोडश कर्म कर्म का सूचक नहीं माना जा सकता। आपको स्मरण रखना चाहिए कि गीता में जहाँ जहाँ सतत्र रूपसे योग शब्द आया है वहाँ वहाँ वह सर्वत्र कर्ममन्त्रित ज्ञानयोग, किंवा बुद्धियोग का ही सूचक है। एक स्थान पर तो- 'दूरेण ह्यत्र कर्म बुद्धियोगादनजय' यह कहते हुए भगवान् ने बुद्धियोग के सामन कर्मयोग की निन्दा तक कर डली है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' "योगयुक्तात्मा" योगी मनाजुव' 'सयोगी परमो मतः" "योगी निपतमानस" "योगी विगतकृचमपः" "योगिन मुत्समुत्तमम्" "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः" "स योगी मयि ब्रह्मणे" "कर्मिभ्यश्चापिका योगी" इत्यदि स्थलों के योग, एव योगी शब्द बुद्धियोग, एव बुद्धियाग्रे के ही सूचक है। "इति श्रीमद्बुद्धियाग्रे" के अनुसार भगवान् की ओर से बुद्धियोग का ही वर प्राप्त हुआ है। ऐसी दृश्य में उक्त "योगशास्त्रे" इस उपसंहार अक्षर को कभी कर्मयोगपरक नहीं समझा जा सकता। अभ्युपगमशब्द का आशय उते हुए बोधी दर के तिर यह मान भी लिया जाय कि यहाँ का योग शब्द कर्म का ही सूचक है तो पूर्ववद्विधिपति का निराकरण करना असम्भव हो जाता है। उपनिषद् शब्द ज्ञानयोग, किंवा बुद्धियोग के साथ ही सम्बद्ध है। कर्मयोग का सम्बन्धी तो ब्राह्मण शब्द है। योगशास्त्र से 'कर्मयोगशास्त्र' ही अभिप्रेत होता तो "इति श्रीमद्भगवद्गीतपु ब्राह्मणेषु योगशास्त्र" यह उपसंहार रहता। पूर्व योपशास्त्रे के साथ उपनिषद् का सम्बन्ध है, एव उपनिषद् शब्द बुद्धियोग का सम्बन्धी है तो ऐसी दृश्य में उपनिषद्शब्द एव इण योगशास्त्र को कभी कर्मयोगशास्त्र परक नहीं माना जा सकता।

गीता उपसुप ०३ २२२२२२२२२२ है। इसके धार्मिक भाग पर बहुत जाना कोई इसी सब नहीं है। कर्मयोगशास्त्रियों का कहना है कि गीता कभी ज्ञानयोग शास्त्र नहीं माना

जासत्य । यदि भगवान् को ज्ञानयोग किंवा सन्यस मार्ग ही समीप होता तो वे कभी ज्ञानयोग को नित्य, एव कर्मयोग की स्तुति न करते । देखिए ] भगवान् क्या कहते हैं :

“न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।  
 नियतं कुरु कर्म त्व कर्म ज्ञायो बकर्मणः ।  
 कर्मण्यन हि ससिद्धिमाप्सिता जनक्यदयः ।  
 न कर्मण्यपनारम्भार्थं कर्म्य पुरुषोऽस्तुते ।  
 जाननाप्यप्राप्तव्य एव एव च कर्मणि ॥”

उक्त वक्त्रों के आशार पर तो हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यीता अक्षय कर्मयोग का ही गच्छपात करती है । ऐसी दशा में यदि हम गीता के “योगशास्त्र” को “कर्मयोगे” का उपोद्बसक मानते तो कोई आपत्ति नहीं है । अत कहने में बड़ी सुन्दर है, साय ही में युक्ति एव प्रमाण युक्त थी । फिर भी गीता को कर्मयोगशास्त्र नहीं कहा जसकतय । कैसे ? सुनिश्च ।

हम कतय आए हैं कि वेद के मन्त्र-ब्राह्मणरूप दो विभाग हैं । इन दोनों विभागों की मूलप्रतिष्ठ ज्ञान एवं कर्म हैं । बिना ज्ञान के कर्म समक नहीं है । इसी दृष्टि से ऋषिर्षियों ने ज्ञातव्य-कर्तव्य वेद से वेद को दो भागों में विभक्त किया है । कुछ विषय जानने के हैं, एव कुछ विषय करने के हैं । विज्ञान-स्तुति-इतिहास यह तीन विषय ज्ञातव्य हैं । मन्त्रभाषने इन तीन ज्ञातव्य विषयों का ही निरूपण किया है । कर्तव्य विषय कर्म-उपासना-ज्ञान यद से तीन भागों में विभक्त हैं । ब्राह्मणभाग इन्हीं कर्तव्य विषयों का निरूपण करता है । जो ब्राह्मणभाग कर्म का निरूपण करता है, यह निधि नाम से, उपासनानिरूपक ब्राह्मणभाग धारण्यक नाम से, एवं ज्ञाननिरूपक ब्राह्मणभाग उपनिषद नाम से प्रसिद्ध है । इन तीनों कर्तव्यों में से कर्म एव ज्ञान के मन्त्रपठित उपासना योग ही बुद्धियोगनिष्ठ है । इन तीनों में कर्मयोग पञ्चरात्र प्राप्त होने वाले प्रासौक्तिक विषय का भाग बतलाता है । बुद्धियोग ईश्वरानुक्ति द्वारा पारशी किंक शाश्वत सुखप्राप्ति का उपाय बतलाता है । एव तीसरा ज्ञानयोग विशुद्ध मध्य का निरूपक बनता हुआ परामुक्ति नाम से प्रसिद्ध केन्द्रमुक्तिपथ का अनुगामी बनाता है । नच हमारे यही

तीन पुरुषार्थ हैं। तीन से व्यतिरिक्त अभ्युदय निःश्रेयस कृतज्ञाने वास्ते उन्मत्तत्वर का रक्षा-  
स्तत समान है।

तीन से व्यतिरिक्त चौथा पुरुषार्थ नहीं है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है लोकस्यन्वार। लोक  
में उन्मत्ति के सम्बन्ध में उक्त तीन निष्पत्ति ही प्रकल्पित हैं। ली-पुत्र-सम्पत्ति-राज्य-अनुचर-शरीर  
सुख-स्वर्ग आदि सब लौकिक वैयक्तिक सुख हैं। इन लौकिक फलों की कामना से उक्त मनुष्य  
वाससोक्त मित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों में प्रवृत्त होता है। यथाशक्ति कर्म करने से उठे वह  
काम्यफल प्राप्त भी जाते हैं। जो गृहस्थी उक्त फलकामनामय त्रिविध कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं  
पश्चिमी कर्मनिष्ठा के मुख्यस्वरूप ली गृहस्थी हैं। उक्त सम्पूर्ण कर्मकृत्यों की ओर से जिस  
शरीर को परम वैराग्य होमया है, जो संसार को पतन की सामग्री समझ कर इस से विराम कर  
कता है, तीसरी कर्मव्यवस्थाद्वारा ज्ञाननिष्ठा, किंवा सांख्यनिष्ठा ऐसे ज्ञानमूर्ति सन्यासी से ही सम्-  
भव सकती है। मध्य का उपासनप्रयोग स्वतन्त्र रूप जाता है।

चूंकि उपासनरूपक इस बुद्धियोगनिष्ठा की उपाय कर्मप्रवृत्तित्वरूपक कर्मनिष्ठा, एवं कर्म  
निवृत्तित्वरूपक सत्त्वनिष्ठा दोनों के मध्य में हैं, अतः इस में “तन्मध्यपवित्तस्तनुग्रहणेन युज्यते”  
इस मध्य के अनुसर कर्म-ज्ञान दोनों का समावेश होना सिद्ध हो जाता है। कर्मयोगनिष्ठा में  
मित्य, नैमित्तिक, काम्यमेव से जितने कर्मों का संग्रह हुआ है वे सब कर्म-बुद्धियोगनिष्ठा में  
संगठित हैं। अन्तर दोनों में केवल यही है कि उस में फलकामनामयी बुद्धि की प्रधानता थी एवं  
इस में निष्काम बुद्धि की प्रधानता है। चूंकि इस में सर्वत्रिध कर्मों का निष्काम मुक्तवा प्रवृत्त है,  
अतएव इसे हम प्रवृत्तिनिष्ठा कहने के लिए तत्पार हैं। इसी दृष्टि से इस का हम कर्मयोग में अन्त-  
नाश मानन के लिए तत्पार हैं। सांख्यनिष्ठा में कर्म का परित्याग है तो इस निष्ठा में कामना का  
परित्याग है। परित्याग ही संश्लेषनिष्ठा का स्वरूपधर्म है। कामनापरित्याग सम्बन्ध से बुद्धियोगनिष्ठा  
में निवृत्तिभाव का भी समावेश है। इसी दृष्टि से हम इस निष्ठा का ज्ञानयोगनिष्ठा में भी अन्तर्भाव  
मानने के लिए तत्पार हैं। इस प्रकार कर्मपरिग्रह सम्बन्ध से कर्मयोगरूप, एवं कामनापरित्याग से  
ज्ञानयोगरूप दोनों के समावेश से इस मध्यपवित्त योग का उन्मत्तयोग सिद्ध हो जाता है।

बुद्धियोग में सर्वविधकर्म व्यबहित हैं, इससे शब्दों में कर्म में पूर्ण प्रवृत्ति है, फिर भी कामना के न रहने से कर्मजनित वासना-संस्कार का इस योग के अनुगमन में आत्मा पर लेप नहीं होता। अपेक्षाबुद्धिसहस्रकर्म ही संस्कारलेप का कारण है, एवं कामना ही अपेक्षा बुद्धि की जननी है। कामना के अभाव से बुद्धि में अपेक्षाभाव का उदय हो जाता है। अपेक्षाबुद्धि-सहस्रकर्म कभी संस्कार लेप के कारण नहीं बनते। फलतः इस बुद्धियोग का नैष्कर्म्यसहस्रकर्म ज्ञानयोग के साथ साधर्म्य सिद्ध हो जाता है। ज्ञानयोग में फल का अभाव है। बुद्धियोग में कर्म है, परन्तु कर्मफल रूप संस्कार लेप के न होने से इच्छा होना न होने के समान है। इसप्रति से अक्षर्य ही यह बुद्धियोग एक प्रकार का ज्ञानयोग बन जाता है। अन्ततोगत्वा हमारा यह बुद्धि-योग ज्ञानयोग में ही लीन हो जाता है। यद्यपि कर्मप्रवृत्ति के कारण इसे कर्मयोग भी कहा जा सकता था। परन्तु चूंकि इस का उदरक ज्ञान से ही सम्बन्ध रहता है, अतः इसे कर्मयोग का सम्बन्धी नहीं माना गया। कर्मयोग कर्मसंस्काररसत्ता पर निर्भर है ज्ञानयोग नैष्कर्म्य भाव पर अक्षरमित्त है। मत्पक्षित बुद्धियोग में कर्म के रहने पर भी कर्मसंस्कार नहीं है, इसलिए इसे कर्मयोग तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु कर्म रहने पर भी इसमें नैष्कर्म्य भाव अक्षर्य है, अतः ज्ञानयोग में अक्षर्य ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। साथ महर्षियों ने भी ऐसा ही माना है। बुद्धियोगरूप मत्पक्षित का मत्पक्ष अक्षर्यकभाव निरूपण करता है। मत्पक्षित होने से इस में यद्यपि कर्मप्रतिपादक साधन एवं ज्ञाननिरूपक उपनिषत् दोनों का ही सम्मिश्रण है। फिर भी श्रद्धियों ने अक्षर्यक का कर्मप्रतिपादक साधन के साथ सम्बन्ध न मन कर ज्ञान प्रतिपादक उपनिषत् के साथ ही सम्बन्ध माना है, जैसा कि—“बृहदारण्यकोपनिषत्” इत्यादि संकर-ग्रन्थों से स्पष्ट है। इस प्रकार बुद्धियोग के उभयधर्म्यव्यञ्जित होने पर भी इसकी ज्ञानयोग प्रधानता ही सिद्ध होती है। यद्यपि बुद्धियोग ही अक्षर्य वस्तु, परन्तु अन्तर्भाव यदि हो सकता है तो ज्ञानयोग में ही।

कामनामुखा आसक्ति से युक्त ऐहिक तुल्य फल से सम्बन्ध रखने वाले कर्मयोग की अपेक्षा से, एवं सब कर्मों के आत्यन्तिक परिष्कारसाधन ज्ञानयोग की अपेक्षा से बुद्धियोग ही मत्-

वान् श्री सृष्टि में सर्वोपयोग है । मनुष्य ज्ञानयोग के ही पक्काती हैं । परन्तु के इसमें कोशास संशोधन करना चाहते हैं । वे कहते हैं कि जिस वासना-संघ मय से दूर मनुष्य हुए हुए कर्म का परित्याग करना चाहते हो, वह मय कर्मव्यपन्नक्षण ज्ञानयोग से कभी दूर नहीं होसकता । इसके लिए उन्हें कामना का ही परित्याग करना पड़ेगा—“काम्यानां कर्मणां न्यास सन्यासं कथयो विदुः” यदि कर्म छोड़ दिए, एव कामना न हूयी तो यह सन्यास मिथ्याचर है । ऐसे सन्यास से उन्हें कभी सिद्धि नहीं मिल सकती—“न च सन्यसनादेव सिद्धि सम्पिगच्छति” यदि कामना का परित्याग कर दिया तो कर्म छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । हम समते हैं कि कामना परित्याग के अनन्तर तुम्हारा कोई कर्तव्य सेव नहीं रह जाता । फिर भी जब कभी से तुम्हारी हालि नहीं है, एव लोक का उपकार है तो फिर तुम्हें जो कर्मव्यपन्न से ही सतत अपने नियत कर्म में आकृष्ट रहना चाहिए—“नियतकुरु कर्म त्वं कर्म भ्यावा यकर्मस्यः” “सोकसंग्रहमेवापि सपरयन् कर्तुमर्हसि”—“नानपाप्मनासुखं बल एव च कर्मसि” । यह ज्ञानयोग में उक्त संशोधन कर के ही उसे एक विद्वक्षण बुद्धियोग का रूप दिया गया । बुद्धियोगमय ही संशोधित ज्ञानयोग का महत्व सूचित करते हुए मनुष्य कहते हैं—

ईश्वर एव कर्म बुद्धियोगात्तु नश्य ।

बुद्धौ शरत्त मन्विष्य कृपणाः फल हेतवः ॥

बुद्धियुक्तो नशानीह उभे मूकत दुःकृते ।

तस्मात्पापाय पुत्र्यस्य योगः कर्मसु कौगमय ।

तपसिश्च्योऽपिक्तो यागी ज्ञानिग्यस्य फलोऽपिक्तः ।

कर्मिभ्यश्चापिक्तो योगी तस्यापोमी मवाजुन ॥

कहने को वासनामय के अन्तर्गत, व्यापक, उल्लिख्य यह हो विनाश है । वस्तुतः शरीर, एव उल्लिख्य यह हो ही विनाश मुरप है । इसी प्रकार कहने मर का कर्म उपासना-ज्ञान तीन अन्तर्गत विनाश है । वस्तुतः कर्म-ज्ञान हो ही विनाश है । अतः कामनिष्ठ-बुद्धि

निष्ठा ज्ञाननिष्ठा यह तीन निष्ठाएँ भी कहने ही के लिए हैं। नस्तुत कर्म-एव ज्ञान भेद से दो ही निष्ठाएँ मुख्य हैं। बात है भी ऐसी ही। उपासनात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा में कर्म-ज्ञान के अन्तरिक्ष और है क्या। फलतः इसे स्वतन्त्र निष्ठा मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं बनता। यदि बुद्धियोग नाम की तीसरी स्वतन्त्र स्वतन्त्र निष्ठा मानी जायगी तो निम्नलिखित गीता सिद्धान्त के साथ विरोध उत्पन्न होगा। दो निष्ठाओं को भी मुख्य निष्ठा मानते हुए मगवान् कहते हैं—

लोकेशस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता यवानथ ।

ज्ञानयोगेन सांसृपानां कर्मयोगेन योमिनाम् ॥

अब बुद्धियोग नाम की कोई स्वतन्त्र निष्ठा नहीं तो अथर्वय ही उक्त दोनों निष्ठाओं में से किसी एक में ही इस का अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। अब इसी बिन्दु पर आके कर्मपक्ष पाठियों में भ्रम की है। कर्मयोग विभावक कर्मों का वास्तविक कर्म न समझ कर सइसा वे यह मान बैठे कि गीता का बुद्धियोग कर्मयोग में ही अन्तर्भूत है एव गीता कर्मयोगशास्त्र ही है। वे भ्रम गए कि बुद्धियोग को यदि कर्म में अन्तर्भूत मान लिया जायगा तो— 'ब्रह्मदाऽप्यस्त्रोपनिषत् इस व्यवहार का कोई मूल्य नहीं रहेगा। साथ ही वे कर्माभिनिवेश में पड़ कर व यह भी भ्रम गए कि यदि बुद्धियोग को किंचित् उपसंहार में प्रयुक्त योगशास्त्र' वाले योग को कर्मयोग परक मान लिया जायगा तो गीता का उपनिषत् व्यवहार प्रपञ्च सहस्रों से भी छुड़चित न रह सकेगा। क्यों कि पूर्ण कर्मानुसार उपनिषत् का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। उच्च बुद्धियोग नैककर्मव्यवहार ज्ञान का साधक बनता हुआ अथर्वय ही उपनिषत् शब्द का सम्बन्धी बन सकता है। निष्कर्ष यही हुआ कि गीता बुद्धियोगनिष्ठात्मक ज्ञान योगनिष्ठासमी है। अतएव इसे ज्ञानयोगशास्त्र, किंवा बुद्धियोगशास्त्र ही माना जासकता है। किसी भी दृष्टि से, किसी भी प्रमाण से किसी भी तर्क से गीता कर्मयोगशास्त्र नहीं माना जासकता। ज्ञानयोगज्ञ ही गीताशास्त्र के स्वर्गा उपनिषत् व्यवहार में भ्रम करण है।

गीता वेद का अंतिम भाग न होती हुई भी उपनिषत् कैसे कहलाए ? इस प्रश्न का एक

समझाने पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। परन्तु एक वैज्ञानिक उक्त समझाने से कभी सम्पुष्ट नहीं हो सकता। फिर यह तो गीताविज्ञान मात्र है। इस की तो प्रत्येक मीमांसा विज्ञानदृष्टि से ही होनी चाहिए। भारतीय प्राचीन विद्वान् वहाँ उक्त समझाने के विग्राम से लेते हैं, वहाँ एक वैज्ञानिक मतिरहित उस प्राचीन विश्वात्मभूमि को अपनी गति की आत्मभूमि समझता है। प्राचीनों की दृष्टि में अभ्यात्मविद्या, किंवा वेदान्त मते ही उपनिषद् शब्द का अर्थोद्देशक हो। परन्तु वैज्ञानिक इन दोनों को ही उपनिषद् का अर्थोद्देशक मानने के लिए तैयार नहीं है। उस की दृष्टि में विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषद् का अर्थोद्देशक है।

विस प्रकार गीता शब्द का अन्तर में गीताशास्त्र में निरूढ बन गया है, एकोन पञ्चदश वैदिक विज्ञान सिद्धान्तों से सम्बन्ध रहने वाला उपनिषद् शब्द भी काश्मिर में ईश-केन-कठ आदि वेद के अस्तित्व मात्र में निरूढ होगया है। एतावता उपनिषद् की उस सर्वव्यापित को किसी दृष्टि से नहीं हटाया जा सकता। कर्मयोग हो, उपासनायोग हो, अथवा ज्ञानयोग हो सब के साथ उपनिषद् का सम्बन्ध है। कर्म-उपासना-ज्ञान सभी अपनी अपनी अलग-अलग उपनिषद् रखते हैं। इसी उपनिषदों के आधार पर कर्म का कर्मत्व उपासना का उपसनात्व, एव ज्ञान का ज्ञानत्व प्रसिद्धि है। विस कर्म उपासना, ज्ञान की कोई उपनिषद् नहीं, वह कर्म-उपासना-ज्ञान तीनों ही निरर्थक हैं।

विस प्रकार भ्रष्ट, एव विद्यामान किसी नियम की प्रवृत्ति में मुख्य कारण हैं वेसे ही उस नियम की उपनिषद् भी उस की प्रवृत्ति में अस्मत्तम कारण माना गया है। उस नियम के साथ गुणदृष्टि से मूल का योग कर देना ही "भ्रष्टा" है। भ्रष्टा एक प्रकार का सिगवरस है। यही उस नियम एव नियमी का परस्पर में प्रतिष्ठ सम्बन्ध बरती है। विद्या भ्रष्टा के विस नियम में जो अत्यन्त प्रवृत्त होता है, उस नियम के साथ उस आत्मा का कभी सम्बन्ध नहीं होता। कार्य-कारणमात्र परिष्कार हो विद्या है। नियम प्रवृत्ति में भ्रष्टा के साथ साथ कार्यकारण सम्बन्ध परिष्कार भी अर्थ रहता है। यही परिष्कार मरिचकजनकत्वापूर्विकमदृष्टिसाम्यता का जनक है। विद्या से भी कठ-अर्थ की शक्ति का अनुमान होता है। इसी अनुमान के बल पर हम उस कथम्य कर्म में प्रवृत्त



हो जाते हैं। तीसरा है प्रकृति का अग्र्यतम द्रष्टु उपनिषद्भाव। उस कल्पक कर्म का, किंचिद्विषयविषय में हम प्रकृत होना चाहते हैं उस विषय का मौलिकज्ञान जिस मौलिकविज्ञान के आधार पर होता है, वही मौलिक विज्ञान उपनिषत् कहलाता है। स्वयं उपनिषत् शब्द भी अपने इसी अर्थ अन्दर को व्यक्त कर रहा है। उपनिषत् शब्द में उप नि षत् यह तीन विभाग हैं। उप का अर्थ है समीप नि का अर्थ है निश्चय, षत् का अर्थ है प्रतिष्ठा। जिस मौलिक उपपत्ति के आधार पर हमारा आत्मा जिस विषय के समीप निश्चय रूप से बैठ जाता है वह मौलिक उपपत्ति ही “उप नि षीदति यया” इस निश्चय के अनुसार उपनिषत् नाम से व्यवहृत हुई है। वह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जिस विषय का हमें रहस्यज्ञान, किंचिद्विषयक उपपत्ति मालूम हो जाती है, उस विषय में हमारी पूरी निष्ठा हो जाती है। वही निष्ठा उस विषय में हमारी श्रद्धा करवाती है। यज्ञोपवीत धारण करने का कोह रहस्य है। यदि वह रहस्य हम जान खते हैं तो यज्ञोपवीत पर हमारी पूरी भक्ति हो जाती है। एव इसी भक्ति से आकर्षितमना बन कर हम अग्नी इष्ट्या से बिना किर्ती की प्रेरणा के यज्ञोपवीतधारण करने में प्रकृत हो जाते हैं। उपनिषत् शब्द का वही रहस्यार्थ है।

साधारण दृष्टि से हम यह मानते आ रहे हैं कि कर्ममय संसार, एव सांसारिक कर्म बन्धन के कारण हैं। इसी प्रकार शस्त्राभय-तप-दानादि कर्म अथवा अर्गादि दुस्त के कारण बनते हुए भी परिणाम में शशत आत्मानन्द के सिवायक ही हैं। इसी कल्पित कर्मापनिषत् से हमें कामत्याग को निश्चयसाधकता का मुक्त्यकारण मानते हुए कर्ममय का तिरस्कार एव ज्ञानमार्ग का अन्दर कर रक्ता है। इस सम्बन्ध में गीताशास्त्र कम एव ज्ञान की आस्तिक उपनिषत् बतलाता हुआ हमें ज्ञानमय, अतएव बुद्धियोगलक्षण कर्म में प्रकृत करता है। गीताज्ञान-कर्मान्यायक जिस बुद्धियोग की मौलिक उपपत्ति बतलाए है, यदि उसे हम जान सेते हैं तो न कर्ममय पर ही हमारा अग्रदा होती, एव न उसे हम जानिक ही समझते। श्रुति गीताशास्त्र बुद्धियोग का मौलिक रहस्य बतलाता है, एव इस के परिणाम से हमारा आत्मा बुद्धियोग के समीप (उप) निश्चय (नि) रूप से बैठ (षत्) जाता है, अतएव बुद्धियोगरहस्यप्रतिपादिका गीता को हम अग्रय ही स्मार्ती उपनिषत् कह सकते हैं। उदाहरण

समाधान पाठकों के सम्मुख रखा गया। परन्तु एक वैज्ञानिक उक्त समाधान से कभी समुदा नहीं हो सकता। फिर यह तो गीताविज्ञान भाष्य है। इस की तो प्रत्येक मीमांसा विज्ञानदृष्टि से ही होनी चाहिए। भारतीय प्राचीन विद्वान् जहाँ उक्त समाधान कर के विश्राम ले लेते हैं, वहाँ एक वैज्ञानिक यस्तिक उस प्राचीन विद्वान्भूमि को अगनी गति की अग्रभूमि समझता है। प्राचीनों की दृष्टि में अत्यात्मनिष्ठा, किंवा वेदस्तुतव मते ही उपनिषद् शब्द का अर्थभेदक हो। परन्तु वैज्ञानिक इन दोनों को ही उपनिषद् का अर्थभेदक मानने के लिए तय्यार नहीं है। उस की दृष्टि में विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषद् का अर्थभेदक है।

जिस प्रकार गीता शब्द काशास्त्र में गीताशास्त्र में निरूढ बन गया है, एवम्ब वचनशब्द मौखिक विज्ञान सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाला उपनिषद् शब्द भी काशास्त्र में ईश केन-कठ कावे वेद के अस्तित्व भाग में निकट होगा है। एतावता उपनिषद् की उस सर्वम्पाप्ति को किसी दृष्टि से नहीं हटाया जासकता। कर्मयोग हो, उपासनायोग हो, अथवा ज्ञानयोग हो सब क साथ उपनिषद् का सम्बन्ध है। कर्म-उपासना-ज्ञान सभी अपनी अगनी सतत उपनिषद् रखते हैं। इन्हीं उपनिषदों के व्यापार पर कर्म का कर्मत्व उपासना का उपसमत्व, एव ज्ञान का ज्ञानत्व प्रतिष्ठित है। जिस कर्म, उपासना, ज्ञान की कोई उपनिषद् नहीं, वह कर्म-उपासना-ज्ञान तीनों ही निरर्थक हैं।

जिस प्रकार भ्रष्टा, एव विषामात्र किसी नियम की प्रवृत्ति में मुख्य कारण हैं, वैसे ही उस नियम की उपनिषद् भी उस की प्रवृत्ति में अन्यतम कारण माना गया है। उस नियम के साथ गुणदृष्टि से मन का योग कर देना ही "भ्रष्टा" है। भ्रष्टा एक प्रकार का स्निग्धरस है। यही उस नियम पर नियमी का परस्पर में अनिष्ट सम्बन्ध कराती है। बिना भ्रष्टा के जिस नियम में जो व्याप्य प्रवृत्त होता है उस नियम के साथ उस व्याप्य का कभी सम्बन्ध नहीं होता। कार्य-कारणभाव परिज्ञान ही निष्ठा है। नियम प्रवृत्ति में भ्रष्टा के साथ साथ कार्यकारण सम्बन्ध परिज्ञान भी व्याप्य रहता है। यही परिज्ञान मयिद्वयकत्वापूर्विकामयकृतिद्याम्पत्य का जनक है। निष्ठा से भी कर्तव्यकार्य की शक्ति का अनुमान होता है। इसी अनुमान के बल पर हम उस कर्तव्य कर्म में प्रवृत्त

निष्कप यही हुआ कि जितनी भी यज्ञेनिकर्तव्यताएँ हैं, उन सब का प्रकृतिसिद्ध कोई न कोई मौलिक रहस्य अवरग है। यह मौलिक विज्ञान ही तत्त्व कर्तव्य का ही उपनिषत् है। यही उपनिषत् कर्तव्य कर्म में श्रद्धा पूर्वक प्रवृत्त कराने का मुख्य द्वार है।

प्रमाण भक्त प्राचीन व्याख्याता उपनिषत् शब्द के पूर्वाह्न अर्थ को अप्रामाणिक मान बैठेंगे, इस की हमें चिन्ता नहीं है। हम कह सकते हैं कि उनिषत् का जो सीमित अर्थ उन्होंने मान रखा है, वह अर्थ ही प्रमाणात्मक से अप्रामाणिक माना जा सकता है। परन्तु जिस विज्ञान सिद्धान्त को हमने उपनिषत् का अन्वेषक माना है, उस की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। यही नहीं, वह प्रमाण भी स्वयं प्राचीनों के ही मुख से निकला होगा। शरीरक सूत्रों के माध्यकार भावान् श्रीशङ्खाचार्य कहते हैं—

“आरण्यपाथियास पुनरेवाश्विषुपनिषदिति बैलानसेभ्यो निषयो विधीयते”।

(शां० ३।४।६८)।

उक्त वचन का तात्पर्य यही है कि “सम्पत्ती सब परिग्रहोंको छोड़कर जब मन में धसा जाय तो आपस न छोड़े, सम्पास की यही उपनिषत् है”। क्या यहाँ इष्ट-कर्म-आदि वेद के अन्तिम भागों का प्रदक्ष है ? नहीं तो किस आधार पर आपने (प्राचीनों में) वेदान्तिक को उपनिषत् का अन्वेषक मान लिया ? और जोड़िए—

‘नाना तु विद्या आविष्या च । स चेदेष विषया करोति,

श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ । ((छा०उप १।११०)।

‘जो कर्म विद्या, श्रद्धा, एव उपनिषत् पूर्वक किया जाता है वह अविठ रुढ़ होता है’ इस श्रुत्यर्थ वचन में किस अभिप्राय से उपनिषत् शब्द का प्रयोग हुआ है ? यह विचार कीजिए। अर्थ ही यहाँ का उपनिषत् शब्द एकमात्र मौलिक रहस्य का ही शायक है। इसी प्रकार आपने इसी रहस्यार्थ को अपने मन में रखता हुआ उपनिषत् शब्द तत्त्व स्पर्शविद्यों में प्रयुक्त हुआ है। उनमें से सन्तोष के तिर कुम्भ एक वचन यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं।

के लिए यज्ञप्रक्रिया को ही जोड़िए । यज्ञकर्म की सिद्धि के लिए वेदि का निर्माण होता है । गा यज्ञ—आहवनीय—दक्षिणामिन्द्रकुण्ड बनाए जाते हैं । इन सब का आकार सन्निवेश सर्वथा निषेध है । आहवनीय कुण्ड चतुष्कोण होता है, इसे वेदि के पूर भाग में बनाया जाता है । गाहवस्य कुण्ड गोलकाकार एक वेदि के पश्चिमभाग में प्रतिष्ठित रहता है । दक्षिणामिन्द्रकुण्ड वेदि के दक्षिणभाग में, वेदि के मध्य भाग के सामने रहता है । अथ प्रश्न करो, ऐसा क्यों ? क्यों नहीं गार्हपत्य चतुष्कोण एक आहवनीय गोलकाकार बना लिया जाता ? इन सब प्रश्नों का उत्तर वही भौतिक रहस्य है । इस यज्ञ का स्वरूप निम्नप्रण पुरुषयज्ञ ( मनुष्य ) के आभार पर हुआ है । पुरुषयज्ञ का ऐसा स्वरूप है, वसा ही स्वरूप इस केव यज्ञ का बनाया जाता है । वच यज्ञ की उपनिषत् पुरुषयज्ञ ही है ऐसा कि—“पुरुषो वै यज्ञः”—“यज्ञो वै पुरुषः” इत्यादि वचनों से स्पष्ट है ।

मनुष्य एक आध्यात्मिक यज्ञसत्त्वा है । परमेश्वर अग्नि ही गुरुपति है । वह जिस स्थान में प्रतिष्ठित रहता है, वही गार्हपत्यकुण्ड है । शरीर के पश्चिम भाग में नाभि से नीचे कर्तुण धरितगुहा गाहवस्य है । इसी में अयान नाम से प्रसिद्ध गार्हपत्यमग्नि प्रतिष्ठित है । चतुष्पटल शिरो-भाग ही चतुष्कोण आहवनीय है । इस में दिश्व प्रस्ताग्नि प्रतिष्ठित है । सत्यं प्रथा इसी अग्नि में आध्यात्मिक प्राणदेवताओं को तृप्त करने के लिए अन्वाहुति दी जाती है । इसी प्रकार शरीर रूप वेदि के दक्षिणभाग में अन्वपरिवाक करने वाला आठरमिन्द्रकुण्ड प्रतिष्ठित है । इसी को पिशा-शय कहते हैं । इसी आध्यात्मिक यज्ञोपनिषत् के आभार पर पूर्वाक्त यज्ञ का स्वरूप उपन होता है । मनुष्य के आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप ऐसा बनेसे बना । इस का उत्तर प्राकृतिक संसार यज्ञ ही है । संसारयज्ञ ही आधिभौतिक यज्ञ है । ऐसा इस का आकार है ठीक वसा ही आकार आध्यात्मिक यज्ञ का है । एक इस का जसा आकार है वसा ही आकार इस आधि भौतिक यज्ञ का है । आधिभौतिक (वैश्व) यज्ञ की उपनिषत् आध्यात्मिक यज्ञ है । आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् आधिभौतिक यज्ञ है । एक आधिभौतिक यज्ञ की उपनिषत् संसार स्वरूप ईश्वर की सत्प्र प्रथा है ।

भी प्रत्यक्ष रूप से, एव कोई भी व्यापक रूप से उपनिषद् नाम से सम्बोधन में नहीं आता ।  
 ऐसी दशा में चिरकाल से चले आये गये इस साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के आधार पर हमें  
 यही कहना पड़ता है कि उपनिषद् का एकमात्र अर्थपूर्ण ज्ञानयोगपूर्ण वेदात्मक ही है ।  
 ज्ञानयोग के निरूपण के साथ साथ इन्द्रिय वेदमय वेद के अन्तिम भाग होने से वेदात्मक है ।  
 फलतः इन्हें ही उपनिषद् शब्द से सम्बोधन करना व्यापक हो जाता है । यद्यपि गीता के  
 साथ संश्लेष का सम्बन्ध साधु नहीं होता फिर भी ज्ञानयोग का निरूपण करने के कारण,  
 साथ ही में पूर्णतया कृष्ण के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण अर्थात् उपनिषद् के समकक्ष सा  
 गते हुए अद्वैतवादी के रूप में बने के लिए अत्यन्त (इसके उपनिषद् न होने पर भी) गीता  
 को उपनिषद् कहा गया है ।

प्रश्न क्या सुन्दर है । परन्तु उत्तर के सामने इस का सागरी सीन्धु विद्यमान हो जाता है ।  
 हम दृष्टिकोण के विरोधी नहीं हैं । सम्भवतः आप से अधिक हम प्राचीन सम्प्रदायपरम्परा का  
 सम्मान करते हैं । फिर भी वेदात्मक को हम कभी उपनिषद् का अर्थपूर्ण मानने के लिए तैयार  
 नहीं हैं । हमारे इस दूर प्रश्न का समाधान आगे की पंक्तियों से मालूम हो जाता है ।

मौलिक रहस्य विज्ञान को हमने उपनिषद् कहा है । कर्ममेद से इस उपनिषद् के तीन  
 विभाग हो जाते हैं । कुछ कर्म अस्वभाव हैं कुछ कर्म पुरुषार्थ हैं । तीसरा विभाग सामान्य रूप  
 से कर्मभेद कर्म का है । जिस कर्म से हमें फल मिलना है वह पुरुषार्थ कर्म है । फलप्राप्त  
 करने का कर्म एक महाकर्म है । इसी को संकेत भाषा में कृत कहा जाता है । अनेक छोटे  
 छोटे कर्मों से इस महाकर्म का स्वरूप निम्न होता है । उस जिन अज्ञ कर्मों से एक अज्ञी  
 कृत का स्वरूप निम्न होता है, वे अज्ञान अथवा अज्ञान छोटे छोटे कर्म ही (कृत के लिए आत्मसम-  
 र्पण करने के कारण) कर्म कहलाते हैं । अर्थ-एव पुरुषार्थ दोनों कर्मों का फलानुभव से  
 सम्बन्ध है । फलप्राप्ति छोड़ देने पर इन का अर्थ-पुरुषार्थरूप (वैयक्तिकमात्र सम्बन्धी) विशेष  
 भाव हट जाता है । उस समय इन्हें केवल "कर्म" शब्द से ही व्यक्त किया जाता है । इस  
 प्रकार कर्म के अर्थ, पुरुषार्थ, सामान्यकर्म अर्थ से तीन विभाग हो जाते हैं ।

- १—तस्य वा एतस्याप्रवागेषोपनिषत् । (शत० १०।३।५।१)
- २—प्रपाठेया वानिनशाम् (शत० १०।३।५।१)
- ३—प्रय स्वस्त्रिय सर्वस्यै वाच उपनिषत् । (पे० आ० १।२।५)
- ४—वेदस्योपनिषत् सत्य, दानस्योपनिषद्दमः ।  
 दमस्योपनिषद्दान दानस्योपनिषत्तपः ॥१॥  
 तपसोपनिषत्तपाग स्वागस्योपनिषत् सुखम् ।  
 सुखस्योपनिषत् स्वगः, स्वर्गस्योपनिषत्सुखम् ॥२॥

(महा० शण्डिन० मोक्ष० २५१ अ० ११-१२ खो०) ।

उपनिषत् शब्द के उक्त वैज्ञानिक अर्थ से किञ्चित् अन्वित होने हुए प्राचीनों के अब सब दूर बंद होजाते हैं तो वे अपने इसी कोम में इस सम्बन्ध में हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित कर देते हैं । प्रश्न का स्वरूप यह है । ' ईश-केन-कठ आदि को उपनिषत् शब्द से सम्बोधित करना पिरन्तन सम्प्रदाय है । सभी विद्वान् एक स्तर से यह मानते आरहे हैं कि कर्म प्रतिपादक वेद भाग ब्राह्मण नाम से उपासना प्रतियदक वेदभाग आरण्यक नाम से, एवं ज्ञानप्रतिपादक वेद भाग उपनिषत् नाम से प्रसिद्ध है । जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द शतपथ-ताषट्पथ गोरथ आदि वेदग्रन्थों में ही निकट है, जैसे आरण्यक शब्द ऐतरेय-वैश्वीय शाङ्ख्ययन आदि वेदग्रन्थों में ही निकट है, एवमेव उपनिषत् शब्द को ईश-केन-कठ-मद्ग्न-मुण्डक-मा-स्यहृष्यक आदि वेद क अन्तिम ग्रन्थों में निकट मानना ही बृहत् स्पन्दहार से सर्वसम्मत है । एवं बृहत्स्पन्दहार ही शक्तिमाहक व्याकृत्य-उपमान-कोश-आप्तवाक्यवृत्ति में शिरोमणि माना गया है । अन्तर ही इस बृहत्स्पन्दहारपुस्तक पिरन्तन स्पन्दहार में यज्ञे मुख होगा । यदि ब्रह्मन्तव उपनिषत् का अन्वयेदक न होकर उपपत्तिमान ही उपनिषत् का अन्वयेदक होता तो ईशादि उपनिषदों की तरह शतपथ-ऐतरेयवृत्ति ब्राह्मण-आरण्यक मन्थ भी उपनिषत् शब्द से सम्बो-धित देय सुने जाते क्योंकि इन दोनों ही वेद ग्रन्थों में पद पद पर प्रायेक कर्म का मौलिक रहस्य प्रतिगहित हुआ है । परन्तु हम देखते हैं कि केवल ईशादि उपनिषदों को छोड़कर कोर

ऐसी उपस्थित होती है कि जिसका निराकरण प्रकृत सहासों से भी नहीं होसकता । वेदमन्त्रों को यह सिद्ध है कि इगोपनिषत् पहिली उपनिषत् है । यह उपनिषत् बजुर्वेदसहिता का ४० वां अध्याय है । जिसे आप वेद का अन्तिम भाग कहते हैं, वह मन्त्रात्मक वेद का भाग बनता हुआ आदिभाग है । बनसाएँ आरका वेदान्तत्व कहा गया । ऋषियोंने तो मन्त्रभाम तक को उपनिषत् शब्द से सम्बोधित करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि उपनिषत् शब्द का अन्वेषक वेदान्तत्व नहीं है । अपितु मौखिक विद्वान् सिद्धान्त का ही नाम उपनिषत् है । ओर सन्धि-विए । शतपथब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थों में अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है । यह वेद का दूसरा भाग है । आप को यह सुनकर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि शतपथब्राह्मण नाम के वेद के त्रितीय भाग के १४ वें कण्ड का ही नाम सुप्रसिद्ध 'मृहदारण्यकोपनिषत्' है । ब्राह्मणभाग में उपनिषत् का सम्बन्ध ! राम !! राम !!! कैसा अनर्थ । इस अनर्थ का ठहर उसी हृदयव्यवहार से पृथिवी ।

हम तो समझते हैं, उपनिषत् की इसी सम्प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के लिए ऋषियोंने केवल ब्राह्मणग्रन्थ में ही ब्राह्मण-भारण्यक-उपनिषत् तीनों का सम्बन्ध कर दिया है । शतपथब्राह्मण मन्त्राद्योप पूर्वक ब्राह्मण है । साथ ही में उसी योप के साथ शतपथ के १३ कण्डों में ब्राह्मण की प्रधानता है, एव १४ वें कण्ड में भारण्यक-उपनिषत् का विवेचन है । इन सब विषय परिस्थितियों के रहते भी जो प्राचीन वेदान्तत्व को ही उपनिषत् का अन्वेषक मानने का अभिनिवेश कर रहे हैं उन के सम्बन्ध में- 'पुराणविद्वान् न साधु सर्वम्' इस मूर्ख का स्मरण हो आता है ।

उपनिषत् शब्द को ऐसा सिद्ध बनाने की कोश आश्रयकता नहीं है । यावनी भाषा जिसे "उन्स" कहती है, पाश्चात् जगत् में जो प्रिंसिपल (Principle) कहलाता है, टीक उसी अर्थ में उपनिषत् शब्द प्रयुक्त हुआ है । हाँ उन्स एव प्रिंसिपल शब्द निबन्धन प्रणाली से शून्य रहते हुए अवैज्ञानिक शब्द है । एषर इमाप उपनिषत् शब्द निबन्धनभाव के कारण वैज्ञानिक शब्द है । यही तो संस्कृत भाषा का महत्व है ।

सक तीनों कर्मों की उपनिषद् सर्वथा भिन्न भिन्न है। ऋग्वेद कर्मों की उपनिषदों का स्वरूप वृषकू है, पुरुगार्थकर्मों की उपनिषदों का स्वरूप पूरे से भिन्न है, एवं सामान्य कर्मों की उपनिषदें अपना स्वरूप स्वतंत्र रखती हैं। ऋग्वेद कर्म अङ्गभूत होने से संसृष्ट में विद्येय हैं। ब्रह्मोपासन, भ्रम उपसर्ग, आश्रमन, प्राणायाम, ब्रह्मविराज, दीक्षा, पुरोहारसम्पन्न, कृपासोपानन, इष्टसमूहान आदि छोटे बड़े जिनमें भी ऋग्वेद कर्म हैं उन सब की उपनिषदें (मौखिकउपनिषदि) तो सत्य ब्राह्मण भाग में उन उन कर्मों के साथ ही बतला दी गईं हैं। कुछ कर्मों में उपनिषदें कर्मप्रदान ऋषयों की प्रवचनता से अङ्गभूत हैं, अतएव इन्हें विद्येय रूप से उपनिषद् शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं आता। पुरुगार्थ कर्मों में से कुछ की उपनिषदें तो सत्य ब्राह्मण में ही बतला दी हैं। एव जिन का महाविद्यालय से सम्बन्ध था, उन का उपनिषद् भाग में ही निरूपण किया गया है, जैसा कि उदाहरण सहित उपनिषद्विद्वान्भाष्यभूमिका में बतला दिया गया है। जो पुरुगार्थकर्मोपनिषदें ब्राह्मण भाग में आगर्भ हैं, उन को भी ऋग्वेदकर्मोपनिषदों की तरह उपनिषद् शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं है।

उप रहती हैं सामान्यकर्मोपनिषदें। ब्रह्मसौकर्य के लिए कारुणिक महर्षियोंने उन का सत्स्वरूप से निरूपण कर दिया है वे ही सत्स्वरूप वेद के अन्तिम भाग होने से वेदशत नामसे, एवं उपनिषद् प्रधान होने से उपनिषद् नाम से व्यवहृत हुए हैं। कर्म किया ही क्यों जाय। इस की उपनिषद् ज्ञान है। ज्ञानोदय के बिना शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती, एव बिना कर्म के ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। जिन कर्मों से ज्ञान का उदय होता है? कर्म का अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिए? संस्कार जनक कर्मों का संस्कारण किस उपाय से होना चाहिए? उपनिषद्ग्रन्थ (श्री प्रश्नों का समाधान करता हुआ ज्ञान को, किश सुविद्योग को अपना अर्थ बनाता है। इसी आधार पर उपनिषद् ज्ञानयोग का प्रतिपादक मान लिया गया है। परन्तु इससे यह कभी सिद्ध नहीं होसकता कि उपनिषद् का अर्थसुन्दर एकमात्र व्याख्यान, किश वेदान्त ही है।

जोही दर के द्विज हम मान लते हैं कि उपनिषद् का अर्थसुन्दर वेदान्त ही है। ईश्वरि ग्रन्थ ही उपनिषद् कहना सकते हैं। यदि ऐसा है तो एक विप्रतिपाद हमारे सामने



ऐसी उपदिष्ट होती है कि जिसका निराकरण प्रयत्न सहस्रों से भी नहीं होसकता । वेदमन्त्रों को यह विदित है कि इगोपनिषत् पहिली उपनिषत् है । यह उपनिषत् यजुर्वेदसंहिता का ४० वां अध्याय है । जिसे आप वेद का अन्तिम भाग कहते हैं, वह मन्त्रात्मक वेद का भाग बनता हुआ आदिभाग है । बतलाएँ आरका वेदान्तत्व कहा गया । ऋषियोंने तो मन्त्रभासतक को उपनिषत् शब्द से सम्बोधित करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि उपनिषत् शब्द का अन्वेषक वेदान्तत्व नहीं है । अथिस्तु मौखिक विज्ञान सिद्धान्त का ही नाम उपनिषत् है । ओर से—जिए । शतपथब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थों में अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह वेद का दूसरा भाग है । आप को यह सुनकर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि शतपथब्राह्मण नाम के वेद के द्वितीय भाग के १४ वें काण्ड का ही नाम सुप्रसिद्ध 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है । ब्राह्मणभाग में उपनिषत् का सम्बन्ध ! राम !! राम !!! कैसा अनर्थ । इस अनर्थ का उच्छर उसी वृद्धव्यवहार से पृष्टिए ।

हम तो समझते हैं, उपनिषत् की इसी सम्प्राप्ति को सिद्ध करने के लिए ऋषियोंने कबल ब्राह्मणग्रन्थ में ही ब्राह्मण—आरण्यक—उपनिषत् तीनों का सम्बन्ध कर दिया है । शतपथब्राह्मण अष्टाधोय पूर्वक ब्राह्मण है । साथ ही में उसी षोड के साथ शतपथ के १३ काण्डों में ब्राह्मण की प्रधानता है, एव १४ वें काण्ड में आरण्यक—उपनिषत् का निवेशन है । इन सब निस्पष्ट परिस्थितियों के रहते भी जो प्राचीन वेदान्तत्व को ही उपनिषत् का अन्वेषक मानने का अभिनिवेश कर रहे हैं उन के सम्बन्ध में—'पुराणमिश्र न साधु सर्वम्' इस सूक्ति का स्मरण हो जाना है ।

उपनिषत् शब्द को एसा विचार बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है । यकनी भाषा जिसे "ड्यूस" कहती है पाश्चात्य जगत् में जो प्रिंसिपल (Principle) कहलाता है, ठीक उसी अर्थ में उपनिषत् शब्द प्रयुक्त हुआ है । हाँ उसका एव प्रिंसिपल शब्द निबन्धन प्रणाली से ग्रह्य रहते हुए अवैज्ञानिक शब्द है । इधर हमारा उपनिषत् शब्द निबन्धनभाव के कारण वैज्ञानिक शब्द है । यही तो सस्कृत भाषा का महत्व है ।

पूरा सन्दर्भ से जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उपनिषत् शब्द का अर्थशुद्धक पौष्टिक विज्ञान सिद्धन्त है तो अब इस मीमांसा के उपनिषत् कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अथवा, एक बुद्धियोग मीमांसा इस दोनों का मौखिक विज्ञान कथनात् है। न केवल विज्ञान ही कथनात्, अपितु साथ साथ उसे व्यवहार में लाने का वाचस्पत्ययि सभ उपाय भी कथनात् है। ऐसी दृष्टि में मीमांसिका महारथेतर की अपेक्षा न रखती इस अर्थरूप से अर्थरूप ही उपनिषत् है।

इति-उपनिषच्छब्दरहस्यम् ।

## ४—मगवद्गीतोपनिषत्-नामरहस्य

स्पष्टरूप से पाठकों के सामने पीतानाममीमांसा रखी गई । इन संज्ञाविज्ञान पूर्वक समष्टिरूप से उक्त नाम की मीमांसा की जाती है । एक दर्शनमूलक के लिए जहाँ यह मीमांसा केवल वस्तुना का सायाव्य है, वहाँ एक वैज्ञानिक की दृष्टि में इस मीमांसा का यज्ञ महत्त्व है । ध्वंसरथ ही एक दार्शनिक, किंवा एक साम्प्रदायिक मतवाद के अभिविवेक के कारण अपनी वस्तुना के विपरीत कुछ सुनना पसन्द नहीं करता । पर तु विज्ञानदृष्टि को प्रधानता देने वाला, प्रत्येक नियम की उपपत्ति जानने की चेष्टा करने वाला एक विधारणसिद्ध वैज्ञानिक प्रकृतिसिद्ध नित्यधम्म का अनुयायी बनना हुआ अवश्य ही इस मीमांसा को अपने समग्रित्यन्तरेषु में सहायक समझेगा ।

नाम मन्त्रात्म्य कितनी विशिष्टता रखता है यह बतलाने का अवसर नहीं है । आज जो भारतवर्ष में धर्म मरणा हो रही है, उस का मुख्य भेद नामस्मरण को ही है । स्वयं वेद ने भी नाम (शब्द) को साक्षर ब्रह्म का स्वरूप माना है । और किसी साहित्य के सम्बन्ध में तो हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है, परन्तु संस्कृतसाहित्य के सम्बन्ध में तो हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि इस में तो सम्पूर्ण वैज्ञानिक दृष्ट्य शब्दों में ही भरा पड़ा है । महर्षियों ने ठन्ही शब्दों का ठन्ही नामों का प्रयोग किया है, जो अपनी मन्त्र्य एवं अवयवनिवेश आदि की विशिष्टता से ही वैज्ञानिक भावों को प्रकट कर रहे हैं । नहीं नहीं, वैदिक साहित्य की तो यह भी प्रतिज्ञा है कि यदि कोई व्यक्ति शब्द ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप जान लेता है तो उसे बिना किसी अन्य प्रयास के परब्रह्म का बोध हो जाता है । नाम तत्त्व की इसी विशिष्टता को प्रकट करत हुए श्रुति कहते हैं—

द्वे वाच शब्दयो रूपे शब्दब्रह्म पर च यत् ।

शब्दं ब्रह्मणि निष्कालतः परं ब्रह्माभिगच्छति ॥

भारतीय वैज्ञानिकमन्त्रों के पद्य, रसोक, वाच्य, शब्दों की क्या तो दूर है । वसु का तो प्रत्येक अक्षर भी किसी गुण रहस्य से सम्बन्ध रखता है । बिना प्रयोजन के एक स्वर, मात्रा, बह्वक्षर भी प्रयोग नहीं हुआ है । अपने इसी अतिशय का कारण शब्दविज्ञानवेत्ताओं (नेत्याकरखों) ने

परब्रह्मत् शब्द का जिस माना है। इसी विषयसत्य के कारण परमैकान्तिक वैदिक साहित्य अपौरुषेय कहाया है। चूंकि गीता सिद्धांतशास्त्र है, एक विज्ञान में कोई वस्तु निरर्थक नहीं हो सकती। ऐसी दशा में हम कहेंगे कि "मगवब्रीतोपनिषत्" इस नाम का, नाम से सम्बन्ध रखने वाली अक्षर संख्या का अन्वय ही कोई मौखिक रहस्य है। उसी रहस्य का संक्षेप से निम्नरूप करना इस प्रकार का मुख्य अर्थ है।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर गीता नाम का अर्थ करत हुए हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि— 'यह स्मार्ती उपाधि मगवान् के द्वारा गई गई (विस्तार से कही गई) है, अतएव यह "मगवब्रीतोपनिषत्" नाम से सम्बोधित हुई है"। पूर्वकथनानुसार एक सम्प्रदायिक अन्वय ही इस अर्थ से समुप हो जाता है। परन्तु रहस्यार्थ के बिना एक वैज्ञानिक का केवल उक्त अर्थ से ही समुप नहीं हो सकता।

पूर्व के उपनिषद्भ्रंशरहस्य प्रकार में यह विस्तार से बताया जा चुका है कि मौखिक रहस्य, मौखिकविज्ञान, किंवा मौखिक उपपत्ति को ही उपनिषद् कहा जाता है। किसी भी विषय के, किंवा कर्म के मौखिक रहस्य का जब हमें पारदर्शन हो जाता है, दूसरे शब्दों में जब हम किसी विषय का तात्त्विक स्वरूप समझ लेते हैं तो उस विषय में हमारी पूर्ण अज्ञा, एवं पूर्ण विज्ञास हो जाता है। "जिस रहस्यविज्ञान के परिज्ञान से हम जिस विषय के निकटतम उस की गहराई में पहुँचने में समर्थ हो जाते हैं, वह रहस्यज्ञान ही उस विषय की उपनिषत् कहलाती है"। 'उप-(वहुत नजदीक)-नि (किञ्चुल गहराई में)-पत् (पहुँचने का किंवा बैठने का साधन) ही उपनिषत् है। रहस्यज्ञान ही उपनिषत् है।

रहस्य शब्द भी कम रहस्य नहीं रहता। रहस्य शब्द उस तत्व का वाचक है जो तब तक शब्दों में प्रायद्वन्द्व से प्रतिपादित न होकर परोक्षभाव से सम्बन्ध रहता है। अतः को यह जान कर आश्चर्य होगा कि बहिरङ्ग साहित्य में तबों के जिनमें भी नाम प्रयुक्त हुए हैं उन सब का परोक्ष-भाव से ही सम्बन्ध है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, अश्वि, विष्णु भी नाम अतः सुनाते हैं, सब में परोक्षभाव का समावेश है। अत्यधिक नामों को छिपा कर परोक्षप्रिय विज्ञानों न

उन के स्थानों में अग्नि-इन्द्रादि शक्तियों का व्यवहार किया है। उक्त नामों के वास्तविक नाम क्रमशः अग्नि, इन्द्र, चरक्य, अग्नि, मुच्यु, रसतम हैं। यही वैदिक साहित्य का रहस्यभाव है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—अग्निर्ह्यै तमग्निरित्याचक्षते परोक्ष, परोक्षकामा हि देवाः ।

(शत०६।१।१।११) ।

२—इन्द्रो ह्ये तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्ष, परोक्षकामा हि देवाः ।

(शत०६।१।१।१२) ।

३—त वा एतं चरक्यं सन्तं चरुग्यं इत्याचक्षते परोक्षम् ।

परोक्षकामा हि देवा प्रत्यक्षद्विप । (गो० प्रा०पू० १।७) ।

४—अत्तिर्ह्ये नामैषद्यदात्रिरिति । (शत० १।५।२।२) ।

५—त वा एतं मुच्यु सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षम् ।

परोक्षमिषा इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विप । (गो०पू० १।७) ।

६—रसतमं ह्ये तद् रयन्तरमित्याचक्षते परोक्षम् ।

(शत० २।१।२।३६) ।

उक्त वचनों से हमें कैसे उदात्त ओकरणाहच का आदेश मिलता है, यह भी स्थान में रखना चाहिए। सत्य की कल्पित परिभाषा बनाने वाले कश्चरुनिकों की कृपा से आज हम परोक्षभाव से सबका पीछे हट गए हैं। हमने इसी में अपना महत्व समझ रक्खा है कि प्रत्येक नियम का, प्रत्येक कर्म का अभिप्रेत धोष करत हुए ही आगे बढ़ें। हमें यह पता नहीं है कि जिस नियम को रहस्य में नहीं रक्खा जाता, वह आत्मशक्ति से बञ्चित होता शुष्म निम्न बन जाता है। क्योंकि आत्मा सर्वथा परोक्ष है। फलतः सबका काम करतो हुए भी आत्मशक्ति प्रत्यक्ष में नहीं आती। हमारा प्रत्येक काय रहस्य में होना चाहिए। मन्त्रणा ही कलम्प कर्म का जीवन है। क्रिया कुङ्कु नहीं, धोखा सार मिथ में कर दी, यही हमारी अवनति का मूल

करण है। सचमुच आज हम विश्वकुल कोट हो गए हैं। आचार, व्यवहार, सम्मानण सब में सत्यता का पुट सगुते हुए आज हम निरन्तर बन गए हैं, परोक्षमात्र सर्वथा छोड़ दिया है, मयादा को जबाबदारी समर्पित कर दी है। इसी महाराजपक्ष ने हमारे अन्तर्गत को छोड़कर कर बाधा है। स्मरण रखिए आज अपने कतम्य में खितने ही गुप्त रहेंगे, आप की आत्मशक्ति उतनी ही अधिक विकसित होगी। शक्तिवृद्धि के लिए परोक्षमात्र से बढ़कर अन्य उपाय का अभाव है।

अतः प्रसन्न यह था कि आयसाहित्य के प्रत्येक शब्द में गुप्त रहस्य रहता है। एक वह गुप्त रहस्य या तो ईश्वरवत् दिव्य आसौक्तिक प्रतिभा से सुरक्षित रहता है, अथवा गुरुपरम्परा में सुरक्षित रहता है। अपने परिमित सामान्य ज्ञान से बिना किसी गुरु का आश्रय लिए केवल शब्दों के आचार पर उस रहस्य पर आज का आशा कभी नहीं पहुँच सकता। जो शक्ति अपने बुद्धिवाद के अविमान में पड़कर सम्प्रदाय की उपेक्षा कर अपने आप ही शास्त्रों के गुप्त रहस्य को जानने की चेष्टा करता है, उसका यह प्रयास सर्वथा व्यर्थ माना जाता है। गुरु हमें दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं। उसी दृष्टि के बस पर हम गुप्त रहस्यों पर पहुँचने में समर्थ बनते हैं। अर्जुन जैसा महाबुद्धिमान् मनुष्य भी तत्काल उस बुद्धियोग को, भगवान् के उस गुप्त रहस्य को न समझ सकता, न देख सकता, जब तक कि भगवान् ने उसे दिव्यदृष्टि प्रदान नहीं कर दी। सङ्घट्टित अर्जुन सर्वगुरु कृष्ण के अनुग्रह से ही गीतोपनिषद् नाम के रहस्य शास्त्र के सम्पत् परिहास का अधिकारी बन सका। इस परिदृष्टि से कहना हमें यही है कि केवल माध्य, टीका, टिप्पणियों का आचार पर बिना गुरुदृष्टि के रहस्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेना सर्वथा असम्भव है। अन्याय आचारशास्त्र ने दीक्षा को ही ज्ञानप्राप्ति का मुख्य द्वार माना है। तन्त्र की दृष्टि से अदीक्षित मनुष्य किसी भी ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

रहस्य रहस्य है, एकान्त की वस्तु है, गुप्तनिधि है। सभी मनुष्य इस के अधिकारी नहीं बन सकते। यही कारण है कि देवयुगकाल में इति वासी ब्रह्मपर्वतो में किसी कुम्भपति के उपदेश करने पर यदि कोई रहस्य की बात आनाती थी तो कुम्भपति गुरु सब के सामने उठ

को प्रकट न कर अपने विद्वान्नु प्रिय मित्र्य को हाथ पकड़ कर एकत्र स्थान में खेजाते थे, एव उस रहस्य का उपदेश देते थे। महर्षि गार्ग्य ने अपने सच्चिद्व्य अज्ञानशुभु को इसी प्र-  
 णाली से रहस्य का उपदेश दिया था [देखिए शत० १४।५।]। रहस्य परिज्ञान रहसि [एकान्त]  
 में होने से ही रहस्य कहलाता है, एव उसके लिए प्रत्येक दशा में गुह्यरम्य का अभय ही  
 प्रपञ्चित है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

१—यच्छ्रेयः स्वप्रसिद्धितं गृहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शशिषिं वां त्वां प्रपन्नसः ॥

(गीता० २।७) ।

२—म एषय मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

मच्छोऽसि मे सखा चेति रहस्यं श्रेतवुचयसः ॥ (गीता ४।१) ।

३—वद्विद्धि प्रथियातेन परिसरनेन सवया ।

उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ (४ ३ २) ।

सबमुक्त गीता एक रहस्य शास्त्र है। रहस्यज्ञान ईशरीय ज्ञान होने से इश्वर की दन है।  
 "सीलिए वो इस रहस्यग्रन्थ [वेद] को भविष्यो में अपीरुपेय कहा है। श्रुतिवो के पवित्र अन्त-  
 करण में उन के अजय तपःप्रभाव से जिस अलौकिक रहस्य ज्ञान का, किंवा ईशरीय ज्ञान का  
 उदय हुआ उसी को उम्हों में मन्त्रशक्त् द्वारा संसार के सामने रक्खा। यही इतहास है, पाक साक  
 मुद्रा व पाक साक फलान ह। यही वेद ह। इश्वर हमारा गीताशास्त्र यद्यपि वेद नहीं है, परन्तु  
 रहस्यशास्त्रात्मक यह गीताशास्त्र भी श्रुति से कम महान नहीं रखता। तभी तो यह [स्मृति होने हुए  
 भी] उपनिषद् शब्द से सम्बोधित हुआ है।

श्रीती उपनिषद्, एव इस स्मार्ती गीतोपनिषद् में विज्ञान दृष्टि से यद्यपि सम्पन्नता है।  
 तथापि वाक्दृष्टि से दोनों में अहोरात्र कर अन्तर है। इसी अन्तर के कारण इसे अपीरुपेय नहीं  
 माना गया, इसीलिए इस की गणना श्रुतिशास्त्र में नहीं की गई, अतएव इसे वेदवत् स्वतः प्रमाण  
 नहीं माना गया। श्रीती उपनिषद् का जहाँ विज्ञानशक्त् से सम्बन्ध है, वहाँ इस स्मार्ती गीतोप

कारण है। सचमुच आज हम विश्वकुल फ्रेट हो गए हैं। आचार, व्यवहार, सम्मानय सब में सत्ता का पुट सगले हुए आज हम निरन्तर बन गए हैं, परोक्षमात्र सर्वथा छोड़ दिया है, मयादा को बखालति समर्पित कर दी है। इसी महाराजयचना ने हमारे अन्तर्जगत् को लोकसा कर बाधा है। हमारा रस्तिर आज अपने कलम्य में नितने ही गुप्त रहेंगे, आज की आत्मशक्ति उतनी ही अधिक विकसित होगी। शक्तिवृद्धि के लिए परोक्षमात्र से बढ़कर अन्य उपाय का अभाव है।

अस्तु प्रसन्न यह था कि आर्यसाहित्य के प्रत्येक शब्द में गुप्त रहस्य रहता है। एक शब्द गुप्त रहस्य या तो ईश्वरदत्त दिव्य अमौक्तिक प्रतिभा से सुरक्षित रहता है, अथवा गुरुपरम्परा में सुरक्षित रहता है। अपने परिमित सामान्य ज्ञान से बिना किसी गुरु का आज्ञा लिए केवल शब्दों के आधार पर उस रहस्य पर आज्ञा का आस्वा कभी नहीं पहुँच सकता। जो व्यक्ति अपने बुद्धिवाद के अस्मिमान में पड़कर सम्प्रदाय की उपेक्षा कर अपने आज्ञा ही शब्दों के गुप्त रहस्य को जानने की चेष्टा करता है उसका यह प्रयास सर्वथा व्यर्थ बला जाता है। गुरु हमें दिव्यवृद्धि प्रदान करते हैं। उसी वृद्धि के अन्त पर हम गुप्त रहस्यों पर पहुँचने में समर्थ बनते हैं। अर्जुन जैसा महाबुद्धिमान् मनुष्य भी तत्काल उस बुद्धियोग को, भगवान् के उस गुप्त रहस्य को न समझ सक्य, न देख सक्य, जब तक कि भगवान् ने उसे दिव्यवृद्धि प्रदान नहीं कर दी। सन्निवृत्त अर्जुन सद्गुरु कृष्ण के अनुग्रह से ही गीतोरनिषत् नाम के रहस्य शास्त्र के सम्पूर्ण परिचय का अधिकारी बन सका। इस परिस्थिति से कहना हमें यही है कि केवल माध्य, टीकर, टिप्पणियों के आधार पर बिना गुरुदीक्षा के रहस्य शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर लेना सर्वथा असम्भव है। अतएव आगमशास्त्र ने दीक्षा को ही ज्ञानप्राप्ति का मुख्य द्वार माना है। तन्त्र की वृद्धि से अदीक्षित मनुष्य किसी भी ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

रहस्य रहस्य है, एकात्म की वृद्धि है, गुप्तनिधि है। सभी मनुष्य इस के अधिकारी नहीं बन सकते। यही कारण है कि देवयुगकाल में होने वाली असंपर्पदों में किसी कुम्भपति के उपदेश करने पर यदि कोई रहस्य की बात आजाती थी तो कुम्भपति गुरु सब के सामने उस



गीताशास्त्र का शब्दवाक् से सम्बन्ध है। इसीलिए हम गीता के रसिकों को मन्त्र न कह कर रसिक शब्द से ही सम्बोधित करते हैं। जिह प्रकार वेद का पारायण एक विशेष महत्त्व रखता है, वैसे गीतारसिकों के पारायण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, इन के जप से कोई विशेष सिद्धि नहीं है। यद्यपि शब्दविज्ञान के अनुसार पारायण भी काबान्तर में अक्षरय ही अतिशय का कारण बन जाता है, इसीलिए गीतामाहात्म्य में गीतापारायण को भी महत्त्व दिया गया है तथापि विशाख साम गीतार्थ के अनुसार पर ही अभिव्यक्त है। मन्त्रवाक् का शब्द भी उपयोगी है, परन्तु शब्दवाक् का अर्थ ही प्रधानरूप से हमारा उपकारक बनता है। बुद्धियोग शब्द सुनने से ही हमारा कर्मपाण्य नहीं हो जाता। अपितु इस के लिए हमें बुद्धियोगसम्पत्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। विज्ञानवाक्, एव शब्दवाक् में यही अन्तर है। इसी अन्तर ने गीतोपनिषत् को धौती उपनिषत् से पृथक् कर रखा है। वेद जैसे ईश्वरकृत है, तथैव गीताज्ञान भी ईश्वरकृतार श्रीकृष्णद्वारा उद्मामित है। मनुष्यों के द्वारा लिखित श्राद्धों के शब्दों में मन्त्र ही कइ विशेष रहस्य न हो, परन्तु इश्वरीय गीता शब्द अक्षरय ही किन्ती निगूढ रहस्य से सम्बन्ध रखता है।

गीताशास्त्र चतुर्विध बुद्धियोगों के द्वारा चतुर्विध क्लेशों को हटाता हुआ आत्मा में धर्म-प्राप्त-वैराग्य-प्रेक्ष्य इन चार भगों के उद्भव का कारण बनता है। गीता एकमात्र क्लेशनिवृत्तिपूर्वक भगप्राप्ति का उपाय बतलाती है। जिस मनुष्य की बुद्धि में भग प्रसिष्टन रहेगा, यह उपनिषत् उसी की उपनिषत् होगी। गीता भग-बान् की है। जो इसे अपनी मूढपटिष्ठा बना लेता है, वह अपनी प्राक्षिप्तिक भगसम्पत्ति से युक्त होता हुआ अक्षरय ही भग-बान् बन जाता है। "गीता भग प्राप्ति का उपाय बतला कर जीव को भगवत् सम्पत्ति से युक्त कर देती है"। "सी रहस्य को सूचित करने लिए ऋषय ने इसे "भगवद्गीतोपनिषत्" [भगवत् प्राप्ति का उपाय बतलाने वाली गीतोपनिषत्] नाम से सम्भावित करना आक्षरयक समझ है।

भगसम्पत्ति का प्रदाना यह गीताशास्त्र केवल विधि-निर्वाणक शास्त्र ही नहीं है। हमें मन्त्रादि अन्य स्मृतियों की तरह "यह करे वह मतकरो"—इस प्रकार की आज्ञा एव नियमों का ही समझ नहीं है। अपितु इस सम्बन्ध में जो शस्त्री धौती उपनिषत् की है,

निपट् च उन्मत्तश्च से सम्बन्ध है। विमलशब्द को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र की परिचय क-  
 प लक्षण है। प्राकृतिक विमल रूप का जिस रूप से, जिस उष्णवर्णमय से, जिस नमोवर्ण  
 से प्रकृति में सन्निवृत्त है, ठीक उन्मत्त की प्रकृति पर जिस शब्द का सन्निवेश हुआ है, वही उन्-  
 मत्तशब्द कहा जाता है, उन ही मन्त्र कहा जाता है। जो महान् मन्त्रप्रतिष्ठान विष्णु का है,  
 वही महान् तद्ब्रह्मक मन्त्र का है वही मन्त्रका मन्त्र है। उदाहरण के लिए गायत्रीमन्त्र को ही  
 संक्षिप्त। आग्निब्रह्म मन्त्रा गमन है। वह गायत्री मन्त्र से छान्दस रहता है। गायत्री मन्त्र उस  
 गायत्री लक्ष्मी की प्रतिरूप है। मन्त्रो मन्त्र में उसका छ अनुसार उगाद्यदि मन्त्रों का सम्बन्ध हुआ  
 है। यदि उस मन्त्रो दन्ता यो मन्त्र आग्ने अन्तरात्मकत्वे प्रकृतित करना शक्य है त गायत्री  
 मन्त्र का जो संक्षिप्त। बुद्धि यह उस की प्रकृति है, अन्तरात्मक के लक्षण जो न सम्बन्ध  
 पर विद्यमान है अनुसार यह दक्षिण आर्क्षित होता हुआ मन्त्र का मन्त्रा में प्रतिष्ठित हो जाता।  
 यदि मन्त्र न मन्त्रप्रकृति में एक मात्रा की, सार की वा की नी श्रुति पर गतो तो सम्बन्ध  
 जायत, एवं उस दशा में वही मन्त्र अम्युदय के स्थान में मन्त्र का कारण बन जाता। एवं ही  
 मन्त्र का यह न मन्त्र लक्षण रहता कि, मन्त्र गायत्रीदीक्षा के अधिकारी है, अथवा नहीं। एवं  
 है मन्त्रा सभी गायत्री जो काल में यह अस्मन्त है। जिस के अन्तरात्मक में मन्त्र मन्त्र का है  
 इस मन्त्रा की प्रकृति होता है, वही द्विजाति कहा जाता है। वही इस दीक्षा का अधिकारी है।  
 मन्त्रिण मन्त्रो के मन्त्र को इस सम्बन्ध में अनधिकारी मन्त्रा है। ब्रह्मण यह है कि मन्त्र का  
 लक्षण सम्बन्ध लिखित है, एवं उस के उसी रूप से प्रयोग करने में मान है। यदि कोई मन्त्रिण  
 मन्त्रात्मक में उस का जो करने का दु साहस करता है तो यह उस की भक्ति है। मन्त्र मन्त्र  
 सौगा नहीं है। मन्त्र मन्त्र है रहस्यविद्या की प्रतिष्ठाया है। जप नी मन्त्र का करने से मन्त्र  
 मन्त्र दृष्ट हो जाता है, मन्त्रमन्त्रा के स्थान में अनिष्ट जनक बन जाता है। मन्त्र इस सम्बन्ध  
 में श्रुति स्या कहती है—

शुभं श्रेष्ठः स्वस्तो यथातो वा मिथ्याममुक्तौ न वर्धयिमाह ।  
 स भाग्यतो यजमान दिनित यजेन्द्राणुः स्वस्तोऽपगपात्र ॥

उपासम्वन स्फोट एक तीसरा ही तत्व है। व्यञ्जन अद्भुताधिक है, स्वर मात्रिक है, एव स्फोट अमात्रिक है। व्यञ्जन की प्रतिष्ठा स्वर है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि बिना स्वर को आधार बनाए अथ विमुक्त व्यञ्जन का उच्चारण नहीं कर सकते। इसी प्रकार स्वर की प्रतिष्ठा स्फोट है। इसी से अथ स्फुट होता है।

यह एक बड़ा ही चमत्कार है कि जहाँ व्यञ्जन अपनी प्रतिष्ठा, किंवा स्थिति के लिए केवल एक विन्दु की अपेक्षा रखता है, वहाँ स्वर स्वप्रतिष्ठके लिए २ विन्दुओं का आश्रय लेता हुआ २ विन्दुओं को अपनी आश्रय स्थान बनाता है। २ विन्दुओं में से १-६ इन दो विन्दुओं पर तो स्वयं स्वर उच्च [मूलस्थिति] रूप से प्रतिष्ठित रहता है, एव शेष ७ विन्दुओं में [२ पूर्व की विन्दुओं एव ३ उत्तर की विन्दुओं में] वही स्वस्वार्थ अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त होता है। अपने वही अर्क के आधार पर स्वर व्यञ्जनों को अपने घगतल पर प्रतिष्ठित रखता है। स्वर का एसा स्वरूप क्यों है, यह ६ विन्दुओं में ही अपनी आश्रय क्यों रखता है, व्यञ्जन क्यों नहीं बिना स्वर के उच्चारण का विषय बनता ? इन सन प्रश्नों की उपनिषद् मूर्त्यदेवता है।

इन्दोमैत्रान के अनुसार सूर्य शृङ्खलीकुन्द पर प्रतिष्ठित माना गया है। अन्तिवृत्त में सात अक्षरवृत्त माने गए हैं। इन्हीं को पूर्वापवृत्त भी कहते हैं। इन्हीं सातों को विद्वान् भाषा में दक्षिण से आरम्भ कर क्रमशः गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, शृङ्खली, पङ्क्ति, विष्टुप्, जगती 'न नामो स व्यवहृत किया जाता है। यही सूर्य के रिष्मय [अग्निमय] रथ के सातों अक्षर अक्षर को ही छद्म कहा जाता है। छद्म पर ही प्राकृतिक देवता प्रतिष्ठित रहते हैं।

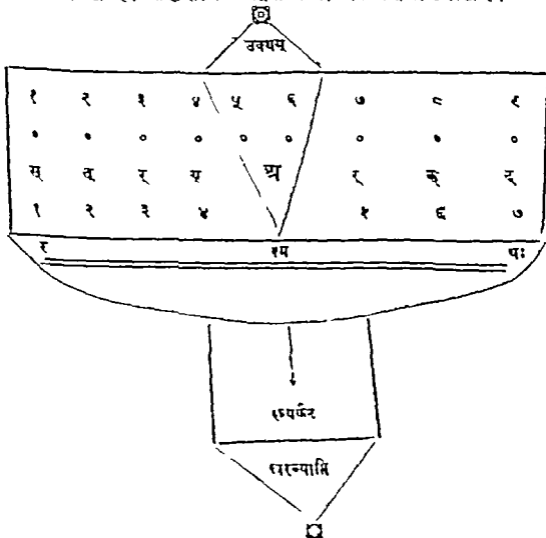
उक्त सातों इन्द्रों में मध्य का इन्द्र सबसे बड़ा है, अतएव इसे शृङ्खलीकुन्द कहा जाता जाता है। इसी को आसुर ज्योतिष में विषुववृत्त, किंवा विष्ववृत्त कहा गया है। यही पश्चिम भाषा में इक्वेटर (Equator) नाम से प्रसिद्ध है। गणपती के ६ अक्षर हैं, उष्णिक ७ अक्षर का, अनुष्टुप् = अक्षर का है, एव शृङ्खलीकुन्द २ अक्षर का माना गया है। नवाक्षर शृङ्खलीकुन्द ही सूर्य की प्रतिष्ठा है। इसीलिए सूर्य को 'शृङ्खली' भी कहा जाता है,

वही शक्ति उनकी भी है । मन्त्रादि सृष्टियों का कृत्तव्य केवल विधि-निषेधमात्रों पर ही सम्पन्न हो जाता है । ये धर्म का मौलिक रहस्य बतलाने में कटस्थ हैं । यदि उनसे कोई रहस्य ज्ञान की विज्ञप्ता करवा है तो उनकी ओर से इस विज्ञप्ता का- 'धर्म्यं निज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' यह उत्तर मिलता है । उत्तर का अर्थिष्यय यही है कि यदि तुम धर्म के रहस्य-ज्ञान की विज्ञप्ता रखते हो तो इस के लिये तुम्हें वेद की शरणा में ही जाना चाहिए । यही मौलिक रहस्य का उद्देश्य है । टीका यही दियेगी गीता की समझिए । विधि-निषेधमात्रों के साथ साथ गीता वेद पर अपना भार न छाड़कर- "इसमिष्ट ऐसा करो, इसमिष्ट ऐसा मत करो" इत्यादि उपनिषत् भी साथ बतला देती है । मौलिक उपनिषत् ही तो ज्ञानकर्म का रहस्य है, रहस्य ही तो उपनिषत् है । इसीलिये अपने विधि-निषेधमात्रों के कारण जहाँ गीता की अनुमन्य प्रमाणरूप श्रुतिशास्त्र में गणना की है वहाँ श्रुतिवत् रहस्यज्ञान का प्रतिपादन करने के कारण 'मे उपनिषत् भी कहना उचित मान लिया गया है । इस प्रकार भगवत् शब्द भगवान् का सूचक है, गीताशब्द शब्दार्थ का सूचक है, एव उपनिषत् शब्द रहस्य ज्ञान का परिचायक है । गीताशास्त्र में भगवद्भाव की प्राप्ति होती है इसलिये यह भगवत् है । यह शास्त्र शब्द वाक्यमय है, 'सलिये यह गीता है । यह शास्त्र रहस्य का प्रतिपादक है, इसलिये यह उपनिषत् है । इस लिये से "भगवद्गीतोपनिषत्" इस नाम का "भगवत्साप्पुराणमृतशब्दवाच्यमपरहस्यशास्त्र" यही निरूपण निकलता है । यही इस नाम की द्वितीय व्याख्या है ।

१-भगवत्साप्पुराणमृत शास्त्रम्	→	भगवत्,	} → "भगवद्गीतोपनिषत् शास्त्रम्"
२-शब्दवाच्यमयं शास्त्रम्	→	गीता	
३-रहस्यज्ञानमयं शास्त्रम्	→	उपनिषत्	

प्रमाणरूप में विचार कीजिए । शब्दवाच्यमयशास्त्रों को यह विदित है कि व्युत्पन्न एक भिन्न वस्तु है, एव शब्द एक स्वतन्त्र तत्त्व है । इन दोनों का व्युत्पन्न, अतएव

उक्त स्वर-व्यञ्जन निदर्शन से पाठकों को यह भी निहित हो गया होगा कि एक स्वर की ध्वनि श्रृंखला में १ २ ३ ४ ५ ६ ७ तक व्यञ्जन प्रविष्टित रह सकते हैं। यदि ८ वां व्यञ्जन आवेगा तो वह एक स्वर उसे आधय देने में असमर्थ हो जायगा। तत्काल दूसरा स्वर आकूदेगा। उदाहरण के लिए "ह्यक्त्" शब्द को लीजिए। निम्न लिखित परिच्छेद में पाठक देखेंगे कि स्वर एक ही, ७ व्यञ्जन सात हैं। एक ही स्वर ने ७ व्यञ्जनों का भार अपने आभा पर ले रक्खा है।



जैसा कि—“सूर्यो बृहतीमत्पृथस्तपति”—“बृहद् तस्यो भुवनेष्वन्ता”—“विद्यार पुरा विचतु” इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है ।

बृहतीकण्ड के दो अक्षरों में ता स्वयं सूर्य विम्ब प्रतिष्ठित है । एक शेष ७ अक्षरों में सूर्य की रहिमए व्यक्त हैं । इस प्रकार अक्षररूप बृहती की ८ विन्दुओं में सौर सत्या प्रतिष्ठित है । इस की रहिमरूप में ही पृथिव्यादि उपग्रह प्रतिष्ठित हैं । “निवेशयन्मृतं मर्या चान्तरासिद्धान्त के अनुसार सूर्य में अमृत-सूर्य दोनों भाग हैं, जैसा कि पूर्व के भगवद्गुण रहस्य में विस्तार से वनस्पत्या जातुक्त है । अमृतभाग असह्य है, मर्याभाग सह्य है । सह्य भाग से ही पृथिवी उत्पन्न हुई है । अमृत ही मर्याभाग की प्रतिष्ठा है । अतएव सूर्य पृथिवी अमृतसूर्य की अमृतरश्मियों के आकारण से ही स्वस्थान पर (कान्तिबृहत् की परिधि पर) प्रतिष्ठित रहती हुई अपने प्रभु (सूर्य) के चारों ओर परिक्रमा शरती रहती है ।

अमृत सूर्य से ही अकार-इकार-उकारदि स्वरों का विकास हुआ है । जब मर्या पृथिवी से ही अकार-अकार-उकारदि व्यञ्जनों की उत्पत्ति हुई है । जिस प्रकार अमृत सूर्य के सूर्यभाग से उत्पन्न पृथिवी अमृतसूर्य के बिना अकारण से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती एवम अमृतसूर्यभक्त स्वरों के बिना सूर्य प्राणव्यापक व्यञ्जन उच्चारण के विषय नहीं बन सकता । “स्व रहदेवाः सूर्य” इत्यादि रूप से सूर्य का स्वरूप स्पष्ट है । इसी स्वरूप के कारण सूर्य स्वर्ग लोक आदि नामों से प्रसिद्ध है । स्वर का शक्ति अमृत अक्षर सूर्य से सम्बन्ध है, अतएव उच्चारण काल में हम स्वरों को सत्या असह्य पाते हैं । शरीरारण काल में हमारे कर्ण-ताडयति का स्पष्ट नहीं होता । यही स्वर का असह्यभाव है । उपर व्यञ्जनों का समस्त मर्या भूमिका से सम्बन्ध है अतएव उच्चारणकाल में हम व्यञ्जनों को सत्या समझ पाते हैं । व्यञ्जनोच्चारणकाल में कण्ठ ताडयति का स्पष्ट होता है । यही व्यञ्जन का सह्यभाव, किंच सत्यभाव है । इसी आधार पर—“कादयो यावसानाः स्पर्शाः” यह कथन प्रसिद्ध है । बृहती कण्ड के सम्बन्ध से सूर्य शक्ति अकार में अपनी ध्याति रखता है, अतएव तदभिन्न स्वर भी ८ विन्दुओं में ही अपनी ध्याति रखता है ।



म-न्-र्-य-र-न्-द् इस सतन्पञ्चन समष्टि का व्यासम्बन्ध अक्षर है एव स्वर्म्भूद् (उ समष्टि का (स्यञ्जनयुक्त स्वर कः) व्यासम्बन्ध अक्षरपाठीय व्यासम्बन्धतत्त्व यही तीसरा स्फोट है। यह स्फोट सर्वथा नित्य है। स्यञ्जन सधया अनित्य है, एव मध्यस्थ स्वर स्फोट के अनुमह से नित्य, स्यञ्जभोषाधि से अनित्य बनता हुआ निरथानित्य है। दोनों को समष्टि ही शब्दब्रह्म है। वैष्णवकरस इस शब्दब्रह्म में स्फोट की आराधना करते हैं। धूमि स्फोट नित्य है, अ०एव नित्यस्फोटानुयायी कम्पाकरसों की दृष्टि में शब्द नित्य है। भौतिक पदार्थ मर्यादाप्रधान हैं। उधर स्यञ्जन भी पूर्व कथनानुसार मय्य है इसीलिए पदार्थ बिन्दा के व्यापार्य्य नैय्याधिकों का प्रधान उपास्य स्यञ्जन भाग है। स्यञ्जन धूमि अनित्य है, अतएव यह शब्द को अनित्य मानते हैं। दोनों ही मत् स्फोट, एव स्यञ्जन दृष्टि से सर्वथा माप्य हैं।

इसी शब्दब्रह्म के समानभारतक पर परब्रह्म प्रतिष्ठित है। जैसा संज्ञानक्रम शब्दब्रह्म का है ठीक वैसा ही क्रम परब्रह्म का है। शब्दब्रह्म ही परब्रह्म का वाचक है। 'ओम्' इत्याकारक शब्द से ही परब्रह्म का अभिनय किया जाता है जसा कि—'तस्य वाचक प्रथकः' (पा० यो० १।२७) — 'द्योतयसदिति निर्देशो ब्रह्मण्यस्त्रिषिः स्मृतः' (ग०१०।१२) इत्यादि से स्पष्ट है। 'ओम्' शब्द में एक अक्षर है, किंवा 'ओम्' त्रय एकाक्षर है। 'स्वराऽक्षरम्' इस प्रातिशाक्य सिद्धांत के अनुसार स्वर को ही अक्षर कहा जाता है। 'ओम्' ही उसका वाचक है इस लिए 'ओमित्येव उपायय आत्मानम्' इत्यादि रूप से ओम्कार द्वारा ही व्यासम्बन्ध परब्रह्म की उपासना का विधान है। वाच्य वाचक से अभिन्न है। अतएव वाचक शब्द ब्रह्म एव वाच्य परब्रह्म दोनों मय्य अमेद् सिद्ध हो जाता है। शब्दार्थनित्यता का यही भौतिक रहस्य है। इसी रहस्य के आधार पर वाचक शब्द एव वाच्य अथवा धर्मैतिक सम्बन्ध माना गया है—(दक्षिण पूर्वमीमांसा १।१)। इसी आधार पर दाक्षिण्य भगवान् पाण्डित्यि का —'सर्वे सवार्थ-वाचक्य' यह सिद्धांत प्रतिष्ठित है। शब्दब्रह्म से सम्पुञ्जित परब्रह्म का पथवि भागे के व्याप्यकारण में निस्तार से निरूपण होने वाला है। तथापि प्रकरसङ्गति के लिए यहाँ भी उस का सङ्घ से विग्रहण करा देना अनाभयक न होगा।



ही वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म मेद से चार भागों में विभक्त है। यही चारों साक्षात् भग हैं। तद्वन्  
इतर अक्षर ही भगवान् है। जिस जीव ने प्रकृति के इस गुण रहस्य को समझ कर भगवत्प्रा  
प्त कर ली, वह सचमुच बड़ा भागवान् है।

उपर भगवान् (ईश्वर) है, इतर क्षेत्र (विद्य) है, मध्य में सदस्य प्रतिन क्षेत्रवान् (जीव)  
है। यदि इस क्षेत्रवान् की प्रवृत्ति क्षेत्ररूप विरव की ओर है तो यह क्षेत्रवान् है। यदि बुद्धि  
योग का आश्रय लेता हुआ, तद्द्वारा अन्वयात्मा का साक्षात्कार करने में यह समर्थ हो जाता है  
तो इस आत्मज्ञान के प्रमाण से इस कत्र कर्मात्मा स्वत एव क्षेत्रमय विद्य से पराङ्मुख बन जाता  
है। फलतः अन्वयेतर की भगवत्प्राप्ति के अनुग्रह का सदापात्र बनता हुआ यह भगवान् है। भ  
गवान् ने क्षेत्रवान् को भगवान् बनाने के लिए ही तो पीतायोग का सत्कारण किया है।

दूसरे शब्दों में बौ समझिए कि ज्ञानप्रधान ईश्वर निज सुखी है, अक्षरप्रधान विद्य दुःख  
मूर्ति है। मध्यस्थित जीव सम्यगुत्तर दोनों से सुख होता हुआ कभी सुखी है तो कभी दुःखी है।  
दस का यह दण्डरूपायी सुख भी रागमदक बनता हुआ अतनः क्षोभरूपा अशान्ति का ही ज  
नक बन जाता है। ऐकान्तिक सुखप्राप्ति के लिए तो इसे उस धम्पवेइवर की शरणागति ही अ  
पेक्षित है। बही वसे 'तेपागई समुद्रार्चा मृत्युससार(सागरान्)' यह आरवासन भिन्न सकता है।

ईश्वर-जीव-विद्य तीनों ही एकपि परब्रह्म के विकृत हैं। परन्तु आगे जाकर यह उ  
पाधि केवल ईश्वर के लिए निष्पत्त हो जाती है। कारण इसका यही है कि संकेतभाषा के अनु  
सार पर शब्द अन्वय का वाचक है, परावर शब्द अक्षर का, एव अक्षर शब्द क्षर का वाचक  
है। एकपि तीनों ही सत्त्वाओं में पर अन्वय, परावर अक्षर, अक्षर क्षर तीनों प्रतिष्ठित हैं। ऐसी  
दशा में तीनों को ही परब्रह्म, परब्रह्म अक्षर इत तीनों नामों से ही व्यक्त किया जा स  
कता है। तथापि अन्वय अक्षर-क्षर की श्रमिक प्रभावता से परब्रह्म शब्द अन्वयप्रधान इरवर में ही,  
परावरब्रह्मशब्द अक्षरप्रधान जीव में ही, एव अक्षरब्रह्मशब्द क्षरप्रधान विरव में ही निरूक्त सम गया  
है। इन तीनों सत्त्वाओं में से प्रकृत में परब्रह्म नाम की ईश्वरसत्त्वा का ही दिग्दर्शन कराया  
जाता है।

जीवाम्, किंवा चैतन्यप्राप्ति का स्वरूप समर्पक है। यह अन्तर्दृश्य अन्वयसम्पत्ति से श्रुत है। अतएव इस जीव को हम अन्वय ही कर्तृत्ववान् कहने के लिए तय्यार हैं। अन्वय अन्वय के रूप में, एक अन्वय धर के रूप में यदि ब्रह्म जन्मा है तो धर पुरुष प्रकृत अस्तन मध्य कर उक्त है। इस परिस्थिति में धर का पूर्ण निष्कृत रहता है। 'धर सर्वाणि भूतानि' (गी० १३। १६) इस गीता सिद्धांत के अनुसार अपराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध यह धर ही विश्व, किंवा विश्व का स्वरूप सम्यक है। यही भूतमात्र जीव के कर्तृत्व का कारण है, अतएव भूतमात्र इस धर को, किंवा धरात्मक विश्व को हम अन्वय ही कर्तृत्व कहने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार विपुरुष के तमत्त्व से एक ही परब्रह्मण तीन स्वरूप धारण कर रहने हैं। यद्यपि तीनों ही स्वरूपों में (अन्वय-धर-धर तीनों पुरुष प्रतिष्ठित हैं, परंतु प्रकृतता तीनों में क्रमशः अन्वय-अन्वय-धर धर ही है, अतएव तदुत्पत्त्याय के अनुसार अन्वय को ईश्वर, अन्वय को जीव एक धर को विश्व मान लिया जाता है।

साक्षात् परब्रह्म को उक्त तीन स्वरूपों में परिणत होना की क्या आवश्यकता है। इस प्रश्न की उपनिषद् वही त्रिगुणमात्रमयी गाथा, किंवा प्रकृति है। प्रकृति का सत्यमात्र ईश्वरसृष्टि का, रजोमग्न जीवसृष्टि का, एव तमोमग्न विश्वसृष्टि का प्रकृतक बनता है। अन्वय अन्वय को स्वरूप से अन्वय १६०० रूप भी इसी दुस्त्वया माया की कृपा से ईश्वर-जीव-विश्व इन तीन स्वरूपों में परिणत होना पड़ता है, जैसा कि— 'अतोऽपि सत्त्वगुणयास्या भूतानापीश्वरोऽपि मन्'। 'मूर्द्धनि स्वामभिष्टाय सम्भवाभ्यास्त्वायया' इत्यादि गीता सिद्धांत से स्पष्टतम है। सम्पूर्ण विश्व तमोगुणप्रधान बनता हुआ कर्तृत्वरूप है। तम अविद्या है। अविद्या माया ही रागद्वेष, मोह, अस्मिता, अविनिवेश्य मेरु से धर मार्गों में निरस्त है। यही साक्षात् कर्तृत्व है। इन्हीं क्षेत्रों के आत्मत्व से जीवात्मा दुःख पाया करता है। ऊर्ध्वप्रधान विश्व में रहने वाला, विश्व सत्त्व (विद्यासत्त्व) जीवमात्र रजोगुणप्रधान बनते हुए क्षेत्रवान् है। रजोगुण ही अन्वयमात्रमयी प्रकृति का मूल है, एवं कामना ही विश्वसत्त्व की जन्मनी है। इसी प्रकार विश्व में एक रूप से अस्तित्वमयिन स्वाम ईश्वर सत्त्वगुणप्रधान बनता हुआ भगवान् है। सत्त्व ही विश्व है। विश्वमात्र

मात्मा (आध्यात्मिक ईश्वर), शारीरिक आत्मा (जीवात्मा), एवं शरीर यह तीन विभाग हैं। इन तीनों का उक्त तीनों आधिदैविक सत्त्वानों से सम्बन्ध है। अल्पवृत्तमात्र की, अक्षरसत्त्वा शारीरिक आत्मा की, एवं अक्षरसत्त्वा शरीर की प्रतिष्ठित है। जब तक जीवात्मा अक्षरसत्त्वा में प्रतिष्ठित है, तब तक इसे जन्म-मृत्यु के प्रवाह में प्रवाहित रहना पड़ता है। अक्षरसत्त्वा से पृथक् होकर जब यह अक्षरसत्त्वा में बसा जाता है तो अक्षरप्रत्यक्षिमोक से यह मुक्त हो जाता है, यही इस की सामो-रूप, सामीप्य, साकृप्य, साधुभ्यसद्यया अपरामुक्ति है। उसी बुद्धिभोग की कृपासे जब यह उस परब्रह्म अल्पवृत्तमात्र में बसा जाता है तो "परेऽल्पये सब एकी भवन्ति" "परा-स्परं पुरुषमुपैषि दिव्यम्" इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों के अनुसार पर अल्पवृत्त में हीन होता हुआ समबलवन्त के प्राप्त हो जाता है, यही अक्षरप्रत्यक्षिमोकसद्यया परामुक्ति है। सीधी माया में जो सममिष कि जब तक जीवात्मा अक्षरप्रतिष्ठा पृथिवी के आकृषण में है तब तक यह बद्ध है, मृत्यु भय से आतुर है। सूर्य में पडुषने के अनन्तर यह मुक्त है। एवं सूर्य से ऊपर जाने पर यह ब्रह्म में हीन है। ऐसे आग्यशास्त्री जीवात्मा को ही सूर्यमेदी कहा जाता है। जिस का जीवात्मा प्र काय ( शिरःकपाड ) का भेदन करता हुआ निकलता है, वह अपरव ही सूर्यमेदी बनता है। आगे के परिच्छेदों से उक्त विषय का महीमंति स्पष्टीकरण होमाता है।

१-क्षेत्र → अनात्रिक. (समात्मन) → सर्वथा निरप (अल्पवृत्त)

१-२-क्षर → मात्रिक (व्यञ्जनात्मनः) → निरपानित्य (अक्षर) } शब्दग्रहविषयते

३-वर्षः → अक्षरमात्रिक. (स्यवहारान्मन) → अनित्य (क्षर) }



१-अल्पवृत्त-अनात्रिक-सर्वोत्तमनः-नित्यः → अप्रत → इतम्

२-२-अक्षर-मात्रिक-क्षरान्मन-निरपानित्य-मृत्युगर्भितोऽप्रतः → क्रिया } परब्रह्मविषयते

३-क्षरः-अक्षरमात्रिक-विशालान्मनः-अनित्य-मृत्युगर्भित → वर्षः }



परब्रह्मत्व विरव से सम्बन्ध करके प्रमापति रूप में परिचय हो जाता है। इस प्राण पक्ष दशा में ही परब्रह्म ईश्वर कहलाता है। निशुद्ध दशा में तो उसे केवल परब्रह्म शब्द से ही पुकारा जायगा। कण्ठ इसका यही है कि ईश्वरशब्द साकारण है। शासन करने वाले प्रभु को ही दश, किंवा ईश्वर कहा जाता है। ईश शब्द सुनते ही किसका ईश ? यह विज्ञाता होतो है। धर-भौर अधर तो अन्वय की अन्तरङ्ग प्रकृति हैं, समाव है, यह तो शासन के द्वार हैं। अन्वय ही शासित होने वाले पदार्थ धर अधर से पूयक् होने चाहिए। बिना उन के सम्बन्ध के ईश्वर की ईश्वरता अपूर्ण है। इस कमी को विरव ही पूरा करता है।

उदाहरण के लिए अभ्याससंस्था को अपने सामने रखिए। इस संस्था में आत्मा और शरीर यह दो भेद हैं। आत्मा इस शरीर का प्रभु है, ईश्वर है। यही दो विमला आपकी आध्यात्मिक संस्था में मानने पड़ेगा। महाशिव उस का शरीर है, शिव के पर्व में प्रतिष्ठित रहने का पराधरार्थमें बड़ी अभ्यय इस का अग्रमा है, दोनों की समष्टि ईश्वर है। हम जिस महाशिव का दर्शन कर रहे हैं, वह साकार ईश्वर के दर्शन हैं। शरीर ही जड का नियम बनता है, आत्मा आस से देखने की वस्तु नहीं है। इस दृष्ट से विश्वरूप ईश्वर के शरीर के दर्शन करना ईश्वर का प्रलय कहा जासकता है। इसी विश्वशरीर के कारण उमे विश्वात्मा, विश्वेश्वर, अर्थात् पार जगद्विपन्ता जगदीश्वर विश्वम्भर इत्यादि उगाधियों से विभूषित किया गया है। अब दर्शना यह है कि वह परब्रह्म इस विरव में किस रूप से प्रतिष्ठित होना है।

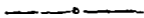
उत्तर स्पष्ट है। जय परब्रह्म के (ईश्वरत्वा के) जब अभ्यय, अधर, धर यह तीन रूप हैं तो शिव में इन तीन रूपों का व्यतिरेक उस की प्रतिष्ठा का स्वरूप और नया हो सकता है। निश्चय से बड़ा तीन संस्थाएँ अन्वयसंस्था, व्यक्तान्वयसंस्था, अन्वयसंस्था इन तीनों की अभिव्यक्ति हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी यह पत्र अन्वयसंस्था से, सूर्य्य न्यक्तान्वयसंस्था से, एवं चन्द्रमा पृथ्वी अन्वयसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम संस्था अभ्ययप्रधान है, दूसरी अधर प्रधान है, एवं तीसरी धरप्रधान है। अभ्ययप्रधानसंस्था में अमृत की, धरप्रधानसंस्था में धृष्ट की, एवं अधरप्रधानसंस्था में अमृत-मृत्यु दोनों की प्रतिष्ठा है। अन्वयसंस्था में प्रथ

परब्रह्मसंस्थानपरिलेख  (सैषा—अभिदैवसस्या) ।

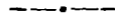
१—१—सयम्भूः }  
 २—परमेष्ठी } — सत्वगुणविक्रसभूमिः — अल्पकसंस्था — अल्पयमपाना ।

↓	↓	↓	↓
२—१—सूर्यः	१—रजोगुणविक्रसभूमिः	व्यक्ताव्यक्तसंस्था—	अध्वरमपाना
↑	↑	↑	↑

१—१—चन्द्रमाः }  
 २—पृथिवी } — तमोगुणविक्रसभूमिः — व्यक्तसंस्था — अध्वरमपाना



- १—परमहात्मिका—अल्पकसंस्था—अल्पयमपाना—प्रत्यागात्मविद्याभूमिः
- २—परमहात्मिका—व्यक्ताव्यक्तसंस्था—अध्वरमपाना—शारीरकात्मविद्याभूमिः
- ३—परमहारिका—व्यक्तसंस्था—अध्वरमपाना—शारीरमविद्याभूमिः



<ul style="list-style-type: none"> <li>१—प्रत्यागात्मा—प्राण्यात्मिका परमात्मा</li> <li>२—शारीरकात्मा—जीवात्मा</li> <li>३—शारीरम्—प्राण्यारिभक्तं विश्वम्</li> </ul>	}	—सैषा—अध्वरमपाना
--	---	------------------



१-अन्यप्रधानोऽन्य अन्यः }  
 १-२-अन्यप्रधानोऽन्य -अन्य } → चराचरगर्भितोऽन्यपुरुषा-भगवान् पराव  
 ३-अन्यप्रधानः चर -अन्य



१-अक्षप्रधानोऽक्ष अक्षः )  
 २-२-अक्षप्रधानोऽन्य -अक्ष } → चराभ्ययगर्भितोऽक्षपुरुषः क्लेशवान् पराव  
 ३-अक्षप्रधानः चर -अक्ष



१-क्षप्रधान चर -क्ष )  
 १-२-क्षप्रधानोऽक्ष -क्ष } → अभ्ययाचरगर्भितः चरपुरुषः क्लेश अवरजस  
 ३-क्षप्रधानोऽन्य चर



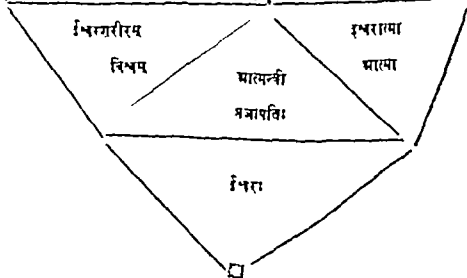
१-चराचरगर्भितोऽन्यपुरुष - ॥ अन्य - ॥ चर - ॥ भगवान् - साधुर्गति - निस्पृही  
 १-२-चराचरगर्भितोऽक्षपुरुष - ॥ अक्ष - ॥ श्रीरः - ॥ क्लेशान् - रजोर्गति - सुखी - दुःखी  
 ३-अभ्ययाचरगर्भित चरपुरुषः ॥ चरः - ॥ जगत् - ॥ क्लेश - तमोर्गतिः - निस्पृही



महामायानभिद्धन, पञ्चपुराणीगतक सहस्रशक्यामूर्ति ब्रह्माश्वत्थ ही महाविष्णु है। यही उस त्रिपुराणक, परब्रह्ममूर्ति, अमृतसहस्रण, "यापक ईश्वररत्ना का शरीर है। भूः, भूवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतिषों से युक्त उक्त महाविष्णु ने यह ईश्वररत्ना अविकल रूप से व्याप्त हो रखा है। यह ईश्वररत्ना अमृतप्रधान है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इस प्रथमसंस्तन में चार अक्षर मय में हैं, एक अव्यय पूरण से विरसित है। अव्यय का पूरा विकास ही चतुर्विध मन्त्र ही मन्त्रप्रतिष्ठा है। अक्षर इस पवित्र आनन्दी को हम मन्त्र ही भगवान् कहने के लिए तैयार हैं। यही भगवान् शब्द आगे जाकर भगवत् स्वरूप में परिणत हो गया है। अक्षर एतद् है। विद्या को ही ज्ञान शब्द से सम्बोधित किया गया है। उच्च मनोमय अव्यय ज्ञानशक्तिवत् बन-सा हुआ विद्याप्रधान है। यह विद्या उस विद्यामय अव्यय से अभिन्न है। विद्या शक्ति है, अव्यय शक्तिमान् है। शक्ति शक्तिमान् से उसी प्रकार अभिन्न है जिसे कि तापशक्ति शक्तिमान् शक्ति से अभिन्न है। अतएव विद्याशक्तिमय अव्यय को हम अक्षर ही विद्यामूर्ति कहने के लिए तैयार हैं। इस अव्ययविद्या व वेदमय ज्ञान प्रसन्न-धर्म मेद में चार पद हैं। यही विद्या के चार पाद हैं। इन चार विद्यापादों के सम्बन्ध से अव्ययप्रधान चतुष्पादमय है। एक एक पाद एक एक मन्त्र है, विष्णु अव्यय इन चार पदों के कारण चतुरद्वार है।

चतुरद्वार किञ्च चतुष्पाद अव्यय मन्त्र में ही अक्षर ङाग क्षयेगादान में साठी सुष्टि हुई हैं अतः कि — नया पञ्चकमठति मूयमे स चराचरम् — मह सर्वस्य धमम् " "यत् सत् सर्वगतम्" — "धमः प्रलयस्थान निधान पीतमम्पयम्" इत्यादि पीतासिद्धान्तों में स्पष्ट है। चतुष्पाद अव्यय मन्त्र के तीन अक्षर, किञ्च तीन पाद मन्त्र रखते हैं केवल एक ही पाद सुष्टिपाद में संयुक्त बनता है। सुष्टि पाद है। इस मन्त्रसुष्टि में उत्पन्न एक ही अक्षर मन्त्रविद्य है। जो तीन अक्षर अक्षररूप से मन्त्राक्षर रक्षते हैं त्रिधा कि "त्रिपादूर्ध्व उदन्त गुरुण पादोऽपेक्षामन्त्र पुनः" (पञ्चः ३१।१।) इत्यादि मन्त्राक्षर में स्पष्ट है। चतुरद्वार ईश्वर एक ही अक्षर मन्त्राक्षर विरल में व्यक्त रहता है एक ही अक्षर मन्त्रभाव में अक्षरित बन कर अक्षर मन्त्र दा स च्युत हो जाता है, चारों अक्षर विष्णु अव्यय मन्त्र रहकर

१—परमेष्ठिगर्भितः स्वयम्भू	—अभ्ययः—	३—तत्समः स्फोट
२—अपतमृत्पुमय मूर्धः	—पत्वर—	४—तत्समः स्वरः
३—चन्द्रगर्भिता वृथिवी	—उर—	५—तत्समो वष



उक्त विश्व का ही दूसरी दृष्टि से समझव कीजिए । अन्वय-अपत्तर-उर की मूर्धि ही मूर्धं दे । अन्वय प्रजापति के वही प्रधान तेन आत्मनिष्ठ है । अन्वय ईश्वरात्मा है, वही आधिदैविक आत्मा काय म प्रसिद्ध है । अपत्तर जीवतामा है, एही का आधिभौतिक आत्मा कहा गया है । उर पर विधिविद्यामा है, वही आधिभौतिक आत्मा है । अन्वय, अन्वय अन्वय की समष्टि ही मूर्धं दे । यह तीनों ही भास्वमूर्धिका, किय प्रजापति है । तत्समस्फोट का ही आत्मनी कहा गया है । आत्मनी ही प्रजापति कहा गया है । इस दृष्टि पर अन्वय ही के आत्मा-मूर्धिका वही ही मूर्धं दे ।



महामायाविद्वान्, पञ्चपुण्ड्रीगमक सहस्रशुभार्ति प्रश्लाभन्त्य ही महाविद्य है। यही उस त्रिपुरापरक, परब्रह्मर्षि, अम्यवलक्षण, व्याक ईश्वरात्मा का शरीर है। मू, मून्, स, इन तीन महाव्याहृतियों से युक्त उक्त महाविद्य में यह ईश्वरात्मा अविभक्त रूप से व्याप्त हो रहा है। यह ईश्वरात्मा अम्यप्रधान है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इस प्रथमसतर में चार अक्षर गम में हैं, एक अन्यम पूरुरूप से विरसित है। अन्यम का पूरु विकृत ही चतुर्विध मग की मूषप्रसिद्ध है। अक्षर एव इस पहिल आत्मन् की हन अक्षर ही मगवान् कहने क लिए त म्यर हैं। यही मगवान् शब्द आग जाऊर मगवान् स्वरूप में परिणत हो गया है। अक्षर एव है। विद्या को ही ज्ञान शब्द से सम्बोधित किया गया है। उधर मनोमय अम्यप्र आनशक्तिवन मन-या ह्य्या विद्याप्रधान है। यह विद्या उस विद्यामय अम्यप्र से वभिद्य है। विद्या शक्ति है, अम्यप्र शक्तिमान् है। शक्ति शक्तिमान् से उसी प्रकार अभिन्न है, जैसे कि तापशक्ति शक्तिमान् अग्नि से वभिद्य है। अतएव विद्याशक्तिमय अम्यप्र को हन अक्षर ही विद्यामूर्ति कहने क लिए तम्यर हैं। इस अम्यप्रविद्या क मरुत ज्ञान एरकथ्य-भम्म मेद से चार पद हैं। यही विद्या के चार पद हैं। इन चार विद्यापादों के मन्वच से अम्यप्रमय चतुष्पादमय है। एक एक पाद एक एक मय है, विशुद्ध अम्यप्र इन चार पदों के अक्षर चतुरक्षर है।

चतुरक्षर, किंवा चतुष्पाद अम्यप्र मय में ही अग्न डाग चोपानान से सारी सुष्टि ए वरें हैं जेसा कि — 'मयाव्यवृत्त मकृतिः सृपते स चराचरम्' — 'मद सर्वस्य मभव' 'मय सर्व प्रवर्धते' — 'मभवः प्रनयस्यान निधान वीजमम्ययम्' । त्वावि गीतासिद्धान्तों से स्पष्ट है। चतुष्पाद अम्यप्र मय के तीन अक्षर, किंवा तीन पाद स्वतन्त्र रहते हैं केवल एक ही पाद सुष्टिजात में संयुक्त बनता है। सुष्टि मय है। इस मयसुष्टि में उसका एक ही अक्षर समाविष्ट है। शेष तीन अक्षर अमृतकूप से सर्वथा असङ्ग रहते हैं जेसा कि "त्रिपादूर्ध्व चैव पुरुषः पादोऽप्येवामवत् पुनः" ( यजुः ३१।६ ) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। चतुरक्षर ईश्वर एक ही अक्षर में मृत्युमय शिर में व्याप्त रहता है, एक ही अक्षर मर्त्यभाव से सक्षिप्त बन कर अक्षर मर्त्यादा से श्रुत हो जाता है, चारों अक्षर विशुद्ध अमृतमय न रहकर

तीन ही अक्षर अक्षर रहते हैं। इसी सब स्वरों को सप्त में रखकर उसे तीन अक्षरों के ना से ही सम्बोधित किया गया है। ईश्वर शब्द में भी तीन ही अक्षर हैं, एक भगवान् शब्द भी तीन ही अक्षर हैं।

“स्वराऽक्षरं सहायम्यर्जनः” इस प्राक्शास्त्र सिद्धान्त के अनुसार अक्षर को ही अक्षर कहा जाता है। सप्त ही अक्षर से अक्षर परिगृहीत रहते हैं, अतएव अक्षरगणना में उषी सतस्य गणना नहीं की जाती। उदाहरण के लिए सप्त अक्षर शब्द को ही लीजिए। १- में यद्यपि सप्त ‘अ-क-ग-घ-ङ-च-ज’ यह ७ हैं। परन्तु अक्षर (सः) तीन ही हैं। अतएव “अक्षरमिति” (अक्षर-मिति) अक्षरम् (ता० भा० ११४ ३) के अनुसार अक्षर तीन ही माने जाते हैं। शक शब्द में-क-घ-ङ-च-ज यह ५ वर्ण हैं, परन्तु अक्षर छाप से एक ही अक्षर माना जाता है। “वाग्विभक्तम्” [१११११] यह इसी अक्षर रहस्य को सूचित करता है। इसी आधार पर ब्रह्मसंहिता के रहने पर भी “ब्रह्म” को एक अक्षर ही माना गया है। इसी धृति सिद्ध विद्यासिद्धान्त के आधार पर भगवान्-ईश्वर भगवत् शब्दों में जहाँ “अ-क-ग-घ-ङ-च-ज-न” (सायन्)-“इ-इ-ग-ङ-घ-ङ-मः” (ईश्वर ‘अ-क-ग-घ-ङ-च-ज-न’ भगवत्) इत्यादि रूप से क्रमशः ८ = ७, वर्ण हैं वहाँ अक्षर तीन ही हैं। तीनों ही शब्द भ-ग-वान्, इ-श्व-रः, भ-ग-वत् इस रूप से ३ अक्षर हैं। यही सिद्ध अक्षरगणना की विधासिद्धि है। यही पहिली आध्यात्मिक सत्ता है।

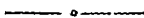
योग्यायावन्मिथुन पञ्चप्राणिक, फलश्रवणकृष्ण पाञ्चभौतिक शरीर ही सेन्द्रिय जीवाम्ब का निरर है। अक्षर-परिभिन अक्षरानुगृहीत ब्रह्मानन्द-तत्स माहर्णव कर्माम्ब ही जीवाम्ब है। इसमें अक्षर का निरर है। इस का यह अक्षर भाग अक्षरि निरर की ओर मुक्त हुआ है। इसी लिए यह अक्षरान् बन रहा है। यही दूसरी आध्यात्मिक सत्ता है।

विष्णुस्यवाचिभुव विष्णुस्य भौतिक निरर ही विष्णुस्य का शरीर है। एवं अक्षर, अक्षरपरिभिन अक्षरानुगृहीत विष्णुस्य प्राणादि ही इस शरीर का नाम है। यही तीसरी आध्यात्मिक सत्ता है।

- |  |                |
|--|----------------|
| १-अभ्यस्यमानः—ईश्वरात्मा—आधिदैविकसत्त्वा       | }—तदिदं सर्वम् |
| २-अक्षरप्रधानः—जीवात्मा—आद्यात्मिकसत्त्वा      |                |
| ३-क्षरप्रधानः—शिवनिष्ठत्वात्मा—आधिभौतिकसत्त्वा |                |



- |  |                   |
|--|-------------------|
| १-अक्षरप्रधानमिदं—अक्षरप्रधानात्मा—आत्मा       | }—आत्मन्वी-ईश्वरः |
| २-क्षरप्रधानं अक्षरप्रधानात्मकं विश्वम्—शरीरम् |                   |



- |   |                  |
|---|------------------|
| १-अक्षरप्रधानमिदं—अक्षरप्रधानात्मा—आत्मा      | }—आत्मन्वी-जीवाः |
| २-क्षरप्रधानं अक्षरप्रधानात्मकं शरीरम्—शरीरम् |                  |



- |  |                      |
|--|----------------------|
| १-अक्षरप्रधानमिदं—अक्षरप्रधानात्मा—आत्मा         | }—आत्मन्वी-शिवनिष्ठः |
| २-क्षरप्रधानमिदं—अक्षरप्रधानात्मकं शरीरम्—शरीरम् |                      |



ईश्वर ज्ञानप्रधान है, शिवनिष्ठप्रधान अर्थात् ज्ञानप्रधान है मन्वस्य जीम उभयप्रधान है। ज्ञानप्रधान अर्थात् मन्वान् है, यह उस क्षोर में है, यही प्रथमपद है। ज्ञानप्रधान शिव अन्तिम पद है। यह शिव ही उस ज्ञानमूर्ति मन्वान् की उपनिषद् (बैठने की जगह) है। यदि आप मन्वान् से साक्षात्कार करना चाहते हैं तो आप को शिवप्रधान उपनिषद् की ही आशुषना करनी पड़ेगी। शिवप्रधान मन्वान् की प्राप्ति साक्षात् शिव की उपासना से ही होगी। यह आप को शिवेन्द्र प्रदान, परमात्मा यही, इसी शरीर में, इसी विश्व में, शिवान्तर्गत इसी भौतिक पदार्थों में। "एष

मर्त्यभूतेषु गृन्तेत्मा न प्रकाशते । इत्यनतरङ्गपवा बुद्ध्या नृक्षयया नृक्षयदृग्निमि” (कठो १।१।२।) के अनुसार यह इन्हीं भूतों में प्रतिष्ठित है । बुद्धिय ग ही उक्त के दर्शन का अर्थात् उपाय है । ‘भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माह्योद्याद्भृता भवन्ति” (केनो २।१।३) के अनुसार धीर बुद्धियोगो इन भूतों में ही उसे पा कर मुक्त होने हैं । यदि ध्यानमें यही, इसी शरीर में उसे प्राप्त न किता तो निराश है । इसी अर्थात् बुद्धिः । मिलन्य अक्षरप न्तिष्ठेय । यदि ध्यानमें यही उसे पा लिया तो आपका जीवन धन्य है । नृक्षयिना इसी भगवद्भक्तिपत् का माहात्म्य अतन्तरे इत् अत्रि पश्यत हैं—

इह पश्यकनूपाटु प्राक् शरीरस्य विस्रस\* ।

अथ पराऽभूतो भवति अथ प्रहसममन्नुत ॥

उक्त आर भगवत्प्रवृत्ति है इस आर उतनियत्प्रवृत्ति है, मध्य में जीवसन्धि है । जीव तथा है । इस का उत्तर है उसी सूत्रन भगवान् का विज्ञान । भगवान् का शक्ति ही ( विज्ञान भगवती ) जीव है “एक वा इदं वि शम्भुः सर्वम्” के अनुसार यह एक ही (शम्भु ही) भाग्य रूपों में (जीवसन्धियों में) परिणत हो रहा है । ईश्वर संपूर्ण है, जीव पश्यति है । ईश्वरस्य अथन आर को पश्यन् में परिणत कर इस पत्र से ही जीवसन्धि का विज्ञान परना है । ऐसा कि यत्तं कृत्वा सत्य तनवापदे इत्यादि साधनधूमियों में रहत है । ‘सह यथाः प्रजा सृष्ट्वा पुरो ज्ञान प्रभापतिः इति गीतासिद्धांत भी ईश्वर प्रभापति के पत्र ग ही प्रजोभापति मान रहा है । ग व उक्त का गृह्यरूप है निगूढ रूप है, मनुजिन रूप है । पत्र उसी का स्वरूप है, प्रसन्न रूप है किता इका मर्यादे । विज्ञानकार ही शक्ति, विज्ञान गान है । ऐसा कि पूरे के गीतागन्ध वृद्ध्य में विस्तार में वक्तव्य का पुरा है । यथावत् जीव संपादनक ईश्वर का शक्ति है । शक्ति नहीं है । सर्व धर्म्य का विज्ञान शक्ति तव नो जीव का शक्ति वहा या सत्ता प्य । परंतु “महात्म्यस्य नृत्तिः गृह्यन मन्वापरम्” के अनुसार आत्म्य की अथ प्रवृत्ति ही जीवसन्धि

में परिखत होती है, जैसा कि—“जीवमूर्ता महाभाहो ययेद् धार्यते जगत्” इत्यादि बचन से स्पष्ट है। अक्षर को ही पूब में हमने जीवसंतत्या का स्वरूप समझ कर बताया है, एवं—“तथाऽऽ-  
त्रराट्टिविषाः सोम्य ! मावा प्रभायन्त्र तम चैनापियन्ति” इत्यादि श्रुति भी उक्त कथन का ही समर्थन कर रही है। यह अक्षर उस का पराप्रकृति है, यही जीव का जोक्य है। इसी जीवात्म्य धान अक्षरप्रकृतिमात्र के कारण हम यद्यन्तु जीव को मीत न कह कर भगवान् की गीता कहेंगे।

भगवान् जीव स्वभाव है उपनिषद् वाक्य स्वतन्त्र है। भगवान् की उपनिषद् भी विश्व ही है, एवं गीतारूप जीव की उपनिषद् भी विश्व ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि उस की उपनिषद् वह महाकिरण है वह इस के गर्भ में प्रतिष्ठित है, एवं इस की उपनिषद् यह छोटासा शरीर है, यह इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। ईश्वर जहाँ अपनी उपनिषद् (विश्व का सदुपयोग कर ता हुआ गीत्यमुक्त है, वहाँ जीव अपनी उपनिषद् (शरीर) को विषयासक्त बनाता हुआ बद्ध है। जीव के इसी कथनमात्र को इतने से लिए भगवान् की यह उपनिषद् हमारे सामने आइ है। शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य से सम्भाव रखता है। मनुष्यावस्थिमात्र जीवात्मा को सम्पूर्ण कृतधाने के लिए ही शब्दशास्त्र का संकलन हुआ है। इस प्रकार जीवात्मा ही शास्त्र का प्रधान सत्य है। गीता-शास्त्र भी उसी मन्पाद्य से आक्रमण है। ‘महत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः’ यह प्रतिज्ञा उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रही है। चूँकि जीवात्मा अक्षरप्रधान है, एवं यही गीताशास्त्र का मुख्य सत्य है, ऐसी दशा में हम इस गीताशास्त्र का अन्वय ही ‘अक्षरशास्त्र’ कह सकते हैं। यही कारण है कि भगवद्-गीता-उपनिषद् तीनों में से केवल गीता शब्द ही आगे जाकर रूढ़ बना है। केवल भगवद् शब्द से, एवं केवल उपनिषद् शब्द से कभी गीताशास्त्र का बोध नहीं होता। परन्तु केवल गीता शब्द धुनने से तत्काल हमारी दृष्टि गीताशास्त्र पर पर पसी जाती है। गीताशब्द जीवात्मा का सूचक है, यह कहा ही जासुका है।

इस प्रकार यद्यपि गीताशास्त्र का अक्षरशास्त्र ही सिद्ध होता है, परन्तु साध साध ही गीता में भगवत्सत्य अन्वय, एवं विश्व का भी सुनिश्चय निरूपण किया है। इस दृष्टि से हम इसे

सकशाब्द, किंवा पूर्णशाब्द भी कह सकते हैं। “किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः” का यही मूल है। एही पूर्वता को व्यक्त करने के लिए यह भगवद्गीतोपनिषत् इतने बड़े नाम से सम्बोधित हुई है। भगवद्गीतोपनिषत् एकमात्र भगवत् गीता-उपनिषत् ( ईश्वर-जीव-जगत् ) इन तीन किस्मों का ही निरूपण करती है। स्वयं नाम ही इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है। गीता मन्वस्य जीव को उस की आत्मसम्पत्ति का परिचय कराती है। गीतोपनिषत् मन्वस्य जीव को ज्ञान (भगवत्)-विज्ञान (उपनिषत्) द्वारा समन्वयेण पर ले जाती है।

ईश्वर-जीव द्विविधियुक्त यह तीन अर्थ हैं। इन तीनों के अर्थक क्रमशः भगवत्-गीता उपनिषत् यह तीन शब्द हैं। ये अर्थभाव क्रमशः उपचा, द्वचक्षर, चतुश्चक्षर हैं। अतएव तद्व्यपक शब्द श्री क्रमशः उपचा, द्वचक्षर चतुश्चक्षर ही हैं। ईश्वर आदि में है, शिपेविष्ट अस्त में है, जीव मध्य में है। इसी क्रम के अनुसार ईश्वरार्थवाचक भगवत् शब्द को आदि में, शिपेविष्टार्थ-वाचक उपनिषत् शब्द को अस्त में, एवं जीवार्थवाचक गीताशब्द को मध्य में रखते हुए ईश्वर जीव-शिपेविष्टक्रमक इस शास्त्र को भगवद्गीतोपनिषत् कहा गया है।

गीता को हमने पूर्ण शास्त्र कहा है। वैचारिकीय विषय यह है कि विज्ञानदृष्टि से पूर्ण क्या अर्थ है। तंत्रों से इस का भी उचित इदमङ्गल कर लेना चाहिए। “शून्यमन्यत् स्थाने, पूर्वमन्यत् स्थानम्” इस आत सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म के शून्य-पूषण दो स्थान माने जाते हैं। शून्य स्थान ही पूषण स्थान की प्रतिष्ठा है, पूषण ही शून्यभाव की जननी है। अतएव शून्य को पूर्ण कहा जाता है, एवं पूषण को शून्य कहा जाता है। सस्यविज्ञान के अनुसार १ सस्य को पूर्ण सस्य माना गया है। पचवि षोडशदृष्टि से १ सस्य पूषण है, एवं २ सस्य अपूर्ण है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से २ को ही पूषण माना गया है। काव्य इस का यही है कि पूषण में अग्ने का सम्बन्ध दृष्ट जाता है, आगमन उक्त जाता है। अपूर्णता में अग्ने से सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिए राम सम्बन्ध में ५-११-२१-५१-१०१-१००१ यही व्यवस्था रखी

गर्भे है। परसोकला प्रेतात्मा का उसके सम्बन्धियों से विच्छेद हो जाता है, अतएव तदृष्टिबन्धन  
 श्राद्धक्रम में १-१०-१०० इस प्रकार से पूरी ही दक्षिणा का विधान है। अपृथक्ता-ही सृष्टि  
 की जगती है। पुरुष पुरुष का सम्बन्ध पूष-पूर्ण का सम्बन्ध है। इससे सृष्टि नहीं होस-  
 कती। स्त्री पुरुष का दाम्पत्यभाव अपृथक् है, न्यून है। 'न्यूनान्द्रै प्रभाः प्रजापन्ते' इस सि-  
 द्धान्त के अनुसार यही न्यूनभाव प्रजातन्तुमितात [सन्तान] प्रवृत्ति का कारण है। इन्हीं सब रा-  
 हस्यों को रूप में रख कर वैज्ञानिकोंने न्यूनभाव को पूष माना है। इसी भाँवर पर अपृथक् ६  
 सन्ध्य को पूष सन्ध्या माना गया है। २-२२-२६२२ इत्यदि क्रम से सन्ध्यामात्र का विराम  
 ६ पर हो जाता है। यही इस सन्ध्या की पूषण है।

दशाक्षरसुन्द को विरुद् कहा जाता है। यदि एक, अपथ्य दो अक्षर विरुद् में से कम  
 हो जाते हैं तो वह निचद्विरुद् कहलाती है, एवं एक अपथ्य दो अक्षर अधिक होजाने से नहीं  
 सुरिगिरुद् कहलाती है। सु दोमात्र में यह सामान्य नियम समझना चाहिए। 'न वै एकेशा  
 क्षरेण छन्दांसि विपन्ति, न द्वाभ्याम्' [१०।१।१।२।३७] इस सिद्धान्तके अनुसार एक दो  
 अक्षर कम, अपथ्य अधिक हो जाने पर भी वैदिक सुन्दों के अक्षर की कोई हानि नहीं मानी  
 जाती। बस जहाँ अक्षरकारों को कोई रहस्य यत्नमाना होता है, वहाँ वे इस सन्ध्याक्रम का ही  
 आश्रय लिया करते हैं। गीताशास्त्र पूर्णशास्त्र है। इस की पूर्वेण प्रकथनानुसार ६ अक्षरों पर  
 निर्भर है। नशाक्षरसुन्द न्यूनविरुद् है न्यूनभाव पूर्वभाग है। इसी ग्रन्थ रहस्य को स्पष्टिग  
 करने के लिए परमैश्वरालिक भाषायों में इसका "मगचरिता-उपनिषत्" यह ६ अक्षर का नाम  
 रक्खा है। इस प्रकार समष्टिक्रम से विरुद्द्वारा अपनी पूषण प्रकट करता हुआ, एवं व्यष्टिक्रम  
 से ईश्वर-जीव-शिविविद्यारा अपनी पूषण प्रकट करता हुआ मगचरितोपनिषत्-शास्त्र पाठकों  
 के सम्मुख आता है।

समयाब्द, किंवा पूर्णमास भी कह सकते हैं। "किमन्यैः शास्त्रनिस्तैः" का यही मूल है। इसी पूर्वता को व्यक्त करने के लिए, यह मगवद्गीतोपनिषत्, इतने बड़े नाम से सम्बोधित हुई है। भगवद्गीतोपनिषत् एकमात्र मगवत् गीता-उपनिषत् ( ईश्वर-जीव-ब्रह्म ) इन तीन शिष्टों का ही बिरहपण्य करती है। सर्व नाम ही इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है। गीता मन्वस्य जीव को उस की आत्मसम्पत्ति का परिचय कराती है। गीतोपदेश मन्वस्य जीव को ज्ञान (मगवत्)-विज्ञान (उपनिषत्) द्वारा समन्वये पर ले जाती है।

ईश्वर जीव-शिपिविष्ट यह तीन अर्थ हैं। इन तीनों के सम्बन्ध क्रमशः मगवत्-गीता-उपनिषत् यह तीन शब्द हैं। ये अर्थनाम क्रमशः उपस्था, द्वयस्था, त्रयस्था हैं। अतएव तद्रूपक शब्द भी क्रमशः उपस्था-द्वयस्था-त्रयस्था ही हैं। ईसा आदि में है, शिपिविष्ट अन्त में है, जीव मन्व में है। इसी क्रम के अनुसार ईश्वरार्थनामक मगवत् शब्द को आदि में शिपिविष्टार्थ-पावक उपनिषत् शब्द को अन्त में, पण जीवार्थनामक गीताशब्द को मन्व में रखते हुए, ईश्वर जीव-शिपिविष्टरूपक इस शास्त्र को मगवद्गीतोपनिषत् कहा गया है।

गीता को हमने पूर्ण शास्त्र कहा है। वैचारण्योप विनय यह है कि विज्ञानरूप से पूर्ण क्या नाम है। संक्षेप से उस का भी उल्लेख इत्यङ्गम कर लेना चाहिए। 'शून्यमन्यत् स्वानं, पूर्वमन्यत् स्यान्म' इस आत्म सिद्धान्त के अनुसार पात्रस के शून्य-पूष को स्यान् माने जाते हैं। शून्य स्वान ही पूष स्यान् की प्रतिष्ठा है। पूषता ही शून्यमात्र की जन्नी है। अतएव शून्य को पूष कहा जाता है, एव पूष को शून्य कहा जाता है। सक्याविज्ञान के अनुसार २ सक्या को पूष संख्या माना गया है। यद्यपि शोकदण्डि से १ सक्या पूष है, एव २ संख्या अमूल्य है। परन्तु विज्ञानरूप से २ को ही पूष माना गया है। कास्य इस का कही है कि पूषता में अग्ने का सम्बन्ध टूट जाता है, आगमन रुक जाता है। अपूषता में अग्ने से सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिए दाम सम्बन्ध में २-१-२-१-१-१-१००७ यही व्यवस्था रखी



वर्द्ध है। परसोकृष्ण प्रेतात्मा का उसके सम्बन्धियों से विच्छेद हो जाता है, अतएव तत्पुत्रिणस्य आरम्भ में १-१०-१०० इस प्रकार से पूरी ही दक्षिणा का विधान है। अपूयता-ही सृष्टि की जननी है। पुरुष पुरुष का सम्बन्ध पूय-पूर्व का सम्बन्ध है। इससे सृष्टि नहीं होस कती। स्त्री पुरुष का दाम्पत्यमात्र अपूय है, न्यून है। "न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" इस सिद्धान्त के अनुसार यही न्यूनमात्र प्रजातन्तुवितान [सन्तान] प्रवृत्ति का कारण है। इन्हीं सब रहस्यों को ऋषयों में रख कर वैज्ञानिकोंने न्यूनमात्र को पूय माना है। इसी आधार पर अपूर्ण २ सस्या को पूर्ण सस्या माना गया है। ६-६६-६६६६ इत्यादि क्रम से सस्यामात्र का विराम ६ पर हो जाता है, यही इस सस्या की पूर्णता है।

दशहरकन्द को विराट् कहा जाता है। यदि एक, अपथ दो अक्षर विराट् में से कम हो जाते हैं तो यह निवद्विराट् कहलाती है, एव एक अपथ दो अक्षर अधिक होजाने से यही युरिविराट् कहलाती है। छु दोमात्र में यह सामान्य नियम समझना चाहिए। 'न वै एकेना-चरेण छन्दासि विपन्ति, न द्वाभ्याम्' [ऐ०श्व०१।१।२।३७] इस सिद्धान्त के अनुसार एक दो अक्षर कम, अपथ अधिक हो जाने पर भी वैदिक छन्दों के स्वरूप की कोई हानि नहीं मानी जाती। वम जहां शास्त्रकारों को कोई रहस्य बतलाना होता है, वहां वे इस सस्याक्रम का ही आश्रय लिया करते हैं। गीताशास्त्र पूर्णग्रन्थ है। इस की पूर्णता पूर्वकमनानुसार ६ अक्षरों पर निर्भर है। दशहरकन्द न्यूनविराट् है न्यूनमात्र पूर्वमात्र है। इसी गुण रहस्य को स्पष्ट करने के लिए परमवैज्ञानिक व्याचार्यों ने इसका "मगवर्जिता-उपनिषत्" यह ६ अक्षर का नाम रखा है। इस प्रकार समष्टिरूप से विराट्द्वारा अपनी पूयता प्रकट करता हुआ एव स्पष्टिरूप से ईश्वर-जीव-शिष्टिनिष्ठद्वारा अपनी पूर्णता प्रकट करता हुआ भगवद्गीतोपनिषत्-शास्त्र पाठकों के सम्मुख आता है।

३-ईधर → इ<sup>१</sup>-(इ<sup>१</sup>व्)-अ<sup>२</sup>-(र)-अ<sup>३</sup> → परब्रह्म

२-भगवत् → (भ<sup>१</sup>)-अ<sup>२</sup>-(व<sup>३</sup>)-अ<sup>४</sup>-(व<sup>५</sup>)-अ<sup>६</sup>-(त्) → शब्दब्रह्म

१-जीव → (ज<sup>१</sup>)-इ<sup>२</sup>-(व<sup>३</sup>)-आ → परब्रह्म

२-गीता → (ग<sup>१</sup>)-ई<sup>२</sup>-(त<sup>३</sup>)-आ → शब्दब्रह्म

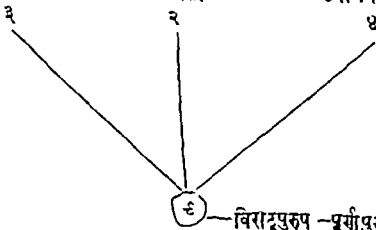
१-शिपिविष्ट → (श<sup>१</sup>)-ई<sup>२</sup>-(व<sup>३</sup>)-इ<sup>४</sup>-(व<sup>५</sup>)-इ<sup>६</sup>-(ष्ट<sup>७</sup>)-आ → परब्रह्म

२-उपनिषत् → उ<sup>१</sup>-(प<sup>२</sup>)-अ<sup>३</sup>-(न<sup>४</sup>)-इ<sup>५</sup>-(ष<sup>६</sup>)-अ<sup>७</sup>-(त्) → शब्दब्रह्म



स्वप्नर - ईश्वरः → दृश्यर - जीव ← चतुरचरः - शिपिविष्टः  
 (३) - म (१) - म (२) - म (३) - म (४) → (१) - ई (२) - मा → उ (३) - म - (४) - म (५) - म (६)

भगवत् ————— गीता ————— उपनिषत्



विराट्पुरुष - पूर्णपुरुष

भगवत् ————— गीता ————— उपनिषत्



अविदेयतम् ————— अक्षयतम् ————— अभिभूतम्



बुद्धियानो  
 गाताः शास्त्रनिष्कयाः

इतिगीतानाममीमांसायां - भगवद्गीतोपनिषद्भामरहस्यम्



## ५—गीताशब्दनिरुक्ति

नाममीर्नास समाप्तप्राय है। यदि, एव समष्टिरूप से उभरण्या नाम का रहस्य पाठकों के सम्मुख रक्खा जासुका है। अतः इस सम्बन्ध में कोई विशय बहस्य नहीं है। अतः केवल गीता शब्द के सम्बन्ध में दो बहस्य और कहने हैं। पूर्वप्रतिपादित गीताशब्दरहस्य में यह बतसाया जासुका है कि गीता कोई कूट शब्द नहीं है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन आदि नाम तन्त्रसम्प्रदायों में ही लिखे हैं, ऐसे गीता शब्द नामसम्प्रदाय में आता हुआ भी बसुनः इस ग्रन्थ का नाम नहीं है। इसका प्रसङ्ग प्रसङ्ग है ब्रह्मबहार। गीता के प्रत्येक अध्याय के उपसंहारमें 'इति श्रीमद्भागवतगीतासूपनिषत्सु' यह उल्लेख मिलता है। यदि गीताशब्द श्रीमद्भागवतपरि की तरह इस ग्रन्थ का नाम होता तो 'इति श्रीमद्भागवते महापुराणे' शब्द बिना इस ग्रन्थ के अध्यायों के उपसंहार में भी 'इति श्रीमद्भागवतगीताशास्त्रे उपनिषत्सु' यह बहस्य उदात्त रहता। फलतः पूर्व उल्लेख के अनुसार गीता शब्द का बौगिकत्व ही सिद्ध होता है।

इस शास्त्र में चित्तमी भी उपनिषदें हैं वे सब भगवान् के द्वारा गाई गई (कही गई) हैं एतन्नाम इसी हेतु से इसे गीता कहा गया है। गीता शब्द शब्दावक "गै" भातु से निवृत्त हुआ है—(क गै शब्दे पा० वातुपा० आदि)। ऐसी दशा में मुक्तशास्त्र के अनुसार भी गीता शब्द का 'कथिता-शोक्ता-शब्दिता-उक्ता' यह बौगिकत्व ही सिद्ध होता है।

यह एक और बहस्यकार है कि उक्त शब्दों में से किसी का प्रयोग न कर ब्यास ने गीता शब्द का ही प्रयोग किया है। दो एक रहस्य तो इसके पूर्व में बतसाय जासुके हैं। अतः एक रहस्य का विवर्धन और कराया जाता है। शब्द को बाणिशिष्य से बाहर निकलने का नाम ही शब्दसम्प्रदाय, किंवा रूपन है। इस रूपन का अस्तित्व से पवित्र सम्बन्ध है। बाक्सुमुद्र में उदात्त होने वाली बीषिप (तर्गे) ही शब्द की जननी है। बीषिप से सर्वव्यापक बाक्सुमुद्र में बाहर पैदा होती है, वे ही बाहरें कण्ठशकुली पर आके बाह्य बैठे हुए प्रधान मन से परिगु-

हीन बनकर शब्दवाक् की जननी बनती हैं। यही शब्दवाक् धृति है। इसी प्रकार हम जो शब्द मुख से बोलते हैं, उसकी जननी भी वाक् ही है। सोम, एवं मन्त्रार्थों को छोड़कर हमारे सर्वाङ्ग शरीर में बैधानर अग्नि बचक रहा है। इसी अग्नि को "तस्य वा एतत्पादवानेरोपनिषत्" (शत० १०। ११। १।) के अनुसार वाक् कहा जाता है। यही बागमि मन की प्रेरणा से वायु द्वारा प्रत्याहृत बनकर मुखद्वारा सं निरसती हुई शब्दरूप में परिशुत होती है। अग्निमयी मूत्र वाक् ही शब्दार्थिकता वह वाक् रूप में परिणत होकर हृत्प स्वान से बचकर मुखस्थान में प्रवृत्त करती है, जैसा कि— "मन्त्रिर्वाग्मुरा मुख प्राविशत्" ऐ० उप २। ४।) इत्यादि से स्पष्ट है। पाश्चिमीय शिद्धान्तों में शब्दोत्पत्ति का यही रूप माना है—(दक्षिण पा शिवा ६-१)। तत्पथ्य कहने का यही है कि शब्दतत्त्व उत्कृष्ट-श्रुति मेद से दो मार्गों में विभक्त है। हम जो शब्द मुख से बोलते हैं वह उत्कृष्टरूप शब्द है। एवं जो शब्द हम कानों से सुनते हैं, वह ध्रुतिकरूप है। दोनों का मूल वाक्स्वरूप ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि उत्कृष्टरूप शब्द का व्याप्यात्मिक बागमि से सम्बन्ध है एवं ध्रुतिकरूप शब्द का व्याधि-विकृ-बागमि से सम्बन्ध है। शरीर में रहने वाला बागमि व्याप्यात्मिक है, एवं इस विराट आकाश में सर्वत्र समुद्ररूप में व्याप्त बागमि व्याधि-विकृ है। पूर्वकथनानुसार व्याप्यात्मिक बागमि की तरंगों से उत्कृष्टरूप शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द का उस व्याधि-विकृ बागमि पर आवाज होता है। इससे उसमें तरंगों पैदा हो जाती हैं। यही तरंगों प्रकथनानुसार कान पर आकर ध्रुतिकरूप शब्द की जननी बनती है। उभयथा वाक् ही शब्द की जननी है, यह सिद्ध विषय है।

गीतगोवन्द वाङ्मय है, शब्दवाङ्मयभान है उरर धौती उपनिषदों का विज्ञानवाक् से सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व के गीतशब्दग्रहण में कहा जा चुका है। इसी वाङ्मय को सूचित करने के लिए इस "उत्ता" कविता इस दि शब्दों से स्वरूपन म कर गता शब्द से निर्देश किया है। इसपरन्तु यह जीवन्त का सूचक है वही गीतशब्द वाङ्मय का चोदक है। वाङ्मय का सूचन से व्याप्त का तात्पर्य नया है। यह भी जान लेना आवश्यक होगा।

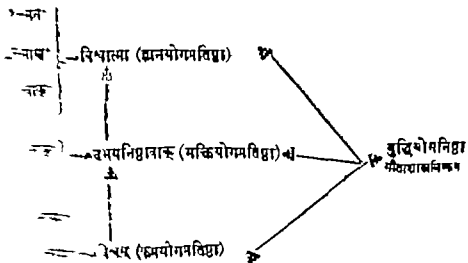
हम यहाँ बाण हैं कि गीत में मात्वा-विष (ज्ञान-विज्ञान) दोनों का निरूपण

हुभा है। गीताशास्त्र दोषों का निरूपण करता है, वाक्य गीताशब्द के प्रयोग का यही कारण है। आत्मतत्त्व के अनेक विवर्त होते हैं। उन सब का यथाशक्य भाग के आत्मप्रकाश में निरूपण किया जायगा। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना बस होगा कि आत्मतत्त्व के विवर्त, विश्वात्मा, विश्वातीत यह तीन प्रधान विवर्त माने गए हैं। ध्यान-विज्ञान-यनो-मय यही आत्मा विश्वातीत है। मन-वाक् वाक्यमय यही आत्मा विश्वात्मा है, एव वाक्-ध्यात-प्रप्रियम यही आत्मा विश्व है। इन तीनों में विश्वातीत आत्मा शब्दशुद्धीत बनता हुआ शास्त्रान्निहित है। येव रहते हैं विश्वात्मा, एव विश्व। इन दोनों आत्मविषयों के मध्य में दोनों से सम्बन्ध रहने वाला वाक्त्वं ही है। मनःवाक् वाक्य विश्वात्मा भी वाक् से उत्पन्न है, एव वाक्-ध्यात-प्रप्रियम विश्व भी वाक् से ही उत्पन्न है। वाक् सदशक्ति है। इस प्रकार उपमयनिष्ठ यह वाक्त्वं आत्मा-विषय दोनों का स्यादक बन रहा है।

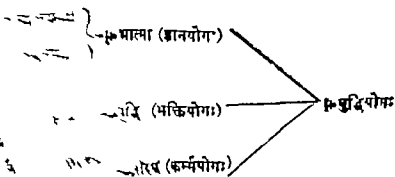
आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानयोग का इसी से सम्बन्ध है। सुप्रसिद्ध सांख्यनिष्ठा का मूलाधार ज्ञानमूर्ति यही आत्मा है। विश्व कर्ममय है, कर्मयोग का इसी से सम्बन्ध है। प्रसिद्ध योगनिष्ठा (कर्मयोग) का मूलाधार कर्ममूर्ति यही विश्व है। ऊपर मध्यस्थ वाक्त्वं आत्मा के ज्ञान से ज्ञानमय एव विश्व के कर्म से कर्ममय बनता हुआ ज्ञानकर्ममय है। मध्यस्थ की दृष्टि में विशुद्ध ज्ञानयोग भी अच्छा नहीं है, एवं विशुद्ध कर्मयोग को भी यह मुँह सम्झे है। इनका प्रधान विषय है—ज्ञानकर्ममय बुद्धियोग।

भगवान् बुद्धि का योग चाहते हैं। बहिरंग प्रकृति वाक्-ध्यात-वाक्-प्रप्र-प्रप्र-मद से पांच भागों में विभक्त है। इन पांचों का क्रमशः विश्वात्मा के पञ्चपदा विश्व के स्रवण-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-गृहिणी इन पांचों पर्याय से सम्बन्ध है। सूर्य से नीचे का भाग मध्य विश्व है। सूर्य से ऊपर विश्वातीत आत्मा है। मध्य में सूय है। इस प्राकृतिक क्रम में सूर्य की उत्पत्ति वाक्त्वं ही है। वाक्त्वं यही सूय बुद्धि का प्रभव है। अतएव हम बुद्धि को अवरण ही वाक्त्वं कहने के लिए तयार हैं। गीताशास्त्र बुद्धि व कर्म, किंवा वाक्प्रकृतिक बुद्धि-योग का निरूपण करता है, वाक्त्वं शब्द की मूल प्रतिष्ठा है, एव मीत शब्द शब्दायक मे

तु से सारा हुआ है, देखी तरह में इस शब्द को "गीता" शब्द से सम्बोधित करना सर्वथा सम्भव न बताया है।



ए  
से  
शब्द  
तरों में  
बनती है



सम्बन्ध है, इस  
कारण के लिए इस  
रेंच किया है। इस  
है। वाक्यप्रयोग की सूत्र  
इस वाक्य का

गीताशब्दनिष्ठा  
गीताशब्दनिष्ठा







८-गीताशास्त्र की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता



## गीताशास्त्र की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता

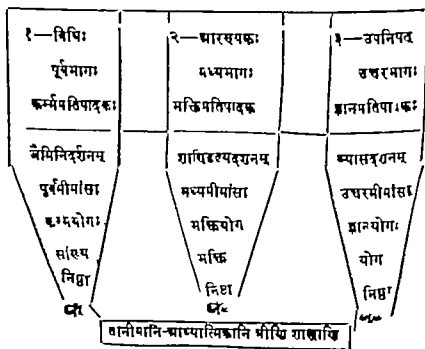
विस शास्त्र के नाम से ही अपने मौलिक रहस्य छिपा हुआ है, उस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय कैसा रहस्यपूर्ण होगा ! यह प्रश्न पूर्ण की माममीर्षा से ही गतापे है । सचमुच गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूरा, एवं विचक्षण है । गीता विषय किस दृष्टि से अपूर्व है / कैसे पूरा है / क्या विचक्षणता है ! प्रकृत प्रकरण में सञ्चन से इसी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की जायगी ।

गीता की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विचक्षणता का एकमात्र विज्ञान दृष्टि से ही सम्बन्ध है । बिना विज्ञानदर्श के हमारी दृष्टि में गीता का कोई महत्व नहीं रहता । यदि प्राचीन व्याख्याताओं के अनुसार गीता को विद्युत् दर्शन प्रत्य मान लिया जाता है तो गीता एक स्वतन्त्र प्रत्य न रहकर गद्यतुल्यिक शाब्द रह जाता है । प्राचीन शास्त्रों में समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से व्याख्यारूपण के लिए ज्ञान भक्ति-कर्म नाम के तीन योर्षों का निरूपण किया है । शास्त्रों का कहना है कि मनुष्य अपनी योग्यता की परीक्षा करत हुआ ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों में से किसी एक का (अपेक्षारी मद से) आधाय लेता हुआ अपना हित साधन कर सकता है । तीनों ही कर्मण्य के पथ हैं । न्योकि तीनों ही मग वेद सम्मत है ।

वेद का आख्यानना मनुष्य के कर्तव्य की शिक्षा देता है । मनुष्य का कर्तव्य अति काठी वेद से कर्म-भक्ति-ज्ञान में से हाद भागों में बटा हुआ है । इसी छिप वेद के माझठ भाग के विधि-आरभ्यक-उपनिषत् यह तीन अन्तर विभाग उपस्थित होते हैं । विधि भाग कर्म का गुप्त रहस्य वतवता हुआ कर्मयोग का, आरभ्यक भाग उपासना, क्रिया भक्ति का गुप्त रहस्य वतवता हुआ भक्तियोग का, एवं उपनिषत् भाग ज्ञान का गुप्त रहस्य वतवता हुआ ज्ञानयोग का निरूपण करता है ।

इसी तीन वेद भागों पर जैमिनि, शाण्डिल्य एवं व्यास ने तीन स्वतन्त्र दर्शन छिये हैं । जैमिनिप्रणीत नीमोसादर्शन ब्राह्मणोक्त कर्म की नीमोसा करता है । ब्राह्मणभ्या बृकि पूर्वभाग है, अतएव यह दर्शन पुषपीर्षामा नाम से प्रसिद्ध है । विधि भादरु है, भादरु वेदना

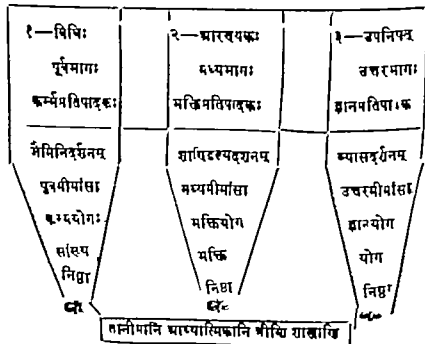
(प्रेरणा) है। यही इस पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय है। इसी आधार पर मीमांसा में धर्म का-  
 'चोदनामचण्डोऽर्षोभम्भा" (पृ० मी० १००-१०१) यह संक्षेप किया है। शण्डिल्य  
 प्रणीत शण्डिल्यदर्शन आधारपत्रके मन्त्रिके मीमांसा करता है। इन्हीं के साथ अनु-  
 रक्ति ही परामर्श है। इसी आधार पर शण्डिल्यदर्शन का आरम्भ 'सा परानुराकरीभरे'  
 (१००-१०१) से हुआ है। व्यासप्रणीत शारङ्गदर्शन उपनिषद्के इन की मीमांसा करता है।  
 उपनिषद् भूक्ति वेद का उत्तर एक अन्तिम भाग है अतएव तद्मीमांसक इस व्यासदर्शन को  
 उत्तरमीमांसा, वेदान्त आदि कहा गया है अतएव तद्मीमांसक इस व्यासदर्शन को  
 'वचरमीमांसा, वेदान्त आदि कहा गया है अतएव तद्मीमांसक इस व्यासदर्शन को  
 'द्विभ्यम्' में ज्ञान के अभिप्राय से ही ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर ज्ञानप्रति-  
 पादक वेदान्तदर्शन का आरम्भ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (व्यास सू० १।१) इस रूप से  
 हुआ है। इस प्रकार वेद का कर्तव्य भाग प्रतिपादक ब्राह्मण्यभाग (त्रिभि-आ'यवक-उपनिषद्  
 भाग), एक तद्मीमांसारूप तीनों दर्शनशास्त्र क्रमशः कर्म-मन्त्र-ज्ञान का सन्तत रूप से  
 निरूपण कर रहे हैं।



यदि उक्त शास्त्रदृष्टि की प्रधानता दते हुए हम विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही गीता के प्रतिपाद्य विषय का विचार करते हैं तो इसमें हमें कोई अपूर्वता नहीं मिलती। तब तो हम गीता के सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि जिन कर्म-भक्ति-ज्ञानयोगों का वेद के पृथक् पृथक् तीन भागों में निरूपण हुआ है एवं जिन तीनों का तीन आचार्यों ने पृथक् पृथक् निरूपण किया है, भगवान् ने केवल एक ही शास्त्र में तीनों का समूह कर दिया है। गीता शास्त्र कर्म-भक्ति-ज्ञान अधिकारी भेद से तीनों का ही निरूपण करता है। एसी दशा में गीता शास्त्र एक प्रकार से सत्त्वा रूप, एव केवल पिछपेपण रह जाता है। सभी तो तीनों के अधिकारी हैं नहीं, एव तीनों का निरूपण पूरा से सिद्ध है ही। फिर 'यास को इस स्वतन्त्र रचना की कोई आवश्यकता न थी। गृहस्थी पूषमीर्मासायुक्त विविधगशाग कर्मकरण्ड में, वान प्रस्थी मध्यमीर्मासायुक्त आरण्यकभागशाग भक्तिरण्ड में, एव सन्यसी उत्तरमीर्मासायुक्त उपनिषत् भागशाग ज्ञानकरण्ड में प्रवृत्त होता हुआ बिना गीता के भी अपने पुरुषार्थ को सम सिद्ध कर सकता था वो फिर गीता का एक मार ओर हमारे रूपे डाल देना कोई महत्त्व नहीं रखता। जब हम प्राचीन व्याख्याताओं से इस प्रश्न का उत्तर पूछते हैं तो वे मौन धारण करते हैं। कारण उनकी दृष्टि अज्ञानता से सम्बन्ध रखती है। एव दार्शनिक दृष्टि से "तीनों का एक ही ग्रन्थ में निरूपण हुआ है" इस के अतिरिक्त ओर उत्तर बन नहीं सकता।

गीता की विषयसंगति प्राचीनों ने इसी रूप से हमारे सामने रखी है। प्राचीनों के मतानुसार आरण्य के ६ प्रपाद्य ज्ञानयोग का निरूपण करते हैं, मध्य के ६ अर्थाप भक्तियोग का प्रतिभेदक है, एव अन्त के ६ अर्थापों में कर्मयोग का निरूपण हुआ है। ज्ञानयोगप्रति प्रति १-पश्यमीर्मासायुक्त १-विषादयोग, २-साम्ययोग ३-कर्मयोग ४-ज्ञानकर्मसंन्यासयोग ५-कर्मवर्मेन्यासयोग, ६-ध्यानसयमयोग इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः ४३, ०२, ५३, ४३, २१, ५३ इतने इतने, सम्भूय २८० श्लोक हैं।

(मेरुका) है। यही इस तृतीयांश का मुख्य नियम है। इसी आधार पर मीमांसा में ब्रह्म वा-  
 'सौदानान्वयोऽर्थोपमाः' (पृ० मी० --- ---) यह लक्षण किया है। शाबिन्द्य  
 प्रणीत शाबिन्द्यदर्शन व्याख्येयकेक मक्ति की मीमांसा करता है। इसमें के साथ अनु-  
 रक्ति ही परामक्ति है। इसी आधार पर शाबिन्द्यदर्शन का आरम्भ 'मापरानुरक्तिरभेरे'  
 (--- ---) से हुआ है। व्यासप्रणीत शारदादर्शन उपनिषदुक्त ब्रह्म की मीमांसा करता है।  
 उपनिषत् सूक्ति का उत्तर एक अन्तिम भाग है अन्तर तद्वीमांसक इस व्यासदर्शन को  
 उत्तरमीमांसा, वेदान्त आदि कहा गया है ज्ञान मन्त्र का सूत्रक है। 'ब्रह्म कर्म य  
 दिव्यम्' में ज्ञान के अधिप्राय से ही ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर ज्ञानप्रति-  
 पादक वेदान्तदर्शन का आरम्भ 'अथातो ब्रह्म विज्ञासा' (व्यास सू० १ १।१) इस रूप से  
 हुआ है। इस प्रकार वेद का कर्तव्य भाग प्रतिपादक भाषणभाग (विधि-आ यथा-उपनिषत्  
 भाग), एव तद्वीमांसारूप तीनों दर्शनशास्त्र क्रमशः कर्म-मन्त्र-ज्ञान का सत्य रूप से  
 निरूपण कर रहे हैं।





# प्राचीनदृष्टिसम्मतविषयीवभाग

१	ज्ञानकाण्डम् १—विषादयोगः— ६७ २—सांख्ययोगः— ७० ३—कर्मयोगः— ६३ ४—ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः १२ ५—कर्मसंन्यासयोगः २२ ६—आत्मसयमयोग १७	२८०	ज्ञानयोगप्रतिपादिका पञ्चप्यायी	सांख्यनेत्रा
२	भक्तिकाण्डम् ७ (१)—ज्ञानविज्ञानयोगः— ३० ८ (२)—अक्षरप्रज्ञयोगः— २८ ९ (३)—राजगुह्ययोग — ३४ १० (४)—विभूतियोगः— ४२ ११ (५)—विश्वरूपदर्शनयोग ५५ १२ (६)—वक्तियोग — २०	२०६	भक्तियोगप्रतिपादिका पञ्चप्यायी	भक्तिसिद्ध
३	कर्मकाण्डम् १३ (१)—अकृतिपुरुषविभागयोग ३६ १४ (२)—गुणत्रयविभागयोग २७ १५ (३)—पुरुषोत्तमयोगः— २० १६ (४)—देवामुरसम्पत्तियोगः २६ १७ (५)—श्रद्धाप्रपयोगः— २८ १८ (६)—संन्यासयोग — ७८	२११	कर्मयोगप्रतिपादिका पञ्चप्यायी	योगसिद्ध
४	स एव गीताशास्त्रनिष्कर्षादायनिकः	७००		

भक्तियोगप्रतिपादिका मध्य की पङ्क्तियों के ६ अध्यायों में क्रमशः १-ज्ञानविज्ञान-योग २-अक्षरब्रह्मयोग, ३-रामयुगयोग, ४-विभूतियोग, ५-विरवरूपदर्शनयोग ६-मक्तियोग इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः

३०	२८	३४	४२	५२	२
१	२	३	४	५	६

इतने इतने, सम्भूय २ ६ श्लोक हैं।

कर्मयोगप्रतिपादिका अष्ट की पङ्क्तियों के ६ अध्यायों में क्रमशः १-प्रकृतिपुरुष विभागयोग, २-गुणत्रयविभागयोग, ३-पुरुषोत्तमयोग ४-व्यासुरसप्तविधयोग, ५-अज्ञानयोग, ६-संन्यासयोग इन ६ अंगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः

३४	२७	२०	२४	२८	३८
१	२	३	४	५	६

इतने इतने सम्भूय २११ श्लोक हैं। "स प्रकार काण्डत्रय में

विस्तृत ७०० श्लोकों का यह गीता शास्त्र तीन यमों का ही निरूपण करता है। प्राचीन व्याख्याताओंने ठीक विषय विभाग को ही प्रधानता दी है। फलतः उनके अनुयायी भारतीय विज्ञान भी इसी पथ का अनुगमन कर रहे हैं। यह विषय सम्प्रदायवाद का जनक बना है। इसी विमर्शने सम्प्रदायोंमें कलह का बीज बपन किया है। होसकता है, साधारण लौकिक मनुष्य केवल इसी विमर्श पर विश्राम करे। पाल्पु एक वैज्ञानिक "स विषय विभाग को किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं मान सकता, जैसा कि अगे आने वाले विषयविभागप्रदर्शन में शिस्त से बतसाया जाने क्या है।



प्राचीनदृष्टिसम्मतविषयीवभाग

ज्ञानकारणम् १	<p>१—विषादयोगः---- ४७                  २—सांख्ययोगः---- ७१                  ३—कर्मयोगः---- ६३                  ४—ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः ४२                  ५—कर्मसंन्यासयोगः २३                  ६—आत्मसयमयोगः---- ४७</p>	२८०	ज्ञानयोगप्रवृत्तिरिका ब्रह्म्यापी	सांख्यनेत्रा
भक्तिकारणम् २	<p>७ (१)—ज्ञानविज्ञानयोगः---- ३०                  ८ (२)—मत्सरमहायोगः---- २८                  ९ (३)—राजगुह्ययोगः---- ३४                  १० (४)—विभूतियोगः---- ४२                  ११ (५)—विश्वरूपदर्शनयोग                  ५५                  १२ (६)—भक्तियोग---- २०</p>	२०६	भक्तियोगप्रवृत्तिरिका ब्रह्म्यापी	भक्तिलिख
कर्मकारणम् ३	<p>१३ (१)—मङ्गलिपुरुषविभागयोगः ३४                  १४ (२)—गुरुप्रथविभागयोगः २७                  १५ (३)—पुरुषोत्तमयोगः---- २०                  १६ (४)—वेदासुरसम्पत्तियोगः २४                  १७ (५)—श्रद्धाप्रथयोगः---- २८                  १८ (६)—संन्यासयोग---- ७८</p>	२११	कर्मयोगप्रवृत्तिरिका ब्रह्म्यापी	योगनिष्ठ
३	स एष गीताशास्त्रनिष्कर्षोद्धारोन्निकः ७००			

भक्तियोगप्रतिपादिका मध्य की पञ्चाशती के ६ अध्यासों में क्रमशः १-ज्ञानविज्ञान-योग २-अक्षरप्रकृत्ययोग, ३-राजगुह्ययोग, ४-विभूतियोग, ५-विरसकपदसनयोग ६-भक्तियोग इन ६ योगों का निरूपण हुआ है । प्रत्येक में क्रमशः  $\frac{३०}{१}$   $\frac{२८}{२}$   $\frac{३४}{३}$   $\frac{४२}{४}$   $\frac{२४}{५}$   $\frac{२०}{६}$  श्लोक इतने, सम्मूय २ १ श्लोक है ।

धर्मयोगप्रतिपादिका अष्ट की पञ्चाशती के ६ अध्यासों में क्रमशः १-प्रकृतिपुरुष-विभागयोग, २-गुरुस्रवणविभागयोग, ३-पुरुषोत्तमयोग ४-देवामुरसपञ्चयोग, ५-अद्वाययोग, ६-संन्यासयोग इन ६ योगों का निरूपण हुआ है । प्रत्येक में क्रमशः  $\frac{३४}{१}$   $\frac{२७}{२}$   $\frac{२०}{३}$   $\frac{२४}{४}$   $\frac{२८}{५}$   $\frac{४८}{६}$  श्लोक इतने इतने सम्मूय २११ श्लोक है । यह प्रकार कायत्रय में

विमल ७०० श्लोकों का यह गीता शास्त्र तीन यमों का ही निरूपण करता है । प्राचीन व्याख्याताओंमें तब विषय विग्रह को ही प्रधानता थी है । परन्तु उनके अनुयायी भारतीय विद्वान भी इसी विषय का अनुगमन कर रहे हैं । यह विषय सम्प्रदायवाद का जनक बना है । इसी विमलने सम्प्रदायोंमें कलह का बीज बपन किया है । होवता है, साधारण सौमिक यजुष्य केवल इसी विमल पर विश्राम करत । पान्तु एक वैज्ञानिक इस विषय विग्रह को किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं मान सकता, जैसा कि अनेक अनेक विषयविभागमद्दान में निरन्तर से बतकाया जाने वाला है ।

गीता का उपदेश महाभारत युद्ध के समय हुआ था। युद्ध प्रसङ्ग से भगवान् व्यास ने महाभारत ग्रन्थ लिखा। चूँकि गीतोपदेश भी इस ऐतिहासिक से सम्बन्ध रखता था, अतएव उसी इतिहास ग्रन्थ में व्यासने अपने शब्दों से गीता का भी समावेश कर दिया। किसी कारणविशेष से महाभारत में १८ पत्र रहले गए हैं। यह अष्टादशभाष इतिहास मर्यादा का सूचक माना गया है, जैसा कि अ.गे आनेशसे संख्याविज्ञान में वित्तर से मनसाग जाने वाला है। ऐसिय मर्यादा के रक्षक, साथ ही में परोक्षपि व्यासने इतिहास दृष्टि को प्रधान सद्ग मानते हुए गीता को भी १८ ही अंगों में विभक्त किया। गीता का वास्तविक विपातक क्यों विरोधित होगया, इसका एक कारण जहाँ यह एतिसम्बन्ध है। जहाँ दूसरा कारण मर्यादाओं की सङ्कलित युद्ध है। उन्होंने पहिले धाना एक सिद्धांत निदिषत कर लिया है, अनन्तर सासिद्धान्तनुसार गीता के अर्थ करने का प्रयास किया है। गीता का कहना है, इसकी उपेक्षा कर मर्यादाओंमें—“हमें जो सम्बन्ध रखता है, वह गीता में है, अर्थ नहीं” इस दृष्टि में गीता की मर्यादा की है। यही कारण है कि आज जगत्सभी मर्यादाएँ (अभिनवगुणाधम की मर्यादा को छोड़ कर) इसी ऐतिहासिकमूल दार्शनिक रंग से रंगी हुई है। इसी मर्यादादेय से गीता का विधानरहस्य विरोधित हो रहा है।

गीता इतिहास में उद्धृत है, इस दृष्टि से इस के १८ अंगों का होना मर्यादासम्बन्ध है। किन्तु उपमाएँ इसी हेतु से गीता को विषयमर्यादा से पृथक् नहीं किया जा सकता। विषय का गुरु शिष्य सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, तत्पर्यन्त विद्या के उपाय हैं। गीता में “शिष्यस्तेऽहं यापि मां रत्नं प्रपन्नम्” — “उपद्रवपति से ज्ञान ज्ञानिनस्तत्पर्यन्तम्” एतद्वि रूप से एतत् शब्दों में अपने अर्थ को जब विषयमर्यादा यत्नाश है तो इसी दशा में इसे केवल ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः एक दृष्टि से गीता शब्द अपने १८ अंगों में, एतत् उक्त तीनों कायों को साथ लेता हुआ जहाँ ऐतिहासिक, किंवा इतिहास मर्यादा से आश्रित दार्शनिकमर्यादा है, वहाँ भवती चतुर्विधा विद्या, एतत् चतुर्विध विद्यासुद्विधोक्त निरूपण के द्वारा अन्तर ही एक निश्चयक है। जो अन्तःपुर विद्या, दशन, एतत् सम्प्रदायगत के अर्थ हैं, उन के विर

प्राचीन म्यास्याताओं का उक्त नियम विभाग, एव अप्याय विभाग सर्वथा निर्मूलक हो यह बात तो नहीं है। अन्वय ही ऐतिहासिक दृष्टि से गीता के १ = अप्याय मानना, एव शारीरिक दृष्टि से गीता के ३ कायद मानना एक प्रकार से युक्तिसङ्गत अतएव आदरणीय है। सर्वसाधारण के लिए यही नियम विभाग सहज रूप से प्राद्य भी है। सभी व्यक्ति विज्ञान के अधिकारी नहीं बन सकते। फलतः विज्ञानसम्पन्न नियम विभाग सर्वसाधारण का उपयोगी नहीं बन सकता। "कश्चिद्यतति सिद्धये"—'कश्चिन्मां वेत्ति तत्रतः' के अनुसार गेता के वैज्ञानिकत्व को समझने वाले निरत ही मिलते हैं। यही कारण था कि अर्जुनोद्देशकाद्य से परिष्ठ कई शताब्दियों तक बड़े विघातल्ल सबया विद्वान् ही बना रहा। उस समय विद्वान् न थे यह बात नहीं। परन्तु वे इस रहस्य को मूले हुए थे। "स कासन महता योगो नष्टः परन्तप'। श्लादि रूप से मगधान् सूर्य यह सिद्ध कर रहे हैं कि मैंने देखसुग में जिस गीताविज्ञान का, किञ्च सद्व्यक्त-कर्मरूप बुद्धियोग का उपदेश दिया था वह नष्ट हो गया है। कुछ शताब्दियों से लोक में अन्वय एवं योग नाम की दो सतल्ल निष्ठाएँ प्रचलित हैं। अन्वय—कर्म की समुच्चयरूपा बुद्धियोगनिष्ठा को लोग भूषण गये हैं। मैं आज तुझे वही विद्वान् योग (अपना प्रिय समझ कर, बतला रहा हूँ।

मया आश्चर्य है, मगधान् का यह उपदेश कुछ समय तक तो यथावत् चलता रहा हो एवं पुन इन्होंने तन्ही लोकनिष्ठाओं का रूप धारण कर लिया हो। आश्चर्य नहीं, ऐसा ही हुआ है। इतिहाससम्पन्न (महाभारत) में पढ़े जाने के कारण अन्वय ही गीताशास्त्र बनने जाकर म्यास्याताओं के द्वारा पुन विद्वान् हो गया है। फिर भारतवर्ष में वही सांख्य एवं कर्मनिष्ठा पनप गई है। परिय्याम साकूप आज भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाएँ उत्पन्न हो गई हैं। गीता का सावरी ठिक सिद्धांत जगता मूळ गये है। अर्हत पञ्चागती म्यास्याताओंने इसे केवल शास्त्रप्रधान मन्वय मान लिया है। बहसम—रामानुज—निम्बार्क—म्यान्नादि वैष्णवों ने इसे एकमात्र भक्तिमन्वय मान लिया है। एवं इपर कुछ समय से कुछ राष्ट्रवादिनोंने अपनी कठोरता के बल पर इसे कर्म योग की तपधि से विभूषित कर बाबा है। इस प्रकार गीता आज म्पत्तिनुष्टि का कारण बनती हुई अन्वय ही अपनी म्यापक बुद्धियोगनिष्ठा से बधित हो गई है।

गीता का उपदेश महाभारत युद्ध के समय हुआ था। युद्ध प्रसङ्ग से भगवान् व्यास ने महाभारत ग्रन्थ लिखा। चूँकि गीतोपदेश भी इस ऐतिहासिक से सम्बन्ध रखता था, अतएव उसी इतिहास ग्रन्थ में व्यासने अपने श्रुतों से गीता का भी समावेश करविया। किसी कारणवशिये से महाभारत में १८ पत्र रखे गए हैं। यह अष्टादशभाव इतिहास मर्यादा का सूचक माना गया है, जैसा कि अनेक व्यासवाले संख्याविद्वानों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। ऐतिहासिक मर्यादा के रक्षक, साथ ही में परोक्षविषय व्यासने इतिहास दृष्टि को प्रधान साधन मानते हुए गीता को भी १८ ही अध्यायों में बिनतक किया। गीता का वास्तविक विषयतन्त्र नवों तिरोहित होगया, इसका एक कारण यहाँ यह ऐतिहासिक है। यहाँ दूसरा कारण व्याख्याताओं की संकुचित बुद्धि है। उन्होंने पहिले अपना एक सिद्धान्त निश्चित कर लिया है, अनन्तर स्वसिद्धान्तानुसार गीता के अर्थ करने का प्रयत्न किया है। नेता कथ कहती है, इसकी उपेक्षा कर व्याख्याताओंने— 'हमने जो समझ रक्खा है, वह गीता में है, अन्यत्र नहीं' इस दृष्टि से गीता की व्याख्या की है। यही कारण है कि आज समाज सभी व्याख्याएँ (अभिनवगुताचार्य की व्याख्या को छोड़ कर) उसी ऐतिहासिकमूलक दार्शनिक राय से लगी हुई है। इसी व्याख्यादेव स गीता का विद्वानरक्ष्य तिरोहित हो रहा है।

गीता इतिहास में उद्धृत है, इस दृष्टि से इस के १८ अध्याय होने का व्यापकत है। किन्तु एकमात्र इसी हेतु से गीता को विद्यामर्यादा से पूर्यक नहीं किया जासकता। विद्या का गुण शिष्य सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, तत्पर्यय विद्वान् विद्या के उपदेश हैं। गीता ने 'शिष्यस्तेऽहं शापि मां त्वां प्रपन्नम्'— 'उपदेशयति से ज्ञानं ज्ञानिनस्त्वत्प्रदर्शिनः' इत्यादि रूप से स्पष्ट श्रुतों में अपने अर्थ को जब विद्याग्रन्थ बतलाया है तो ऐसी दशा में इसे केवल ऐतिहासिक नहीं माना जासकता। फलतः एक दृष्टि से गीता शब्द अपने १८ अध्यायों एवं उक्त तीनों कायदों को साथ लेता हुआ यहाँ ऐतिहासिक, किंवा इतिहास मर्यादा से आश्रित दार्शनिकग्रन्थ है, यहाँ अपनी अतुविधा विद्या, एवं अतुविध विद्यामुद्रियोग निरूपण के कारण अकरय ही एक विद्वानशब्द है। जो महाभारत इतिहास, दशन, एवं सम्प्रदायवाद के भक्त हैं, उन के लिए

दार्शनिकगीता, एव प्रचलित विषय विभाग आदरणीय है, परन्तु जो विद्या के अनुपायी उत्कृष्टी कश्चित् मर्यादा से युक्त विद्वान् हैं, उन की दृष्टि में न प्रचलित अभ्यास क्रम का ही कुछ मूल्य है, एव न सतत हीन कायों का ही कुछ महत्व है। विशेषणेश का जैसा क्रम है, उसी के अनुसार एक विद्वान् गीता का विषय विभाग करेगा। एव उसी विषय विभाग के बह पर वह गीता की उत्तर शाखों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एव निश्चयता सिद्ध करेगा। साथ ही में उस का यह सिद्धिमान विद्वान्बगद् के लिए अक्षय ही एक अपूर्ण, पूरा, एव निश्चय बस्तु होगी।

गीता पर पीछे दृष्टि गतिए पहिले स्वयं गीताधार्य की ही परीक्षा कीजिए। भगवान् कृष्ण आर्यजाति के परम उदाहरण देव हैं इस में कोई संदेह नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि उन की यह उपासना भी आज दो मार्गों में बटी हुई है। आज ही क्या, यह उपासना द्वैविध्य विरक्त से बसा आरहा है। इस द्वैधीभाव का मुख्य कारण स्वयं भगवान् का द्वैविध्य है। भगवान् का जीवन मनुष्यमात्र, ईश्वरमात्र मेर से दो मार्गों में बटा हुआ है। वाक्सुखम साधारण चरित्र, निम्नश्रेणी, युद्धप्रसंगों में सहयोग, दूतमात्र विशाह पुत्र-कन्या संगति, आवि मनुष्य सुखम मात्र भी वृष्ण में निषमान थे, साथ ही में विराट्स्वरूपप्रदशन अर्जुना परमैश्वर्य, परमैश्वर्य्य ज्ञानोत्प, धर्मादय, आवि ईश्वरानुगत धर्म भी इन में पूर्णरूप से विकसित थे। भगवान् आधिकारिक चीज थे। जोरुक्क्याण के लिए भगवान् का अन्तार हुआ था। लोक सामान्य, एव विशेषज्ञों से दो मार्गों में विभक्त है। भगवान् को दोनों का ही बरुभाण्य अभीष्ट था। अतएव उन्हें अपने जीवन को दो मार्गों में विभक्त करना पडा। अपने मनुष्यरूप से जहाँ उन्होंने बाबकों, शिष्यों, एव सामान्य मनुष्यों का कल्याण किया वहाँ अपने ईश्वरमात्र से वे योगियों की उपासना के परतल बने।

भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों को हम क्रमशः ऐतिहासिक, एवं वैज्ञानिकरूप कह सकते हैं। इतिहासदृष्टया भगवान् ने एक स्थान में जन्म लिया था एव अपने अस्तौतिक गुणों, एव अतुलित शक्तियों के आधार पर दुनों का दमन किया था। विद्वान्दृष्टि से यह सम्पूर्णविषय के आरमा थे। स्वयं नन्ददम्पति भी भगवान् के इन सर्वथा निरुद्ध दोनों रूपों को देख कर कभी कभी आनोह में पड़ जाते थे। साधारणरूप से नन्ददम्पति इन्हें अपना प्रिय बाबक समझते थे। भगवान् भी



योगसाधक द्वारा इन की इस वास्तव्यभंगना को सुरक्षित रखते थे। परन्तु जिन्होंने इस सामान्य रूप से कृष्ण को देखा था, वे भी कभी कभी इन के उन अद्भुत ईश्वरीय चरित्रों को देख कर अवाक रह जाते थे। योही वेर के लिए वे अपना वह सखामात्र भूख जाते थे। परन्तु तत्काल भगवान् योगसाधक द्वारा उन्हें विस्मृति के गर्भ में डाल देते थे।

भगवान् के यही दोनों स्वरूप हमारी दृष्टि में नन्दनन्दन, एव वसुदेवनन्दन इन नामों से स्पष्ट हो रहे हैं। पहिला रूप मनुष्यविक्रम है ऐतिहासिक है। दूसरा रूप ईश्वरविक्रम है, वैज्ञानिक है। यही कारण था कि जिस आयु तक मयवान् नन्दनन्दन बने रहे, तभी तक उन में मनुष्यभावों की प्रधानता रही। जिस छत्र में गोकुल से सौट कर उन्होंने वसुदेवनन्दन का बाना पहिना, उसी छत्र से उन का जीवन एक गम्भीर भाव में परिणत हो गया। इन दोनों में पहिले रूप के उपासक अधिक संख्या में हैं परन्तु दूसरे रूप के उपासक परिगणित हैं। मन्दनन्दन को सभी जानते, एव मानते हैं। साक्षात् सभी को प्रिय है। परन्तु वसुदेवकृष्ण का स्वरूप जानने वाले वैज्ञानिक दुर्लभ ही मानी, अपितु सुदुर्लभ हैं। “वासुदेवः सवपिति स महात्मा सुदुर्लभः” श्लोकानुसार से स्वयं भगवान् ने अपने इस वसुदेवरूप को नैवाचितक बतलाया है।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जिन साम्प्रदायिकों की दृष्टि कृष्ण के ऐतिहासिक मनुष्य रूप पर है, दूसरे शब्दों में जो नन्दनन्दन के उपासक हैं, वे अक्षर्य ही गीता के इतिहास सम्बन्ध अर्थात् विभाग का आश्रय लेते हुए केवल अक्षरार्थ द्वारा, अपना गीता पाठपण से समतोप कर सकते हैं। परन्तु जिन की दृष्टि कृष्ण के वैज्ञानिक इकरमात्र पर है, जो वसुदेवसायकृष्ण को व्यापक समझते हैं, उन के लिए विश्रामभाव ही समतोप का कारण बन सकता है। वे ही धार्मिकदृष्टि से गीता का विचार कर सकते हैं। उन्हीं की दृष्टि में गीताशास्त्र इतरशास्त्रों की अपेक्षा अपूर्ण, पूर्य, एवं निःशेष हो सकता है। साथ ही में हमारा यह विश्राम भाष्य भी उन्हीं की दृष्टि कर सकता है। विश्रामदृष्टि को प्रधान मानने से गीता में क्या व्युत्पत्ति आनाती है! इसी प्रश्न का समाधान कर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है।

आत्मतत्त्व असंख्य रूप से सर्वथा आनन्दमय है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आत्मा कभी दुःख का भी दुःख की कामना नहीं करता। इस प्रकार अपने रूप से निजानन्दमय बनता हुआ भी यह आत्मा सत्कार विरोधों की कृपा से दुःख पाया करता है। यही सत्कार मिथेय इस की जन्मप्रवृत्ति के कारण है। सचित सत्कारों के भोग के लिए ही इसे दुःखमय (सत्कर्म) सत्कार में जीवित रूप से आना पड़ना है। प्रवृत्ति विधुःख के आनात से ताडित, एव योमत्मा के इत कर्म से सत्कर्म परतन्त्र बनता हुआ आनन्दमय (भी) आत्मा दुःखी होता है। इस सांसारिक दुःखमय को हटकर आत्मा को उचित वास्तविक (शांति लक्षण आत्मरूप) आनन्द का अवि-  
 कृत दिखाने के लिए ही हमारा गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। 'अपने आप को पहिचान सेना'  
 दूसरे शब्दों में "आत्मा के पर्यार्थ स्वरूप का परिद्वान करसेना" ही जीवितमा का परम पु-  
 र्यार्थ है। आत्मा के स्वरूपज्ञान से मोह की एकाग्रितक निवृत्त होजाती है। मोहनिवृत्ति के जन्म  
 पहिलोचर काळ में ही दुःखमय को (आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिपौष्टिक दुःखों की) सर्वथा  
 निवृत्ति होजाती है। बिना आत्म का ज्ञान प्राप्त किए दुःखनिवृत्ति सर्वथा असम्भव है। "तमेव  
 विदित्वातिपत्युमेति नान्यः पन्था विपत्तेऽपनाय" इस मन्त्र-श्रुति के अनुसार आत्मज्ञान के  
 अतिरिक्त शाश्वतशांति के लिए अन्य उपाय का अस्तित्वमय ही है।

"सध चतुरस्रम्" इस आत्मश्लोक के अनुसार सर्वथा, किंचि पूर्यता चतुरस्रक (चार  
 कोनी)-मात्र पर निरत है। इसी आधार पर श्लोक में सर्वाधिपत्य के सम्बन्ध में "अमुकने चारों  
 कानें रोक दिए"- 'अमुक न चारों कूटें रोकपी अब बहा दूसरे का मवेश असम्भव  
 है"- 'अमुक न अमुक को चारों तानें चित कर डासा' 'अमुक का तो राज्य चारों  
 दिशाओं में फैला हुआ है' इत्यादि किंचिदस्ति एव प्रचलित हैं। इसी आधार पर वेद का "चतु  
 रस्र का ईश सवम्" (कौ० श्र २।१।) यह अनुगम प्रसिद्धि है। आत्म को "पूर्वमद् पूर्व-  
 मिदं पूर्वात् पूर्वमुदभ्यते" के अनुसार पूर्व माना जाता है। पूर्णता, किंचि सत्ता चतु शक्ति  
 मात्र पर किंचि अतुल्यसत्ता पर निर्भर है।

निश्चय यह प्रकृत है कि आत्मा की ये चारों शक्तिए कीमती हैं, तिनके सम्बन्ध से

आत्मा पूर्ण बना हुआ है । एव आत्मा की जिन चारों शक्तियों के सम्यक् परिचयान से अपने अपूर्ण कर्मात्मा का उस चतु शक्ति पूरणमात्र के साथ सम्बन्ध करते हुए हम पूरणमात्र को प्राप्त कर आत्मसङ्गण, अतएव पूर्ण भूमानन्द के अधिकारी बनजाते हैं । विश्वामवेणान्तरि उचरते हैं कि—आत्मा में विद्याबुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा में पहिल से प्रतिष्ठित, पूर्णता सम्पादक वैराग्य—ज्ञान—ऐश्वर्य—धम्म इन चारों विद्यासम्पत्तियों का उदय होता है । इन चारों विद्याओं के सम्यक् परिचयान, एव सम्यक् अनुष्ठान से ही आत्मा की पूर्णता का परिचयान, एव पूर्ण आत्मा की पूर्यसम्पत्ति का कर्मरत्ना में उदय होता है ।

शुक्ति वैराग्य—ज्ञानादि इन चारों विद्याबुद्धियों से आत्मा की वैराग्य—ज्ञानादि चारों विद्याओं का विकसल होता है, अतएव साधकरूप इन विद्याबुद्धियों को हम अवश्य ही आत्म विद्या कहने के लिए तत्पार हैं । यही चारों आत्मविद्याएँ चार प्रकार के विद्याबुद्धियोगों की मूलप्रतिष्ठा है । आत्मविद्या ज्ञानप्रधाना है, बुद्धियोग कर्मप्रधान है । ज्ञान—कर्म दोनों ही आत्मा की प्राथमिक (निजी) सम्पत्ति है । इन दोनों आत्मविकारों में से आत्मविद्या जहाँ आत्मा के ज्ञान भाग को विकसित करती है, वहाँ बुद्धियोग आत्मा के कर्मभाग को पूर्यरूप से विकसित कर देता है । इस प्रकार आत्मविद्यासङ्ख्या विद्या एव बुद्धियोग सङ्ख्ययोग यह दोनों उपाय ज्ञान कर्ममय आत्मा को सर्वात्मना प्रसन्न कर देते हैं । संसार के पञ्चयावत् भौतिक पदार्थों की अपेक्षा आत्मा की यही अपूर्वता, पूर्यता, एव विशङ्कता है । एव इन तीनों मन्त्रों का एक मात्र ध्येय हमारे इस गीताशास्त्र को ही है ।

हमारा गीताशास्त्र क्रमशः १-२-४-६ इन अध्यायों से जहाँ आत्मविचाररहस्य प्रति पादिश्व राजपिबिद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या धार्यविद्या इन चार आत्मविद्याओं का परिचयान, एव अनुष्ठान का उपाय बतलाता है, वहाँ यही गीताशास्त्र उसी क्रम से, उन्हीं अध्यायों के द्वारा क्रमशः वैराग्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग, धम्मबुद्धियोग इन आत्मकर्मों का सम्यक् परिचयान करवाता हुआ, इनके सम्यक् अनुष्ठान का उपाय बतलाता है । गीताशास्त्र हमें पूर्यसम्पत्ति देता है, आत्मा की पूर्यसम्पत्ति बतलाता हुआ हमारे कर्मरत्न को

आत्मतत्त्व अस्वरूप से सर्वथा आनन्दमय है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि व्यक्त कभी मूख कर भी दुःख की कामना नहीं करता। इस प्रकार अपने रूप से निस्मानन्दमय बनता हुआ भी यह आत्मा सत्कार विरोधों की कृपा से दुःख पाया करता है। यही सत्कार विरोध इस परी जन्मग्रहण के कारण हैं। सन्निवृत्त सत्कारों के भोग के लिए ही इसे दुःखमय (बन्धन) उत्सार में जीवरूप से भाना पड़ता है। प्रकृत विधवुःख के आघात से ताडित, एव योगमाया के इह भवन से सन्ध्या परतम्र बनता हुआ आनन्दमय (भी) भाना दुःखो होजाता है। इस सांसारिक दुःखमय को हटाकर आत्मा को उलक वास्तविक (शान्ति लक्षण आत्मरूप) आनन्द का अधिकार दिखाने के लिए ही इमाय गीतारामक प्रकृत हुआ है। "मनेन घ्राप को पहिचान सेना" दूसरे शब्दों में "आत्मा से यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करसेना" ही जीवत्मा का परम पुरुपाप है। आत्मा के स्वरूपज्ञान से मोह की ऐकान्तिक निवृत्ति होजाती है। मोहनिवृत्ति के अन्वय वहितोत्तर काय में ही दुःखमय को (आभ्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों की) सर्वथा निवृत्ति होजाती है। बिना आत्म का ज्ञान प्राप्त किए, दुःखनिवृत्ति सर्वथा असम्भव है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेवि नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस पशुः श्रुति के अनुसार आत्मज्ञान के अक्षिप्तक शाश्वतशान्ति के लिए अन्य उपाय का अस्त्वताम्भव ही है।

"सब चतुरस्रम्" इस आभाषक के अनुसार सर्वथा, किंचि पृथक् चतुःशक्ति (चार कोनों)-मय पर निर्भर है। इसी आधार पर लोक में सर्वाधिपत्य के सम्बन्ध में "धमुकने चारों कानों रोक दिए"—"धमुक न चारों कूटों रोकनी अब वहा दूसर का मनेय असम्भव है"—"धमुक ने धमुक को चारों सानें चिच कर दासा" "धमुक का वो राज्य चारों दिशाओं में फैला हुआ है" इत्यादि किंचिदन्तिए प्रकथित हैं। इसी आधार पर वेद का "चतु रूप वा इह सबम्" [की० भा० २।१।] यह अनुगम प्रतिष्ठित है। आत्म को "पूर्वमद्ः पूष पिदं पूर्वात् पूषमुदभ्यते" के अनुसार पूष माना जाता है। पूषता, किंचि सबता चतु वृत्ति नास पर, किंचि चतुःशक्ति पर निर्भर है।

निवार यह प्रमाण है कि आत्मा की व चारों अक्षिण कोनेही हैं, त्रिभुके सम्बन्ध से

आत्मा पूर्ण बना हुआ है । एवं आत्मा की जिन चारों सक्तियों के सम्यक् परिज्ञान से अपने अपूर्ण कर्ममत्मा का उस चतु सक्ति पूरात्मा के साथ सम्बन्ध करता हुए हम पूर्णभाव को प्राप्त कर आत्मसङ्गण, अतएव पूर्ण भूमानन्द के अधिकारी बनजाते हैं ! विद्वानवेदान्तदर्शि उत्तर करते हैं कि—आत्मा में विद्याबुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा में पहिले से प्रतिष्ठित, पूर्णता सम्पादक वैराग्य—ज्ञान—ऐश्वर्य—धम्म इन चारों विद्यासम्पत्तियों का उदय होजाता है । इन चारों विद्याओं के सम्यक् परिज्ञान, एव सम्यक् अनुष्ठान से ही आत्मा की पूर्णता का परिज्ञान, एव पूर्ण आत्म की पूर्णसम्पत्ति का कर्ममत्मा में उदय होता है ।

सुक्ति वैराग्य—ज्ञानादि इन चारों विद्याबुद्धियों से आत्मा की वैराग्य—ज्ञानादि चारों विद्याओं का विकास होता है, अतएव साधकरूप इन विद्याबुद्धियों को हम अन्वय ही आत्म विद्या कहने के लिए सत्कार हैं । यही चारों आत्मविद्याएँ चार प्रकार के विद्याबुद्धियों की मूलप्रतिष्ठा है । आत्मविद्या ज्ञानप्रधाना है, बुद्धियोग कर्मप्रधान है । ज्ञान—कर्म दोनों ही आत्मा की प्राक्सिक्त (निजी) सम्पत्ति है । इन दोनों आत्मविकृताँ में से आत्मविद्या जहाँ आत्मा के ज्ञान भाग को विकसित करती है, वहाँ बुद्धियोग आत्मा के कर्मभाग को पूरकरूप से विकसित कर देता है । इस प्रकार आत्मविद्यासङ्गण विद्या एव बुद्धियोग सङ्गणयोग यह दोनों उपाय ज्ञान कर्ममय आत्मा को सर्वोत्तमा प्रसन्न कर देते हैं । ससार के यक्ष्मायव भौतिक पदार्थों की अपेक्षा आत्मा की यही अपूर्वता, पूरता, एव विशङ्कता है । एव इन तीनों सबों का एक मात्र ध्य हमारे इस मीताशास्त्र को ही है ।

हमारा गीताशास्त्र क्रमशः ६-२-४-६ इन अध्यायों से जहाँ आत्मविद्यारहस्य प्रति पारिकरात्राप्रविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या आर्षविद्या इन चार आत्मविद्याओं का परि ज्ञान, एव अनुष्ठान का उपाय बतलाता है, वहाँ यही मीताशास्त्र उसी क्रम से, उही अध्यायों के साथ क्रमशः वैराग्यबुद्धिवाग ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग, धम्मबुद्धियोग इन आत्मकर्माँ का सम्यक् परिज्ञान करवाता हुआ, इनके सम्यक् अनुष्ठान का उपाय बतलाता है । गीताशास्त्र हमें पूरसम्पत्ति देता है, आत्मा की पूरसम्पत्तिएँ बतलाता हुआ हमारे कर्ममत्मा को

पूर्ण बनाता है। अतः हम इस शास्त्र को अन्तर ही इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विसर्ग्य मानने के लिए तय्यार हैं।

गीताशास्त्र के अतिरिक्त भोर भोर शारीरिक, वैशेषिक, प्राधानिक जितने भी आत्म-शास्त्र, किंवा आत्मदर्शन हैं, वे सब इस प्रपञ्च में आधिक रूप से ही सफल हुए हैं, जैसा कि योग के आत्मपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने जाया है। प्रकृत में विषय संग्रही के लिए केवल यही जानलेना पर्याप्त होगा कि वैशेषिक दर्शन कर्तव्य को आत्मा मानता है। इसीलिए उसने आत्मा को भी द्रव्य शब्द से सम्बोधित किया है। प्राधानिक (संख्य) शास्त्र की दृष्टि अम्प्यक्त नाम से प्रसिद्ध अक्षरतत्त्व पर है। एवं शारीकदर्शन अक्षरतत्त्व को ब्रह्म (आत्म) मानता है। वेदान्तदर्शन का ब्रह्म पदार्थ कभी शास्त्रतः पदार्थ नहीं होसकता। अक्षर तत्त्व है। ब्रह्म की विद्याशास्त्र करने के लिए व्यसने "जन्माद्यस्य यतः" "तत्सुसमन्वयात्" यह कहा है। इन सूत्रों का तात्पर्य यही है कि जिससे जन्म, स्थिति, भंग की प्रवृत्ति होती है, जो सम्बन्ध के कारण विद्य की जन्म, स्थिति, भंग का कारण बनता है, वही ब्रह्म है। यह तत्त्व अक्षरतत्त्व पर ही अतिरिक्त होता है। जन्म स्थिति-भंग से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा कभी मुख्य आत्मा नहीं माना जासकता। उपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार आत्मा तो अनन्त, अमर, अप्रमय, एवं इन्द्राणीत है। उसका जन्म भोग-मृत्यु से क्या सम्बन्ध।

अक्षरतत्त्व आत्मा मृत्युप्रधान बनता हुआ संसार में आता है, संसार से जाता है संसार में रह कर अनुहसवेनामक सुखों, एवं प्रतिहसवेदनमक दुःखों का भोग क्रिया करता है। शाश्वत एही आत्मा पर अपने प्रतिषय विषय को समस्त कर देने हैं। उन की दृष्टि मुख्य आत्मा पर जाती ही नहीं। जिस आत्मा के साथ शाश्वत जन्म-स्थिति-अमरमक वृत्तियों का सम्बन्ध बनना रहे हैं, उसे हम किसी भी दृष्टि से आत्म कहने के लिए तय्यार नहीं हैं। पूरि इतर शास्त्रों ने अक्षर को आत्म कहा है, साथ ही में उक्त क साथ मृत्युवदी का सम्बन्ध भी माना है एवं आत्म इस मृत्युवदी से सर्वथा अक्षरतत्त्व है। एही दृष्टा में हम इस निधय पर पहुचने हैं कि आत्मा अन्तर ही अक्षरतत्त्व से को

शुभक् तत्त्व है। यदि उस का हमें परिहास है तो भवत्प ही हम जीन्मुक्त है। यह आत्मा वही आप का सुप्रसिद्ध "अभ्ययपुरुष" है। यही विद्याकर्मप्रप है यही मुख्य आत्मा है।

अभ्यशास्त्रों में जिन चर अक्षरों को आत्मा मान रक्ख है, वे दोनों तो गीतासिद्धान्त के अनुसार सम्पयात्मा की अन्तरङ्ग प्रकृतिर हैं। अक्षर पराप्रकृति है चर अपराप्रकृति है। इन दोनों का शाब्दा है—अभ्यय पुरुष। पुरुष शब्द आत्मा का सम्बन्धी है। अभ्यय अक्षर-क्षर इन तीनों में पुरुष—कहलाने योग्य केवल अभ्यय ही है। प्रकृतिरूप अक्षर चर इस पुरुष के समाव हैं, इसलिए गीतच्छ से गीता ने 'दाविमौ पुरुषौ सोके चरआक्षर एव च' इत्यादिरूप से पुरुष कह कर दिया है। वस्तुतः पुरुषशब्द अभ्ययात्मा में ही निरुद्ध है।

यह मान लेने में हमें अप्रामात्र भी संकोच नहीं होता कि इस अभ्ययात्मा का स्वरूप इतने निरपेक्ष रूप से एकमात्र गीताशास्त्र ने ही हमारे सामने रक्खा है। गीता से अतिरिक्त भोर भोर नितने अभ्यशास्त्र हैं, वे इस सम्बन्ध में तटस्थक् ही रहे है। शूक्ति अभ्यय पूर्णपुरुष है, इतर आत्माओं से अपूर्ण (अन्तदि—सन्धि) है, सर्वत्र रूढता हुआ भी शिस्त न होने के कारण इतर पदार्थों की अपेक्षा विषयक् है एवं गीता शास्त्र ने ही इस अपूर्ण-पुरुष, एवं विषयक् अभ्यय का रहस्योद्घाटन किया है। दूसरे शब्दा में आत्मविद्याधन अभ्यय का सप्रथम गीताने ही स्पष्टी करल किया है। अभ्ययविद्यानिरूपणात्मिका इसी अपूर्वता पूरता, एवं विषयक्ता के कारण हम इस गीता शास्त्र को वैशेषिकरि इतर आत्मशास्त्रों की तुलना में अपूर्ण, पूण, एवं विषयक् कहने के लिए तत्पार हैं। इसी दृष्टि से अभ्यय अक्षर चर इन तीन विद्याओं में से हम गीताशास्त्र को अभ्ययविद्याशास्त्र, रूढ प्रत्यविद्याशास्त्र नाम से सम्बोधन करने के लिए तत्पार हैं।

विद्या विद्यात्मक अभ्यय) दृष्टि से गीता की अपूर्वता का विचार किया गया। जब योग (कर्म) दृष्टि से सम्बन्ध रक्खने वाली विशेषता पर दृष्टि डालिए। जिस प्रकार अभ्यशास्त्र ज्ञान आत्मज्ञान, आत्मस्वरूप) के स्वरूप निरूपण में अष्टमर्ष रहे हैं। इसी प्रकार वे कर्म के सम्बन्ध में भी अपूर्ण ही रहे हैं। कतम्पभाग का ही नाम कर्म है। पूर्ण में हमने इस कर्तव्यभाग को माधीनों की दृष्टि से ज्ञान भक्ति-कर्म तीन भागों में विभक्त प्रकटाया है। इन तीनों के सम्बन्ध

में प्राचीनों का मन्तव्य सदा अपूर्ण है। उनकी दृष्टि में सबकर्मसंन्याससङ्घा संन्यसिष्ठ ज्ञानयोग है, कर्मगतिप्रवृत्तिका ज्ञाननामयो कर्मनिष्ठ कर्मयोग है, एव उभयधर्मावच्छेदक, किन्तु इधरानुग्रहरूपको मुखा ईश्वरप्रणिधानसङ्घा मक्तिनिष्ठ मक्तियोग है। तीनों का परतल सर्वथा स्वतंत्र है। ज्ञानयोगानुयायी एखीति क पारलौकिक सभी कर्मा को छोड़ने में अपना परम पुरुषाप समझ रहे हैं। कर्मयोगी कामनामयीकलासक्ति को भागे कर कर्म में प्रवृत्त होखे हैं। एक भक्तियोगी इधरानुग्रहरूपको की कथना से बख होखे हैं। एक में ज्ञानासक्ति है, एक में कर्मासक्ति है, एक में ईश्वरासक्ति है। आसक्ति की दृष्टि से तीनों ही योग कामनप्रय है। जहाँ कामना है वहाँ उत्कारला है। जहाँ उत्कारला है, वहाँ आत्मा बंधन में है। एव बंधन ही आत्म की अपूर्वता है। फलतः प्राचीनाभिमत तीनों ही योगों की अपूर्वता सिद्ध होनखी है।

इसी अपूर्वता के कारण गीतासम्ब की दृष्टि में उक्त तीनों ही योग आत्म की पूरता को उससे शिथिल करने के कारण बन्ते हुए अयोग, किंवा अश्रयण हैं। एक देहधारी क लिए कर्म का एकलत सङ्घास सदा असम्भन है, इसलिये ती प्राचीनों की संन्यसिष्ठ का कोई महत्त्व नहीं। प्रवृत्तिमूक्त कर्म आसक्तिनय बन्ते हुए मुक्ति के स्थान में बंधन के कारण हैं। इसलिये उनकी इस कर्मनिष्ठ का भी आत्मदृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। उबर भक्तियोगनिष्ठ भी इस्कर प्राप्तिरूपको को अनुग्रहिनी बन्ती हुई उत्कृष्ट नहीं रहती।

तीनों निष्ठ अपूर्ण हैं। अपूर्वता विषमता की जननी है। विषमता समता की विधा सिद्ध है। समता का अभाव ही पारलौकिक ऊँच का क्रिय मताभिविधेश का जनक है। यही कारण है कि उक्त तीनों निष्ठकों के अनुयायी तीनों दख एक दूसरे की निष्ठ के भागे एक दूसरे की निष्ठ को निन्दनीय बतवान हुए परस्पर में अगडठे खते हैं। संन्यसिष्ठ ज्ञानी कर्मनिष्ठ कर्मठ को, साध ही में उसकी योगनिष्ठ को, एव भक्तिनिष्ठ मक्त को, साध ही में भक्तिनिष्ठ को, इय बतवा खा है। भक्तिवातुगामी ज्ञान-कर्म को तिरस्कार की दृष्टि से दख रहे हैं। एव कर्मठ ज्ञानी-एव मक्त का उदाहास कर रहे हैं।



आश्चर्य तो यह है कि आज यह तीनों अपूर्वयोग भी सख्त रूप से स्राक्षित नहीं है । हाँ कहने भर को आज भक्ति ने अवरुप ही करना प्रसृत जमा रखा है । ज्ञान-कर्म का कहीं पता भी नहीं है । वास-वृद्ध-पुत्र-बी-धनिक-निधन-मूख-विद्वान् सभ अपने आरकी भक्ताराज स्नाने का दम भर रहे हैं । कष्टम्यकर्म में अस्मर्य्य आज का भारतवर्ष अपने व्याख्यस्य को भक्ति के पर्दे से ढकने का प्रयास कर रहा है । ब्याधमवर्म का आज कोई महत्व नहीं है ।

हमारा तो विश्वास है कि यदि शास्त्र में कुछ भी सख्यता है, यदि "स्वै स्वै कर्मण्य भिरतः ससिद्धिं सभवे नर" इस भगवद्देश में कुछ भी लक्ष्य है तो शास्त्रप्रतिविद्ध आज की भक्ति का कोई महत्त्व नहीं है । स्मरण रखिए हाथ जोड़ देने से ही भगवान् कभी हमारे पाप क्षमा नहीं कर सकते । हमें अपने कृताकृत का फल अवरुप ही भोगना पड़ेगा । भगवान् के दर्शन से, काम स्मरण से पापजनित दुःखों को भोगने के लिए, अस्मा में एक प्रकार का यह अवरुप आजाता है । परन्तु भगवान् ऐसे दयालु नहीं हैं कि हम रातदिन अक्षय्य स्रंसा रिक क्षाप्तों में लित रहें, पूछ बिचपासक बन रहें, और मन्दिर में जाकर हाथ जोड़कर—“हे भगवान् ! तु बड़ा दयालु है, हमारे पाप क्षमा करना” यह कह देने मात्र से, अथवा शोक रुपादि कं श्यज से बने दो ब-उं के लिए मन्त्र-मन्त्रि-त्रोसक-करताक लेकर पुपुक बंध कर हरे राम, हरे राम का लेने मात्र से भगवान् हमारे उार सभमुख प्रसन्न हो जाय । बड़ा मिथ्या विश्वास है ।

हमारा तो यह भी विश्वास है कि ऐसे उत्पणामी भगवान् के पत्रि नाम की ओट में भोखी जनता को श्यामोह में डाल कर आमी वासना को और भी अधिक उधेखित करते हैं । भक्ति शमाक भीव नहीं है । यह एकांत की कस्तु है । सवभ्री मापु तुकाराम, ज्ञानेश्वर महाराज, सपथ रामदास स्वामी, नरसी मेहता, भक्तिपरायणा मीरा, आदि महापुरुषों का उदाहरण हम सत्सारियों के लिए कोई काम नहीं द सकते । हमें इनके चरित्रों की ओट में भक्ति का खाग मरने का कोई अधिकार नहीं है । यदि हम बसे ही बन जाय, तब शोक-शास्त्र

मर्त्यादा की अग्रहणा की जासकती है। भगवत् सम्पत्ति से युक्त महापुरुषों का आचरण हमारे लिए प्रमाणा नहीं है, अपितु उनका आदेश ही हमारे लिए हितकर है। [दृष्टिभ्रंशमागत १० स्कन्ध पृ० ३३ अ० ३०-३१-३२ खो।]

अतः, कहस्य यही है कि शास्त्रोक्तों में विना ज्ञान-भक्ति-कर्मनिष्ठाओं का निरूपण हुआ है, व सब पूर्वकथनानुसार अपूरा हैं। एष्वहं गीताशास्त्र ने इन तीनों की मर्त्यादा सुरक्षित रखते हुए, तीनों के समष्टिरूप, अतएव तीनों की अपेक्षा सबका अपूर्व बुद्धियोग का उपदेश दिया है जो कि अमर्यादों में सबका अनुभव है। भगवन् ने—“न कम्मसायना रम्माप्रेम्भम्म्य पुरुषोऽरुते—न च सम्यसनादेष सिद्धिं समधिगच्छति”—“कम्मसुंभ हि संमिद्धिमास्विदाननकाद्या” “नियतं कुड कम्मं त्वं कम्मइयायाइकम्मसः” इत्यादि रूप से बड़े आवेश के साथ प्राचीनाभिमत सर्वकर्मोत्पत्तसंन्यास कश्चिद् ज्ञाननिष्ठा का एकमस्तव स्थापन करते हुए, साथ ही में “सैगुण्यविपया वेदा निःसैगुण्योमवार्जुन” — “कामात्मानः स्वागपरा” “भोगैर्भर्त्यमसक्तानां” “स शान्तिमाप्नोति न कामकामी” इत्यादि रूप से प्रवृत्तिप्रधान वैदिककर्ममयकर्मयोग का स्थापन करते हुए, साथ ही में भक्तियोगनिष्ठा की प्रबल प्रवृत्ति का एकमस्तवः निरोध करते हुए, इस में ज्ञान-नेष्ट्य का समावेश करते हुए निम्न लिखित रूप से बड़े आशय के साथ बुद्धियोगनिष्ठा का उपदेश दिया है।

कर्मस्योपाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कम्मफलहेतुर्मुर्मतेसङ्गोऽरुणकर्मसि ॥ १ ॥

दूरेण ह्यपर कम्म बुद्धियांगात्जनजय ।

बुद्धीं शरखमन्विष्य कृपयाः फलहेतवः ॥ २ ॥

दूरेण ह्यपर कम्म बुद्धियोगात्जनजय ।

बुद्धिपुक्तो ब्रह्मातीह जमे सुकृतबुद्धसे ॥ ३ ॥

कर्ममं बुद्धिपुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिणः ।

अन्मन्मविनिर्मुक्ताः परं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ४ ॥

यदा ते मोहकमिष मुद्दिर्भ्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्बेद् श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५ ॥

इस प्रकार गीताशास्त्र त्रिरुद्र में से अन्वय इस का, एव त्रियोग से त्रिसङ्ख्य, सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ अन्वय ही इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एव त्रिसङ्ख्य है ।

इस सन्बन्ध में एक आक्षेप उपस्थित होना है । 'गीताशास्त्र अपूर्व अभ्ययात्मा का, एव सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ अन्वय ही अपूर्व, एव त्रिसङ्ख्यशास्त्र माना जा सकता है । परन्तु जिन चर-मन्त्र नाम के दो आत्माओं का, एव जिन ज्ञान मक्ति-कम्ब योगी का वैशेषिकादि अन्य शास्त्रों में निरूपण हुआ है, उन का चूंकि गीताशास्त्र निरूपण नहीं करता । ऐसी दशा में गीता को अपूर्व, एव त्रिसङ्ख्य शास्त्र मानते हुए भी हम इसे पूर्ण, किंवा सर्वशास्त्र नहीं मान सकते' ।

कहना नहीं होगा कि उक्त आक्षेप का गीता की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है । केवल इती आक्षेप के वल पर गीता की पूर्णता की कोई क्षति नहीं होती । यदि गीताने आत्मविषयों में से अन्वयविषय का एव त्रियोगविषयों में से बुद्धियोगविषय का निरूपण कर दिया तो कुछ भी शेष नहीं रहा । चर-मन्त्रादि इतर खड्गशास्त्रों की मूलप्रतिष्ठा परमात्मा नाम से प्रतिष्ठ अन्वयपुरुष ही है । 'मत्तः परतः नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'—'ययि सर्वमिद् मोक्ष सूत्रे पश्चिगणा इव'—'परमात्मेति चाप्युक्तो वेदेऽभिन्नु पुरुषः पर'—'गतिर्भगवियुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । ममबः प्रसन्नस्थानं निधानं भीजमभ्ययम्'—'यो साकप्र-यमाविश्य विभर्ष्यभ्यय ईश्वरः'—'भवन्ति भाषा भूतानां पच एव पूयजिबषा'—'भया-भ्येत्स्य मकृतिः स्यते स चराचरम्'—'अहं सर्वस्य प्रमत्तो मत्तः सर्वं प्रवर्षते' इत्यादि रूप से गीताशास्त्र ने स्पष्ट शब्दों में अन्वयात्मा को ही इतर अन्वयप्रसन्न की मूलप्रतिष्ठा बत साया है । वास्तव में क्षेत्रात्मक अन्वयप्रसन्न सर्वोच्चमन है । अन्वय के सुप्रसिद्ध वे पाँचों क्षेत्रात्मानन्द विज्ञान-मन प्राण-मन (तै०उप०३०७०) नामों से प्रतिष्ठ है । पञ्चकल अन्वयात्मा, एव

पञ्चकक्ष जगत्मा दोनों की प्रतिष्ठा यही पञ्चकक्ष अन्वय है । अक्षरब्रह्मा, एव चरमाद्य अन्वय के आनन्दमयकोश से गृहीत हैं । अक्षरविष्णु, एवं चरमाद्य अन्वय के विज्ञानमयकोश से गृहीत है । अक्षरइन्द्र, एवं चरमाद्य अन्वय के मनोमयकोश से संगृहीत हैं । अक्षरसोम, एवं चरमाद्य अन्वय के अन्नमयकोश में अन्तर्भूत हैं । अक्षर, अग्नि, एवं चरमाद्य अन्वय के प्राणमयकोश में अन्तर्भूत हैं । इत्यक्षर अक्षर—क्षर दोनों पञ्चकक्ष अन्वय से संगृहीत है । यदि सवासन्धम अन्वय को पकड़लिया तो याकी कथा रह गयी । सर्वात्मन अन्वय की इसी सर्वाता, किञ्च पूर्णता का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषद्भूमि कहली है—

एतदात्मन्मन श्रेष्ठमेतदात्मन्मनं परम् ।

एतदात्मन्मन ज्ञात्वा वा यदिच्छति तस्य तत् । कठ० १।२।१७) ।

अपिच आत्मा के अक्षरमृत-ब्रह्म-शुक्ल यह तीन विवक्त माने गये हैं । ब्राह्म-माय अग्नि यह तीन शुक्ल हैं । शुक्लत्रय की समष्टि ही मूलात्मा है । माया-माय-ब्राह्म ब्रह्म-ब्रह्माद यह पाँचों बहिरङ्ग प्रकृतियों की समष्टि ब्रह्म है । प्राणब्रह्म अक्षयक्लात्मा है, आपोब्रह्म महा नात्मा है, वाग्ब्रह्म विज्ञानात्मा [बुद्धि] है अन्नब्रह्म प्रज्ञात्मा [मन] है, एवं अक्षरब्रह्म प्राणात्मा ( कर्मात्मा—जीवब्रह्म—शारीरकमात्मा ) है । अन्वय, अक्षर, क्षर की समष्टि अक्षरमृत है । अक्षरमूलात्मा पुत्रपात्मा, किञ्च पुरुष है । ब्रह्मात्मा प्राकृतात्मा किञ्च प्रकृति है । एवं शुक्लात्मा पैकारिकमात्मा, किञ्च विकृति है । शुक्लरूप वैकारिक आत्मा, किञ्च मूलात्मा की प्रतिष्ठा अक्षरमूलात्मा का क्षर भाग है—“क्षर सनाथि भूतानि” । ब्रह्मरूप पाँचों प्राकृतात्मियों की प्रतिष्ठा अक्षरमूलात्मा का अक्षरभाग है—“अक्षर ब्रह्म परमम्” । सत्य अक्षरमूलात्मा अन्वयप्रभाव है । आनन्द विज्ञान—मनोमूर्ति ज्ञानब्रह्मा अन्वय सत्य अक्षरमी प्रतिष्ठा है—‘ स्ये महिम्नि महिष्वितः’ । इस ज्ञानात्मक अन्वय से शुक्ल प्राणमूर्ति अन्वय अक्षर का प्रवर्तक है, एवं ब्राह्ममूर्ति अन्वय क्षर का

० इन तीनों विवक्तों का विचार वैदिक विवचन ईशोपनिषद्ब्रह्मब्रह्मात्मा ( अक्षरमृत ) के देखना पड़ेगा ।

प्रदर्शक है । इसप्रकार अन्ततोगत्या वही अन्वय अमृत है, वही अन्वय ब्रह्म है, वही अन्वय शुद्ध है । अमृत—ब्रह्म—शुक्लात्मक अन्वय में सद्य कुछ अन्तर्भूत है । जिसने अन्वय को पहिचान लिया उसने सद्य कुछ जान लिया । अन्वय की इसी पूरता को तदप में रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

‘ऊर्ध्वमूर्धोऽवाक्शाल एषोऽश्वस्थः सनातनः ।

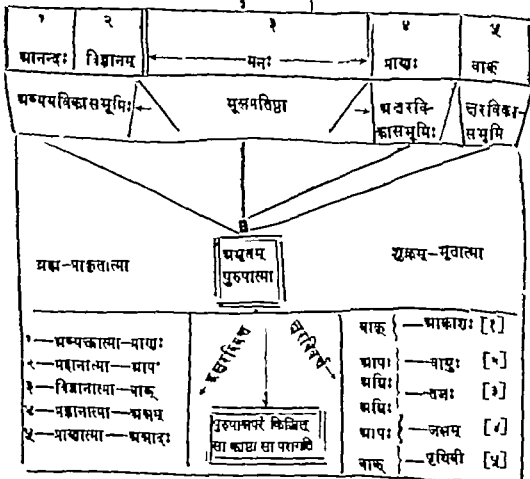
उदेद्युक्कं, तद्ग्रह, सदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँस्सोकः त्रिणाः सर्वे तदुनायेवि कथन । एतद्वै तत्’

(कठो० १।१) ।

पुरुष एवेद सर्वम्

अन्वयः



पञ्चकक्ष ज्ञात्वा दोनोंकी प्रतिष्ठा यही पञ्चकक्ष अभ्यस्य है । अक्षरब्रह्मा, एव चरमाद्य अभ्यस्य के आनन्दमयकोश से गृहीत हैं । अक्षरविष्णु, एवं चरमाप अभ्यस्य के विद्यामयकोश से गृहीत है । अक्षररन्द्र, एवं चरमाब् अभ्यस्य के मनोमयकोश से संगृहीत हैं । अक्षरसोम, एव चरमाभ्यस्य के अन्नमयकोश में अन्तर्भूत हैं । अक्षर, अग्नि, एव चरमाद् अभ्यस्य के प्राणमयकोश में अन्तर्भूत हैं । इसप्रकार अक्षर-चर दोनों पञ्चकक्ष अभ्यस्य से संगृहीत है । यदि सवासम्बन्ध अभ्यस्य को पकड़लिया तो याकी बजा रह गया । सर्वसम्बन्ध अभ्यस्य की इसी सर्वांग, किंचि पूर्यता का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषद्भुक्ति कराती है-

एतदासम्बन्धं श्रेष्ठमेतदासम्बन्धं परम् ।

एतदासम्बन्धं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् । कठ० (१।२।१७) ।

असिच आत्मा के अक्षर-ब्रह्म-शुक् यह तीन विवर्त माने गये हैं । ब्राह्म-माप अग्नि यह तीन शुक् हैं । शुक्त्रय की समष्टि ही मूलात्मा है । प्राण-माप-वाक् ब्रह्म-ब्रह्माद् यह पाँचों बहिरङ्ग प्रकृतियों की समष्टि ब्रह्म है । प्राणब्रह्म अक्षयकृतात्मा है, आयोब्रह्म महा नात्मा है, वाग्ब्रह्म विद्यानात्मा [ बुद्धि ] है, अक्षयब्रह्म ब्रह्मात्मा [ मन ] है, एव अक्षरब्रह्म प्राणात्मा ( कर्मज्ञात्मा-जीवात्मा-शाश्वतकृतात्मा ) है । अभ्यस्य, अक्षर, चर की समष्टि अपूर्वतम है । अपूर्वतम्य पुरुषात्मा किंच पुरुष है । ब्रह्मात्मा प्राकृतात्मा किंच प्रकृति है । एवं शुक्लात्मा वैकारिकमात्मा किंच विद्युति है । शुक्लरूप वैकारिक आत्म्य, किंच मूलात्मा की प्रतिष्ठा अपूर्वतम्य का चर भाग है-“चर सचाणि भूतानि । ब्रह्मरूप पाँचों प्राकृतात्माओं की प्रतिष्ठा अपूर्वतम्य का अक्षरभाग है-“अक्षर ब्रह्म परमम्” । सय अपूर्वतम्य अभ्यस्यप्रधान है । आनन्द विद्याम-न्योमूर्ति ज्ञानात्मा अभ्यस्य सय अयनी प्रतिष्ठा है- स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः” । इस ज्ञानात्मक अभ्यस्य से शुक्ल प्राणमूर्ति अभ्यस्य अक्षर का प्रवर्तक है, एवं वाग्मूर्ति अभ्यस्य चर का

० इन तीनों विवर्तों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन ईशोपनिषदाध्ययनमाध्य ( प्रथमखण्ड ) में देखना पड़ेगा ।




अभिध अन्वयनिकरक गीताग्रन्थ ने—“दासिमी पुरुषो सोके चरन्नापर एव च”—“इन्द्रियेष्वः पर मनः मनसन्तु पता बुद्धिः” इत्यदि रूप से स्पष्टशब्दों में इतरशब्दात्मकों पर भी पूरा प्रकाश टाकते हुए अपनी सवशास्त्रता को सर्वोत्पत्ता धरितार्थ किया है। यही स्थिति बुद्धियोग की है। भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों योगों का निरूपण करते हुए, तीनों में संशोधन कर, इन्हें बुद्धियोग का ज्ञान पहिनाया है। भगवान् की दृष्टि में तीनों ही योग सत्सत्त्व रहते हुए ज्ञान-कर्म की विषमता के कारण भेद्योग्य के स्वान में प्रेय के ही कारण बनते हैं। इन की विषमता सपरम्प्राकृत्यन्तिभाव की महाविरोधिनी है। इसीलिए भगवान् ने तीनों का समन्वय करत हुए अपूर्वबुद्धियोग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। जो अपूर्व है, वह तो यही है ही, परन्तु जो अपूर्व नहीं है, वह भी यहाँ विद्यमान है। इस प्रकार अज्ञानों में अन्वयनिकरके, योगों में बुद्धियोग को अपना प्रधान स्वरूप बजाता हुआ गीताग्रन्थ इतर शब्दों में प्रतिपादित ज्ञान-योगों का संग्रह करता हुआ अन्वय ही पूर्ण शास्त्र है।


अन्वयनिकरक अन्वयनिकरक यही ज्ञानसंग्रह है। बुद्धियोग योग है, यही कर्मसंग्रह है। अन्वयनिकरक अन्वयनिकरक यही दृष्टि से गीता अन्वयनिकरकाशास्त्र है, एव अन्वयनिकरक बुद्धियोग की दृष्टि से गीता योगशास्त्र है। गीता दोनों का निरूपण कर रही है। इसीलिए अभ्यास्य संग्रह में—“इति श्रीभद्रमगवश्रीतान्पनिपासुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्र” यह उद्धृत रहता है। यह अभ्यास संग्रह सूर्यक कवन भी गीता की इतर शब्दों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विश्व-चमत्ता ही सिद्ध कर रहा है।





६-विज्ञानगोष्ठा का विषय विभाग 



६-विज्ञानगीता का विषय विभाग 



## ६-त्रिपयत्रिभागप्रदर्शन

गीताशास्त्र की इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्वता, पूण्यता, एवं विशिष्टता वतसाते हुए पूर्व के प्रकरण में इनन आत्मशास्त्रों को वैशेषिक प्राधानिक, शारीक इन तीन भागों में विभक्त बनाया है देखिए ८ प्रकरण पृष्ठसं० १४० से १६७ तक । यदि वास्तविक दृष्टि [विज्ञान दृष्टि] से विचार किया जाय तो इन तीनों शास्त्रों में से हम शरीरकशास्त्र (वेदान्तदर्शन) को ही प्रधानरूप से आत्मशास्त्र कहेंगे । कारण इसका यही है कि वैशेषिकशास्त्र आत्म का निकटतम पण कात्म है, एवं प्राधानिकशास्त्र अविशिष्ट आत्मरत्ना का निकटतम करता है । इन दोनों में अंतर को मुख्य आत्मा किसी भी दृष्टि से नहीं माना जासकता । रहा वास्तविक अक्षर । यह श्री प्रकृतिमन्त्र के कारण व्यापक आत्म की विमूर्ति से वद्विगत रहता हुआ आत्ममय्यादा से बहिर्भूत ही है । इसीलिए संकल्पने प्रतिशरीरमें मित्र मित्र आत्म माना है । वास्तविक अक्षर वास्तव में प्रतिशरीर में मित्र मित्र है । यही शारीक (शरीरात्मिक) आत्म है । इस दृष्टि से साम्य का प्रतिशरीरमिन्नतावाचक आत्ममंद सर्वथा सुम्भवस्थित है । यही आत्म सुप्त-दृ-स-पुष्य-पाप-उत्त-नीच आदि दृष्ट्याओं का अधिकारी है । इसी शारीक आत्मा के साथ एक प्रत्यगात्माका और सम्बन्ध रहता है । यह सबत्र समरूप से एकत्र से प्रतिप्रत है । इसी को साक्षी कहा जाता है । सकिप्रदर्शन यहाँ अक्षरभूतात्मा को उदरेय बनाकर अक्षररूप शारीक आत्म का विधान करता है, यहाँ शरीरकतन्त्र इस शरीरकआत्मा को उदरेय बनाकर इसका स्थान में सबत्र समरूप से व्याप्त प्रत्यगात्मा का विधान करता है ।

पदाओं में परस्पर में जो भेद देखा जाता है, वही तत्त्व पदार्थ की विशयता है । अणुभेद ही विशयता का कारण है । भौतिक अणु, किंवा परमाणुओं की विशयता ही मूल भौतिकरूप पदार्थ की विशयता है । वृत्ति कणाददर्शन इसीका निकटतम करता है, अतएव इसे (विशयभाव प्रवक्तु अणुवाद के कारण) वैशेषिकशास्त्र कहा गया है ।



है। नया-तदर्थन शारीरक को उद्देश्य मानकर उसके रथान में अन्वयलक्षण इसी प्रत्यक्षका का विधान करता है। चूँकि इसका प्रधान उद्देश्य शारीरक का सन्वाय करना है, अतएव इस दर्शन को शारीरकदर्शन कहा गया है।

पूर्व के ८ व प्रकरण में हमने शारीरक को अक्षरप्रतिपादक बतसाया था। एक यहाँ प्रत्यक्षलक्षण अक्षरप्रतिपादक कतसा रह है। इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। शारीरक अक्षर का निरूपण करता है परन्तु अक्षरप्रतिपादक से। अर्थात् अक्षरसे सम्बन्ध है। "प्रक्षरधिया" इत्यदि शारीरक सिद्धान्त के अनुसार इसमें अक्षरको अक्षर का रूप दे दिया गया है। बिना अक्षर सम्बन्ध क शारीरकशास्त्र का विविधताय प्रत्यक्ष 'सन्वायस्य यतः' क अनुसार कभी अ-स्थिति भग का बाण नहीं समसकता। अक्षरप्रतिपादक अक्षर प्रकृति के साथ युक्त होकर ही न भावि का कारण बनता है। इसी प्रकृतिभाव को सूचित करने के लिए व्यासने आगे जाकर—“अक्षरसम-वयात्” यह कहा है। चूँकि अक्षरशास्त्र में अक्षरप्रतिपादक का निरूपण किया है इसलिए तो हम इसे अक्षरशास्त्र कह सकते हैं। साथ ही में अक्षर शास्त्र यह तटस्थ बुद्धि से हमारा रथान प्रत्यक्षलक्षण अक्षर की ओर भी ध्यानपूर्वक कर रहा है, इसलिये हमने इसे यहाँ अक्षरशास्त्र कह दिया है। सर्वप्रथम से शारीरकशास्त्र अक्षरप्रतिपादक अक्षरशास्त्र है प्राधानिकशास्त्र अक्षरशास्त्र है, एवं अक्षरशास्त्र अक्षरशास्त्र है। तीनों में अक्षरप्रतिपादक ही मुख्य भाग है। गीष्करूप से ही सही, परन्तु शारीरकने अक्षर का रथ अक्षरव किया है। ऐसी दशा में इन तीनों शास्त्रों में शारीरकशास्त्र को ही हम प्रधानरूप में ध्यानपूर्वक करने के लिए तथा है।

शारीरकशास्त्र के अतिरिक्त आत्मा का निरूपण करनेवासी आर्त्ताउपनिषत्, एक आर्त्ताउपनिषत् और अक्षरशास्त्र हैं। आर्त्ताउपनिषत् गाना है धीतीउपनिषत् इय फल-कटा द्वि नाम में प्रसिद्ध वद का अन्वय भाग है। इस प्रकार आत्मा का निरूपण करनेवाला हमारे सामने शारीरकदर्शन गीष्का उपनिषत् यह तीन शास्त्र उपस्थित होते हैं। इन तीनों में से विधि अक्षर विद्या को सदा में एक कर। हमने अक्षरप्रतिपादक को ही इस अक्षर

आकृष्ट ही विशेष है। इस शिरोम का प्थम्यद्वय अक्षर है। परम्पराशुचो को एक सूत्र में बढ़कर उन्हें विस्वरूप देना इसी अक्षर का काम है। प्रत्येक पदाक्ष के केन्द्र में बैठे हुए यही अक्षर अपनी प्राणशक्ति से उस पदाक्ष के आकृष्ट का नियमन किया करता है, अतएव इस विशेषता अक्षर को अन्तर्धामी कहा जाता है, जैसा कि "तस्य वा एतस्य अक्षरस्य प्रशरणे गार्गि ! सूर्या चन्द्रमसौ पिङ्गो तिष्ठत" [शत० ११६ १।] इत्यादि से स्पष्ट है। अक्षर की इसी कूटसत्ता को उदय में रखकर—"कूटस्योऽक्षर उच्यते" यह कहा गया है। यह कूटस्य अक्षर ही निष्क का कारण है। आकृष्टरूप निष्क काज है। इस कार्य की पूरा सत्ता काराक्षरूप अक्षर ही है। अन्वय अक्षर ही व्याहृतिव्य का निर्माता बनता है, वैसा कि—'अभ्यस्तान्प्रथक्यः सर्वाः समपन्सहरागमे" इस सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी कारणता को सूचित करने के लिए अक्षर को प्रकृति (कृतेः प्राक्-कृतेः कालस्य पूर्वप्रस्था) कहा गया है। शिरोमन्त्र में इसी की प्रधानता है। अतएव इसे प्रधान कहा जाता है। अक्षर-अभ्यक्त-प्रकृति-प्रधान सन् शब्द प्रायः समानार्थक हैं। यही अक्षर पराप्रकृति है। "जीवमूर्ता महा-पाहो [ ययेदं प्रायते अगतं" इस सिद्धान्त के अनुसार यही अक्षरप्रकृति प्रतीशरीरिभिन् नीचाल्य की सरूपसमर्पिका बनती है। सम्प्रपञ्च का अक्षर प्रकृतिज्ञ, किञ्च अक्षरकञ् यही जीवमूर्ता है। अतएव इस शब्द को "प्रापानिष्कृष्टिन" कहा गया है।

अक्षर का आत्मभवन अभ्यस्य है। अभ्यस्य की प्रतिष्ठाया, किञ्च प्रतिनिध्य ही आध्यात्मिक ईश्वर है। इसी आध्यात्मिक ईश्वर को प्रसन्नगामा कहा जाता है। प्रसन्नगामा शरीर में रहता हुआ भी अपने विभूतिमान के बाह्य असङ्ग है। यह किसी आध्यात्मिकान्द्र से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। 'असङ्गोद्भवं पुरुषो न सञ्जते, न स्प्ययते, न रिप्यति" 'न जायेत भ्रियते वा कदाचिच्चार्यं मूषा मविता वा न मूय । अत्रो निनाः शास्वतोऽयं पुराणो न इम्यत इन्वयमाने शरीरे' इत्यादि श्रौत-स्मृति प्रमाणों के अनुसार आत्मन में यह इन्द्रातीत है। यही देहविषय, किन्तु देहविमामशय पर पुरुष है, वैसा कि—"उपद्रवानुमन्ता च मया मौक्ता महेश्वरः। परमस्मेति आध्यात्मो द्वेऽस्मिन् पुरुषा परः" इत्यादि से स्पष्ट



है। वेदांतदशन शारीरक को उद्देश्य मानकर उसके स्थान में धन्युपसङ्घर्ष इसी प्रसंगप्रक्ष का विधान करता है। चूंकि इसका प्रधान उद्देश्य शारीरक का कल्याण करना है, अतएव इस दशन को शारीरकदर्शन कहा गया है।

पूर्व के = ३ प्रकारण में हमने शारीरक को अक्षरप्रतिपादक बतसाया था। एव यहाँ प्रसंगप्रसङ्घर्ष अक्षरप्रतिपादक बतसा रद्द है। इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। शारीरक अक्षर का निरूपण करता है, परन्तु अक्षरत्वही से। अक्षरत्व का अक्षरसे सम्बन्ध है। “अक्षरप्रियां” इत्यत्र शारीरक सिद्धान्त के अनुसार इसमें अक्षर को अक्षर का रूप दे दिया गया है। बिना अक्षर सम्बन्ध के शारीरकशास्त्र का विज्ञानस्य प्रसंगप्रदाय “अक्षरप्रिया-यत्” के अनुसार कभी अक्षरत्व का वाच्य नहीं मानसकता। अक्षरप्रक्ष अक्षर प्रकृति के साथ युक्त होकर ही अक्षर का अक्षर बनता है। इसी प्रकृतिभाव को सूचित करने के लिए व्यासने आगे जाकर—“तत्तत्सम्बन्धायत्” यह कहा है। चूंकि अक्षरशास्त्र अक्षरप्रियात्वा का निरूपण किया है इसलिए तो इन अक्षरशास्त्र कह सकते हैं। साथ ही में अक्षरशास्त्र यह तर्क सुद्धि से हमारा स्थान प्रसंगप्रसङ्घर्ष अक्षरप्रिया की ओर भी धारित कर रहा है, इसलिए हमने इसे यहाँ अक्षरशास्त्र कहा दिया है। सर्वप्रथम से शारीरकशास्त्र अक्षरप्रियात्वा अक्षरशास्त्र है प्राधानिकशास्त्र अक्षरशास्त्र है, एव अक्षरशास्त्र अक्षरशास्त्र है। तीनों में अक्षरप्रिया ही मुख्य अक्षर है। गौणत्व से ही सही परन्तु शारीरकने अक्षरप्रिया का अक्षर अक्षर किया है। ऐसी दशा में इन तीनों शास्त्रों में शारीरकशास्त्र को ही हम प्रधानरूप में अक्षरशास्त्र कहने के लिए तर्क है।

शारीरकशास्त्र के अक्षरप्रियात्वा का निरूपण करनेवाली स्मार्तीउपनिषत्, एव धातीउपनिषत् और अक्षरशास्त्र हैं। स्मार्तीउपनिषत् गीता है धातीउपनिषत् इत्य-कन-कन-कन नाम ग प्रसिद्ध अक्षर अक्षरप्रिया है। इस प्रकार अक्षर का निरूपण करनेवाले अक्षर अक्षर शारीरकदर्शन-गीता उपनिषत् यह तीन शास्त्र उपनिषत् होत हैं। इन तीनों में से [विश्व अक्षरप्रिया को अक्षर में अक्षर] हमने अक्षरप्रिया अक्षरप्रिया को ही अक्षर अक्षर-

शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्य एवं विशदय कथा है।

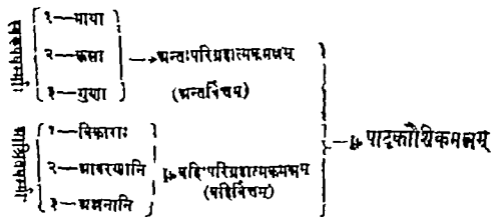
आत्मस्वरूप की धरमसीमा पर पहुचने बाल वैज्ञानिकों में आत्मस्वरूप ज्ञान के सम्बन्ध में हमारे सामने ज्योति-वीर्य्य अक्ष यह तीन तत्व रखते हैं। इन तीन तत्वों क सम्बन्ध से एक ही आत्मा की अनेक, किंवा प्रभानरूप से तीन संस्थाए बनजाती हैं। ज्ञानतत्व, किंवा पितृत्व का ही नाम उपाति है। बस प्राण-क्रिया आदि विविधनामों से प्रसिद्ध गतिरूप ब्रह्म ही नाम वीर्य्य है। मायाबल की कृपा से उद्भूत, मायायुक्त कला गुण्य विकार अज्ञान-आवरण की समष्टि ही अक्ष है। दूसरे तत्वों में यों समष्टि कि ज्ञानरूप ज्योति की विवृतावस्था ही गति-रूप वीर्य्य है, एवं बलरूप वीर्य्य की विवृतावस्था ही मायाकसारिरूप अक्ष है।

उक्त तीनों तत्वों में से रससङ्घण ज्योति, एवं बससङ्घण वीर्य्य, इन दोनों की समष्टि तो विशुद्ध आत्मा है। यह विशुद्ध आत्मा सर्वथा निर्गुण परिग्रहशून्य, अतएव शास्त्रानभिहित है। यही मुख्य आत्मा है। तीसरा अक्षतत्व आत्ममर्ष्यादा से सर्वथा महिच्छत है। इसी को आत्मविष किंवा आत्मपरिग्रह कथा जाता है। बूकि यह परिग्रह आत्मा का मोम है, एवं मोम्य पदार्थ को ही विज्ञानमाया में अक्ष कहा जाता है, अतएव हम इस परिग्रह को अक्षय ही "अक्ष" शब्द से सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं।

अक्षरूप यह आत्मपरिग्रह अक्ष-परिग्रह, बहिःपरिग्रह मेद से दो प्रकार के माने गए हैं। माया-कला गुण यह तीन तो अक्ष परिग्रह हैं, एवं विकार, आवरण, अज्ञान यह तीन बहिःपरिग्रह हैं। मायादि तीनों अक्ष-परिग्रह आत्मा के स्व-रूपधर्म कहलाते हैं, एवं विकारदि तीनों बहिःपरिग्रह आत्मा के आभितधर्म कहलाते हैं। स्वरूपधर्मीवच्छिन्न-ज्योति-वीर्य्यसङ्घण यह विशुद्ध आत्मा सोपाधिक कथा हुआ—"सगुणआत्मा" कहजाने लगता है, एवं आभितधर्मीवच्छिन्न बही सगुणआत्मा "सर्वधर्मीरूप" नाम से व्यक्त होने लगता है। इस प्रकार अक्ष, किंवा परिग्रह वैचिष्य से सविशेष, किंवा सोपाधिक आत्मा के दो निवर्त होजाते हैं। तीसरा एक निवर्त सर्वथा सतत्र निरुपाधिक बधजता है। समष्टि

द्वय से ज्योति भीर्य्य अक्ष के सम्बन्धतारवम् से निरुपाधिक, सोपाधिकसगुण, सोपाधिकसर्व-  
धर्मोपपन्न यह तीन आत्मवस्थाए हो जाती हैं। तीनों में निरुपाधिक आत्मा पर शब्द की गति  
असम्भव है। फलतः उस का निरूपण करना शब्दशास्त्र के लिए असम्भव है। शेष रहते हैं सोपा-  
धिक दोनों विवर्ष। जो शास्त्र इन दोनों का, अथवा दोनों में से एक का निरूपण करता है, उसी  
को आत्मशास्त्र कहा जाता है।

- १—ज्योतिः—ज्ञानम् (रसः) }  
 २—भीर्य्यम्—क्रिस् (बलम्) } → निर्विशेष आत्मा—परात्पर—परमेश्वरः १  
 ३—अक्षम्—अर्थः (विकृतिः) } → सर्वेश आत्मा—विश्वेश्वर मज्जापति २



निर्विशेषा { १—सर्वविषयम् (स्वरूपाश्रित्यम्)-विरहितः → निर्विशेष आत्मा—(विश्वातीतः)।

सर्वेशः { २—अन्तरङ्गपरिग्रहात्मकस्वरूपम्यावच्छिन्न → समुद्य आत्मा—(विश्वात्मा)।  
 ३—बहिरङ्गपरिग्रहात्मकाश्रित्यम्यावच्छिन्नः → सर्वधर्मोपपन्नः—(विश्वमूर्ति) ।

उक्त ६ श्रों परिग्रहों के सम्बन्ध की विषयज्ञता का यदि विचार किया जाय तो  
 सर्वेश आत्मा के ३ विवर्ष हो जाते हैं। इन ६ आत्मविवर्षों में चार तो मज्जापति विवर्ष हैं,  
 एक दो पुरुषविवर्ष हैं। साथ ही में इतना भीर्य्य रखिए कि उत्तर उत्तर के आत्मविवर्ष  
 के साथ पूर्व पूर्व के आत्मविवर्ष का अनिष्ट सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में यों समक्षिण्डि

उत्तर के आत्मनिवर्त का स्वरूप पूरु क आत्मनिवृत्त को अपने मर्म में रखकर ही बनना सकर प्रतिष्ठित रखने में समथ होता है । पूरु पूर्ण क आत्मनिवृत्त ही उत्तर उत्तर के आत्मनिवृत्त का कारण है, एव उत्तर उत्तर का आत्मनिवृत्त ही पूर्ण पूर्ण के आत्मनिवृत्त का कारण है । काव सृष्टा से ही कार्य की स्वरूपनिवृत्ति होती है । इसी भाषा पर—“तदसृष्टा तदेवानुभाषिणव” यह सिद्धांत प्रतिष्ठित है ।

रसरूप व्योति, एव स्वरूप श्रेष्ठ की समष्टि ही निरुपाधिक, सर्वधर्म बहिष्कृत परा तर है । इसी का यत्किञ्चित् प्रदेश माया नाम के प्रथम परिग्रह से युक्त होता 'पुरुष' (विशुद्ध अन्वयपुरुष) नाम धारण कर सृष्टा है । यह पुरुषात्म कया नाम के दूसरे अन्तरा परिग्रह से युक्त होकर "पोदशीपुरुष" (पञ्चकण अन्वय पञ्चकण अक्षर, पञ्चकण अक्षर, परा-त्पर के सम्बन्ध से पोदशी, किञ्च पोदकण ) नाम से प्रसिद्ध होता है । यही पोदशीपुरुष गुण नाम के तीसरे अन्तरा परिग्रह से युक्त होकर "सत्यप्रजापति" कहलाने लगता है । यही सत्यप्रजापति विकार नाम के चौथे बहिरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर "यज्ञप्रजापति" कहलाने लगता है । यही यज्ञप्रजापति आवरण नाम के पाँचवें बहिरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर "विराट् प्रजापति" कहलाने लगता है । यही विरट् प्रजापति अज्ञान नाम के ६ ठे बहिरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर "विश्वप्रजापति" नाम से सम्बन्धित होने लगता है । इन ६ ओं अन्तरापरिग्रहों में से पुरुष, पोदशी सत्यप्रजापति इन तीन अन्तरापरिग्रहों की समष्टि 'सर्वधर्मों पपन्नप्रामा' है । तस्यर ही निरुपाधिक, मायाविरहित विशुद्ध कण है । उस एक ही की यह सात संस्थाएँ हैं, जैसा कि—'ऐतदात्म्यमिद् सर्वम्' इत्यादि भौत सिद्धांत से स्पष्ट है ।

आत्मन सप्तसंस्थापरिनेत्स ( चित्तात्म्यमिद् सर्वमित्यादिः ) ।

- |     |   |  |   |                               |
|-----|---|--|---|-------------------------------|
| १-१ | { | १-निर्मायी-स एष आत्मा व्यापकः [१] परात्परः     | } | निर्गुण आत्मा-<br>विश्वातीर्त |
| २-१ | { | १-मायापरिग्रहसम्बन्धात् स एव [२] पुरुषः        | } | सगुण आत्मा-<br>विश्वार्त्मा   |
| २-२ | { | २-कालापरिग्रहसम्बन्धात् स एष [३] पोदशी         |   |                               |
| २-३ | { | ३-गुणापरिग्रहसम्बन्धात् स एष [४] सत्यप्रजापतिः |   |                               |

- १-१ विकारपरिग्रहसम्बन्धात् स एव [५] यद्भ्रमजापतिः  
 १-२ आवरणपरिग्रहसम्बन्धात् स एव [६] विराट्भ्रमजापतिः  
 १-३ भ्रञ्जनपरिग्रहसम्बन्धात् स एव [७] विश्वभ्रमजापतिः
- सर्वधर्मोपपन्नः  
 विश्वम्

१-	परास्परः	परास्परः	निर्गुण आत्मा विश्वात्ते -१-
२-	परापरगमित	पुरुषः	
३-	पुरुष-परास्परगमितः	बोद्ध्यापुरुषः	
४-	बोद्धी पुरुष परास्परगमित	सत्यप्रजापति	
५-	सत्य-बोद्ध्या-पुरुष-परास्परगमितः	यद्भ्रमजापतिः	
६-	यद्भ्रम सत्य बोद्धी-पुरुष-परास्परगमितः	विराट्भ्रमजापतिः	
७-	विराट्-यद्भ्रम सत्य बोद्धी-पुरुष परास्परगमितः	विश्वभ्रमजापतिः	

उक्त सात आत्मविशेषों में से परात्पर नाम के पहिले निगुप्त आत्मा कह तो उम्दशाब्द से किछी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। येन द्वा ओ आत्मविशेषों का शाब्दों में बह विचार क साथ निरूपण हुआ है। जिन शब्दोंमें इन ६ आत्मसत्ताओं का निरूपण किया है, वे ही आत्र विन भारतवर्ष में ( विज्ञान सम्प्रदाय में ) आत्मशास्त्र नाम से प्रसिद्ध हैं। देखना यह है कि किस आत्मशाब्दने किस आत्मविशेष का विशेष कर से निरूपण किया है।

शुक्र, यजुः, साम, घर्ग्य (शास्त्रसहित) इन चारों वेदों की सवधिकरूप मन्त्रसहितामाग एव विधि नाम का प्रसिद्धमता प्रधानरूप से प्रजापतिव्यञ्ज्य सर्वप्रथमापपन्न आत्मा का निरूपण करण है। विश्व, विराद्, यज्ञ, इन तीन प्रजापतियों की समष्टि ही "सबप्रथमोपपन्नघर्ग्या" है। वेदने ( मन्त्र और विधिभाग ने ) इस आत्मा के विश्व-विराद्-यज्ञ तीनों का सुविष्ट निरूपण किया है। यही तीन प्रजापतिसंस्थाएं इसके प्रधान उदेरप हैं। इन तीनों को उदेरप मान कर तीनों के स्थान में सगुण आत्म के अस्तिमपर्व रूप गुणात्मक सत्प्रजापति का विधान करना ही इस वेद भाग का मुख्य उदेरप है। दूसरे शब्दों में विश्व का सम्बन्ध निरूपण कर इस की ओर से हमारे कर्मात्मा को विराद् की ओर, विराद् से यह की ओर, एवं यज्ञ से सत्त्व की ओर लेजाना ही इस शाब्द का मुख्य उद्देश्य है। "सर्वप्रजापति कैसे यज्ञप्रजापतिरूप में परिचय होजाता है ?" "यह यज्ञप्रजापति कैसे विराद्प्रजापति की उत्पत्ति का कारण बनगया ?" "विराद् प्रजापति से सम्पूर्ण विरम कैसे उत्पन्न होमया ?" "एव विराद् स उत्पन्न विरम का क्या स्वरूप है ?"—इस भाषास्त विज्ञान से हम कैसे क्या साम उठा सकने हैं ?" इन सब प्रश्नों का सम्बन्ध सगुणधान करण हुआ पत्र प्राय यह शाब्द ही सत्त्व पर प्रतिष्ठित कर देता है। धृष्टि इसमें प्रजापतिविकर्त की ही प्रधानता है, अतएव हम इसे "प्रजापतिशास्त्र" किंवा "प्रजापतिसंस्था" कह सकते हैं। वेद के इस भाग का प्रधान निरप्रमा प्रजापति ही है। इसी भाग को स्पष्ट करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

प्रजापते न स्पेदेताम्यन्यो विश्वा रूपानि परिताबभूव ।

यद कामास्ते शुभ्रमस्वभो मधु नय स्याम पतयो रपीषाम् ॥

(मन्त्रा० उ० २३ ६२)

इसका है सगुण आत्मा । इसके पुरुष-पोद्गी-सत्य यह तीन विभक्त हैं । स्वरूप भर्मात्मन [माया-कला-गुणपरिमण्डल] आत्म का निरूपण आर्ययक गर्भित शं के उपनिषत् भागने किया है उपनिषद्वाक्य सगुण आत्मा को बनाना मुख्य उद्देश्य मानता हुआ अथर्व वेद "सगुण आत्मशास्त्र" है । यह शब्द सत्य-पोद्गी-पुरुष [कनक अभिकारी मेरु से] इन तीनों सगुणपरिमण्डलों को उद्देश्य मानकर, इनके स्थान में उस निगुण, विश्वतीत परात्पर का विधान करता है । दूसरे शब्दों में यों सगुणिक कि यह हमारे कर्मात्मा को सत्य से पोद्गी पर खनाता है, पोद्गी से विशुद्ध अम्यपुरुष पर लम्बाकर छोड़ देता है । यहाँ पहुँचे बाद [अम्यप को प्राप्त किए बाद ] बिना प्रयास के बनने का यह पुरुष उस परात्पर में लीन हो जाता है । उल्लिखित स्वयं पुरुष को परात्पर पर पहुँचाने में असमर्थ है । स्वोक्ति शब्द एक उपनिषत् शास्त्र की बड़ी गति नहीं है । यह तो पुरुष पर पहुँचा मात्र देता है । परात्पर के सम्बन्ध में इस की ओर से 'नायमात्मा प्रवेन सन्तो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमैवेष्टुमे तेन लभ्यः' यही उत्तर मिलता है ।

इस प्रकार मन्त्र विधि, आर्ययक-उपनिषत् का वेदशास्त्र द्वारा सम्पूर्ण आर्गविते गन्तव्य बन जाते हैं । मन्त्र-विधिभाग अज्ञान-आराधक विद्या परिप्राप्त सर्वभारत आत्म का निरूपण कर डालता है, जब आर्ययक-उल्लिखित भाग गुण-कला-माया परिप्राप्त सगुण अथर्व का निरूपण कर डालता है । आ मन्त्रमन्त्र में दो ही निरूपणों का विषय है, जब दोनों का ही मन्त्र-विधि-आर्ययक-उपनिषत् रूप धर्मगत निरूपण कर डाला । मन्त्र बाकी क्या रहा । तनी तो इस अरीरुपेय शास्त्र के सम्बन्ध में — 'एव वेदात् प्रसिद्धपति' [पत्र १२।६७] यह प्रसिद्ध है ।

जब कि आत्मा के सम्बन्ध में अथर्व वेदशास्त्र उक्त रूप से चर्चा में ही पूरी हो जाती है तो प्रत्यक्ष होना आभासित है कि इनशास्त्रों का क्या उद्देश्य । इस प्रकार के सम्बन्ध में "माय्य परीक्षा" शब्द को ही हम पाठकों के सम्मुख उल्लिखित करेंगे । अरिस्तुष्टिसे अन्त्या का जो मन्त्र पत्रिका है, उसे सगुणपरिमण्डल के लिए सुगम बनाने के लिए ही एतदशास्त्रों की प्रशंसा हुई

है। इसी आधार पर हम उन शब्दों को "आत्मपरीक्षाशब्द" कह सकते हैं। यह आत्मपरीक्षा ज्ञान विज्ञान भेद से दो मामों में विभक्त है। ज्ञानात्मिक परीक्षा को ही दर्शन कहा जाता है, एवं विज्ञानात्मिक परीक्षा ही विज्ञान शब्द से सम्बोधित है। इस दृष्टि से आत्मपरीक्षाशब्द आगे जाकर दो भागों में विभक्त हो गया है।

पहिले दर्शनशब्द का ही विचार कीजिए। दर्शनशब्द के शारीरिक, भाषानिक, वैशेषिक, स्याद्वाद, नैनायिक सौकरावधिक भेद से ९ भेद माने गए हैं। प्राचीन सम्प्रदाय के अनुसार स्याय, मीमांसा, (पूजमीमांसा), योग के समावेश से ६ आस्तिक दर्शन माने गए हैं, एवं चार्वाक, माध्यमिक, योगान्तर, सौत्रात्मिक, वैशेषिक, चार्वाक यह ६ नास्तिकदर्शन माने गए हैं। परन्तु विज्ञानदृष्टि से स्याय-मीमांसा-योग तीनों ही दर्शनपर्याय से बहिष्कृत हैं। एवमेव उक्त ६ नास्तिकदर्शनों का भी स्याद्वाद, सौत्रात्मिक, वैशेषिक इन तीन आस्तिकदर्शनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इन सब विषयों का विशद निरूपण आगे आने वाले आत्मपरीक्षाप्रकरण में किया जाने चाहिये। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पूर्वकथनानुसार ३ आस्तिकदर्शन, २-नास्तिक दर्शन, सम्भूत कुल ५ दर्शन हैं।

त्रिषास्त्रिक नास्तिक दर्शन ने साधन आत्म्य [बिम्ब] की परीक्षा की है। आस्तिक दर्शनों में से पहिले वैशेषिक दर्शन ने अज्ञान विराट्प्रजापति, एवं यज्ञप्रजापति की परीक्षा की है। प्राधानिक [संख्य] दर्शन ने अज्ञानप्रजापति सत्यप्रजापति की परीक्षा की है, एवं शारीरिक दर्शन ने अन्वय गर्भित अज्ञानप्रजापति बोद्धरीपुरुष [ब्रह्म] की परीक्षा की है। इस प्रकार दर्शन की परीक्षा दृष्टि बोद्धरीपुरुष पर समाप्त होनाती है। तत्परिष्ठा को ही दर्शन कहावे हैं। यह तत्त्व परीक्षा दृष्टिज्ञानप्रभता है। इससे केवल तत्त्वज्ञान होता है। जिस ज्ञान के लिए पाठ्यायनाथा में 'थ्योरीटिकसनासेज' [Theoretical knowledge] शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसी अर्थ में ज्ञान दर्शन शब्द निकल है।

यह तो इन्द्र ज्ञान परीक्षा। दूसरी विज्ञानपरीक्षा है। यह परीक्षा व्यवहार से सम्बन्ध रखती है। जिसे पश्चिमी विद्वान् "प्रेक्टिकसनासेज" (Practical knowledge) शब्द से



सम्बोधित करते हैं, ठीक उसी अर्थ में मीमांसा शब्द प्रयुक्त हुआ है । दर्शन जहाँ ज्ञानप्रधान है, वहाँ मीमांस्य विज्ञानप्रधान है । दशम पाठ जहाँ किसोसफी [Phelashapy] है, वहाँ मीमांसाराज्य सायन्स [Saano] है । सुप्रसिद्ध मीमांसा [पूर्वमीमांसा] दशम ने अपने १२ अध्यायों से आत्म्य की विज्ञानवृत्ति से परीक्षा की है, अतएव इसे हम विज्ञानयुक्तभारतपरिचायाज्ञ कह सकते हैं ।

इन सब के अन्त में गीताशास्त्र हमारे सामुख उपस्थित होता है । सर्वमूर्धमूत त्रिस मापी अन्वय पुरुष पर पूष के किन्ती भारतशास्त्र, किंवा आत्मपरीक्षाशास्त्र ने विशेषरूप से प्रकृत्य न बाधा या, गीता ने प्रधानरूप से उसी अन्वयपुरुष को अपना प्रथम उदय बनाया है । सब से बड़ा महत्त्व तो इस शास्त्र का यह है कि भारतशास्त्रों में जिन विषयों का निरूपण किया है, एवं आत्मपरीक्षाशास्त्रों में जिन विषयों की परीक्षा की है, अन्वयनिरूपण के साथ साथ उन सब का भी गीता शास्त्र में समावेश हुआ है । इसीलिए तो वेदवत् हम इसे सभ्यशास्त्र कहते हैं । इसीलिए तो वेद न होने पर भी इसे उपनिषद् शब्द से सम्बोधित किया गया है । निम्न लिखित श्लोकों पर वृत्ति बाह्यते व्यरूप, एवं गीता की महत्ता का पशोमान कस्त जाइए, सम्यग्भान हो जायगा ।

## १—विश्वप्रजापतिनिरूपक वचन

१—यया वतमिद् सर्वं जगद्व्यक्तमृत्तिना ।

मवस्थानि सर्वमृतानि नचाहं वेध्वनस्थितः ॥ [६।४] ।

२—मृमिरापोनसोऽशायुः स मनो मुद्दिरव च ।

अहङ्कार इतीय ये भिजा प्रकृतिरष्टषा ॥ [७।४] ।



## २—विराट्प्रजापतिनिरूपक वचन

१—एषमेवद्ययास्य स्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमेश्वरं पुरुषोत्तम ॥ [११।१] ।

२—इदं कस्य नगदकृत्तन परमाद्य सपरान्वरम् ।

यम ददौ गुह्येण [ यथान्वद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ (१२१७) ]


३—यज्ञप्रजापतिनिरूपक वचन 

१—सहवद्वाः प्रजाः घृष्टा पुरोन्नाच प्रजापतिः ।

अन्ते मसविष्यध्वेषो षोऽस्तिष्टकामधुक् ॥ गी० [१।१०]

२—सर्वं ब्रह्मोदुमस विद्मि ब्रह्मात्वरसमुदुमसम् ।

तामाद्य सर्वमत ब्रह्म निमं ब्रह्मे प्रतिष्ठितम् ॥ [१२५३]


४—सत्यप्रजापतिनिरूपक वचन 

१—अद्यत्ति च नित्यत्ति च जन्म न विवुरासुरः ।

न श्लोक नापि पाचा(०) न सत्य तेषु विषये ॥ १६७७ ॥

२—असतमप्रतिष्ठ तेषु जगदात्सु रनीश्वरम् ।

अपरम्परसम्भूत किमन्यद् कामौदुक्तम् ॥ १७८८ ॥

५—पोढयीनिरूपक वचन 

१—इतिर्वी पुरुषो सोमे घृष्टमात्वर एव च ।

घृष्टः सर्वादि मृतानि कृष्टवोऽत्तर वस्यते ॥ १५१० ॥

२—ब्रह्माः पुरुषस्त्वन्य परमात्मैत्युदाहृतः ।

यो सोकथयमाशिरय विमर्शम्यय ईश्वरः ॥ १५१७ ॥

## ६—श्रव्ययपुरुपनिरूपकवचन

१—गतिर्भर्त्ता प्रभुः सात्वी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभव\* मलयस्यान निधानं कीजमभ्ययम् ॥ (६।१।१)

२—उपद्रष्टानुमन्ता च मर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।

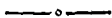
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष\* पर ॥ (१।२।२१)



आत्मशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन ने जिस ज्ञानरूप से आत्म की परीक्षा की है, एवं मीमांसा ने जिस विज्ञानरूप से आत्म की परीक्षा की है, उन दोनों का भी—“ज्ञानतः सविज्ञानमिदं चक्ष्याम्यशेषतः । यजन्नात्वा नेह मूयोऽन्वज्ज्ञातव्यमवशिष्यते” इत्यादि रूप से गीता में पूरा समावेश है । ऐसी आत्मस्थ में यदि हम गीताशास्त्र को (सर्वसम्मिश्रण के कारण) सम्प्राप्त करें तो कोई अस्पृष्टि न होगी । पञ्च वेद (सम्प्रभाग, एष विभिन्नाग, वेदान्त [आरण्यकभाग, एव उपनिषद्भाग], दर्शन [ ३ आस्तिकदर्शन, ३ नास्तिक दर्शन ], मीमांसा, गीता भेद विज्ञान इन पाँचों आत्मशास्त्रों, एवं आत्मपरीक्षाशास्त्रों में गीता की ही सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है ।

## १—वेदशास्त्रम् (मन्त्र विधिभागात्मकम्) — आत्मशास्त्रम् ।

१—सत्यमनापति	{ — १* सगुणावयव-विधेयः	} सर्वधर्मोपपन्नात्मशास्त्रम्
{ [विकारयुक्तः] १ यज्ञमनापति	{ — २* सवधर्मोपपन्नः उद्देश्य	
{ [आवरणोपेयः] २ विराट्प्रजापति		
{ [अज्ञानोपेयः] ३-विश्वमनापति		



२—वेदान्तशास्त्रम् (आरण्यक-उपनिषद्भागात्मकम्) ॥ आत्मशास्त्रम् ॥

	१—परात्परः } — ॥ निगुण - विषेयः }	} ॥ सगुण - उद्धारयः } ॥ सगुणात्मशास्त्रम् ॥
२—	{ [मायोपेतः] १—गुरुपः	
	{ [कसोपेतः] २—पोहपी	
	{ [गुणोपेतः] ३—सत्यप्रभापति	

३—दर्शनशास्त्रम् (पदुदर्शनशास्त्रम्) ॥ आत्मपरीक्षणशास्त्रं ज्ञानप्रदानम्

सात्त्विकदर्शनम्	१—शारीरकदर्शनम्	} — ॥ अल्पगर्भित्वात्परिचायाशास्त्रम् ॥ पोहशुशास्त्रम्
	२—भाषानिकदर्शनम्	
	३—बैशेषिकदर्शनम्	— ॥ अक्षरपरीचाशास्त्रम् — ॥ विराट् यज्ञशास्त्रम्

नास्तिकदर्शनम्	१—स्वाहादर्शनम्	} ॥ विकारक्षरपरीचाशास्त्रम् — ॥ विश्वप्रभापतिशास्त्रम्
	२—बैनाशिकदर्शनम्	
	३—सौंहापतिकदर्शनम्	

४—मीमांसाशास्त्रम्

आत्मपरीक्षणशास्त्रं—विज्ञानप्रदानम् ।

## ५—गीताशास्त्रम्

अथ्ययमहाविद्यात्मक बुद्धियोगशास्त्रम् ।

ज्ञान-पिज्ञानमय सर्वशास्त्रम् ॥

— : : —

महाभारत नाम के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ से पृथक् करके निकाला हुआ अजुन के प्रति उपविष्ट भगवान् कृष्ण का उपदेशसमहात्मक शब्द प्रपञ्च ही गीताशास्त्र है । इस ग्रन्थ में ७०० श्लोक हैं । इन श्लोकों के रचयिता भगवान् कृष्णद्वैपायन हैं । गीताप्रतिपादित ऐतिहासिक विषय को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण वैज्ञानिक विषय चूकि भगवान् कृष्ण की मौक्तिक सम्पत्ति है अतएव इतिहास न्यायादा से सीमित बनता हुआ भी, एष इत्योक्तव्यत्वात् व्यास की रचना बनता हुआ भी यद् शास्त्र ' भगवद्गीतोपनिषत् ' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ ।

महाभारत समर के उपक्रम में ऋष्यभाषण अजुन को लक्ष्मणशिष्य के लिए १६० उपदेशात्मिका जिन २४ उपनिषदों का भगवान्ने उपदेश किया था, उन का व्यास ने अपनी प्राञ्जल भाषा द्वारा उपबृहण किया है । भगवद्गुरुर्यो का बही उच्युहितकर विद्वत् समाज में गीताशास्त्र नाम से प्रसिद्ध है । जिसद्वारा यौती उपनिषत् संकुचित अथ को विस्तृत करने के कारण "गीता" कहाई है, एवमेव महाभारताप्तर्गत व्यास विरचित श्लोकसमहात्मिका इस उपलब्ध गीता को हम उम भगवद्गीता की गीता कहने के लिए तय्यार हैं । संकुचित अथका विस्तार ही उसका उच्युहण है । कृष्णने जिस सत्त्व भाषा में धर्म ही समय में जिस गीता रहस्य का उपदेश दे डाला था, उसको इतना शीघ्र समझ लेने का अभिकारी तो एकमात्र अजुन ही था । यदि व्यासदेव हमारे सामने अपनी पद्मचक्रा के द्वारा गीता का उपलब्ध विस्तृत रूप न रखकर उस सन्निभ भाषा की पुनरावृत्ति न करते तो गीता हमारे लिए एक जटिल समस्या बन जाती ।

•सर्वशास्त्रमयी गीता सर्ववेदमयो हरिः ।

सर्वरीचमया गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥ [५०मी०३३। अ०।२२श्लो०क] ।

आज यितने एक मनचल सज्जन यह सीमांसा किया करते हैं कि ' जिस समय कुरुक्षेत्रके उस विशाल प्राङ्गण में महासमर की तैयारि हो रही हों, युद्धोपकरणों की तुमुह्वानियों से जहाँ का आवाज सवथा अशांत बना हुआ हो, सब मोता (अर्जुन) जहाँ युद्ध के मानी परियाम से शोकप्रस्त बना हुआ हो, ऐसे विषम समय में गीता जैसे उस भगवद् ज्ञान का उपदेश देने के लिए भगवान् को अचर निष्ठ गया, यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है। मालूम होता है, व्यासदेव ने ही अप्यात्मविषय के सिद्धान्त के लिए भगवान् के नाम से अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में इस का समावेश कर लिया है। "

कहना न होग कि ऐसी कुतुहियों का आर्षसंगतान की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। एही सम सोचनाए आर्षसंगतिपानभिद् एक अनार्य के हृदय में ही स्थान पा सकती हैं। यदि कृष्ण हमारे जैसे सत्वाम्य पुरुष होते, अथवा अर्जुन यदि हमारे जैसा ही मन्दबुद्धि होता तो काङ्क्षितों की उक्त कङ्क्षना को पपाक्षयविद् अचर निष्ठ सकता था। परन्तु उन कुतुहियों को यह नहीं भुजा देना चाहिए कि कृष्ण जहाँ साक्षात् मारायण के अस्तार होने से अलौकिक पुरुर थ वहाँ अनुभव नर फल प्राप्य था। जो कृष्ण अपनी योगनाया हा। ६ मास की अक्षया में शक टासुर का बध कर सकते हैं जो कृष्ण अपनी अम्बसिद्ध योगसिद्धिद्वारा गिरिर को उद्य सकते हैं जो कृष्ण प्रजा का अ्यामोहम कर सकते हैं, जो कृष्ण अपने विराट् रूपप्रथन से दुर्बुद्धि दुर्षोभन को प्र त कर सकते हैं, जो कृष्ण एक ही समय में १६ सहस्र पहानियों के साथ रहते हुए मरु वर मारने को आक्षय में शक सकते हैं, जो कृष्ण योगनायाद्वारा सूर्यास्त कर अर्जुन की प्रतिष्ठा पूरी करवा सकते हैं उन के लिए किसी भी प्रकार की मानवभय सम्बन्धिनी कुण्हा उद्यना अर ने आर को प्राविद्धन का भागे बनाना है। आरव ही पुद्धारसर पर भगवान् ने गीता का उप देश दिया था। हाँ हम इस सम्बन्ध में आर्षसंगतिरङ्गक भगवान् अ्यास के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर बिना नहीं रह सकते कि हमने कि अपनी योगदृष्टि में उस उपदेश को अपने अन्त करण में प्रतिष्ठित कर अपनी योगीश्वर बायी से पय कर में हम तक पहुँचाने का अनुभव किया।

गीताग्रन्थ जूँकि इतिहासग्रन्थ के मध्य की वस्तु है, अतः इस ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने के लिए ही मगधन्व्यास ने विज्ञानगीता में अपनी ओर से कुछ एक ऐतिहासिक रसोक्तों का समावेश करना आवश्यक समझा है। इसी दृष्टि से गीताग्रन्थ के इन ७०० रसोक्तों को हम इतिहास विज्ञान भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। ६४ रसोक्तों का इतिहास से सम्बन्ध है, एवं शेष ६३६ रसोक्तों का विज्ञान से सम्बन्ध है। आरम्भ के ६४ रसोक्त गीताविषय की उपात्मिका है। 'गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों? कब? एवं किसके प्रति हुई? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही मौलिक विषय से कुछ भी सम्बन्ध न रखते हुए भी ६४ रसोक्त व्यास ने अपनी ओर से गीता के आरम्भ में उद्धृत कर लिए हैं। इस चतुर्षष्टिकोशिका गीता को दूसरे शब्दों में गीता के प्रत्यय को हम 'एतिहासिकगीता' नाम दे सकते हैं। आगे के ६३६ रसोक्तों में मगधान् की ओर से ज्ञानगर्भित विज्ञान का निरूपण हुआ है। अतः इस मूल गीता को—'विज्ञानगीता' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

"तत्र ज्ञान ब्रह्मसङ्घितम्" (पञ्चदशी) के अनुसार ज्ञान ही ब्रह्म है, यही अन्वय पुरुष है। बुद्धियोगसङ्घट्ट कर्म इस अन्वयपुरुष का कर्म है। पुरुष अद्वैतसङ्घट्ट है, योग भीम्य सङ्घट्ट है। विज्ञानगीताने इन दोनों का निरूपण करते हुए अपने "इति श्रीमद्भगवद्गीतासु-पनिपत्सु ब्रह्मविद्यया योगशास्त्रे" इस अध्यायोपसंहारबचन को चरिताय कर रखा है। सम्पूर्ण विज्ञानगीता में आपको अथ से इति तक ब्रह्म—एव योग की ही मीमांसा उपलब्ध होगी। चूँकि हमारा विज्ञानमाध्यम विज्ञानदृष्टि से ही गीता के अर्थ करने के लिए प्रवृत्त हुआ है, अतः प्रचलित दार्शनिक विषय विभाग क्रम की उपेक्षा कर हमें विज्ञानदृष्टि से ही इसका विषयविभाग करना पड़ेगा। इस विषय विभाग में रसोक्तों का क्रम यही रहगा, केवल अध्यायक्रम में परिवर्तन होगा।

प्राचीन व्याख्याता ऐतिहासिक दृष्टि को प्रधानता देते हुए, ६३ इतिहास मध्यादा से सम्बन्ध रखने वाले १८ अध्यायों का समाहर करते हुए ६-९-६ इस रूप से जहाँ गीता को (ज्ञान—भक्ति—कर्मयोग की अपेक्षा से) तीन भागों में विभक्त करते हैं, वहाँ विज्ञानदृष्टि से ६

२-४-६ इस क्रम से गीता के ६ काण्ड समझने चाहिए। प्रथमकाण्ड में राजसिद्धि, एव वैराग्यसत्त्व बुद्धियोग का, द्वितीयकाण्ड में सिद्धविद्या एव ज्ञानसत्त्वबुद्धियोग का, तृतीयकाण्ड में राजविद्या, एव ऐश्वर्यसत्त्व बुद्धियोग का, चतुर्थकाण्ड में आर्षविद्या, एव धर्मसत्त्व बुद्धियोग का निरूपण हुआ है।

गीता एक उपनिषद् नहीं है, अपितु गीता में अनेक (२४) उपनिषदों का निरूपण हुआ है। इन अनेक उपनिषदों के कारण ही "गीतासु ( मोक्षासु ) उपनिषसु" यह कहा गया है। अर्थात् गीताग्रन्थ में अनेक उपनिषदें हैं अतएव इसके सम्बन्ध में निम्न स्थिति बचन प्रसिद्ध हैं।

॥ गीताः सुगीताः कर्षभ्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तैः ।

याः स्वयं पद्यनामस्य मुक्तपङ्क्तद्विनिःसृताः ॥

विद्या एवं योग तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् ने जो मौखिक रहस्य, किंवा निदानसिद्धान्त कहे हैं, उपनिषद् शब्द के निर्बचन के अनुसार नहीं रहस्य उपनिषद् है। सम्पूर्ण विज्ञान गीता में एसी कुछ २४ उपनिषदें हैं। गीता एक उपनिषद् नहीं है, अपितु गीता में सगण्य अनेक २४ उपनिषदों का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से गीता को हम २४ उपनिषद्

बर्षादि महाभारत में बहुषण्डान्त पाठ के स्थान में आज "गीतासुगीता कर्षभ्या०" [म०मी०३३] इत्यादि रूप से एकषण्डान्त पाठ ही मिलता है। परन्तु यह संशोध का का ही क्षेत्र सम्भवता चाहिये। क्योंकि जब अस्यायासदा में 'गीतासु उपनिषसु' यह बहुषण्डान्तपाठ मिलता है तो प्रत्यक्ष ही उक्त पद्यन बहुषण्डान्त रहा होगा। इसी आधार पर श्रीपरस्वामी ने अपनी व्याख्या में 'यथोक्तं गीताशास्त्रस्ये' "गीताः सुगीताः कर्षभ्याः" इत्यादिरूप में बहुषण्डान्त पाठ का ही उद्धरण किया है। अथवा एकषण्डान्त पाठ में ही यह नाम धारण किया जासकता है। अतएव उपनिषदसम्बन्धी स गीता एक ही उपनिषद् है। भगवान् एक हैं। इस एक उपदेश के सम्बन्ध से इस एक षण्ड मान लेने का कारण ही आगे आकर एकषण्डान्त पाठ होय



ग्रन्थों की समष्टि कह सकते हैं। संहिता ग्रन्थ के शाखा भेद से ११३१ संख्या में विभक्त श्रौती उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है, उन सब का सार इन चौबीस उपनिषदों में आजाता है, जैसा कि निम्न लिखित वृद्धम्प्यवहार से सिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गात्रो दोग्धा गोवासनन्दन ।

पायो वसतः सुपीभोक्ता दुग्ध मीठाभूत मवत् ॥ [गी०माहात्म्य] ।

इ ३६ रसोक्तात्मक इस विज्ञानगीता में निम्नलिखित क्रम से ६ प्रकरण समझने चाहिए ।

- |                         |           |                                       |
|-------------------------|-----------|---------------------------------------|
| १—१—उपक्रमप्रकरण—→      | ५ श्लोक   | } ६३६ श्लोकात्मिका विज्ञान-<br>गीता । |
| २—१—राजर्विधियाप्रकरण—→ | २१६ श्लोक |                                       |
| ३—२—सिद्धनिध्याप्रकरण—→ | १८ श्लोक  |                                       |
| ४—३—राजविध्याप्रकरण—→   | १५१ श्लोक |                                       |
| ५—४—भाषविध्याप्रकरण—→   | १८६ श्लोक |                                       |
| ६—१—उपसंहारप्रकरण—→     | ५ श्लोक   |                                       |

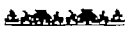
101

उक्त २६ उपनिषदें उक्त ६ भाँ प्रकरणों में क्रमशः  $\frac{१}{१} \frac{२}{८} \frac{३}{२} \frac{४}{१} \frac{५}{०} \frac{६}{३}$  इस रूप से विभक्त हैं। उपनिषत् [मौक्तिकरहस्य] को स्पष्ट करने के लिए, मौक्तिक रहस्य को व्यावहारिक-रूप देने के लिए मगवान् ने जो खलत्र विज्ञान मतजाए हैं, उन्हीं का नाम उपदेश है। यह उपदेश कुल १६० [एकसौसाठ] हैं। यदि ६ प्रकरणों की दृष्टि से विचार किया जाता है तो यह उपदेश उन ६ भाँ प्रकरणों में  $\frac{१}{२} \frac{२}{२} \frac{३}{१६} \frac{४}{३२} \frac{५}{४६-४६-४६} \frac{६}{५}$  इस क्रम से [१६० उपदेश] विभक्त हैं।

यदि २४ उपनिषदों के क्रम से इन का विभाजन किया जाता है तो आद्यर्विध्याप्रकरण-रस की १ उपनिषत् में ३ उपदेश हैं। राजर्विध्या की ८ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ३० उपदेश क्रमशः  $\frac{१}{३} \frac{२}{०} \frac{३}{०} \frac{४}{०} \frac{५}{१-१-१-१} \frac{६}{१}$  उपनिषदरस इस रूप से विभक्त हैं। सिद्ध

विषय की २ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ११ उपदेश  $\frac{१-२}{१-२-३}$  उपनिषद १ इस रूप से वि-  
 मक्त हैं। राजविषय की ३ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ३२ उपदेश  $\frac{१-२-३}{११-१२-३}$  उपनिषद ३  
 इस क्रम से विमक्त हैं। आर्षविषय की ७ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ४१ उपदेश  
 $\frac{१-२-३-४-५-६-७}{१-२-३-४-५-६-७}$  उपनिषदः ७ इस क्रम से विमक्त हैं। एष चातुर्विधोपसंहारप्रकरण की ३  
 उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले = उपदेश  $\frac{१-२-३}{४-२-२}$  उपनिषदः ३ इस क्रम से विमक्त हैं।

इस प्रकार ऋष (अभ्यय) - योग (बुद्धिबोग) - प्रकरणसमस्त इस विद्वान् श्रीगुरुदेव में  
 ६३६ श्लोक हैं। इन श्लोकों के ६ प्रकार हैं, ६ प्रकारों में २४ उपनिषदें हैं, २४  
 उपनिषदों में १६० उपदेश हैं। यही इस विद्वान् गीता का संक्षिप्त विषय विभाग है। हमारा  
 विश्वास है कि यदि पाठक इस वैज्ञानिक विषयविभाग को सामने रखते हुए गीता के अक्षरों पर  
 दृष्टि डालेंगे तो उन्हें गीताय समझने में विशेष विप्रतिपत्ति का सामना न करना पड़ेगा।



प्रकरण	विषयमें उपनिषत्	उपनिषदों में उपदेश	श्लोकक्रमविभाग
१ (१)	ऐतिहासिकसन्दर्भप्रकरण	०	२६
१ (२)	आतुर्विद्योपक्रमप्रकरण	१	५
१ (३)	रागश्रेयविनाशक शकैरग्य बुद्धिये १ गच्छत्य राजपिबिद्याप्रकरण	८	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५
३ (४)	संश्लेषविनाशक ज्ञानबुद्धियोग- २ सषण सिद्धविद्याप्रकरण	२	१६ १ २ १० ११
३ (५)	अस्मिताविनाशक ऐश्वर्यबुद्धि ३ योगसूत्र्य राजविद्याप्रकरण	३	३० १ २ ३ ११ १२ १३
३ (६)	अभिनिवेशविनाशक धर्मबुद्धि ४ योगसूत्र्य आपविद्याप्रकरण	७	५६ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४
३ (७)	आतुर्विद्योपसंहारप्रकरण	३	८ १ २ ३ ४ ५ ६
१ (८)	ऐतिहासिक सन्दर्भप्रकरण	०	५
		२४	१६०
			७००

## विस्तृतविषयविभागप्रदर्शन

उक्त सङ्घित विषयविभाग को देखकर पाठकों के हृदय में यह विधासा हो सकती है कि इन नारों विधाओं, विधान्तगत उपनिषदों, एक उपनिषदरूपगत उपदेशों के द्वारा मन्वान् ने क्या विषय हमारे सामने रखा है ? इस प्रश्न का यथार्थ समाधान तो स्वयं गीताभाष्य ही करेगा । यहां पाठकों के परिचय के लिए सच्चा से गीताप्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन कर दिया जाता है ।

### १—ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति

- (१) १—ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति—[ १।१ व १।४४ पर्यन्त [ १।४२ व १।४४ ]  
( २१ ) ४४  
१।४४ व १।१ पर्यन्त। एवं १।११। के १।३७ पर्यन्त—  
७ १ ७

### २—चातुर्विधोपक्रम

- (२) १—चातुर्विधोपक्रमरूपा “सोकृष्णोपनिषत्” ( १।४५।, १।४७, २।१।, २।२, २।११ ) ।

- १—(१) १—उपदेश—प्राकृतिकसोकृष्णोपनिषत्—( १—उपदेश ) । ( १।४५, १।४७ ) ।  
२—(२) २—उपदेश—प्राकृतिकसोकृष्णोपनिषत्—( १—उपदेश ) ( २।१, २।२ २।१२ ) ।

### ३—राजर्षिविद्या

- (३) १—वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिकाराजर्षिविद्याप्रथमा( ८ उपनिषत् )  
( २।११ से ६ अध्याय समाप्ति पर्यन्त ) ।

- ( १ ) १—उपनिषत्—वर्त्मपरिष्कारस्य सर्वप्रथमं में अनुश्लोक ध्यय है । ( २।११ से २।३० पर्यन्त ) एव २।३॥ ) ।

- (३) २-उपनिषत्-बुद्धियोगी को कर्मासक्ति छोड़ देनी चाहिए । (२।३२ से २।७२प)  
 (४) ३-उपनिषत्-बुद्धियोगी को कर्म नहीं छोड़ना चाहिए । (३।१ से ३।३२ प) ।  
 (५) ३-उपनिषत्-बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देना चाहिए । (३।३३ से ३।६३ प) ।  
 (६) २-उपनिषत्-बुद्धियोग ग्रीकपुत्र का निजी मत है । (४।१ से ६।६ पर्यन्त) ।  
 (७) ६-उपनिषत्-बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान-कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए ।  
 (६।१० से ४।४२ पर्यन्त) ।  
 (८) ७-उपनिषत्-बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म दोनों का समावेश है । (५।१ से ६।२ प) ।  
 (९) ८-उपनिषत्-बुद्धियोग साधक कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए । (६।१० से ६।४७) ।

— १ —

१-कर्मपरित्यागलक्षणा साख्यनिष्ठा में प्रतुशोक व्यर्थ है ।

( ७-उपदेश )

- १—(१) १-उपदेश-बौद्धिक कर्मों से बहिर्भूत, असङ्ग आत्म (बन्धन, सर्वथा निष्प है ।  
 देहधारण एवं देह परित्याग कर उस पर कोई बन्धन नहीं होता । ऐसी  
 दशा में शरीरनिर्माण के भय से युद्धादि बौद्धिक कर्म छोड़ना  
 बन्धन नहीं । (१।११, २।१२, ३।१३) ।
- २—(२) २-उपदेश-शरीर के विद्यमान रहने पर प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्राओं के ससग से  
 व्याकरण करने वाले सुख-दुःखों की आवश्यक प्रवृत्ति को जब हम  
 रोकने में असमर्थ हैं तो ऐसी दशा में इनसे शोककुञ्चित होना मू-  
 ल्यता है । (२।१४, २।१५, २।१६) ।
- ३—(३) ३-उपदेश-आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता, शरीर कभी निष्प बन नहीं  
 सकता, ऐसी दशा में अनिष्ठ शरीरनाश के भय से शोक करना व्यर्थ  
 है । (२।१७, २।१८, २।१९) ।

- ४—(६) ४-उपदेश-अम्बुज्याम्य में धर-अधर नाम की प्रकृतियों से जन्म-मृत्यु का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है। परन्तु अम्बुज्य इस प्रवाह में रहता हुआ भी निर्बिकार है। फलतः शोक करना व्यर्थ है। (२१२०, २१२१, २१६२)
- ५—(७) ५-उपदेश-अम्बुज्यामा युक्त-अणु महाभूता से सन्ध्या वृषक् है। ये पदाक्ष नञ्चर हैं। जब वह इनसे अतीत है तो उसका नाश असम्भव है। फलतः नाशप्रयुक्त शोक करना व्यर्थ है। (२१२३, २१२४, २१२५)।
- ६—(८) ६-उपदेश-जन्म-मृत्युसम्बन्धों से युक्त भोक्तृत्वा में रहने वाला जन्म मृत्यु-सुख-दुःखप्रति द्वन्द्वमाद्ये को जब रोक्य नहीं जासकता तो इनके लिए शोक व्यर्थ है। (२१२६, २१२७, २१२८)।
- ७— १) ७-उपदेश-जिह्व आत्मा क्लिप्त शरीर-असङ्ग आत्मा असङ्ग शरीर दोनों का सम्बन्ध बन नहीं सकता परन्तु बन रहा है यह सधमुक्त एक व्याख्येय का विषय है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि व्यर्थ का कभी बंध नहीं दिया जासकता। फलतः क्षामयोगी (संन्यनिष्ठ) की दृष्टि में शरीरनाशमपेक्षित शोक का क्षेत्र महत्व महा रहता।  
(२१२९, २१३०, २१३१)।

सप्तोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त ।

## २-बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए । (७-उपदेश)

- ८-(१०) १-उपदेश-कर्मसागसङ्घराज ज्ञानयोग की अपेक्षा फलत्यागसङ्घराज बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए । (२।३६, २।४०, २।४१।)
- ९-(११) २-उपदेश-फल कामासक्तिप्रधान उत्तम वैदिक कर्म भी कर्मन के ही कारण हैं। अतः इनका अनुष्ठान फल कामासक्ति छोड़कर ही करना चाहिए । (२।४२, २।४३, २।४४, २।४५, २।४६।)
- १०-(१२) ३-उपदेश-फल कामासक्ति छोड़कर किया हुआ आधिकारिक कर्म बुद्धियोग का उपोद्भूतक बनता हुआ प्राण है । २।४७, २।४८, २।४९, २।५०, २।५१।
- ११-(१३) ४-उपदेश-बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त काल के लिए अपनी प्रज्ञा को स्थिर करना आवश्यक है । (२।५२, २।५३।)
- १२-(१४) ५-उपदेश-वैराग्यबुद्धियोग सम्बन्धिनी स्थितप्रज्ञता के ६ स्वरूप हैं । (२।५४, २।५५, २।५६, २।५७, २।५८, २।५९, २।६०, २।६१।)
- १३-(१५) ६-उपदेश-मग, काम क्रोध, समोह स्थितिभय यह सब बुद्धियोग के किरोधी धम्म हैं । (२।६२, २।६३।)
- १४-(१६) ७-उपदेश-गण्डेपजनित भासना जब बुद्धियोग के प्रभाव से नष्ट हो जाती है तो उस समय वह योगी ब्राह्मी स्थिति में प्रविष्टित हो जाता है । (२।६४, २।६५, २।६६, २।६७, २।६८, २।६९, २।७०, २।७१, २।७२।) —(द्वितीयाध्याय समाप्त) ।

सप्तोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

### ३-बुद्धियोगी को कर्म नहीं छोड़ना चाहिए । (७-उपदेश)

१३-(१७) १-उपदेश-कर्मसत्यासत्त्वस्य सम्यास (ज्ञानयोग), एव कर्मारम्भलक्षणं योग (कर्म-योग) दोनों में बुद्धियोग नाम का योग ही भेद है । (३११, ३१२, ३१३) ।

१६-(१८) २-उपदेश-३ अन्वय हेतुओं के कारण कर्म का परिष्कार नहीं किया जा सकता । (३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८) ।

१७-(१९) ३-उपदेश-यत्कर्म कमी कर्मन के कारण नहीं बनते ।

३१९, ३११, ३१२१, ३१२२, ३१२३, ३१२४, ३१२५, ३१२६, ३१२७) ।

१८-(२०) ४-उपदेश-उपेक्षाबुद्धि से किए गए कर्म कमी कर्मन के कारण नहीं बनते ।

(३१७अ, ३१७ब, ३१८१, ३१८०) ।

१९-(२१) ५-उपदेश-ओहसप्रवृद्धि से किए गए कर्म कमी कर्मन के कारण नहीं बनते ।

(३१८०, ३१२१, ३१२२, ३१२३, ३१२४, ३१२५, ३१२६) ।

२०-(२२) ६-उपदेश-प्राकृतिक कर्म कमी कर्मन का कारण नहीं बनते ।

(३१२७, ३१२८, ३१२९, ३१३०) ।

२१-(२३) ७-उपदेश-हमारी [भगवान् की] दृष्टि में कर्म का परिष्कार कमी नहीं करना चाहिए । [३१३१, ३१३२]

सप्तोपदेशसुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त ।

### ४-बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देने चाहिए । (३-उपदेश)

२२-(२४) १-उपदेश-राग-द्वेष बुद्धियोग के महा प्रतिकर्षक हैं । इन का परिष्कार करना चाहिए । [३१३३, ३१३४, ३१३५] ।

२३-(२५) २-उपदेश-राग-द्वेष के आक्रमण से अन्वय की सामर्थ्यहीन मछिन बन जाती है । फलतः ऐसा व्यक्ति भुरे कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है । [३१३६, ३१३७, ३१३८, ३१३९, ३१४०] ।



२४-(२६) १-उपदेश-इन्द्रिय, मन, बुद्धि मार्गों के संयम से राग-द्वेषादि बुद्धियोग के प्रतिबन्धक चर्म नष्ट हो जाते हैं । (३।४१।, ३।४२।, ३।४३) ।

तृतीय अध्याय समाप्त ।

उपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त ।

— ० —

५-बुद्धियोग भगवान् कृष्ण का अपना मत है । (३-उपदेश) ।

२५-२७) १-उपदेश-इन्द्र बुद्धियोग के प्रथम त्रया भगवान् कृष्ण हैं । (३।१।, ३।२।, ३।३।)

२६-[२८] २-उपदेश-एक विग्रह धारण करने वाले कृष्ण भूक्ति अभ्युक्त भगवान् थे, परन्तु एव विद्यास करना चाहिए कि उन्हें पूर्व जन्मों की सारी परिस्थिति सिद्धि थी । [३।४।, ३।५।] ।

२६-[२९] ३-उपदेश-भगवान् कृष्ण आधिकारिक पुरुष थे । अतएव उन्हें सामान्य मनुष्य न समझ कर अभ्यस का अवतार समझना चाहिए । [ ३।६।, ३।७।, ३।८।, ३।९ ] ।

उपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त ।

— ० —

६-बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए ।  
( ५ उपदेश )

२८-(३०) १-उपदेश-अभ्ययात्मा का अनुगमन करने वाले ज्ञान-कर्म-भक्ति तीनों ही योग उपात्य हैं । (३।१०।, ३।११।, ३।१२) ।

२९-(३१) २-उपदेश-चातुर्कन्य कर्मा का भूक्ति अभ्ययात्मा से सम्बन्ध है, परन्तु इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए । (३।१३।, ३।१४।, ३।१५) ।

३०-(३२) ३-उपदेश-निवृत्तकर्म भक्ति अभ्ययात्मा के अनुगामी हैं परन्तु इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए । ३।१६।, ३।१७।, ३।१८।, ३।१९।, ३।२०।, ३।२१।, ३।२२।] ।

- ३१-(३३) ८-उपदेश-१ प्रकार के यज्ञकर्म अथवात्मानुगामी बनते हुए अनन्त हैं, जहाँ इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२)।
- ३२-(३४) ९-उपदेश-सम्पूर्ण यज्ञकर्माँ में शान्त्यज्ञकर्म को ही सर्वश्रेष्ठ सम्मत्ता चाहिए। (३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२)।

### (चतुर्थ अध्याय समाप्त)

### पञ्चोपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त।

### ७-बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म दोनों का समावेश है। (६-उपदेश)।

- ३३-(३५) १-उपदेश-कर्मयोग, एवं ज्ञानयोग दोनों में कौन श्रेष्ठ है? यह प्रश्न निवारक रूप से है। (५११)।
- ३४-(३६) २-उपदेश-कर्म-ज्ञान दोनों का बुद्धियोग में समावेश है। अतः तीनों में इसे ही उत्तम सम्मत्ता चाहिए। (५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५)।
- ३५-(३७) ३-उपदेश-गन्धर्वकियुक्त विद्युत् अथवात्मानुगामी को सदा एक रस सम्मत्ता चाहिए। (५२६, ५२७, ५२८)।
- ३६-(३८) ४-उपदेश-संसारिक सुख के सामने आत्मसुख को अष्ट गूणकर उसी का अनुगामी बनना चाहिए। (५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५)।
- ३७-(३९) ५-उपदेश-एतद्गणित विहित आत्मोपी ही श्रेष्ठ आनन्द के अनिवादी बनते हैं। (५३६, ५३७, ५३८, ५३९)।

३८—(४०) ६—उपदेश—आत्मसम्पत् प्राप्ति के लिये बुद्धियोगानुगामी योग्यास करना आवश्यक है । (११२७, ५१२८, ५१२९) ।

### ( पञ्चम अध्याय समाप्त )

३९—(४१) ७—उपदेश—बुद्धियोगी कर्मपरिग्रह से कर्मयोग, एव कामना के परिहाय से ज्ञानयोगी बन जाता है । (६११, ६१२, ६१३, ६१४) ।

४०—(४२) ८—उपदेश—जो अज्ञान आत्मा पर विषय प्राप्त कर लेता है, वह शाश्वत आनन्द का अधिकारी बन जाता है, एव आप-ज्ञान से प्रभित मनुष्य हुआ में निम्न रहता है । (६१५, ६१६) ।

४१—(४३) ९—उपदेश—कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग उच्च ज्ञानयोग का ही उच्च समझना चाहिए । (६१७, ६१८, ६१९) ।

### नवोपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त



८—बुद्धियागसाधक कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए । (६ उपदेश)

४२—(४४) १—उपदेश—योग्यास ही बुद्धियोगसाधक का अनन्य उपाय है ।

(६११०, ६१११, ६११२, ६११३, ६११४, ६११५) ।

४३—(४५) २—उपदेश—योग्यास से विरोध करने बाल, एव अनुकूलता उत्पन्न करने बाल धर्मा को ब्रह्म में मग्न कर ही योग्यास में प्रवृत्त होना चाहिए ।

(६११६, ६११७) ।

४४—(४६) ३—उपदेश—ब्रह्म में परिगणित विरोधियों को उदय दशा, समझते उसने बुद्धि योगनिष्ठा प्राप्त करनी । (६११८, ६११९) ।

४५—(४७) ४—उपदेश—ब्रह्म योग में आत्मा सदा प्रसन्न रहे, उसी योग (कर्म) को बुद्धियाग समझना चाहिए । (६१२०, ६१२१, ६१२२, ६१२३) ।

- ४६—(४८) ५—उपदेश—बुद्धियोग प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञात योग का अभ्यास विशेष नियमों से करना चाहिए । (६।२४, ६।२५, ६।२६, ६।२७, ६।२८) ।
- ४७—(४९) ६—उपदेश—बुद्धियोग के साधनकाण्ड में समता का अभ्यास करना परमावश्यक है । (६।२९, ६।३०, ६।३१, ६।३२) ।
- ४८—(५०) ७—उपदेश—बुद्धियोग की स्थिति के लिए मन संपन्न प्रत्येक दशा में अपेक्षित है । (६।३३, ६।३४, ६।३५, ६।३६) ।
- ४९—(५१) ८—उपदेश—जिस मनुष्य में परिगणित ऋषय देखो समझ लो उसने पूर्व जन्म में बुद्धियोग का अनुष्ठान किया था । (६।३७, ६।३८, ६।३९, ६।४०, ६।४१, ६।४२, ६।४३, ६।४४, ६।४५, ६।४६) ।
- ५०—(५२) ९—उपदेश—कर्मयोगी, ज्ञानयोगी इन तीनों की अपेक्षा से तो बुद्धियोगी को, पण इस की अपेक्षा अज्ञानयुक्त बुद्धियोगी को भेद समझना चाहिए । (६।४७, ६।४८) ।

( षष्ठ अध्याय समाप्त )

नवोपदेशयुक्ता = उपनिषत् समाप्त

= उपनिषद् युक्ता, ५० उपदेशगर्भिता, २१६ श्लोकात्मिका

राजर्षिविद्या समाप्त

— १ —

## ४—सिद्धविद्या

(४)—२—ज्ञानबुद्धियोगप्रतिपादिका सिद्धविद्या द्वितीया (२-उपनिषत्)

(७१ से आ०, ८ अध्याय पर समाप्त) ।

- १-(१०) १-उपनिषत्-सम्युक्त विश्व प्रकृति पुरुष का ही लीलाक्षेत्र है । (६।१ से अ२८ प )  
 २-(११) २-उपनिषत्-ब्रह्म-कम्म, अहो-रात्र, सग-प्रलय, एव भक्तियोग ही प्रकृति का प्रकृतिव्य  
 है । (७।३६ से ८ अध्याय समाप्ति पर्यन्त) ।



१-सम्पूर्ण विश्व प्रकृति पुरुष का ही लीलाक्षेत्र है । (१०-उपदेश) ।

- १-(५३) १-उपदेश-अस्यपत्न्या के साक्षात्कार के लिए ज्ञानयुक्त विज्ञान का आश्रय लेना  
 आवश्यक है । (७।१, ७।२, ७।३) ।  
 २-(५४) २-उपदेश-अस्य पुरुष के सम्यक परिज्ञान के लिए उस के पराप्रकृतिरूप-अक्षर  
 का, एव अपराप्रकृतिरूप अक्षर का ज्ञान आवश्यक है । (७।४, ७।५) ।  
 ३-(५५) ३-उपदेश-प्रकृति को सम्युक्त विश्व का उपादान, एव पुरुष को सम्युक्त विश्व का  
 आत्मन समन्ता चाहिए । (७।६, ७।७) ।  
 ४-(५६) ४-उपदेश-एक ही पुरुष को अक्षर प्रकृति के सहयोग से १५ स्थानों में नियुक्त  
 समन्ता चाहिए । (७।८, ७।९, ७।१०, ७।११) ।  
 ५-(५७) ५-उपदेश-प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले बिल्लों भी पदार्थ हैं, वे सब प्रकृतिवशा  
 पुरुष का लक्ष्य बना रहे हैं । (७।१२) ।  
 ६-(५८) ६-उपदेश-दहीमाया, एव आसुरीमाया की प्रतिबन्धिता में दहीमाया परास्त हो रही  
 है । आसुरीमाया को ही अन्तसाक्षात्कार में महा प्रतिकम्पक समन्ता  
 चाहिए । (७।१३, ७।१४, ७।१५) ।

७-(१२) ७-उपदेश-ज्ञाननिष्ठ भक्त को सर्वात्म समझना चाहिए । (७१६।, ७१७।  
७१८।, ७१९।) ।

८-(६०) ८-उपदेश-आध्यात्मिक देवता की आराधना करने वालों को दशपद मिस्रता है,  
एव आत्म की उपासना करने वाले को अक्षयपद मिस्रता है ।  
(७२०।, ७२१।, ७२२।) ।

९-(६१) ९-उपदेश-बोलेभाषी की हृषीसे आहत अस्मात्स्व को दखने में असमथ व्यक्ति ही  
देवता की उपासना करत हैं । (७२३।, ७२४।) ।

१०-(६२) १०-उपदेश-नाग-द्वेष के हट जाने पर मनुष्य अस्मत्साक्षात्कार करता हुआ प्रक-  
सह बन जाता है । (७२५।, ७२६।, ७२७।, ७२८।) ।

### दशोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

— ० —

२-ब्रह्म-कर्म, अहो रात्र, सर्ग प्रलय, एवं भक्तियोग ही प्रकृति का  
प्रकृतित्त है । ( ६-उपदेश ) ।

११-(६३) ११-उपदेश-आत्म के १२ भावनों में से कितनी एक का आत्म त होने से  
आत्मसाक्षात्कार हो जाता है । (७२९। ७३०।) ।

### ( सातवां अध्याय समाप्त )

१२-(६४) २-उपदेश-प्रकृति के ब्रह्म-कर्म आधिदैविक-आधिभौतिक, आधिमात्रिक-आध्या-  
त्मिक सृष्टि-प्रलय सृष्टि-सृष्टि गति-आगति इन १२ विषयों को  
जान लेने से प्रकृति पर अधिकार हो जाता है । (८१। ८२।, ८३।, ८४।) ।

१३-(६५) ३-उपदेश-स-स कर्मनुसार कर्महवा तथैव-मध्यम-अथम लोगों में जाया  
करता है । (८५। ८६।, ८७।) ।

१४-(६६) ४-उपदेश-मध्यमत्स्य ईश्वरम्यप के साक्षात्कार से आधिदैविक मध्यम की  
प्राप्ति होती है । (८८। ८९।, ९०।) ।

१५-(६७) ५-उपदेश-"प्रोम्" इस एकक्षर की उपासना से त्रेतत्मा आधिदैविक अक्षर  
मात्र को प्राप्त होता है । (८१, ८२, ८३) ।

१६-(६८) ६-उपदेश-विशुद्ध अम्यपरमा क्व उपासक जन्म मृत्यु से सदा के लिए विमुक्त  
होता हुआ परमुक्ति का मयी बन जाता है । (८१, ८२) ।

१७-(६९) ७-उपदेश-क्षर की उपासना करने वाला लौकिक पुरुष जन्म-मृत्यु-प्रवाह में प्रवा-  
हित रहता है । (८६, ८७, ८८, ८९) ।

१८-(७०) ८-उपदेश-म्यक्त क्षरप्रपञ्च की उपासना कर अन्यक्त अक्षर, किंवा अक्षर-म्यक्तातीत  
अम्यप की आराधना करने वाला समकल्पमात्र को प्राप्त हो जाता है ।  
(९०, ९१, ९२) ।

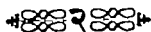
१९-(७१) ९-उपदेश-विधासापेक्ष प्रवृत्तिकर्म करने वाले देवधान मार्ग से सर्लोक में जाते  
हैं, एवं विधानिरपेक्ष सत्कर्म करने वाले पितृमास द्वारा पितृलोक  
में जाते हैं । (९३, ९४, ९५, ९६, ९७) ।

( आठवाँ अध्याय समाप्त )

नवोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

२-उपनिषद्युक्ता, १९-उपदेशगर्भिता, ५८ श्लोकात्मिका

सिद्धविद्या समाप्त



## ५—राजविद्या

(५)-३ ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रतिपादिका राजविद्या तृतीया (३-उपनिषत्)

(२।१ से १२ अध्याय पर्यन्त)

(१२) १-उपनिषत्-इश्वर के स्वरूपज्ञान से ऐश्वर्य्यसिद्धि मिलती है । [२।१ से २।१७]

(१३) २-उपनिषत्-इश्वर सम्बन्धी योग एवं विमूर्तिविज्ञान ही इश्वरमात्रप्राप्ति में मुख्य कारक हैं [१।०।१ से ११ अध्याय पर्यन्त] ।

(१४) ३-उपनिषत्-इश्वर की उपासना ही इश्वरमात्रप्राप्ति का अन्त्यतम द्वार है ।

[१२-अध्याय] ।

— १ —

१-ईश्वर के स्वरूपज्ञान से ऐश्वर्य्यसिद्धि मिलती है । (११-उपदेश)

१-[७५] १-उपदेश-ज्ञान-विज्ञान संहिता राजनिषा का सम्यक् परिज्ञान ही इश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार है । [२।१।, २।२। २।१।] ।

२-[७६] २ उपदेश-अध्यात्मविधि ईश्वर ही अपने प्रकृतिमात्र को भागे कर सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करता है । [२।३।, २।४।, २।६।, २।७।, २।८।, २।९।, २।१०।] ।

३-[७७] ३-उपदेश-आसुरिण्या के समावेश से मूर्ख लोग इश्वर ही ईश्वरता जानने में असमर्थ हैं । [२।२०।, २।२१।] ।

४-[७८] ४-उपदेश-ईश्वरिया के अनुग्रह से सात्त्विक मनुष्य इश्वरता पर पहुँचते हुए धर्मविद्या से, एवं व्यतिक्रम से इश्वर की उपासना किया करते हैं । [२।११।, २।१२।, २।१३।] ।



- ५—[७६] ५—उपदेश—उस ईश्वर की यज्ञ, पुरुष, वेद, प्रकृति आदि कित्ती भी रूप से आराधना की जा सकती है। कारण ये सब उसी के रूप हैं। [६११ ६१, ६११७]।
- ६—[७७] ६—उपदेश—एक ही ईश्वरान्यय की उसके गति, मर्षा, प्रभु, साक्षी निवास, शरण्य, सुहृद, प्रमथ प्रलय, स्थान, निधान, भीज इन १० क्विचों में से कित्ती एक को आधार मानकर उपासना की जासकती है [६११८]।
- ७—[७८] ७—उपदेश—ससार में जितने भी इन्द्रमात्र हैं, उन सब को ईश्वर की निष्कृति समझते हुए इनसे भी आत्मवक्ष्यण किया जासकता है। [६११९]।
- ८—[७९] ८—उपदेश—सांसारिककर्मों की कर्मना से यज्ञकर्म करने वाले कर्मठ ईश्वर को उद्वेग मान कर यज्ञकर्म करते हुए मुक्त हो सकते हैं। (६१२०, ६१२१)।
- ९—[८०] ९—उपदेश—अनुचित [अप-सज-मन्त्र-दृष्टयोगविध] भक्तियोग के अनुपपत्ती इश्वरान्ययप्राप्ति में असम्यक् ही रहते हैं। [६१२२ ६१२३, ६१२४, ६१२५]
- १०—[८१] १०—उपदेश—अपने सम्पूर्ण कर्मा को ईश्वरार्पणमुक्ति से करता हुआ कर्मठ का मन्थन से छूट जाता है। [६१२६, ६१२७, ६१२८]।
- ११—[८२] ११ उपदेश—निर्गुण ब्रह्म के उपासक ज्ञानयोगियों की अहमभक्ति सर्वश्रेष्ठ है। [६१२९ ६१३०, ६१३१, ६१३२, ६१३३, ६१३४]

(नवम अध्याय समाप्त)

एकादशोपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त



२-ईश्वर सम्बन्धी योग एवं विभूति विज्ञान ही ईश्वरभावप्राप्ति में मुख्य कारण है । (१५-उपदेश)

१२-(८१) १-उपदेश-ईश्वरविभूति के परिष्कार से ब्रह्म सब पापों से निमुक्त होकर इन्हा भूमा-  
भाव को प्राप्त होनाता है । [१०११, १०१२, १०१३] ।

१३-(८२) २-उपदेश-बुद्धि, ज्ञान, अस्मिन्नेह, क्षमा, सन्न, दम, छम, सुख, दुःख, मय, माय, काम्य, आर्द्रिजा, समता, तुष्टि, तप, दाग, यज्ञ, यश, अयश इव सम्पूर्ण  
आध्यात्मिक सदसूत्रों की प्रसिद्ध आधिदैविक ईश्वर ही है ।  
[१०१४, १०-५] ।

१४-(८५) ३-उपदेश-आदि, मनु, प्राण आदि आधिदैविक मानसमान ईश्वरमय के आ-  
धार पर ही प्रतिष्ठित हैं । (१०१६) ।

१५-(८६) ४-उपदेश-ईश्वर के योग, एवं विभूतिभावों के सम्पक् परिष्कार से ऐश्वर्यबलका  
बुद्धियोगनिष्ठ प्राप्त हो जाती है । [१०१७] ।

१६-(८७) ५-उपदेश-ईश्वर के साक्षात्कार के लिए ऐश्वर्यबुद्धियोग आवश्यक है । इसकी  
प्राप्ति के लिए इसके साधक तपासों का अनुष्ठान करना आवश्यक  
है । [१०१८, १०१९, १०१०, १०११] ।

१७-(८८) ६-उपदेश-प्रत्येक व्यक्ति को अपने जन्मकल्याण के लिए ईश्वरमय की दिव्य  
विभूतियों को जानने का प्रयास करना चाहिए । [१०१२,]-  
[१०१३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, १०१८]

१८-(८९) ७-उपदेश-ईश्वर का विभूतिभाव १आत्म्य, २आदि-मय-अस्त, ३निष्ठा, ४रिषि,  
५मरिषि, ६शरी, ७सामवेद, ८शासन, ९मन, १०चेतना, ११शङ्कर  
१२कुनेर, १३पाक, १४मेर, १५बृहस्पति, १६स्कन्द, १७साम, १८पुत्र,  
१९एकेश्वर, २०अपव्य, २१द्विमात्र्य, २२अव्य,

२३नरद, २४विप्रारथ, २५कपिल, २६उच्चैर्धृष्य, २७प्रेराकत,  
 २८प्यना, २९नत्र, ३०कामवनु, ३१कन्दप, ३२भासुकि ३३ध  
 नन्त, ३४वरुण, ३५कम्पना, ३६यम, ३७प्रलहाद, ३८काठ,  
 ३९सुगेन्द्र ४०गरुड, ४१पवन, ४२राम, ४३मकर, ४४गर्गा,  
 ४५भाषन्त, ४६अप्यारमषिषा, ४७नाद, ४८मकर, ४९इन्द्र ५०अ  
 क्षय, ५१घाता, ५२सृत्यु, ५३उद्भव ५४कर्मि धीनाक्-स्पृति-नेषा  
 धृति-वमा, ५५सृष्टस्साम, ५६गायत्री, ५७आगर्णीपि, ५८सन्त, ५९भूत,  
 ६०तेज, ६१जय, ६२व्यवसाय, ६३सकम्, ६४वासुदेव ६५अर्जुन,  
 ६६न्यास, ६७उशना, ६८दण्ड, ६९नीति ७०मीन, ७१ज्ञान,  
 ७२मीन ससार में इन ७२ भावों में प्रधानरूप से विभक्त है । जो  
 पुरुष इनका रहस्य जान लेता है, वह ईश्वरसमकक्ष बनजाता है ।  
 [१०।११, से १०।४२ तक] ।

### (दशम अध्याय समाप्त)

- १९—(१०) ८—उपदेश—प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर की उक्त विभूतियों के सम्बन्धपरिज्ञान के  
 लिए उसका विराट् स्वरूप को पहिचानने का प्रयास करना चाहिए ।  
 [११।१, ११।२, ११।३, ११।४] ।
- २०—(११) ९—उपदेश—विराट्स्वरूप के परिज्ञान के लिए योगप्रक्रिया द्वारा दिव्यशक्ति प्राप्त  
 करना आवश्यक है । [११।५, ११।६, ११।७, ११।८] ।
- २१—(१२) १०—उपदेश—योगविद्या के प्रमाण से उसी प्रकार मनुष्य स्वयं भी अपने आप को  
 विराट्स्वरूप में परिवर्तित कर सकता है, जैसे कि योगेश्वर कृष्ण ने  
 अपना विराट् स्वरूप बना लिया था । (११।९ से ११।१४ पक्ष) ।
- २२—(१३) ११—उपदेश—विराट्स्वरूप से समस्तवस्तु अर्जुन की तरह प्रत्येक व्यक्ति को  
 उस रूप की सृष्टि करनी पकती है । (११।१५ से ११।१७०)

- २३-(१४) १२-उपदेश-निरादृशरूप के दर्शन से स्वयं निरादृशरूप की ओर से कर्म-  
कर्म के लिए बन्ध प्राप्त होता है । (११।३२। ११।३३।, ११।३४)।
- २४-(१५) १३-उपदेश-जो व्यक्ति निरादृशरूप के दर्शन से पहिले अज्ञानवश ईश्वरत्व की  
उपेक्षा किया करता है, निरादर्शन के अनन्त अर्जुन की भाँति उस  
के योगदान (सृष्टि) में प्रवृत्त हो जाता है । (११।३५ से ११।३६)।
- २५-(१६) १४-उपदेश-मल्ल की इन भद्रावस्थियों से आकर्षित निरादृशरूप की ओर से  
उसे पूर्य आराधना मिलता है । (११।३७।, ११।३८।, ११।३९)।
- २६-(१७) १५-उपदेश-निरादृशरूपदर्शन से मयप्रस्त बने हुए मल्ल के मन को दूर करने के  
लिए निरादृशरूप को अपने उस महामायाविष्णुरूप का परिचय  
कर योगमायामय निरादृश से मल्ल के सामने उपदिष्ट होना पड़ता  
है । (११।४० से ११।४१)।

### एकादश अध्याय समाप्त ।

### पञ्चोपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त ।

३-ईश्वर की उपासना ही ईश्वरभावप्राप्ति का मुख्य द्वार है । (६-उपदेश)।

- २७-(१८) १-उपदेश-उपासनाद्वय के परिचय के लिए सगुण, एव निर्गुण दोनों प्रकार की  
उपासना जानने का प्रयास करना चाहिए । (१२।१)।
- २८-(१९) २-उपदेश-ओकर्तमही कर्मठ मनुष्य के लिए, सगुण-निर्गुण दोनों में सगुणो  
पासना ही श्रेष्ठतर है । (१२।२)।
- २९-(१००) ३ उपदेश-जो निर्गुणोपासना का अन्वेषण से सम्बन्ध है, अतः सामान्य  
मनुष्य प्रायः इसके अनभिद्ययी ही है । (१२।३।, १२।४।, १२।५)।

- ३०-(१०१) ४ उपदेश ईश्वरान्वय के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्मों को समर्पित कर देना सर्व-  
श्रेष्ठ उपासना है । (१२।६।, १२।७।, १२।८।) ।
- ३१-(१०२) ५ उपदेश सम्पूर्ण उपासनायोगों में, सब की अपेक्षा कर्मफलत्यागलक्ष्य कृत  
व्यक्तार्थानुष्ठानरूपा, बुद्धियोगलक्ष्य निष्कामोपासना ही श्रेष्ठ है ।  
(१२।९ से १२।१२ पयन्त) ।
- ३२-(१०३) ६ उपदेश-उपासना की सिद्धि के लिये विशेष नियमों का अनुगमन आवश्यक है ।  
(१२।१३ से १२।२० पयन्त) ।

( द्वादश अध्याय समाप्त )

षष्ठोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त ।

३ उपनिषद् युक्ता, ३२ उपदेशगर्भिता, १५१ श्लोकात्मिका  
राजविद्या समाप्त

३



## ६—आर्पाविद्या

(६) ४—धर्मबुद्धियोगप्रवर्तिका आर्पाविद्या चतुर्थी । (७-उपनिषत्) ।  
(१३१ से १८५६ पर्यन्त) ।

(१५) १—उपनिषत्—प्रकृति-पुरुष क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं ।  
(१३१ से १३३५ पर्यन्त) ।

(१६) २—उपनिषत्—सर्व-रज-स्तमोःकण्ठ गुणश्रयी ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।  
(१३१ से १४२० पर्यन्त) ।

(१७) ३—उपनिषत्—अन्तःकर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है । (१५१ से १५२०) ।

(१८) ४—उपनिषत्—देवता, एव अमृत से सम्बन्ध रखने वाला भूतसंग ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है । (१६१ से १६२३ पर्यन्त) ।

(१९) ५—उपनिषत्—गुण, एव धर्म का प्रथम ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।  
(१७१ से १७३० पर्यन्त) ।

(२०) ६—उपनिषत्—अप्यत्रय कर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।  
(१८३१ से १८३८ पर्यन्त) ।

(२१) ७—उपनिषत्—अन्तःकर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।  
(१८३९ से १८५६ पर्यन्त) ।

१—प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा  
है । (६-उपनिषत्) ।

१-(१०४) १—उपनिषत्—धर्म के वास्तविक सम्बन्ध के लिए धर्म की तरह प्रत्येक व्यक्ति

को प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान इय इत ए भाषों का मौलिक  
गृह्य जानने का प्रयास करना चाहिए । (११११) ।

- २-(१०५) १-उपदेश-धर्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का, भूतप्राय-विज्ञानात्मा का,  
शरीर-शरीरक आत्मा का विवेकज्ञान आवश्यक है । (११२१, ११२१) ।
- ३-(१०६) २-उपदेश-धर्मस्वरूपज्ञान के लिए अम्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली =  
पुरियों का स्वरूप जानना आवश्यक है । (१२१ ४ से १३१७ पर्यन्त) ।
- ४-(१०७) ३-उपदेश-धर्म के स्वरूपज्ञान के लिए २० भागों में विभक्त ज्ञानविषय का  
स्वरूप जानना आवश्यक है । (१३१८ से १३१२ पर्यन्त) ।
- ५-(१०८) ५ उपदेश-धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परमज्ञानात्मा से प्रसिद्ध इय अन्यपुरुष  
का स्वरूप जानना आवश्यक है । (१३१३ से १३१२८ पर्यन्त) ।
- ६-(१०९) ६-उपदेश-धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए प्रकृति-पुरुष का सम्यक् ज्ञान परम आव-  
रक है । (१३२० से १३२४ पर्यन्त) ।
- ७-(११०) ७-उपदेश-धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए मृत्युपाश से विमुक्त करने वाले पुरुषो  
पासनामैत्रों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । (१३२५, १३२६) ।
- ८-(१११) ८-उपे श-धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए सत्त्वनाम से प्रसिद्ध प्राणी की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ  
के संयोगरूप उपाधि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । (१३२७) ।
- ९-(११२) ९-उपदेश-धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परमेश्वर, ईश्वर, परमात्मा, विज्ञानात्मा  
इन चारों आत्मविषयों का परिज्ञान आवश्यक है । (१३२८ से  
१३३५ पर्यन्त) ।

(त्रयोदश अध्याय समाप्त)

नवोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२-सत्त्व रज-स्वमोलक्षणा गुणात्रयी ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।  
(५ उपदेश) ।

१०-(११३) १-उपदेश-क्षेत्रब्रह्म में विद्येता उत्पन्न करने वाला, गुणत्रयमूर्ति महद्ब्रह्म ही सम्पूर्णमूर्तों की योनि है । [११३ से ११४ पद्यस्त] ।

११-(११४) २-उपदेश-महद्ब्रह्म के स्वरूपज्ञान के लिए उस के सत्त्व-रज-तम त्रैलोक्यों का भौतिक स्वरूप जानना आवश्यक है । (११४ से ११५ पद्यस्त) ।

१२-(११५) ३-उपदेश-गुणत्रय के सम्पूर्ण परिचय के लिए गुणातीत ब्रह्म का स्वरूप जानना परम आवश्यक है । (११५ से ११६ पद्यस्त) ।

१३-(११६) ४-उपदेश-असंस्पृश-अनिष्टरूप-अनस्य-मक्ति से ही गुणातीत ब्रह्म जाना जा सकता है । (११६ पद्यस्त) ।

१४-(११७) ५-उपदेश-जीवशक्ति में प्रतिष्ठित सूर-सुर-स्यय-रास्य-निर्गोप-इन पाँचों की प्रतिष्ठा ईश्वर के उक्त पाँचों पर है । (११७ पद्यस्त) ।

( चतुर्विंश अध्याय समाप्त )

पञ्चोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त ।

३-अश्वत्थमत्त ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है । (७-उपदेश) ।

१५-(११८) १-उपदेश-ब्रह्म-कर्म के स्वरूपज्ञान के लिए ब्रह्माश्वत्थ का स्वरूप जानना आवश्यक है । (११८ से ११९ पद्यस्त) ।

१६-(११९) २-उपदेश-ब्रह्माश्वत्थ का साक्षात्कार करने के लिए कृत्रिय विरोध उपायों का अभ्यसना आवश्यक है । (११९ से १२० पद्यस्त) ।

१७-(१२०) ३-उपदेश-ईश्वरलक्षण विब्रह्मण्यक-अस्य ही योग्या के सम्बन्ध से कर्मा-शक्त्यवस्था जीवसृष्टि का कारण बनता है । (१२०, १२१ पद्यस्त) ।

१८-(१२१) ४-उपदेश-अग्ने प्रथम ब्रह्माश्वत्थ (ईश्वर) से प्रकृत होने के कारण ही यह कर्मा-



- अथ (जीव) कम्पसमोक्षा वनता है। (१५।३ से १५।११ पर्यन्त)।  
 १९-(१२२) ५-उपदेश-एक ही अक्षरवृत्त त्रिगुणमहद्वय के संलग्न से अनेक रूपों में  
 परिणत हो रहा है। (१५।१२ से १५।१४ पर्यन्त)।  
 २०-(१२३) ६-उपदेश-एक ही अक्षरान्वय सम्पूर्ण सिद्ध कर एक (अभिन्न) आत्मा है।  
 (१५।१५)।  
 २१-(१२४) ७-उपदेश-एक ही अक्षरान्वय अक्षर के सम्बन्ध से नेदःपश्चर करी मुख  
 प्रतिष्ठा बन गया है। (१५।१६ से १५।२०)।

### (पञ्चदश अध्याय समाप्त)

### सप्तोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त

—: : —

४-देवता एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्मबुद्धि-  
 योग की प्रतिष्ठा है। (४-उपदेश)।

- २२-(१२५) १-उपदेश-जन्मसिद्ध, देवसुरमासमूलक गुण-द्वेष ही धर्माधर्मप्रवृत्ति के  
 मुख्य अनुबन्ध हैं। (१६।१ से १६।५ पर्यन्त)।  
 २३-(१२६) २-उपदेश-असुरप्रधान भूतसर्ग में विद्या-(ज्ञान)-निरपेक्ष असत्गुण कर्मों की  
 ही प्रधानता रहती है। (१६।६ से १६।१२ पर्यन्त)।  
 २४-(१२७) ३-उपदेश-आसुरीसम्पत्ति के आधा। पर प्रतिष्ठित काम-क्रोध-ओम ही पतन के  
 मुख्य कारण हैं। (१६।१०, १६।२१)।  
 २५-(१२८) ४-उपदेश-अपने आत्मकर्मण्युक्त के लिए देहात्म्य की आराधना आवश्यक है  
 पर इस के लिए शास्त्र में पूर्ण निष्ठा अपेक्षित है। (१६।२०। १६।२३)।

### (षोडश अध्याय समाप्त)

### चतुरोपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त

— ० —

-गुण-कर्म का प्रवय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (२०-उपदेश)

२६-(१२६) १-उपदेश-गुणत्रय के मद् से मनुष्यों में तीन प्रकार के अद्यात्मक तत्त्व ही होते हैं। [१७१ से १७६ पर्यन्त]।

२७-(१३०) २-उपदेश-गुणत्रयमत् से मनुष्यों का आहार तीन भागों में विभक्त है। [१७७ से १७१० पर्यन्त]।

२८-(१३१) ३-उपदेश-गुणत्रय के मद् से मनुष्यों का यज्ञकर्म तीन भागों में विभक्त है। [१७११ से १७१६ पर्यन्त]।

२९-(१३२) ४-उपदेश-शरीर आक्-मनोमेद से आग्निमयिक तप, मद् यक-वैश्विक-मान-सिक मद् से तीन भागों में विभक्त है। [१७१६ से १७१९ प]

३०-(१३३) ५-उपदेश-गुणत्रय के मद् से आध्यात्मिक तप तीन भागों में विभक्त है। [१७१७ से १७११२ पर्यन्त]।

३१-(१३६) ६-उपदेश-गुणत्रय के मद् से दानकर्म तीन भागों में विभक्त है। [१७२० से १७२० पर्यन्त]।

३२-(१३५) ७-उपदेश-गुणत्रय से युक्त कर्म की प्रतिष्ठा त्रय है, एवं वह अस्तित्व ही-तत्-सत्त्व मे- से तीन भागों में विभक्त है [१७२३से१७२५ प]

### (सप्तदश अध्याय समाप्त)

३३-(१३६) ८-उपदेश-गुण-कर्म के परिहान के लिए कर्मसंन्यास एवं कर्मस्थान का मेदज्ञान आवश्यक है। [१८१ से १८१ पर्यन्त]।

३४- १३७) ९-उपदेश-गुणत्रयमे- से आत्मकर्म तीन भागों में विभक्त हैं। [१८१७ से १८१९]

३५-(१३८) १० उपदेश-गुणत्रयमेद से कर्मकर्म तीन भागों में विभक्त हैं [१८१२]।

३६-(१३९) ११ उपदेश-अधिष्ठान कर्त्ता, करस बोधा देव यह पांच तत्त्व कर्मसिद्धि के उपोद्बलक हैं। [१८१३से १८१७ पर्यन्त]।

- ३०—(१४०) १० उपदेश ज्ञान कर्म की त्रिपुटी (ज्ञान-ज्ञेय-परिहाता,—करण-कर्म-यथा) की कर्म का स्वरूप संपादन करती है । (१८१८) ।
- ३८—(१४१) १३ उपदेश-गुणप्रयमेद से ज्ञान-कर्म की दार्ढ्य त्रिपुटि तीन तीन भागों में विभक्त है । (१८१९) ।
- ३९ (१४२) १४ उपदेश गुणप्रयमेद से ज्ञानतत्त्व तीन भागों में विभक्त है । (१८२० से १८२२ पद्यन्त) ।
- ४०—(१४३) १५ उपदेश-गुणप्रयमेद से कर्मतरंग तीन भागों में विभक्त है । (१८२३ से १८२५ पद्यन्त) ।
- ४१—(१४४) १६ उपदेश गुणप्रयमेद से कथा तीन भागों में विभक्त है । (१८२६ से १८२८)
- ४२—(१४५) १७-उपदेश-गुणप्रयमेद से मुक्तितरंग तीन भागों में विभक्त है । (१८२९ से १८३२ पद्यन्त) ।
- ४३—(१४६) १८ उपदेश गुणप्रय के भेद से भूतितरंग तीन भागों में विभक्त है । (१८३३ से १८३५ पद्यन्त) ।
- ४४—(१४७) १९ उपदेश-गुणप्रयमेद से गुणतरंग तीन भागों में विभक्त है । (१८३६ से १८३९ पद्यन्त) ।
- ४५—( ४८) २० उपदेश-सम्पूर्ण विषय में गुणप्रय का ही साधन है । (१८४०) ।

### त्रिपुट्युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त



- १-अत्याज्यकर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है । (२-उपदेश)
- १६—(१४६) १-उपदेश-गुण कर्म कथित है पर उक्त म- के ल- के लो में विभक्त है । (१८४१ से १८४४ पद्यन्त) ।

४७-(१५०) २-उपदेश-आधिकारिक कर्मों को दोषों के रहते हुए भी नहीं छोड़ना चाहिए ।  
(१८।४५ से १८।४८ पर्यन्त)

### दशुपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त

७-अनावरक कर्म, हीं धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं । (२-उपदेश)

४८-(१५१) १-उपदेश-कामना परिष्कारपूर्वक कर्म करने से नैऋत्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है । [१८।४६ से १८।५३ पर्यन्त] ।

४९-(१५२) २-उपदेश नैऋत्य कर्म के प्रभाव से अज्ञाना कर्मबन्धन से विमुक्त होकर ब्रह्मा परब्रह्म [अव्ययब्रह्म] पद में लीन हो जाता है । [१८।५४ से १८।५६ पर्यन्त] ।

### दशुपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

इति ७ उपनिषद्युक्ता, ४९-उपदेशगर्भिता, १८६ श्लोकात्मिका

## आर्षविद्या समाप्त



## ७-उपसंहार प्रकरण

(७) १-चातुर्विध्यापसंहारप्रकरण—(३-उपनिषत्) (१=१५७ से १=१७३ पर्यन्त)

(२२)—१-उपनिषत्—सम्पूर्णकर्म अव्ययात्मा में समर्पित कर देने चाहिए। [१८५७ से १८६३ पर्यन्त]।

(२३)—२-उपनिषत्—आत्माश्रय ही परमोद्धार है। [१८६४ से १८६६ पर्यन्त]।

(२४)—३-उपनिषत्—गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। [१८६७ से १=१७३ पर्यन्त]।

— : : —

१-सम्पूर्णकर्म अव्ययात्मा में समर्पित कर देने चाहिए। (१-उपदेश)

१—(१५१) १-उपदेश—लोकांतर गुणों से युक्त असामान्य अधिकारी को राजविधासिद्ध वैराग्यसङ्घर्ष बुद्धियोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए। [१८५७ से १८५८ पर्यन्त]।

२—(१५२) २-उपदेश—प्रथमाधिकारी को सिद्धविधासिद्ध ज्ञानसङ्घर्ष बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८५९]।

३—(१५५) ३-उपदेश—तृतीयाधिकारी को राजविधासिद्ध ऐश्वर्यसङ्घर्ष बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८६०]।

४—(१५६) ४-उपदेश—तृतीय शक्ति के अधिकारी को व्यापविधासिद्ध धम्मसङ्घर्ष बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८६१, १८६२, १८६३]।

चतुरूपवेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त।

२-आत्माश्रय ही परमोद्धार है। (२-उपदेश)

१—(१५७) १-उपदेश—मपने सम्पूर्ण कर्मा को हृदयस्थ आरम्भकाल में समर्पित करते हुए साधुबुद्धि का परिष्कार कर देना मुख्य का परम पुरुषार्थ है।

[१८६६], १८६७, १८६८] ।

- २—(१५८) २-उपदेश-साधारण मनुष्य इस ज्ञान के अधिकारी नहीं है । अतः अधिकारी की परीक्षा करके ही उसे यह रहस्य बतलाना चाहिए । [१८६७] ।

द्व्युपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त ।

— 101 —

३-गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है । (२-उपदेश) ।

- १—(१५६) १-उपदेश-भगवद्गीता में प्रक्षिप्त कर्मों का चिन्तन त्याग करने से कर्मन्तर में अपने आप इस ज्ञान के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो जाती है । [१८६८ से १८७१ पर्यन्त] ।
- २—(१६०) २-उपदेश-इस विज्ञानगीता का इतिहास प्रकरण में समावेश हुआ है । [१८७२-१८७३] ।

द्व्युपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त ।

८—सन्दर्भसङ्गति

(८)२ ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति(५) (१८७६, १८७५, १८७७,

(अष्टादश अध्याय समाप्त)

इति-विज्ञानगीताया ि ५ ि १

६

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय







१०- संख्यारहस्य ~~संख्या~~



## ❀ श्री ❀

### १०—सरुवारहस्य

“नाक्षरस्य हि शास्त्रेऽस्ति धम्मं सूक्ष्मोऽपि भासते !” इस भगवदुक्ति के अनुसार बिना कारण के संसार में कोई व्यवस्था-व्यवस्थित नहीं है। प्रत्येक कर्म अक्षर ही अपनी छोड़ उपनिषद् (मौखिक कारण) रखता है। दशनमम्मादा में मले ही इस कारणतावाद की सीमा सा न की जाय, परन्तु विज्ञानमम्मादा में पद-पद पर हमें कारणता का ध्याय लेना पड़ेगा। विज्ञानशास्त्र के इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार गीताशास्त्रसम्बन्धी श्लोकसंख्याओं के सम्बन्ध में भी हमें कारणता का अन्वेषण करना पड़ेगा। विज्ञानप्रधान गीताशास्त्र के ७०० श्लोक अक्षर ही किसी गुप्त रहस्य से सम्बन्ध रखते हैं।

संख्याविज्ञान भारत का बहुत पुरानी देन है। वेद के ब्राह्मणभाग में तो पद-पद पर संख्या द्वारा सम्पत्ति का प्रहण बतलाया गया है। उदाहरण के लिए कुछ एक संख्याओं का रहस्य जान लेना पम्पात होगा ८० संख्या के लिए वेद में 'अशीति' शब्द निर्यत है। उधर इस शब्द को अक्षर का सूचक भी माना गया है। भोजनार्थक अन्न धातु से ही अशीति शब्द निर्यत हुआ है। भोज्य पदार्थ को ही अक्षर कहा जाता है। इसी आशय से वेद ने अक्षर को अशीति शब्द से सम्बोधित किया है।

हृदयस्थ मनोऽवच्छिन्न इन्द्र (प्रज्ञाप्राणालोक सर्वेन्द्रिय जन) को आत्मा (प्रज्ञानसत्ता) कहा जाता है, जैसा कि—“मात्रोऽस्मि प्रज्ञात्मा । त मामापुरमृतपिरपुपास्व” (कौषीतिक उप० ३।१।) इत्यादि से स्पष्ट है। इस प्राणवक्त्र मनोमय आत्मा से ही अक्षरप्राणवक्त्र इन्द्रियों का विकास होता है। आत्मन्त्र से उद्य रहने के कारण ही अक्षर-धोत्र-आदि को “इन्द्रिय” कहा जाता है। जहाँ से, जिस मूत्र से जो प्राण निकलते हैं, उन्हें यन्त्रात्मा में “अक्षर” कहा जाता है, एक अक्षर मूत्र स्थान ‘उत्पत्ति’ नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर-धोत्रादि इन्द्रिय भी रूप-शब्दादिकर अक्षरों की परवर्तिनी होने से अक्षर-त्र उत्पत्ति हैं। इन सब इन्द्रिय उत्पत्तियों का मूलप्रसव वही प्रज्ञात्मा है। अतः

एव इम इते—“महदुक्त्य” कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से—“आत्मा महदुक्त्यम्” (सुत० १०-१।२।३) इत्यादि रूप से इस आत्मा को महदुक्त्य कहा गया है।

महदुक्त्यस्य, इन्द्रात्मक, मनोमय इस आत्म्य की पुष्टि अशीति (अस)-मात्र पर ही निर्मित है। अशीति से ही महदुक्त्य उदात्त आत्म्य (मन) अक्षररूप में प्रतिष्ठित रहना है। “ब्रह्ममय हि सोम्य मनः” (छाँ ३५ ६।६।५।) इस सिद्धान्त के अनुसार मन अक्षरमय है। फलतः इस की प्रीति सत्ता किंवा अक्षररक्षा अनाहुति पर ही सिद्ध हो जाती है। “अशीतिभिर्हि महदुक्त्यमाप्स्यायते” इस धीव सिद्धान्त के अनुसार महदुक्त्यरूप आत्मेश्वर की तृप्ति अशीति से ही होती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि मनोमय (प्रज्ञामय) इन्द्र की तृप्ति का साधन अशीति (अस) ही है।

इस सम्बन्ध में पाठक जिज्ञासा करगे कि वेद ने इन्द्राहुति के लिए “ब्रह्म” जैसे उदात्त शब्द का प्रयोग न कर ‘अशीति’ जैसे कठिन शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इस जिज्ञासा का उत्तर यही संख्याविज्ञान है। अशीति शब्द अहाँ अक्षर का वाचक है, यहाँ पूर्व कपनानुसार यह ८० संख्या का भी सूचक है। अर्थात् परोक्षप्रिय होते हैं, ऐसा कि पूर्व के नामरहस्य में क्तवाया जा-सुक्त है। वे यह ठीक नहीं समझने कि इन्द्र जैसे पूज्य देवता के सम्बन्धमें—“इम आप के लिए अन्न प्रदान करते हैं” ऐसा अनर्थाहित वाक्य बोझा जाय। अतः इन्द्र के लिए जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है उस के ८ अक्षर बना दिए जाते हैं। अथवा अनाहुति साधक सूक्त में ८० शब्दों का समावेश कर दिया जाता है। कहने को ८० संख्यात्मक मन्त्र हैं परन्तु वास्तव में अर्थात् की वृष्टि इस अशीति संख्या द्वारा अन्न पर है। इस प्रकार वेद ने ८० संख्या को अशीति (अस) का सूचक माना है।

यज्ञकर्म में १ पात्र रक्त जाते हैं। इन १० संख्याओं का भी वेद ने विशेष प्रयोजन क्तवाया है। १० अक्षर के अक्षर का ही नाम विराट् है। विराट् ही प्रथम कर्म का (उत्पत्ति का) साधक है। उधर यज्ञकर्म देवता की उत्पत्ति के लिए ही किया जाता है। इसी प्रथमकर्मवृत्ति या परोक्षभाव से यज्ञकर्म में समावेश करने के लिए १० पात्र शिष्ट अन्न है। यज्ञकर्म में १७ साम्नेयी का प्रदण होता है। प्राजापत्य समिति के परिषद के लिए ही १७ का महत्त्व है। इसी

संख्यासहस्र को सद्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—“द्वन्द्वं पात्राययुदाहरति-पूर्वं चाग्निहोत्रहवर्षी च, स्फुर्य च कृपासानि च, शम्भा च कृष्णाग्नि च, उखुखल-मुसल, वपत्-उपसे । तदश । दशाधरा वै विराट् । विराट् वै पद्मः । तद्विराजभैतद्यज्ञमभिसम्पादयति । अथ यद्द्वन्द्व-द्वन्द्वं वै धीर्यम् । यदा वै द्वौ सरभेते, अथ तद् वीर्यं भवति । द्वन्द्वं वै मिथुनप्रजननम् । मिथुनमे-भैतत् प्रजननं विपते ।” (शत १।१।२२) ।

१—“पौण्यसेधि में १० पात्र रखे जाते हैं । इन में दो दो को मिलाकर ५ युग्म बनाए जाते हैं । इस १० संख्यासे विराट् सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, एवं विराट् से प्रजनन सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है । दो के मेष से बस का विकास होता है । इस शीघ्रभाष की प्राप्ति के लिए भी दो दो पात्र रखे जाते हैं । अपिच दो के मिथुन से प्रजननकर्म निष्पन्न होता है । यही इस यज्ञ कर्म से अभिप्रेत है । इस लिए भी यहाँ द्वन्द्वभाष का समावेश किया गया है ।” यहाँपर २, एवं १० के द्वाप अथि का सद्य मिथुन-शीघ्र विराट् सम्पत्ति हैं । मिथुनादि सम्पत्तियों का काम संख्या से सिगा गया है । इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को शतपथविज्ञानभाष्य देखना चाहिए ।

२—“स एष सत्सरप्रजापतिः पोट्टकस्त । तन्व्य राभय एव पशदशकला । ध्रुवभास्य पोट्टशीकला । सोऽमावास्यां राभिवेतया पोट्टरया कल्पया सवमिद् माण्यभृदनुप विश्य ततः मातजायते” (शत १।१।३।२२) ।

२—“सकसरप्रजापति १६ कलाओं से युक्त है । पशु की १५ भागिए ही १५ कला हैं । प्रतिपत् (पशुका) नाम की ध्रुवराशि सोलहवीं पक्षा है । यह अपनी इस प्रुणा राशि से पशुपत्तियों में प्रवेश कर तद्द्वारा सभी प्राणियों में प्रविष्ट होता हुआ प्राप्त कलस प्रकृत होता है ।”

३—‘तस्य सप्तदश साभिषेयः । सप्तदशो वै सत्सरः । द्वादश मासाः, पञ्चत्तर सत्सर, प्रजापति । प्रजापतिरग्निः । यारानग्निपाशस्य माभा तारवर्षेन

मेतव समिन्दे । यद्वेष सप्तदश । सप्तदशो वै पुरुष-दय माया , चत्वार्यप्यत्रानि  
 आत्मा पञ्चदशः, प्राना पोडशः, शिरःसप्तदश पुरुष प्रजापतिः । प्रजापतिवृत्तिः ।  
 यावान्विर्याशत्यस्य माथा तावतदैनमेतव समिन्दे” । (शत ६२।५२।) ।

२— धनपद के कर्मविशेष में १७ सामिधनी मन्त्र होते हैं । इस संख्या का रहस्य यही है  
 कि सप्तसर प्रजापति में इतनी ही संख्याएँ हैं । १२-महिने, ५ ऋतु, ही सप्तसर  
 प्रजापति है । प्रजापति अग्नि है । जितना अग्नि है, जितनी इस का मात्रा (स्युद्ध) हैं, उन्हीं  
 से इस अग्नि को समिन्द (पूर्ण) किया है । अर्थात् सप्तदश संख्या का दूरात रहस्य यह  
 है कि पुरुष (मनुष्य) १० प्रणव, १-मग, १-आत्मा, १ प्रीवा, १ शिरो भदसे सप्तदश है ।  
 पुरुष प्रजापति है । प्रजापति अग्नि है । इस सप्तदशकल पुरुषाग्नि के समग्र के लिए भी  
 १७ संख्यायुक्त सामिधनी मन्त्रों का यज्ञकर्म में प्रयोग किया गया है । १७ संख्या  
 सूचित कर रही है कि हमारा लक्ष्य सप्तदशकल प्रजापत्य अग्नि है ।

उक्त निदर्शनों से निम्न पाठकों को यह विदित होना होगा कि इहिन ( शरारे ) से ही  
 अनेक रहस्यों का परिष्कार कानि अथवा महात्म्य कृतधी अर्थियों का संख्या क्रम अक्षरय ही किसी  
 मौलिक रहस्य से सम्बन्ध रखता है । वैदिक ऋग्वेदोपनिषद् की तो मूलप्रतिष्ठ यही संख्याविज्ञान है ।  
 भूक्ति भद का संख्या विज्ञान से अनिष्ट सम्बन्ध है एव शरार हमारा ग्रेटाराज भी वेदसमकक्ष बनता  
 हुआ एक विज्ञानशास्त्र है । ऐसी दशा में इस की ७ • संख्या का भी अक्षरय ही किसी मौलिक  
 रहस्य से सम्बन्ध मानना उचित है ।

स्वयं मगधन् स्प्यस ने अपने महाभारत मन्त्र में इस संख्याविज्ञान को प्रचान माना है,  
 नैसा कि निम्न लिखित बचन से स्पष्ट है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं चैव ततो “जुय” मुदीरयत् ॥

महामारत अयमन्त्र है । पाण्डुपुत्रों के विजय सम्बन्ध से इसे अयमन्त्र कहना यद्यपि ठीक  
 है तथापि अपरमन्त्र की सीमा यही पर समाप्त नहीं मानी जा सकती । “क-उ-प-प-विज्ञान के अनु-

सार जकार = संख्या का एव यकार १ संख्या का सूचक माना गया है । “प्रज्ञानां वामतो गति” इस सिद्धन्त के अनुसार जयशब्दोपस्थापिता १ संख्या का १ = सार है । इस प्रकार जयशब्द १ संख्या का सूचक बनता हुआ महाभारत के १ = पर्वा का ही धोतक है । फलतः “तवो जयमुदीरयेत्” का—“अष्टादशपरवत्सक महाभारत पढ़ना बाहिर” यह निरूपण सिद्ध हो जाता है ।

प्राचीन प्रणाली के अनुसार किंवा ऐतिहासिक मन्व्यदा के अनुसार वीराशास्त्र १ = अथर्वो में विभक्त है । आयासाहित्य में इस १ = संख्या का भी बड़ा महत्त्व है । १ = पुण्य, १ = उपपुण्य, १ = पौरोहित्य नियम, महाभारत के १ = पय, गीता के १ = अथर्व सुक्त १ = अथर्वकर्म, १ = अथर्वविषय इस प्रकार अष्टादश संख्या का विषय अनेक स्थानों में उपलब्ध होता है । इस की वजह एक उपपत्ति है । इतिहास-पुण्य की समान मन्व्यदा मानी गई है । दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जिस ग्रन्थ में मनुष्यचरित्र गीय, एव सृष्टि का इतिहास प्रधान हो, वह पुण्य है । एवं जिस में सृष्टिचरित्र मौख, एव मनुष्यचरित्र प्रधान हो वह इतिहास है । पुण्य में भी मनुष्य चरित्र है परन्तु गौणरूप से । इतिहास में भी सृष्टिचरित्र है, परन्तु मौखरूप से । मनुष्यचरित्र का सम्बन्ध से पुण्य को इतिहास कहा जासकता है, पय सृष्टिचरित्र के सम्बन्ध से इतिहास को पुण्य कहा जा सकता है । दोनों एक प्रकार से समानभावा में प्रकाशित होते हुए समान विषयक हैं दोनों ही वेदार्थ के उपबृंहक हैं, जैसा कि— ‘इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत्’ इत्यादि से स्पष्ट है ।

पुराणशास्त्र प्रधान रूप से सृष्टि प्रसिद्धि, ऋषि, ऋणुचरित, मन्वन्तर, आश्विन, उपाश्विन, गाथा कल्पशुद्धि सिद्धान्त, संहिता, जामर, जामर, अन्न, जौतिषिक, (संग्रह), सुवन कोश (भूगोल), वेद, पुराण इन अठारह विषयों का निरूपण करता है । इसी विषय रहस्य को सूचित करने के लिए मन्व्य ने पुराण शास्त्र को १ = भागों में विभक्त किया है । चर्क महाभारत मन्व्य पुराण समकक्ष है, साथ ही में मनुष्यचरित्र के साथ साथ इस में उपलब्ध १ = विषयों का भी विषय निरूपण हुआ है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर मन्व्य ने महाभारत के भी १ = पर्व

रन्ते हैं। गीताशास्त्र भी इसी ऐतिहासिकता से आक्रमण है, इसलिये गीता के भी १ = ही अप्याय रन्ते गए हैं।

अपिच १ = संस्था नियमनाथ से सम्बन्ध रखती है। पाठकों को यह सिद्ध है कि यदि मंगलान् की ओर से अर्जुन को अतीवदेश न होता तो पायडको का जय असम्भव था। पायडय विषय का मुख्य श्रेय एकमात्र गीताशास्त्र को ही है। इस अयनाथ को सूचित करने के लिए भी ऐतिहासिक दृष्टि से गीता में १ = अप्यायों का समावेश करना स्थाय प्राप्त था। तात्पर्य कहने का यही है कि शास्त्रों में जो संस्थाक्रम रक्खा गया है, उस में अक्षरय ही कोई न कोई गुप्त रहस्य प्रतिष्ठित है। कल्पना रसिकों के शिष्य यह संस्थाविज्ञान जहाँ केवल कल्पना, किंच कल्पना (पीठित-होना) है, वहाँ एक वैज्ञानिक की दृष्टि में संस्थाविज्ञान परम आश्चर्यक, अतएव संस्था उपादेय तत्त्व है।

## १—श्लोकसंख्याग्रहस्य

वैज्ञानिक दृष्टि से १ = अप्यायों का विशेष महत्त्व नहीं है। फलतः इस क्रम की उपेक्षा कर समष्टिक्रम से गीताश्लोकों का संस्था ग्रहण ही श्रेय कोटि में प्रतिष्ठित रह जाता है। गीताशास्त्र आत्म्य का स्वरूप बतलाता हुआ विरवस्वरूप की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। “ममः (वैराग्य) — ममः (ज्ञान) — ममः (वैश्वर्य) — ममः (धर्म)” यह चारों आत्मविभूति हैं। ‘क्लेशः (आसक्ति) — क्रोध (मोह) — क्रोधः (अभिमान) — क्रोध (अभिनिवेश) यह चारों विषय के मूलाधार हैं। संसार एक प्रकार का पुद्गलैव है, कमलमूर्धिका है नानावह (विभक्ता) की प्रतिष्ठा है। परन्तु में राग-द्वेष रक्षना पुनः-कल्प-संपत्ति आदि की तुम्हा के पीछे अनुधावन करते रहना, अहोरात्र मृगमरीचिक के पीछे पकते हुए आशान्त बने रहना, यही मूलप्रधान है जसय विषय का प्रातिभिक स्वरूप। ठीक इस के विपरीत आत्म्य एक प्रकार का शास्त्रित्व है, इस में कल्प की आशयित्व विद्युति है एकरा का साक्षात्त्व है।

“आन देसा हुआ, कय देसा बोध। आन यह करमा है, कय यह करना है” इसी



वृषि का नाम—“इति—इ—आस” है। यही वृषि विद्म है, यही इतिहास है। इतिहास मर्यादा का केन्द्रात्मक विश्व के साथ ही सम्बन्ध है। उच्चावच सांसारिक भावों की उपेक्षा करते हुए सदा एक रस रहना; यही विद्वानभाव है, यही आत्मविभूति है। इतिहाससङ्घर्ष विश्व, एवं विद्वानलक्ष्य आत्मा दोनों में प्रतिस्पर्धा होती रहती है। ऋषिभिः मगधाली आत्मदेवता, एवं ऋषिभिः कुरुशास्त्री विद्यापुर का नम्रान ही अमादिकास से चला आने वासा देवासुरसंग्राम है। गीताशास्त्र इतिहासनामय विश्व का भी निरूपण करता है, एवं विद्वानभावमय आत्मा का भी रहस्योद्घाटन करता है। इन दोनों विद्वद् भावों का विवेक (सुट) करने के लिए ही हम गीताशास्त्र के ७०० श्लोकों को क्रमशः ६४-६३६ इन भागों में विभक्त करने के लिए भाष्य हैं।

६४ श्लोकों से गीताशास्त्र एतिस मर्यादा का आश्रय लेता हुआ विश्व—अशान्ति का सहज सिद्ध शोक का निरूपण करता है, एवं शेष ६३६ श्लोकों से विद्वानमर्यादा का आश्रय लेता हुआ, सहजसिद्ध भगवत् रहस्योद्घाटन करता हुआ शोकनिवृत्ति का उगायतबजाता है।

मक्षि कहने को विश्व का स्वरूप बड़ा ही विशाल है। परन्तु मन्तोमहीमान् उस आत्मदेवता के सामने विश्व की महत्ता सध्या नगण्य है। ऋषिभ्यः आत्मा का केवल एक अर्थ ही विश्व बनता है—“एकेशोम जगत् सर्वम्”। विश्व अन्वयान् है, विश्वापेक्षया आत्मा महतो महीमान् है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए विश्वस्वरूप प्रश्नन के लिए नहीं ६४ श्लोक रक्ते हैं, बल्कि आत्मस्वरूप प्रश्नन के लिए ६३६ श्लोक उपस्थित हुए हैं।

गीताशास्त्र के ७०० श्लोकों को ६४-६३६ इन दो विभागों में विभक्त क्यों माना गया? इस प्रश्न का समाधान समाप्त हुआ। अब हम सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोकों की ६-४, सङ्ख्याओं का, एवं विश्वानुगतिक के ६३६ श्लोकों की ६३६ सङ्ख्याओं का क्या रहस्य है। इस प्रश्न के समाधान के लिए पून के नावरहस्य में बतलाए गए रूप-पूणमात्र की ओर ही दृष्टि गिरनी पड़ेगी।

यहाँ बतलाया गया है कि पूण सङ्ख्या उन है, एवं उन सङ्ख्या पूण है। इस वैयर्थ्य का कारण यही बतला दिया गया है। इन दोनों भागों का सम्बन्ध क्रमशः विरल एवं आत्मा के साथ है।

विषय पूरा है, इसलिये यह उन है। आत्मा उन है, इसलिये यह पूरा है। पूरा अर्थ में आग विकास का अभाव है, जिसका वन गया, सदा के लिए बैसा ही बन गया। भूक्ति विरम में विकास का अभाव है, अतएव यह पूर्ण विषय अपूर्ण है। यही पूराता, किन्तु उनता, दूसरे शब्दों में शून्यता बतलाने के लिए विषय से सम्बन्ध रखन वाली श्लोकसंख्या का १-४ यह क्रम रक्ता गया है। १-४ की सम्प्रति १० है, यह पूरा संख्या है, इसमें अनेक विकास का अभाव है। अतएव व्यवहारघटि से जहाँ यह संख्या पूरा है वहाँ विज्ञानघटि से यह अपूर्ण बनती हुई, उन विषय शून्य है। इसी आधार पर विषयतत्त्व के निरूपक नास्तिक दर्शन न विषय का- 'शून्य-शून्य' यह बतलाने किया है। "तत्रः सर्वाणि भूतानि" "सर्गाद्य सिद्धान्त का अनुसार भी विषय मौलिक है। मूल पदार्थ शून्य है, 'गुणकृतो द्रव्यम्' इस व्याक्तिक सिद्धान्त के अनुसार गुण का समूह ही द्रव्य है। क्रिया तत्त्व नास्ति-अस्ति-नास्तिभावों का सम्बन्ध से नास्तिसार है। नास्तिभाव ही शून्य है यही प्रत्युत्पन्न है, यही विरम का प्रति-स्मिकरूप है। इसी सब कारणों से हय विज्ञान का अर्थ ही शून्य मानने के लिए तय्यार है। यही अक्षरत्वा १ संख्या की है। १ पर संख्या समाप्त है अनेक विकास का अभाव है। न्योक्ति- 'युनाद्भिः प्रजाः प्रजापन्ते' "स श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रजनन काम न्यूनभाव से ही सम्बन्ध रखता।

उपर आमा विकास की मूलप्रतिष्ठा है। आत्मा के इसी विकासभाव को सुचित करने के लिए तत्त्वतपादक श्लोकों का ६-१-६ यह क्रम रक्ता गया है। इस में मध्य की ३ संख्या प्रधान है। मन्वत्त्व तत्त्व ही विज्ञानघटि में प्रधान माना गया है। मन-प्राण-बुद्धि आत्मा विनत है। यह मौलिक अपूर्ण विषय के गर्भ में निगूढ रहता है अतएव इसे 'गूढोत्मा' कहा जाता है। विषय का स्वरूप माया-कसा-गुण-विकार-प्रानवरण-प्रदान इन ६ परि महा से सम्बन्ध हुआ है, जिसलिये पूर के विषयविभागप्रदूर्गन प्रकारण में विस्तार से बतलाना

इस विषय का विशय वैज्ञानिक विवेचन श्रौतनिपद्विज्ञानमाप्यान्तर्गत "यापान ध्येनार्पान् व्यदधाच्छाभतीम्नः समाम्पः" इस मन्त्रमाप्य में बतलाना व्यहिये।

जायुक्त है। इन्हीं ६ परिग्रहों के कारण विश्व पादकौशिक कहल जाई। मध्य में त्रिकल आराम है, इसके दोनों ओर, किंवा चारों ओर पादकौशिक विश्व का आकार है। इस भी विश्व, उपर भी विरक्त, मध्य में धारण। एकर ६, उपर ६ मध्य में १। यही तो "सर्वसू" है। ६ १ ६ संख्याएँ इसी रहस्य को हमारे सामने रखती हैं।

६-१ फल मकन्दन २ होता है। यह न्यून संख्या है, अतएव पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार यह पूर्ण संख्या है। संख्या में भी २ संख्या पर ही पूर्णक परिभाषा के अनुसार यह पूर्ण संख्या है। संख्या में २ संख्या पर ही एकर संख्याओं का विभक्त माना गया है। पाठ्य को स्मरण होय कि नामरहस्य में हमने 'भगवद्गीताउपनिषत्' में २ संख्या अर्थात् द्वय गीताशास्त्र का पूर्णता सिद्ध की थी। जिस प्रकार अपने नाम से गीताशास्त्र अपनी पूर्णता सिद्ध कर रहा है, उसी प्रकार विज्ञानप्रधान ६१६ श्लोकवाक यह गीताशास्त्र (विज्ञानगीता) अपनी ६+१+६+(२) इस श्लोकसंख्या से भी अपनी संपूर्णता सिद्ध कर रहा है। उक्त संख्या-रहस्य आगे के परिच्छेद से स्पष्ट हो जाता है।

प्रक्रान्तर से संख्याविज्ञान का सम्बन्ध कीजिए। ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोकों का रहस्य है—विश्व की धारावाहिक निर्यता एव पुनता। "पूषमन्यव स्थानं शून्यमप्युत्थानम्" एव धीतिसिद्धान्त के अनुसार एक ही आत्म के पूर्ण शून्य में से तो स्थान (तो कर) मन पर है। यही आत्मा अतीतिविषय समर्पण से पूष है, एव एही शून्यमप्युत्थान से शून्य है। अपुनतान पूष है, पुन्युत्थान शून्य है। "अन्तर एतयोरेषुत एतयोरेषुतमाहितम्" इस वाचिभूति के अनुसार अन्तरगतियों का सम्बन्ध से दोनों एकदूसरे में जोनवत हैं। पूर्ण-शून्य दोनों एक ही स्थान में एक ही शिन्दु (पाण्ड) में प्रतिष्ठित हैं। जहाँ पूर्ण (अन्यतम) है, वही शून्य (पुन्युत्थान) है। जहाँ शून्य है, वही पूर्ण है। इसी आधार पर अतीतिशास्त्र न शून्य का पूरा शून्य संप्राप्त किया है। अतीति शून्य न पुन्युत्थान मध्य के लिए—'नति नति' कहा है। हम जो शिन्दु देख चुके, 'छ १६, एव दोनों, एव सब शून्य पूरा का ही विज्ञान है।

६+४ के गणित से १० का संकलन निम्न हुआ है। १० संख्या का ही मान पूरा

विद्युद् है । यह विराट्प्रजापति ही अन्नन नाम के अन्तिम परिग्रह से युक्त होकर विन्ध्य  
 जापति का उपादान बनता है । (वेदिए गी० मू० नियमि ० प्र० १७४ पृ०) । दूसरे शब्दों में  
 विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञप्रजापति पर प्रतिष्ठित आधररूपपरिग्रहयुक्त विराट्प्रजापति ही अन्नन  
 परिग्रह को भागे कर निरवकूप में परिष्कृत हो रहा है ।

१० के २+० यह दो विभाग सम्मिष्ट । इन दोनों में ६ का पूर्वमात्र से सम्बन्ध  
 है, एक ० (विन्दु) का शून्यमात्र से सम्बन्ध है । यह शून्यमन्त्र ही योगमाया का प्राथमिक  
 रूप है । इसी योगमाया से सीमित बनता हुआ संस्काररहित वह अणुमन्त्र २ सम्बन्ध में परिष्कृत  
 होता हुआ विरक्त्वर्ति बन रहा है । निरव का जीवन योगमाया के आधार पर ही निर्भर है ।  
 योगमाया से अन्वित्वम नवसंस्कारमक निरव ही सुप्रसिद्ध दशमहाविद्या (दस भागों में विभक्त  
 सुविनिधा) का वैभव है, जैसा कि अन्वय (दशमहाविचारद्वय) निरूपित है ।

विन्दु का आधार मात्र कर उसके भागे १, २, ३, इस क्रम से ६ तक सख्या रखते  
 जाएं । ६ पर यह सख्याक्रम समाप्त हो जायगा । जो विन्दु अन्तक इन सख्याओं के पीछे थी,  
 वह आगे जायगी, १० का सक्रम समाप्त हो जायगा । पुन विन्दु के भागे से १-२-३ यह  
 क्रम बच पड़ेगा । इसी क्रम से संख्या का प्रस्तार करते जाएं । समस्त सभी प्रस्तारों में आप  
 को ६ संस्कारात्मक विराट्प्रजापति की ही प्रधानता मिलेगी । यही ६ संख्या उत्तरोत्तर नवीनरूप  
 धारण करती हुई मिलेगी । इस सत्या के इसी नवीनरूप को लक्ष्य में रखकर श्रुतियों ने इसे "नव"  
 शब्द से सम्बोधित किया है । नव शब्द नवीनता का ही सूचक है, जैसा कि—“नवो नवो  
 म्भवि आपमानो” इत्यादि मन्त्रार्थन से स्पष्ट है । आगे आगे नवीनता साध ही में पूर्णता,  
 यही तो इस न्यूनसंख्या की पूर्णता है । तभी तो श्रुतियों ने न्यून को पूर्ण कहा है । वेदिए न  
 ६ की क्रमिकधारा में भी परिणाम में ६ ही शेष रहते हैं । २+२, १८ होते हैं ८+१, ६  
 रहते हैं । यही क्रम २७-२+७+६, ३६-३+६-६, ४६-४+६-६ ५४-५+४-६  
 ६३-६+३-६ ८१-८+१-६ ९०-९-० इस प्रकार आगे है । भागों के परिवर्तनों से उक्त  
 संख्या के पूर्व-शून्यमात्रों का स्पष्टीकरण हो जाता है ।

इतिहास प्रतिपादक महाभारत जय प्रथम है, जिसे कि आरम्भ में कहा जा चुका है । पाण्डवविजय ही जयशब्द का मुख्य अर्थ है । इस विजय के द्वारा पाण्डवों ने, विषा गीतोपदेश से उपदिष्ट अनुवने अपना श्लोष इष्टम राज्यवभव फिर से प्राप्त किया । राज्यवभव विरव संगति है । विरवसंगति में १० अक्षर से सम्बन्ध रखने वाली उन्मत्तव गर्मिता पूषता है । इसी ऐतिहास्यता को सूचित करने के लिए इतिहासपीता के श्लोकों का ६+४ (१०) यह क्रम रखा गया है । श्री-विजय-भूति सीनों ही विरव की पूष विभूति हैं । ६+४ यह दोनों ही संख्याएँ उक्त संख्याक्रमनुसार पूषता की सूचक हैं । इस पूषता को सूचित करने के लिए जहाँ ६+४ इन दो संख्याओं का निर्देश है, वहाँ—“योगपाया के अनुग्रह स हा नरावर विराट् पुरुष का जन्म हुआ है । शु प-पूषमार की परार्थिका योगपाया ही पूषता की किंता राज्यवभव की बननी है । इस रहस्य को ६+४ का सकलन रूप दशाक्षर विराट् पुरुष सूचित करता है ।

महाभारतवेत्तानों को यह विदित है कि महाभारत-न्तर्मत भीष्मार्ज के जिस अर्थात् से (म०भा० भीष्मप० २५ अ० से) गीताग्रन्थ का आरम्भ हुआ है उससे पहिले के २४ वें अर्थात् में धृतराष्ट्र एव सत्रय का सगर है । इससे पहिले के २३ वें अर्थात् में दुर्गास्तोत्र का निरूपण है । पुद्ग के लिए सगर एकारुड अनुन को भगवान् आदेश देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—शुचिभूत्वा महाबाहो ! सप्रामाभिमुखे स्थित ।

परामपाय शश्वशां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ॥१॥

सजयउवाच—रामुत्सोऽनुनः संख्य वामुदेवेन धीमता ।

अस्वीयस्पाद पाथ स्तोत्रमाह कृतामनि ॥२॥

(म भीष्मप० २३ अ० । २-३श्लो० ) ।

उक्त उद्देश्यों से प्रकृत में हमें यही मतलबाना है कि युद्धारम्भ से पहिले विषसंगत की अविद्यत्री, योगपायाकारिणी जगन्माता दुग्ध की लुप्ति भगवान्ने अक्षरवक सन्मयी है । इस लुप्तिगठ से अक्षर यही सूचित करना चाहते हैं कि प्राग जाकर अनुन जिस सिद्धमन्त्रि को

प्राप्त करना चाहता है, उस की मूलप्रतिष्ठा योगमात्र ही है। अर्जुन भगवद्देश को शिरोधार्य कर जगन्मत्ता की स्तुति करता है।

स्तानन्तर योगमाया वरप्रदान करती हैं। वरप्राप्त्यनन्तर सत्य-भूतशत्रु का सकारण्यपाम हमारे सामने आता है। सत्वादाभ्यस्य के अम्यबहितोत्तरकाल में ही "परमेश्वरे कुरुत्वम्" इत्यारिरूप से चतुःपश्चिमोक्तप्रमका ऐतिहासिक गीता का आरम्भ हो जाता है। इन ६४ श्लोकों की सख्या सूचित करती है कि—“महामारुत समर में गीतोपदेश के प्रभाव से अर्जुन ने विराट् सम्पत्ति प्राप्त की थी। मरिष्य में भी जो व्यक्ति इस उपदेश का अनुगमन करेगा, वह विराट् सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होगा” ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोक ही नया रखे गए ! इस प्रश्न का यही सक्षिप्त उत्तर है।

ऐतिहासिक गीता के अनन्तर विज्ञानगीता का आरम्भ होता है। इसमें ६६६ श्लोक हैं। ज्ञान-विज्ञान के समन्वय प्रदर्शन के लिए ही उक्त सख्याक्रम रक्खा गया है। ज्ञानपद का प्रतिस्वरभाव से एवं विज्ञानपद का स्वरभाव से सम्बन्ध है। ज्ञान आत्ममय है, विज्ञान विद्यमय है। विद्य एव आत्मा की समष्टि ही—'सर्वम्' है। इस सर्वत्व का निरूपण करने वाला गीताशास्त्र अक्षरय ही सर्वशास्त्र है।

आत्म एव विद्य दोनों के विवेक करने से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आत्म्य त्रिकल है एव यही आत्म्य विद्यमूर्ति मन कर पदकल है। त्रिकलका से मनः-प्राण-बाह्य-मय बनता हुआ त्रिकल है, सुष्टिरा में मन-प्राण-बाह्यमूर्ति इस सुष्टिसाक्षी त्रिकल अत्मा के मन से रूप का, प्राण से कर्म का, एव बाह्य से नाम का विकास होता है। नाम-रूप-कर्म इन तीन मानों को अक्षर कर वह त्रिकल आत्म्य—“तत् सद्मा तदेवानुमाविशत्” इस सिद्धांत के अनुसार उक्त तीनों भावों में प्रविष्ट हो जाता है। यही इसका सौमनिक स्वरूप है। आत्म्य के इस स्वरूप में मन-प्राण-बाह्य-रूप-कर्म-नाम यह ६ कलाएँ हैं। पदकल

यही सारूप्य 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध है। निरुपाधिक आत्मा आत्मा है, यह त्रिकल है। सोपाधिक वही आत्मा विश्व है, यह पदकल है। अपने पदकल सोपाधिक रूप में वह निरुपाधिक त्रिकल स्थात हो रहा है। सोपाधिक विश्व की दृष्टि कलाएँ उस ओर, ६ कलाएँ इस ओर, मध्य में त्रिकल आत्मा। उपर पदकल विश्व, इधर पदकल विश्व, मध्य में त्रिकल आत्मा। ६ ३-६ का यही मौलिक रहस्य है।

प्रकारान्तर से संख्याक्रम का समन्वय करिबिए। आत्मा से विशुद्ध अल्पयपुरुष का प्रहण करिबिए। वह विशुद्ध अल्पयपुरुष अपने प्रतिरिचक रूप से आनन्दविज्ञानलक्षण ज्ञानात्मा मनोसक्षय कामात्मा, प्राण-वाक् लक्षण कूर्मात्मा मेद से त्रिकल है। यही इसका निरुपाधिक रूप है। आगे जाकर इसमें सोपाधिक विश्वरूप ६ भाव और उत्पन्न हो जाते हैं। मन-प्राण-वाक् पहिला सोपाधिक रूप है, वाक्-घ्राण-अग्नि दूसरा सोपाधिक रूप है। इन ६ ओं में मन-प्राणवाक्मय सोपाधिकरूप विश्वात्मा है, वाक्-घ्राण-अग्निमय दूसरा सोपाधिकरूप विश्व है। विश्व उत्पत्ता शक्ति है विश्वरत्ना इस विश्वशक्ति का आत्मा है। विश्व-विश्वरत्ना एक वस्तु है। अतः इस पयस्यमूर्ति विश्व-विश्वरत्ना को हम अवरप ही विश्व शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय निरुपाधिक आत्मा असंग्रह से विरक्त में स्थात है। यह त्रिकल मध्य में है, दोनों ओर पदकल विश्व का आवरण है।

अपरा प्रयत्नान्तर से देखिए। मन-प्राण-वाक्मय विरक्तमा के भी मन-प्राण-वाक् नाम-रूप कम यह ६ रूप हैं। एक वाक्-घ्राण-अग्निमय विश्व के भी अपूर्ण-मय मेद से ६ ही रूप हैं। वाक्-घ्राण अग्नि को ही शुरू कहा जाता है। तीन ही अपूर्णशुद्ध हैं तीन ही मयशुद्ध हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय, दहरायाशय त्रिकल निरुपाधिक आत्मा के उस ओर सोपाधिक विरक्तपदकल है। उपर भी ६ हैं इधर भी ६ हैं, मध्य में अल्प त्रिकल निरुपाधिक आत्मा है। १६३ अनिच्छित माया-कलाएँ ६ परिमार्गों के सम्म १६३ की उपपत्ति मानी गई है, जिससे कि दिग्दर्शन प्रकलणारम्भ में ही बताया जासुका है।

सक सम्प्रा क्रम है आदेश करता है कि—

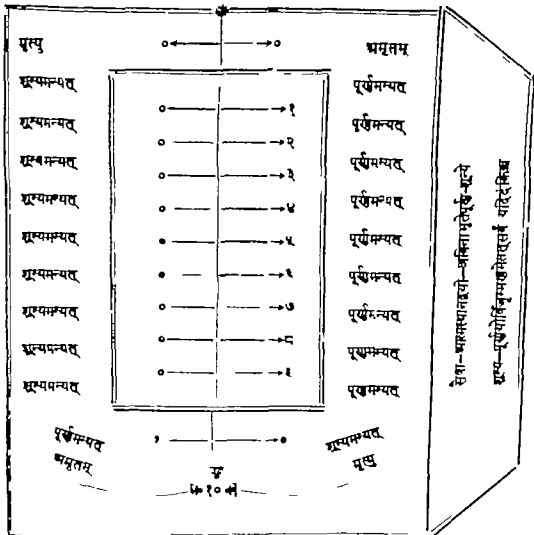
“आत्मज्ञानसञ्चय शश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए तुम्हें विश्व का परित्याग करने की आवश्यकता नहीं है। तुम विश्व में रहते हुए भी यन्त्रार्थ यथा आत्मनिष्काम बुद्धि से कर्मनिष्ठान में प्रवृत्त रहते हुए, मध्यस्थ आत्मा को अपना प्रधान सत्त्व बनाने हुए अपना जीवन धर्म बना सकते हो।”

सम्पूर्ण विज्ञान गीता का यही मौलिक रहस्य है। उसी रहस्य को परोक्षविधि से सूचित करने के लिए उन वैज्ञानिकों ने (मग्लान् स्पास ने) विज्ञानगीता के ६३६ श्लोक बनाते हुए, हमारे सामने ६- (विराट) ३- (आत्मा) ६- (विराट) यह काम किया है। विज्ञानगीता की ६३६ श्लोकमय्या क्यों रक्खी गई ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ



शून्यपूर्णा-पूर्णाभावपरिलेखः



स एव शून्य-पूर्णे-पूर्णे-शून्यसद्यस्यो विराट्प्रजापतिर्न-

भक्तसो योगमायावन्धितो विराधाधारो

विराधमूर्ति





# संख्यारहस्यपरीलेख

१ स्लेश	२ स्लेश	३ स्लेश	४ स्लेश
५ भग	६ भग	७ भग	८ भग
९ भक्त	१० भोह	११ भस्मिता	१२ भक्तिनिवेश
१३ वैद्य	१४ ज्ञानम्	१५ ऐश्वर्य	१६ धर्मः

विश्वम्

आत्मा

युद्धभूमि कलह मानात्मम्
इतिहास

शान्तिभूमि कलहनिवृत्तिः एकत्वम्
विज्ञानम्

६८

६३५

६+४=१०
न्यूनमापः

६+३+५=१४
पूर्णमापः

३००

गीता श्लोकसंख्यनिष्कर्ष



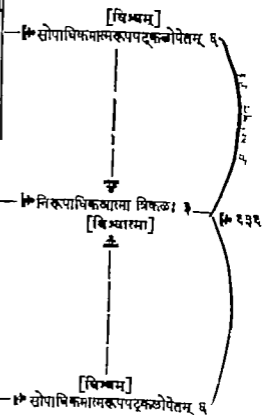


# १—प्रथमोपपत्तिपरिलेख

१—१—मन
२—२—रूपम्
३—१—प्राण
४—२—कर्म
५—१—वाक्
६—२—नाम

१—मनः
२—माय
३—वाक्

२—नाम
१—वाक्
२—कर्म
१—प्राण
२—रूपम्
१—मन



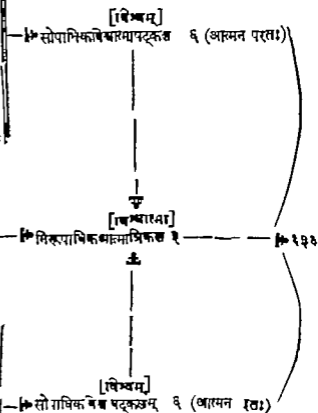


### ३—तृतीयोपपत्तिपरिलेख

१—१—मन
२—२—रूपम्
३—१—प्राण
४—२—कर्म
५—१—वाक्
६—२—नाम

१—आनन्दः
२—विज्ञानम्
३—मन

१—१—अमृतापाक्
२—२—अमृताभापः
३—३—अमृताऽग्नि
४—१—अमृतावाक्
५—२—अमृताभापः
६—३—अमृताऽग्नि





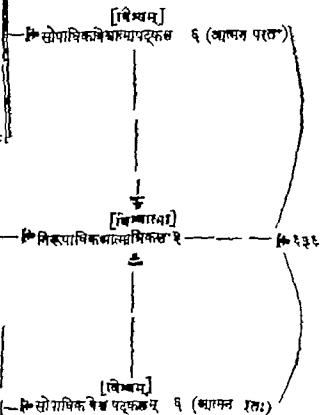


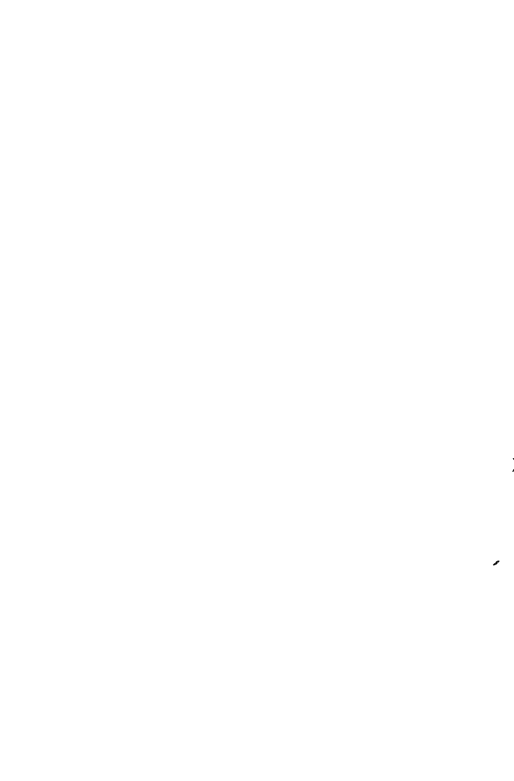
### ३-तृतीयोपपात्तिपरिलेख

१-१-मन
२-२-रूपम्
३-१-प्राण
४-५-कर्म
५-१-वाक्
६-२-नाम

१-मानन्दः
२-विज्ञानम्
३-मनः

१-१-अमृतावाक्
२-२-अमृताघ्रापः
३-३-अमृताऽग्निः
४-१-अयावाक्
५-२-मत्स्या घ्रापा
६-३-मायोऽग्नि





## ४-अन्तिमोपपत्तिपरिलेख

१-१-माया  
 २-२-कलाः  
 ३-३-गुणाः  
 ४-१-विकाराः  
 ५-२-भावरणानि  
 ६-३-प्रजनानि

पदपरिमिता विभक्त्याः विभक्त्यन्तः ६

१-सक्यय  
 २-सत्त्व  
 ३-सात्म्यः

निरूपणाधिकं भागमा विभक्तं ३

६३६

६-३-प्रजनानि  
 ५-२-भावरणानि  
 ४-१-विकाराः  
 ३-३-गुणाः  
 २-१-कलाः  
 १-१-माया

पदपरिमिता विभक्त्या विभक्तं ६



## २—उपनिषत्संख्यारहस्य

६३६ श्लोकार्थिक इस विज्ञान-विताके चातुर्विधोपक्रम, राजपिबिधा, सिद्धिविधा, गजविधा, आपविधा, चातुर्विधोपसंहार नाम के ६ प्रकरण हैं। इन ६ओं में क्रमशः १२ — ३ — ४ — ५ — ६ — ३ तकनी उपनिषदें हैं। सब मिला कर कुल २४ उपनिषदें हो जाती हैं। यदि श्लोकसंख्या में कुछ माटिक रहस्य है, तो यह उपनिषत्संख्या भी रहस्य से बन्वित नहीं है। आइए १ पहिले स्पष्टिकरूप से ही उपनिषत्संख्या का विचार करें।

### क—प्रथमप्रकरण

५ श्लोकार्थिक चातुर्विधोपक्रम प्रकरण में १ उपनिषत् (शोडशोपनिषत्) रक्षी गद है। गीताशास्त्र आत्मा एव विश्व दोनों का निरूपण करता है ऐसा कि पूर्व के श्लोक संख्याविज्ञान में बिलार से मनसाया जाचुका है। आपनेनिरूपण से यह शास्त्र ब्रह्मविद्याशास्त्र कहसाया है एव निरयनिरूपण से योगशास्त्र कहसाया है। आत्मा भी (बन्वय) अपने चारों भगों के कारण चतुष्पात् है, एव निरव भी अपने चारों बुद्धियों के कारण चतुष्पात् है। चतुष्पात् सोराधिर आत्मा एव चतुष्पात् निरव, दानों उस एक ही त्रिकल आत्मा के विश्व ह। 'रक वा इदं वि पमूर सवम' इस अकर्मिज्ञान के अनुसर बव एक ही मूख प्रस उक्त आठ श्लोकों में परिणत हुआ है। चारों विधाओं—(आत्मविधाओं), पर्य चारों योगों (निरवयोग) की मूलप्रतिष्ठा मूल उपक्रम एक ही ब्रह्म है एक ही निरुपाधिक आत्मा है। गीता की २४ उपनिषत् एक ही मूलमोपनिषत् का वितात है। यह एक ही आमोपनिषत् अता की २३ उपनिषदों का उपक्रम है। इसी रहस्य को स्थित करने के लिए चातुर्विधप्रकरण के उपक्रम स्थानीय प्रथम प्रकरण में, दूसरे शब्दों में विज्ञानगीता के उपक्रम में १ ही उपनिषत् रक्षी गद है।

## स्व-द्वितीयप्रकरण

चातुर्विधयोगकर्म प्रकरण के अनन्तर २१९ श्लोकप्रत्येक वैराग्यबुद्धियोगप्रत्येक राजर्षि विद्या प्रकार हमारे सामने आता है। इस में ८ उपनिषदें रखी गई हैं। गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य अस्मय श्रद्धा, एवं बुद्धियोग है। यद्यपि गीता में चार प्रकार के बुद्धियोग, एक चार प्रकार की आत्मविद्याओं का निरूपण हुआ है, परन्तु इन चारों में राजर्षिविद्या नाम की आत्मविद्या, एक वैराग्यबुद्धियोग नाम का बुद्धियोग ही प्रधान है। शेष तीनों आत्मविद्याओं एवं तीनों बुद्धियोगों का परमत् से सम्बन्ध है, एक राजर्षिविद्याप्रत्येक कात्म्य बुद्धियोग भगवान् का अपमान मत है, जैसा कि—“ये मे मतमिदं नित्यम्” —“इमं विषस्ते योग मात्कवान् इव च्ययम्” इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है। ज्ञान का साधननिष्ठ से सम्बन्ध है, यह परमिष्ठनिष्ठ है। ऐश्वर्य का मक्तिनिष्ठ से सम्बन्ध है, यह राजनिष्ठ है। धर्म का कर्मनिष्ठ से सम्बन्ध है, यह हिरण्यगमनिष्ठ है। यही लोकप्रसिद्ध ज्ञानयोग मक्तियोग कर्मयोग हैं। गीता से पहिले इन्हीं तीनों का साधारण था। भगवान् न इन तीनों से अनिच्छित एक अपूर्व बुद्धियोग का आविष्कार किया। यही बुद्धियोग वैराग्यबुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोकप्रसिद्धक भगवान् ने लोकप्रसिद्ध उक्त कर्माचारप्रत्येक ज्ञाननिष्ठ, सत्त्वमर्त्तनिष्ठ, एक कामनामयी कर्मनिष्ठ का भी विश्वास में समावेश किया, परन्तु सशोचन के साथ। ज्ञाननिष्ठ में कर्म का समावेश किया, मक्तिनिष्ठ में निश्चयमात्र का, एक कर्मनिष्ठ में फलसहितप्रत्येक का समावेश किया। यही सशोचित तीनों योग बुद्धियोग के समावेश से बुद्धियोगकर्म में परिणत होगे।

उक्त चारों बुद्धियोगों का, एक चारों आत्मविद्याओं का एकत्रय भेद राजर्षिविद्या, एवं अष्टम बुद्धियोग को ही है। इसी विद्या एवं योग के आठ विभाग हैं। ज्ञान में इसी की व्यापकता हुई है, जैसा कि पाठक विज्ञानमय में तत्पर रहेंगे में अनुभव करेंगे। एसी तरह में हम कह सकते हैं कि गीताप्रतिपादित चतुर्विध आत्मविद्या, एक चतुर्विध योग इन आठों की मूल प्रतिष्ठा वैराग्यबुद्धियोगप्रतिष्ठित राजर्षिविद्या ही है। यही कारण है कि राजर्षिविद्या ने जहाँ अष्टम-भगवत्सम्बन्धी आत्मविद्या एवं अष्टम बुद्धियोग का प्रधान रूप से निरूपण किया है, वहाँ

इसी प्रकार में शेष तीनों विधाओं, एव तनों योगों पर भी गौरवसे दृष्टि डाली है। राजपि विधा का धारण के द्वि अध्यायों में निरूपण हुआ है। इन ६ ओं अध्यायों में ही पाठक यत्र तत्र सांख्यमूलक ज्ञानबुद्धियोग, भक्तिमूलक ऐश्वर्य बुद्धियोग, एव कर्ममूलक ब्रह्मबुद्धियोग पर निरूपण देखेंगे, जैसा कि विम्ब लिखित बचनों से स्पष्ट है—

ज्ञानबुद्धियोग—१—एषा तेऽभिहिता सांख्ये । ( २।३६ ) । (सांख्यनिष्ठा) ।

ऐश्वर्यबुद्धियोग—२—अज्ञानं मनन्ते यो मान् ( ६।१७ ) । (भक्तिनिष्ठा) ।

धर्मबुद्धियोग—३—कर्मण्यैव हि संसिद्धिमाप्स्यता । ( १।२० ) । (कर्मनिष्ठा) ।

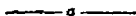
इस प्रकार वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्धक हमारी यह धर्मविनिष्ठा नाम की पहिली विधा चारों आत्मविधाओं एव चारों बुद्धियोगों से युक्त बनती हुई गायत्रिसम्पत्ति से ( १०८संख्या से ) युक्त हो रही है। राजपि विधा की इसी अथाह (अथाह—सम्पत्ति को सूचित करने के लिए) सूत्रों शब्दों में समविनिष्ठा ही इतर तीनों वैराग्यबुद्धियोगों का, एव वैराग्यबुद्धियोग ही इतर तीनों बुद्धियोगों का मूल है, यह सूचित करने के लिए इस में ८ उपनिषदों रखी गई हैं।

## ग-तृतीयप्रकरण

बुद्धियोगप्रवर्धिका सिद्धविधा ही तृतीयप्रकरण है। यह सांख्यनिष्ठा का ही संश्लेषित रूप है। सांख्यशास्त्र के मन्त्ररूप पुरुष एव प्रकृति हैं। प्राधानिक भोग प्रवृत्ति से निष्ठा की रचना मानते हैं, पुरुष को पुष्करताराशयत निरूपण करते हैं जैसा कि उनके—“प्रकृति कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करताराशयतः किन्तु चेतनः” इत्यादि सिद्धान्त से स्पष्ट है। तत्त्वसम्पत्ति ही प्रकृति का परिधान है। तत्त्वसम्पत्तिप्रवर्धक प्रकृति का स्वरूप परिचय ही पुरुषपरिधान का कारण

- “अथाहता वि तावधी” इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्रीमन्त्र के अठारह अक्षर हैं। जहाँ जहाँ अठारहवाँ अक्षर अथाहता का सम्प्रसारण रहगा धन्वापिधान के अनुसार इन अठारह अक्षरों का गायत्रिसंपत्ति से युक्त माना जायगा।

बनता है। हमारे अर्थों में तत्परसम्बन्ध (परिस्मयन) से ही प्रकृति-पुरुष का विवेक होता है। जबकि पुरुष परिज्ञान तत्परसम्बन्ध पर निर्भर है। अतएव "सस्यस्य सिद्ध ज्ञाने" इस निर्बन्धन के अनुसार हमें सस्य कड़ा जाता है। सस्य पुरुष सस्य (ज्ञान), जिनका ज्ञानमूर्ति है। प्रकृति उत्सव तत्व है। सृष्टि तत्व से विश्वभूत का विकास हुआ है। उस प्रकार इस सस्यस्यस्य ज्ञान के पुरुष-प्रकृति दो विषय हो जाते हैं। सस्यकी पर्याय शब्दात्मिका (मन्त्रसिद्धय) है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए साम्प्रतिष्टामक सिद्धिवाचककरण में २ उपनिषद् संख्या में हैं।



### घ—चतुर्थप्रकरण

इसमें मुद्रियोगप्रतिष्ठा नामिका ६१ अंश प्रकरण १५ है। यह मूर्तिनिष्ठा का ही सरोचित रूप है। मूर्तिनिष्ठा मूर्ति विषय ही होता है। मूर्ति का ही दूसरा नाम उपासना है। इस उपासना में उपास्य-उपासक-उपासनासाधन यह तीन विभाग जिस रूप में हैं। जिन विषय के मूर्ति रूप ही नहीं होती। उपास्य ईश्वर है, उपासक जीव है।

योग्यास ईश्वरप्रतिष्ठा, पराशक्ति आदि उपासना के साधन हैं। इन साधनों में उपासक उपास्य का भाग (मूर्ति अथ-अस्य) बनता हुआ ईश्वर के रूप से युक्त होता हुआ मूर्तिनिष्ठा प्राप्त करे सता है। उपास्य ईश्वर अविद्वित है, उपासनासाधन अभिमूर्त है, एक रूप उपास्य अस्पृश्य है। अभिमूर्त शरीर अस्पृश्य का अविद्वित के साथ सम्बन्ध का देना ही उपासना, जिसे मूर्ति है। उपास्य की उपासना तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि वह अपने कविक-बौद्धिक-दानसमाधियों का धारणा-प्यान-समाधि शरीर उस प्रकार ईश्वर के साथ सम्बन्ध करे। कविक-बौद्धिक-दानसिद्धि तीनों मात्र प्रीत्युत्सव से सम्बन्ध रखते हैं। इस दृष्टि से उपास्य भी विकृत है। धारणा-प्यान-समाधि तीनों उपासना के साधन हैं। इस दृष्टि से साधन भी विकृत हैं। ऐसे उपास्य ईश्वर भी विकृत ही है, जैसा कि नामरहस्यसंग्रह मग-



ब्रह्मचर्यस्य मे निस्तार से बतलाया जानुका है । इस प्रकार हमारा यह उपासना कायड उपास्य-उपासक-उपासनासाधन तीनों ही दृष्टियों से विकल नग जाता है । भूक्ति राजनिषा इसी भक्तिनिष्ठ का स्वरूप हमारे सामने रखती है, पच इस की उपनिषद ( मुखमिति ) हीन हैं, अतएव इसमें तीन उपनिषदें रखी गई हैं ।

— 10 —

### ७ — पञ्चमप्रकरण

धर्मनुष्ठियोगप्रवर्तिता धार्यनिषा ही पञ्चमप्रकरणार्थ है । यह कर्मनिष्ठा का ही सशो-  
धित रूप है । विश्व में जितने भी नर-वेतन पदार्थ हैं, सबके कर्म नियत हैं । इन नियत प्राकृतिक  
कर्मा को ही विज्ञानधारा में “धम्म” शब्द से सम्बोधित किया गया है । कर्म ही उस पदार्थ  
का धर्म है, कर्म ही उस पदार्थ को सक्षरूप में धारण किए रहता है । जब मनुष्य कर्म  
(चंद्र) शून्य होजाता है तो मनुष्य का स्वरूप उत्कृन्त हो जाता है । कर्म ने ही पदार्थों को धा-  
रण कर रखा है, अतएव वैज्ञानिकोंमें धम्म का-“धारणाद्धर्ममिवाहुः” यह वाक्य किया है ।

अतएव विज्ञानग्रथन भारतीयमार्गप्रज्ञा में भी धार्मी का धरम (कर्म) ही बसका  
धरम (धम्म) है । “धरम-धरम किया या नही” इत्यादि किंवदन्तिए प्रचलित हैं । कर्म ही  
धम्म है, एवं धम्म ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि-“धम्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा”  
इत्यादि बचन से स्पष्ट है ।

सम्यक् विश्व कर्मप्रधान बनता हुआ धर्मप्रधान है-“कम्मप्रधान विरव करि राखा”  
(गुहसी) । सृष्टि-संज्ञान के अनुसार भी आत्मा जहाँ ओष्ठिसंज्ञा बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, वहाँ  
विरव कीम्यसंज्ञा बनता हुआ कर्मप्रधान है । कर्म ही विरव का उपादान कारण है । उपा-  
दान कारण अपने काय से अभिन्न है, इस दृष्टि से कर्म ही विरव है । कर्म भूक्ति धर्म है  
अतएव धर्म ही विरव है । धर्ममूर्ति, किंवा कम्ममूर्ति विरव ही उस सत्त्वमूर्ति, किंवा ज्ञानमूर्ति  
विद्याया का वैभव है, निभृति है, महिमा है, यश है । सत्य ईश्वर की यह धर्ममयी-ओक्तनिभृति

मू-मुष-स्व-पद्-मना-तपा-सत्यम्-भेद से सप्त विनाशों में विभक्त है। यह सप्त-श्लोक ही सप्त विद्युत हैं। इन्हीं सप्त विद्युतियों के सम्बन्ध से उस सत्य सर्वमूढागत्यस्य इकर को "सप्तविद्युतस्तिकाय" कहा गया है। भस्मरूप विरस के यही सप्त पर्व हैं। इन सप्त प्यष्टियों के व्यापार पर ही समष्टिधम्म प्रतिष्ठित है। समष्टिधम्म की यही सप्तश्लोक सप्त उपनिषदों (मूलप्रतिष्ठार) हैं। धर्मविद्या में इसी भस्मरूपस्य कम्म का निरूपण है। चूँकि धम्म की उपनिषदें ७ हैं, अतएव तत्प्रतिपादिका इस धर्म विद्या में सप्त ही उपनिषदें लक्षी गई हैं।



### च - पष्ठप्रकरण

सर्वात्म के १४ श्लोकान्तक आतुर्विद्योपसंहार नाम का ६ या प्रकरण हमारे सामने आता है। मूलग्रन्थ ही दलरूप में परिणत होता है, यह प्रकरणारम्भ में कहा जा चुका है। मूल आत्मा ही एक बनकर "सर्वम्" बन गया है। मूढावस्था में यही आत्मग्रन्थ एक है, तत्तावस्था में यही आत्मग्रन्थ तीन है। आत्मा एक होकर तीन बनता है-सृष्टिदशा में। आत्मा तीन होकर एक बनता है-सृष्टिदशा में, जैसा कि-"प्रास्ताव एकः सन्नेत-त्रयम्"-त्रयं सदेकमयमात्मा" इत्यादि बृहदारण्यक मुक्ति से स्पष्ट है। मूल आत्मा के सोपाधिक के ही तीनों निकट क्रमशः आत्मा-पद-पुन-पद-इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक वातु में आप इन तीनों का साक्षात्कार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए अथात्मसत्त्वा को ही लीजिए। हृदय में आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीर पद है, इसी में हृत्पत्त उक्तप्रकार अथवा अर्कप्रकार से प्रपन्न है। आत्मप्रपत्ति के कारण ही शरीर को पद कहा जाता है। इस स्पृहशरीर को केन्द्र बनाते हुए यही दूर तक पारों ओर एक प्राणमयडल और रहता है। इसी प्राणमयडल को महिमात्मवडल कहा जाता है। हृत्पत्त आत्मा पश्चिम शरीर में आकर, पुन महिमात्मरूप से इस प्राणमयडल में प्रपन्न होता है अतएव इसे पुन-पद कहा गया है। इन तीन विधियाँ वर मूल करण आत्मा की तीन कक्षाएँ हैं। स्वयं मन-प्रधान आत्मा हृदय में प्रति-

ष्टिन रहना हुआ आत्मा कहलाता है। प्राणप्रधान आत्मा पद कहलाता है, एव वाक्प्रधान यही आत्मा पुन पद कहलाता है। यही आत्मा के तीन स्वरूप हैं।

पृष्ठविद्या के अनुसार आत्मा हृत्पृष्ठ है, पद अन्त पृष्ठ है, एव पुन पद यहि पृष्ठ है। वदविद्या के अनुसार आत्मा ब्रह्ममय है, पद यजुर्मय है, पुन पद शिवमय है। अक्षर-विद्या के अनुसार आत्मा ब्रह्ममय है, पद विष्णुमय है पुन पद शिवमय है। प्रणवविद्या के अनुसार आत्मा अकार है, पद उकार है, पुन पद मकार है। इन तीनों सोपाधिक, अत-एव मृत्युन्त आत्मविशेषों से अतिरिक्त स्त्रीया (तुरीय) निरुपाधिक विशुद्ध एक आत्मा अक्षरमात्र, किंवा अमत्रा है।

प्रकृत में इस आत्मविभूति से हमें बतलाना यही है कि ज्ञानदशा में आत्मा के तीनों विवर्त एक बन जाते हैं, यही मुक्तिदशा है। एव विज्ञानदशा में यह एक ही तीनरूप धारण कर लेता है, यही सृष्टिदशा है। विशुद्ध विज्ञान विरकम्बन का कारण है, किशुद्ध ज्ञान विरक-सम्पत्ति का शत्रु है। अतएव दोनों ही पक्ष अरुख हैं। होना यह चाहिए कि सांसारिक वैभव से भी हम बधित न रहें साथ ही में सम्भन में भी न पड़ें। यह तभी सम्भव है, जब कि हम ज्ञान को मूल में रखते हुए विज्ञानमय विषय में प्रवृत्त हों। इस एकरव अक्षर ज्ञानयुक्त त्रिभुज अक्षर विज्ञान को उपासना से न सत्तर का वैभव हमसे दूर रहता, न आत्मसम्पत्ति से हम बधित रहते। भगवान्ने अपने विज्ञानगीताय स्त्र श्लो "ज्ञान तेऽहं सविज्ञानविद् ब्रह्माम्य गेपत्" कहते हुए इस सम्बन्ध में हमारे हृदि सचमुच एक अपूर्व मान रखा है। अपनी वि-ज्ञानगीता के उपक्रम उपसंहार से भगवान्ने यही सिद्ध किया है।

उपक्रम में १ उपनिषत् है। इससे भगवान् यह आदेश कर रहे हैं कि तुम भिन्न कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हो, उसके मूल में ज्ञानसङ्घर्ष एकदम को प्रतिष्ठित करो। उपसंहार प्रकरण में १ उपनिषत् है। इससे भगवान् यह सूचित कर रहे हैं कि उस एक ज्ञान पर ही विश्वास मत फरो। अपितु त्रिकूट विज्ञानभाव पर उस एक का पक्वज्ञान करो। एक को मूल मान कर तीन की आराधना करो। ज्ञान को आधार बनाकर विज्ञान का अनुगमन करो। यही अक्षरमात्र है। उपसंहार प्रकरण में १ उपनिषत् क्यों रक्की गई! इस प्रश्न का यही सविस्त उत्तर है।

### क - समष्टिरहस्य

सभूय ठळ ए प्रकारकों की २४ उपनिषदे हो जाती हैं । २४ उक्त्या से आम्ह एष विषय (ज्ञान-विज्ञान) दोनों परिगृहीत हैं । सुष्टिदिज्ञान क अनुसार गायत्री का ही विषय की मुख्यरीता माना गया है । अथवा इसका यही है कि वाक्त्तव्य की उतनियत् अग्नि है । अग्नि गायत्रीमन्त्र में सुष्ठित है । अथ यं सोम्यइति ज्ञान से ही विषय का निम्नस्य इत्यर्थ है—“ वादीवावात्मक ज्ञानम् ” । वाक्त्तवी, विषय अग्निमी गायत्री के २४ अक्षरों हैं । इसी रहस्य को सुष्ठित करने के लिए गायत्रीमन्त्रप्रतिपादक गायत्रीमन्त्र में २४ अक्षर रक्क गए हैं । इस चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री से अग्निमीप्यान गायत्री ही यह एक जुद्ध फल है, अथवा उतनियत्सुष्टि कहती है—  
 “मायत्री वा इत् सर्वं भूत, यदिद् क्विच । वार्धं गायत्री । वाग्ना इत् सर्वं भूतम् । गायति च, वायेत च” (छां० उप ३।१।११) ।

अग्निमी गायत्री है । अग्नि सदा सोम्यामित रहता है । क्योंकि अग्नि अग्नि अथ यं अग्निमीप्यान को प्रतिष्ठित विषय किना प्य चण भा म्—संस्कार से प्रतिष्ठित नहीं । ए उक्त्या अतएव गायत्रीमन्त्र को हम सोम्यामित अग्नि कहने के लिए तर्क्य हैं । प्रकृत गायत्री मन्त्रदा यं अग्नि सोम दोनों का संयोजन सिद्ध हो जाता है । इन दोनों तर्कों में ही अग्नि सूर्य अथ यं विषयस्य इत्यर्थ है । सूर्य अग्निप्रधान है, अथवा सोमप्रधान है । सूर्य ही बुद्धि बनता है अथवा हा मन बनता है । बुद्धि ज्ञानप्रधान है, मन क मनप्रधान है । अतएव मनोमय प्रश्नानाम् को कता कहा जाता है, एष विज्ञाना वा वास्तविका नम से प्रसिद्ध है । ज्ञान ही अग्निप्रकृति का मन्त्र है । ज्ञान आत्मा है कर्म विषय है । अग्नि अग्निप्रधान है, विषय सोमप्रधान है । दोनों को समष्टि ‘सभूय’ है यही चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री है । विज्ञानगीतन इन्हीं दोनों का निरूपण करत हुए अग्नी उक्त्याउता सिद्ध की है । इसी संवत्स, विषय पूरुभाष को सुष्ठित करने के लिए विज्ञानगीतन में समष्टिक्रम से २४ उपनिषदें रक्के गई हैं ।

उक्त संस्काराभिज्ञान यही समस्त नहीं हो जाता । उपनिषदों के उपरान्त, उपरान्तों के अन्तर अन्तर अन्तर, प्रकारणों के श्लोक, श्लोकों के भाष्य, भाष्यों के पद, पदों के अर्थ, पदार्थों के अर्थ अर्थों की संस्था में कुछ न कुछ शैथिल्य रहस्य रक्का गया है । अतएव ज्ञान में अन्ततः इस सम्पन्न में हम हमारी ओर से तो थोड़ा बहुत प्रकाश रखेंगे ही, परन्तु गायत्री को अथ भी इस संवत्स में अग्नि बुद्धियोग से अथ सेना चाहिए ।





## ❀ श्री ❀



तायात्क स्तोत्रशक्ति के लिए प्रवृत्त हुआ है। यह आत्मा को चारों ओरों से घेरकर उसे शाश्वत आनन्द में प्रसिद्धित कर देता है। बात सुनने में प्रिय होती हुई भी भाषण से नहीं बच सकती। भारतीय विद्वानों ने हमारे सामने आत्मा का जैसा स्वरूप बख्शा है, उसके आधार पर तो आक्षेप और भी इडमूख बन जाता है। निम्ना नन्दप्रनवृत्ति आत्मा हुआ कैसे पाता है 'सचमुच बह एक अद्वेष समत्वा है। आत्मा स्वस्वरूप से व्यापक है, निर्धर्मक है, रसैकवन है। फिर इसका साथ दुःख

क्या सम्बन्ध कैसा ? उच्च बहुत ही सरल है। "वेदशास्त्रमिदं सर्वम्" यह श्रुति ही उक्त अद्वेष समत्वा को दूर करने के लिए प्रवृत्त है। आत्म के प्रातिष्ठिक स्वरूप का विरुद्धतां बराती हुई श्रुति—“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—नेह नानास्ति किञ्चन” यह सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। आत्मा सनातीय, विनातीय रक्षण में रह्य होता हुआ सर्वथा एकरस है। यह सर्वथा निर्लेप है। उसका विश्वसृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न यह मोक्षा है, न कर्षण है। इस व्यापक आत्मप्रकाश में हृदय नहीं, हृदयमात्र से मन नहीं, मन के अभाव से कामना नहीं, कामना के अभाव से उससे विश्व की प्रवृत्ति समव नहीं—एक सिद्धान्त।

अब बही उपनिषद् उक्त सिद्धान्त से ऐकात्मिक विरोध करने वाले 'वेदशास्त्रमिदं त्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (यह सम्पूर्ण विश्व अहममय है—ब्रह्म ही यह सब कुछ बना है), सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। साथ ही में बही वेदशास्त्र आत्मा का—'यस्य यदुबन्धं ब्रह्मसत्त्वं, साम स्यात् स तत्त्वात्मा' यह बखण्य करता हुआ आत्मा को उक्त (प्रमथ), ब्रह्म (प्रतिष्ठास्थान), साम (परापणस्थान) रूप बतलते हुए आत्मा को ही मानाभाव किन्वा मानाभावरूप विरव का सचासक बतला रहा है।

इसीप्रकार यदि श्री भी गहरा विचार किया जाता है तो अहमस्वरूप प्रतिपादक अर्थों में ही अनेक आदिष्ट उपलब्ध होने की बाण्ड हो जाती है। सचमुच बाण्डरुधि से दूर करने पर ऐसे विरोध हमारे सामने आते हैं, परन्तु अब हम विद्वान का भाषण लेते

1  
2  
3  
4  
5  
6  
7  
8  
9  
10  
11  
12  
13  
14  
15  
16  
17  
18  
19  
20  
21  
22  
23  
24  
25  
26  
27  
28  
29  
30  
31  
32  
33  
34  
35  
36  
37  
38  
39  
40  
41  
42  
43  
44  
45  
46  
47  
48  
49  
50  
51  
52  
53  
54  
55  
56  
57  
58  
59  
60  
61  
62  
63  
64  
65  
66  
67  
68  
69  
70  
71  
72  
73  
74  
75  
76  
77  
78  
79  
80  
81  
82  
83  
84  
85  
86  
87  
88  
89  
90  
91  
92  
93  
94  
95  
96  
97  
98  
99  
100



११- गीता प्रतिपादित विद्या एवं योगविभूति





ताशास्त्र क्लेशनिवृत्ति के लिए प्रवृत्त हुआ है। वह आत्मा को चारों क्लेशों से प्रयत्न कर उठे शाश्वत आनन्द में प्रतिष्ठित कर देता है। बात सुनने में प्रिय होती हुई भी आश्रय से नहीं बच सकती। भारतीय विद्वानों ने हमारे सामने आत्मा का जैसा स्वरूप रक्खा है, उसके आधार पर तो आश्रय और भी हठमूढ़ बन जाया है। निष्ठा नन्दधनमूर्ति आत्मा हुआ कैसे पाता है? सधमुच यह एक जटिल समस्या है। आत्मा स्वरूप से व्यापक है, निर्धर्मिक है, रसिकधन है। फिर इसके साथ हुआ का सम्बन्ध कैसा? उधर बहुत ही सरल है। “वेतदात्ममिदं सर्वम्” यह छोटी सी श्रुति ही उक्त जटिल समस्या को दूर करने के लिए पम्पास है। आत्मा के प्राथमिक सत्ता का विद्य-यन करती हुई श्रुति—“एकैपदाद्वितीयं ब्रह्म—नेह नानास्ति किञ्चन” यह सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। आत्मा सनातीय, विनातीय स्वयम मेद रूप होता हुआ सर्वथा एकरस है। यह सर्वथा निर्लेप है। उस का विषयसृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न यह मोक्षा है, न कर्मा है। उस व्यापक आत्मब्रह्म में द्वय नहीं, द्वयाम्ब से मन नहीं, मन के अभाव से क्त्वा मही, कामना के अभाव से वससे विद्य की प्रवृत्ति समझ नहीं—एक सिद्धान्त।

अब बही उपनिषद् उक्त सिद्धान्त से ऐकान्तिक विरोध रखने वाले ‘वेतदात्ममिदं सर्वम्’ ‘ब्रह्मैवेदं सर्वम्’ (यह सम्पूर्ण विरम आत्मक है—ब्रह्म ही यह सब कुछ बना है), ऐसे सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। साथ ही में बही वेदशास्त्र आत्मा का—“यस्य यदुच्यते सत्, ब्रह्मसत्, साम स्यात् स तत्पात्या” यह सङ्घट्ट करता हुआ आत्मा को उच्य (प्रमत्-त्पान), ब्रह्म (प्रतिष्ठात्पान), साम (पठपठत्पान) रूप बतलाते हुए आत्मा को ही नानाभाव मूढक, किन्वा नानामाकरूप विरम का सचाचक बतला रहा है।

इसीप्रकार यदि भी भी गहरा विचार किया जाता है तो आत्मलक्ष्य प्रतिपादक अथ उपनिषदों में ही अनेक अन्तिए उपलब्ध होने की आशङ्का हो जाती है। सधमुच साधकसि से निष्पत्त करने पर ऐसे विरोध हमारे सामने आते हैं, परन्तु जब हम निश्चय का आश्रय लेते

इए अन्तर्दृष्टि से विचार में प्रवृत्त होते हैं तो सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं, विरोध स्वनिर्गम में निजी हो जाता है। इस विरोध पर परिहार अज्ञानात्मक के स्वरूप निरूपण शाश्वतता गीत-शास्त्र में हुआ है भेदात्म्य शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता।

यदि आत्मा विशुद्ध रसमूर्ति (विशुद्ध सममूर्ति) ही होती, तब तो विरोध का अवसर असम्भवा था। परन्तु गीताने आत्मा को उन्मत्तमान मानकर सारे सशय द्विष मित्र कर बाधे हैं। आत्मा के वे ही दोनों पर रस-बस, आयु-प्रभ, ज्योति-वीर्य, धर्म-मृत्यु, ज्ञान-कर्म, ब्रह्म-माया, पुरुष-मकृति, सत्व-प्रसव, इत्यादि रूप से मित्र मित्र स्वयं में मित्र मित्र नामों से सम्बोधित हुए हैं। नाति तो हैं, परन्तु सत्ता एक है। एसी द्विषि में सत्यमेवमुक्त हैतवात् को प्रविष्ट होना का अवसर नहीं मिलता। साथ ही में रस सर्वथा निरिच्छ है, तो वह निव्य कुर्वदका है नानामात्रपत्र है। इस बन्ध की अपेक्षा से "ब्रह्मैवे-द सर्वम्" कहने में कोई विरोध नहीं आता। रसद्वय आत्मा सर्वथा निरिच्छ है, बन्धद्वय नहीं आत्मा विरमूर्ति है। कुर्वदका कर्मों के अविच्छिन्ना मायाबन्ध की दृष्टि से बन्धप्रभियों में तात्काल्य उत्पन्न हो जाता है। इन बन्ध-सम्बन्धों के तात्काल्य से ही नानामात्रका मित्र उत्पन्न हुआ है। रस प्रत्येक दशा में निरिच्छ है, बन्ध भ्रामयान्निव्य बन्धकर सत्तय है। रस पूर्ण है वह शय है। शून्यत्व पूर्णरस के अनुग्रह से पूर्णत्व प्रतीय हो रहा है, पूर्णरस शून्यत्व के वेदन से तिरोहितप्रणय बन रहा है। रस बन्ध के इस विधेक पर समझ लेना ही तो आत्मज्ञान है, यही तो मोहनाश का मुख्य कर्मक है, तद्व्यकरणप्रतिपादन ही तो गीताशास्त्र का मुख्य विषय है।

अज्ञानविषय को मुझ में रहते हुए गीताशास्त्र न आत्म के जन्मत्रय में तीम संस्कारों को प्रयत्नता दी है। उदाहरण के लिए एक शक्ति व्यक्त सम्मुख (बन्धा से सुसम्मित) खड़ा है। आप इस एक ही व्यक्ति पर तीन तरह से दृष्टि टाक सकते हैं। देवदत्त हमारे सामने खड़ा है यह पहिली दृष्टि है। इस दृष्टि में बन्ध एक शक्ति का पार्यन्त नहीं है अपितु हम सबकुछ शरीर को देवदत्त समझ रहे हैं। बन्धों से युक्त देवदत्त खड़ा है यह दूसरी दृष्टि है। इस

दृष्टि में बस और शरीर का पार्ष्ण्य हम अनी बुद्धि में अवश्य समझ रहे हैं, परन्तु वस्तु को सर्वथा पृथक् नहीं कर रहे हैं। वस्तु से सर्वथा रहित केवल शरीर ही देवदृष्ट है, यह तीसरी दृष्टि है।

यही क्रम आत्मविद्यत क सम्बन्ध में समझिए। शरीर एवं आत्मा का पार्ष्ण्य न कर विशिष्ट को महत्तम समझना पहिली ग्राह है। शरीर को साप रक्षते हुए आत्मा को आत्मा समझना दूसरी दृष्टि है। एवं शरीर को सर्वथा छोड़ते हुए विशुद्ध आत्मा को आत्मा समझना तीसरी दृष्टि है। यही तीनों अल्पमत्स्वाए कथं शुक्रात्मसंस्था, ब्रह्मात्मसंस्था, ब्रह्मतात्मसंस्था नामों से व्यक्त हुए हैं। शुक्रसंस्था ब्रह्ममिषान है यही ब्रह्मप्रज्ञ है। ब्रह्मसंस्था वीर्यं मिषान है, यही वीर्यप्रज्ञ है। अमृतसंस्था ज्योतिर्मिषान है, यही ज्योतिर्मिषान है। यही ब्रह्म्य मापावस को क्रम से अमृत है, यही ब्रह्म है, यही शुक्र है। रसापेक्षया तीनों ब्रह्मिषान हैं, यथा पेक्षया तीनों मिषान हैं। नेत्रसद्विष्यु ब्रह्मेद का यही तो भौतिक रहस्य है। इन तीनों की समष्टि ही ब्रह्मत्व आत्मा है। इसी अभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कृत कहते हैं—

“ऊर्ध्वमूर्धोऽवाकृगाम् एषोऽश्वत्यः सनातन ।

तदेव शुक्र तव ब्रह्म तदेवापृतमुष्णव ।

तस्मिन् भाक्का भ्रिना सर्वं तद्गु नास्पति कथन ।

एतद्दे तव” (कठोपनिषत् १.१)।

१—बहिरङ्गदृष्टि शरीरम्—उत्तमा दृष्टि — ॥ ब्रह्मतात्मसंस्था ।

२—बह्योपाधिक शरीरम्—मध्यमा दृष्टि — ॥ ब्रह्मात्मसंस्था ।

३—सबन्ध शरीरम्—मथमा दृष्टिः— ॥ शुक्रात्मसंस्था ।

१—शरीरबिरहित—आत्मा (ब्रह्मप्रज्ञ)—ज्योतिर्मिषान/पुषास ।

२—शरीरोपाधिकः—आत्मा (ब्रह्म)—वीर्य ब्रह्मोष्णुषास ।

३—अशरीरः—आत्मा (शुक्रम्)—ब्रह्म ब्रह्मोष्णुषास ।

}—अश्वत्यः

इसी तीनों अस्मत्सत्त्वों को धृष्ट में रखकर सर्वथा विकृत प्रतीत होने परसे उ-  
 किन्तु अस्तित्वमा सर्वथा अविकृत निम्न स्थिति बचन हमारे सामने आते हैं-

- |  |              |                      |
|--|--------------|----------------------|
| १-“असन्नो ह्यमात्मा, न सज्जत, न न्यपते, न रिप्यति”   | } आत्मतत्त्व | } परमात्मसिद्धि सहाय |
| २-स वा अथ पुरुषो नायमानः शरीरमभिसपद्यमान पाप्यभिः<br>सक्षय्यते । स उत्कामन्न द्विपमाद्य पाप्यनो विमहाति” |              |                      |
| ३-आ मा नं तनुः   | } गुण्य      |                      |

प्रकरणम्बर से विचार कीजिए । सर्वसङ्गर्भित विद्युत्तरस म्यापक आत्मा है । वही माया  
 परिग्रह से युक्त होकर नामि (इन्द्र) प्रधि (परिधि) इन दो धर्मा से युक्त होता हुआ अशान्ता  
 (अप्रमत्ता) से युक्त होकर सृष्टिप्रवृत्ति का कारण बनता है । मायावृत्तिभूत इस पुरुष में जबतक  
 अस्तमित्यो का उदय नहीं होता, तब तक तो यह अपने ज्योतिरसदृश रस की अपेक्षा से विद्युत्  
 मानन्दमूर्ति है । बसों की अस्तित्वसिद्धि से आनन्द ही विज्ञान रूप में परिणत हो जात्य है ।  
 विज्ञान ही आगे जाकर मनोरूप धारण कर लेता है । रस एवम्बु की प्रधानता अप्रधानता से इन  
 तीनों के दो ते विभक्त हो जाते हैं । रसप्रधान आनन्द निकृपाधिक अज्ञान की विकृतसभूमि  
 है, यही शान्ति है, यही विपश्यन् आत्मानन्द किंथ शान्तानन्द है । रसप्रधान आनन्द  
 सोपाधिक (वैपायिक) आत्मा की प्रतिष्ठा है यही समृद्धि है, यही सविपश्यन् विज्ञानन्द किंथ  
 समृद्धानन्द है । शान्ति में निष्कृता है समृद्धि में लोभ है । शान्ति विज्ञानन्द है, समृद्धि  
 क्षणिकानन्द है । इस प्रकार आनन्दरूपा के दो विभक्त हो जाते हैं ।

इसा है विज्ञानात्मा । यही प्रकृतिसंस्था में प्रतिष्ठित चक्षुष्पी बुद्धि से संश्लिष्ट होकर  
 बुद्धि नाम से भी व्यक्त होने लगता है जैसा कि आगे के प्रकरण में विस्तार से बतलाया  
 जाने बाधा है । बुद्धियुक्त (चित्ता बुद्धिरूप ही) यह विज्ञानरूपा भग-मोह नाम की दो विभूतियों  
 में युक्त हो जात्य है । भा उग्रज्योति है यह रसप्रधान है । मोह मत्तिनज्योति है, यह

बलप्रधान है। रसप्रधान अतएव उपप्रभोक्तिर्मय विज्ञान नित्य विज्ञान है, अत्यविज्ञान है। इस के उदय से आरम्भ में स्वरूपलक्षणभूत मुक्तदेहुभूत नित्य शान्तानन्द का उदय होता है। बल-प्रधान, अतएव मल्लिनज्योतिर्मय वही विज्ञान क्षणिक विज्ञान है, निश्चयविज्ञान है। इस की उपासना से आत्मा में स्वस्वधर्मविघातलक्षण कन्धनहेतुभूत क्षणिक समुद्दानन्द का उदय होता है। स प्रकार आत्मविज्ञान भी रस बल के तारतम्य से दो मार्गों में विभक्त हो जाता है।

तीसरा आत्मवैषम्य मनोमय है। जिसप्रकार विज्ञान का यादृक्प्रकृतिक बुद्धि क साध सम्बन्ध रहता है, एवमेव इस आत्ममन का अन्तःप्रकृतिक प्रज्ञान (सर्वेन्द्रियमन) के साध घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी आधार पर हम इस आत्ममन को प्रज्ञान शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं। इस आत्ममन के, किंवा तदवच्छिन्न प्रज्ञान मन के अन्त इति रूप से दो भेद हो जाते हैं। रस प्रधान वही मन अन्तमन है। यह आत्म के रसप्रधान नित्य न, एवं रसप्रधान भग्नलक्षण नित्यविज्ञान का उपकारक है। यहप्रधान वही मन बहिर्मन है। इससे आत्म के बलप्रधान क्षणिकजन्य, एवं मोहलक्षण क्षणिक विज्ञान का उदय होता है।

नित्यरूप वही हुआ कि रस पर बल की चिन्ति होने से एक ही रसमन आत्मा के आनन्द विज्ञान-मन यह तीन विभक्त हो जाते हैं। यद्यपि इन तीनों में अन्तःरसप्रधान है, विज्ञान रस-बल की साभ्यावस्था है, मन बलप्रधान है। इसमें भी शान्ता - रसप्रधान है, समुद्दानन्द बलप्रधान है। नित्यविज्ञान रसप्रधान है क्षणिकविज्ञान बलप्रधान है। अन्तर्मन रसप्रधान है, बहिर्मन बलप्रधान है। तथापि आगे के आत्मवैषम्य की अपेक्षा अति आत्म-द-विज्ञान मन में रस की ही प्रधानता रहती है, अतः हम इन तीनों की समष्टि को आत्मा किंवा ज्ञानात्मा ही कहेंगे। अन्तर्मन का रस ज्ञानरमा में ही अन्तर्भाव है। एवं बहिर्मन आगे के आत्मविषय में अन्तर्भूत माना जाता है।

बहिर्मन ज्ञानरमा की अपेक्षा बलप्रधान है। इसी मन से क्रम (सृष्टियम) का उदय होता है। वही मन रूपों का प्रवक्तक है। इस पर बल की चिन्ति और होती है। इस चिन्ति से मन प्राण रूप में परिणत हो जाता है। तप एवं क्रम की आधारभूमि वही मन है। और

बस की चिन्ति होती है। यही प्राण इस बसस्थिति से वाक् रूप में परिणत हो जाता है। भ्रम एवं नाम की प्रतीक्षा यही वाक्स्वरूप है। इस प्रकार रस बस के तारतम्य से यह बहिर्जन मन-प्राण-वाक् रूप में परिणत हो जाता है। इन तीनों में मन रसप्रधान है प्राण रसबस की साम्यावस्था है, वाक् बसप्रधाना है। मन में ज्ञानज्योति का उदय है, अतएव हम इसे ज्योति कह सकते हैं। प्राण में क्रियाभार का उदय है, अतएव हम इसे भीर्ष्व कह सकते हैं। एव वाक् में व्यपभाव का उदय है, अतएव हम इसे ब्रह्म कह सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि मन प्राण वाक्स्वरूप यह दूसरा आत्मविकर्त पद्विष्टे के आनन्दविज्ञानमनोमय ज्ञानात्म्य की अपेक्षा से बसप्रधान है, इन तीनों में भी रस-बस के तारतम्य से मन रसप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है, प्राण रसबस की समता से क्रियामूर्ति है, वाक् बस की प्रधानता से व्यपमयी है, तथापि जगत् के आत्मविकर्त की अपेक्षा से हम इस मर्यादित आत्मविकर्त को उस ओर के रजानुग्रह से, इस ओर के ब्रह्मानुग्रह से साम्यरूप का मात्मा ही कहेंगे। यही परमात्म्य सृष्टिसाक्षी आत्म्य कहलाता है। पहिला ज्ञानत्मा मुक्तिसाक्षी आत्म्य है।

सृष्टिसाक्षी आत्म्य के वाक्भाग के दो रूप हैं। विशुद्धरूप वाक् तो कायस्थान में ही अस्तभूत है। विशुद्धरूप यही वाक् सृष्टिरूप में अस्तभूत मानी जाती है। इस वैकल्पिक वाक् पर बसों की चिन्ति होती है। फलतः इस चिन्ति से यही वाक् ब्रह्म रूप में परिणत हो जाती है। और बसस्थिति होती है यही अन् अन्तर्यामी में परिणत हो जाती है। विशुद्ध एवं ज्योति का वाक् से सम्बन्ध है। वायु (शिरघणु-शान्तघणु) एव सोम का व्यापः से सम्बन्ध है। वायु (रुद्रघणु उग्रघणु) एव आदित्य का अग्नि से सम्बन्ध है। इन तीनों में वाक् रसप्रधान है, व्यापः रसबस की साम्यावस्था है, अग्नि बसप्रधान है। परन्तु उक्त क मतना की अपेक्षा से तीनों की समदृश्य यह सृष्टि बसप्रधाना हो समझनी चाहिए। यही तीसरा बसप्रधान कल्पमात्मा है।

उक्त निरूपण से पाठकों को विदित हुआ होगा कि एकत्रय ब्रह्मसन्धिपदों की कृपा से यही विशुद्ध आत्म्य त्रिबुद्धभावात्म (३ कल) होता हुआ ज्ञानात्मा-कल्पमात्मा-कल्पमात्मा भेद से तीन मर्यादों में विभक्त हो जाता है। रसदृश्य तीनों एक हैं बसदृश्य तीनों भिन्न हैं। कायस्थान ही ब्रह्ममात्मा है कायस्थ ही प्रज्ञात्मा है कायस्थ ही गुणात्मा है। यही अस्त है यही तम है यही शुद्ध है। आत्मा उ पदः सङ्गतं अर्पे, नप सद् रूपममात्मा" (उत्-१४।२।२।) यह भीत सिद्धांत उक्त रसदृश्य बस ही स्पष्टीकरण परमा है



# आत्मविवर्त्तपरिलेख



<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "बायुसम्"</p>	<p>१ २</p>	<p>नित्यानन्द (रसप्रधान) सृष्टिकानन्द (बलप्रधान)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>ज्ञानन्द-आमानन्द (रसप्रधान)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>शांति निरुपाधिकामधिकाम ०-समृद्धि-वैपयिक्यात्मधिकाम</p>
<p>त्रिसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "प्रकाश"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>नित्यविज्ञानम् (रसप्रधानम्) शुद्धविज्ञानं (बलप्रधानम्)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>विज्ञानम्-सुद्धि (रसबलयो माभ्यापस्था)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>१ भग-उपभ्याति ०-माइ-मभिनभ्यानि</p>
<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>अन्तर्मन (रसप्रधानम्) + + + + + + + +</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>मन-प्रधानम् (बलप्रधानम्)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>१ साह-शुद्धमन्वगुणविकास ० + + + + + + + +</p>
<p>त्रिसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "साक्षी"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "साक्षी"</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>मन-स्योति-काम-रूप (रसप्रधानम्)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>१ + + ०-कर्म-अभिनमत्वगुणविकाम</p>
<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>विद्युत्साक्ष (यज्ञप्रधाना) + + + +</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>साक्ष-चरन्-भ्रम-नाम (बलप्रधानम्)</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>१ आबरेण्य-तन्मागुणविकास ०- + + + + + + + +</p>
<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>शेफारिकीयाह</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>बाह-बाह-विशुभ-भ्याति (रसाक्षेप)</p>	<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>
<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>—</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>आप-आप-बायु-शिशु-साम (उभयक्षेप)</p>	<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>
<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>	<p>१ २ ३ ४</p>	<p>—</p>	<p>१ २ ३ ४</p> <p>आग्नि-अग्नि-वायु-रह-आदित्य (बलाक्षेप)</p>	<p>सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी- "शुद्धम्"</p>

सप्तसृष्टिज्ञानास्या रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी-  
"शुद्धम्"



उक्त आत्मविक्रम का प्रकारान्तर से निरीक्षण कीजिए । अन्वय, अक्षर, धर, धी समष्टि अमृतात्मा, है । प्राण, -प्राण-वाक्-मन-अध्यात् इन् पाँच विकारक्षरों की समष्टि अमृतात्मा है । वाक्-प्राण-अग्नि इन तीन वैकारिकक्षरों की समष्टि शुक्लात्मा है । पूर्वप्रदर्शित अमृतात्मसंस्था के आनन्द भाग के साथ अन्वय का, विज्ञान के साथ अक्षर का, एव मन के साथ धर का सम्बन्ध है । मन-प्राण-वाक्मयी ब्रह्मसंस्था के मनोभाग से प्राण प्राण का, प्राण मन के साथ वाक् का, वाक् मन के साथ अमृतात्मा का सम्बन्ध है । तीसरी संस्था के साथ समानता है, ऐसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है ।

१-आनन्दः-अन्वयप्रधानः	}	अमृतात्मा-ज्ञानात्मा (ज्ञानम्) ।
२-विज्ञानम्-अक्षरप्रधानम्		
३-मनः-आत्मधरप्रधानम्		
१-मनः-प्राणः-प्राणः	}	ब्रह्मात्मा-कामात्मा (क्रिया) ।
२-प्राणः-वाक्		
३-वाक्-मन-अध्यात्		
१-वाक्-वाक्	}	शुक्लात्मा-कर्मर्मा (अर्थ)
२-प्राण-प्राण		
३-अग्नि-अग्नि		

इसी विधि को अन्वय-अक्षर-धर-इन तीन विभागों में भी विभक्त किया जा सकता है । पहिला विभाग अन्वय प्रधान है, दूसरा विभाग अक्षर प्रधान है, एव तीसरा विभाग धर प्रधान है । अन्वय ज्ञानमूर्ति है, रसमूर्ति है । अक्षर उभयमूर्ति है, रसकर्ममूर्ति है । धर अर्थ-मूर्ति है, रसमूर्ति है । अमृतात्मसंस्था का अन्वय अपनी अपूर्वसंस्था का आत्ममन है, अक्षर ब्रह्मसंस्था का संघासक है धर शुक्लसंस्था का प्रभव है । इस प्रकार निम्न लिखित रूप से भी उक्त तीनों संस्थाओं के दर्शन किये जा सकते हैं ।

१—मानन्द	}	-अभ्यस्यमपानसंस्था (ज्ञानात्मा अभ्यसः)-अमृतम्
—विज्ञानम्		
३—मनः	}	-अक्षरमपानसंस्था (कामात्मा अक्षर-ब्रह्म
१—मन		
२—मातृ,	}	-अक्षरमपानसंस्था (कामात्मा अक्षर-ब्रह्म
३—मातृ		
१—मातृ	}	-अक्षरमपानसंस्था (कामात्मा अक्षर-ब्रह्म
२—मातृ		
३—मातृ		

• प्रसंगगत यह भी जान लना चाहिए कि अभ्यस्य के मात्र अक्षर का सम्बन्ध है अक्षर के साथ विष्णु का सम्बन्ध है। एषं अक्षर के साथ इन्द्राग्निशाममूर्ति शिव का सम्बन्ध है। ज्ञान मय अक्षा पितृपति है अग्निमय विष्णु देवपति है, एषं अर्धमक्षरिण मृतपति है। अभ्यात्मसंस्था में अक्षा शिरोरुद्रा में प्रतिष्ठित रहते हैं, यही अक्षर है। विष्णु हृदय में प्रतिष्ठित रहते हैं यही अक्षर है। शिव मूलप्रस्थि में प्रतिष्ठित रहते हैं यही अक्षर है। सुषुम्णाद्वारा अक्षररूप में प्रतिष्ठित अक्षा शिव के साथ पञ्चब्रह्मन करते हैं। इसी लिए मूलस्थान 'अक्षरत्रय' नाम से अक्षर कहते हैं। इस स्थान पर आके ज्ञानपति अक्षा भूतों के संपालक बनते हुए सृष्टिकर्तृत्व भाव से युक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार सुषुम्णा द्वारा मूलरूपस्थ अक्षरपति शिव अक्षररूप अक्षररूप में विद्यमान रहते हैं। इस स्थान पर आके भूतपति शिव ज्ञान के संपालक बनते हुए ज्ञानमूर्ति कहलाने लगते हैं—“ज्ञानमिच्छन्महेश्वरात्”। इन दोनों का हृदय में यजन होता है। यजन ही यज्ञ है, यज्ञ ही विष्णु है, यही नामत मगवान् “मद्ये वामनमासीन सर्वे देवा उपासत” के अनुसार ही जगत् के पालक हैं। सध्याविज्ञान के अनुसार अक्षाप्रवेश शिवस्थान माना गया है। हृदय प्रवेश अक्षरस्थान माना गया है, एषं मामिद्वेषा विष्णुस्थान माना गया है, जैसा कि सध्याविज्ञान नामक ग्रन्थ में विस्तार से लिखित है।

प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है कि उक्त-ब्रह्म-सामभावमय तत्व को ही आत्मा कहा जाता है। इस अक्षर के अनुसार अक्षर का उक्त-ब्रह्म-सामरूप अन्वय भी अर्थ कहा जा सकता है। अक्षर का उक्त-ब्रह्म-सामरूप अक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। विकाररूपसंघ का उक्त ब्रह्म-सामरूप अक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। विकार संघरूप विश्व का उक्त-ब्रह्म-सामरूप विकाररूप भी आत्मा कहा जा सकता है। अस्मददि सर्वो (प्राणियों) का उक्त-ब्रह्म-सामरूप विश्व भी आत्मा कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्वय, अक्षर आत्मरूप विकाररूप, विश्व इन पाँचों संस्थाओं को ही हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं।

इत में से- 'आत्मा सर्वथा निर्लेप है, निष्क्रिय है, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है, मय स्तारोपभेदरूप है' यह अक्षर अक्षररूपि से कहे जाते हैं। "आत्मा निर्लेप है, किन्तु विश्वसाक्षी विश्वकर्ता है" यह अक्षर अक्षररूपि से कहे जा सकते हैं। "आत्मा ही विश्व का आरम्भक (उपादान) है" यह अक्षर आत्मरूपरूपि से कहे जाते हैं। "आत्मा विश्व का उद्भव-ब्रह्म-साम (मयम-प्रतिष्ठा-परायण) है" यह अक्षर विकाररूपरूपि से कहे जाते हैं। "आत्मा ही विश्व है" यह अक्षर विकाररूपरूपि से कहे जाते हैं। इस प्रकार पाँचों व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं। किसी में 'स्रोत का अक्षर नहीं है। इन पाँचों संस्थाओं में से अन्वय-अक्षर-अक्षर को समष्टि अक्षररूप है विकाररूप को समष्टि अक्षररूप है, वैकृतिक अक्षर समष्टि अक्षररूप है। हमारा आत्मा विश्व है अक्षररूप विश्व का आत्मा विकाररूप है। विकाररूप ब्रह्म (पञ्चप्रकृति) का अर्थ अक्षररूपरूपरूपि योग्य है - "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ।

१- "आत्मा सर्वथा निर्लेप, निष्क्रिय, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" - अक्षररूपि

२- "आत्मा निर्लेपः किन्तु विश्वसाक्षी, विश्वकर्ता" - अक्षररूपि

३- "आत्मा विश्व आरम्भक (उपादानकारणम्)" - आत्मरूपरूपि

४- "आत्मा विश्वस्येव ब्रह्म-साम" - विकाररूपरूपि

} १  
अक्षररूपि  
} २  
विकाररूपि

१—“आत्मैव विद्यम्” ————— -॥ ब्रह्मपरिकरपरिधि } शुकात्मा

अब हमारे सामने प्रश्न उपस्थित यह है कि गीता ने उक्त आत्मसंस्थाओं में से किस आत्म का निरूपण किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि प्रधानरूप से आत्मयात्मा को उद्घृत बनाते हुए गीताने आत्मा की सभी संस्थाओं का विस्तार, एव सर्वथा निःसंदिग्ध निरूपण किया है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि गीताने आत्मसंस्था की किसी प्रश्न को नहीं छोड़ा है। इसी लिए तो हमने गीता को सब शाखों की अपेक्षा अपूर्व विशाल, एव पूर्ण कहा है।

पाठकों को स्पष्ट होगा कि पूर्व के माय-कृत्वादि परिग्रहों के सम्बन्ध में हमन आत्मसंस्था पर प्रकाश डाला था। हम समझते हैं कि कितने ही विषयों में इस पुनरुक्ति कर रहे हैं। फिर भी विषय की जटिलता के कारण हमें विशय होकर पुनरुक्ति का आशय देना पड़ता है। अस्तु आत्मविचार के सम्बन्ध में निर्धर्मक, सर्वपरमोपपन्न भेद से पहिले दो आत्मविकारों को अपने सामन रखिए। इन दोनों में पहिला तत्त्व तो बस्तुतः आत्मशब्द से सम्बोधित नहीं होना चाहिये, क्योंकि “आत्मा” शब्द शरीर, किंवा परिग्रहसापेक्ष है। “आत्मा” यह सुनते ही ‘किस का आत्मा’? यह प्रश्नासा होती है। “किसका”? यह भाव सीमामात्र से सम्बन्ध रखता है। उभर विशुद्ध स्वरूप, अनएव सत्त्वा निर्गुण, अतएव निर्बिन्देय निधर्मक तत्त्व मायादि परिग्रहों से सर्वथा बहिष्कृत होना हुआ सीमामात्रशून्य है। इसी असीमता के कारण यह निधर्मक तत्त्व शाब्दानविद्युत है, अथात्मनसंगोचर है, नेति नेति शब्द से निर्वात है। इसकी चर्चा कौन कर सकता है। इसको तो ग जानना ही इस का जानना है— ‘यभ्यामत वक्ष्य मत्प’।

प्रथम शब्द से अस्तत्त्व ही अभिप्रेत है। इस अस्तत्त्व का सम्बन्ध आत्म के साथ दो तरह से होसकता है। सम्पूर्ण भव आत्मा में रहे, परन्तु उन सबों का उस स्वरूप आत्मा के साथ

कोई लपन हो, यह एक स्थिति है। जब कुछ एक बल अन्तर्ग्राम सम्बन्ध से आत्मा के साथ बंध हो जाय, यह एक स्थिति है। बलों के इन दो सम्बन्धों के कारण सर्वप्रथमोपपन्न नामक दूसरे आत्मविद्य के—सर्वप्रथमविशिष्ट, सर्वप्रथमयोग्य यह दो अव्यक्त भेद हो जाते हैं। इन दोनों में सर्वप्रथमविशिष्ट आत्मा भी निर्विशेषत्व व्यापक ही है। बल सतत अक्षय है। परन्तु विना अन्तर्ग्राम के रहता हुआ भी बल उस रस का अलग आत्मा पर किसी प्रकार का छेद नहीं कर सकता। जब व्यापक रससमुद्र में अनन्त बल तरङ्गत्व उच्चावचभाव से इतस्तत् दृश्यमाण होने रहते हैं। परन्तु वह अक्षयमाण, अवल समुद्रत्व सर्वथा शून्य रहता है। इस प्रकार इन सर्वस्वरूप सधम्म दशा में भी आत्मा ज्ञान प्रातिदिकरूप से सर्वगत निर्धम्मक ही रहता है। इसी रहस्य को अक्षय में रख कर महाशक्त्यासने “सर्वप्रथमोपपत्तेश्च” (१० ६० १११३७) यह कहा है। प्रकार से निर्धम्मक की ओर ही अक्षय दिवा गया है। ‘न स्पृहं वेणु से मयि’ के अनुसार बल इसके गम में रहते हुए परत्न अक्षय है, परन्तु इन सब बलों को अपने गम में रखन बाधा वह रसतत्त्व अपनी व्यापकता से फैले परत्न ही स फल है।

उक्त सिद्धन्त के अनुसार सर्वप्रथमदशा में भी हम सर्वप्रथमविशिष्टरूप इस व्यापक आत्मा को निर्धम्मक, एवं निर्वेद ही मानेंगे। जिस प्रकार विशुद्ध रसमूर्ति निर्विशेष व्यापकता के कारण अथात्मनसंगोपर होता हुआ शास्त्रानभिज्ञता था, एवम् सर्वप्रथमविशिष्टरसमूर्ति, कहने नर के त्रिप सर्वप्रथमविशिष्ट, परन्तु परमात्मन निर्धम्मक यह अक्षय, अक्षय, आत्मा भी अक्षी-कृत्य अथात्मनसंगोपर होता शास्त्रानभिज्ञता ही है। इस प्रकार निर्धम्मक, सर्वप्रथम योग के सर्वप्रथमविशिष्ट, एवं सर्वप्रथमयोग्य इन तीन विधा में से निर्धम्मक (निर्विशेष), एवं सर्वप्रथमविशिष्ट इन दो का ता विचार ही मरणा दोह न्ना चाहिए। कारण प्र की शास्त्रनिष्ठा में यह बतगया जापुछ है कि शास्त्र व्यतो कश्चिद्वादा दना है, अथवा मन्त्री का निषेध करता है। यह कहे, यह मन बने, रस तन्ने से मन बाधा, इन तन्ने ॥ बाधा, इस प्रकृत में विधि-निषेध करना ही शत्रु का शास्त्र है। परन्तु शास्त्र व्यापक, अनन्त

अध्यात्मरूप निरीश्वर, एक परात्पर के सम्बन्ध में तटस्थ ही रहता है। यह सब में है, सब उस में है। फिर उस के सम्बन्ध में किसका विनाश किया जाय, एवं किसका निषेध किया जाय ?

अम शास्त्राविद्वत्, अतएव भीष्मस्य जन्म जन्ता ह, एक मात्र सर्वपरम्योपम आत्मा । धर्म का ही नाम परिग्रह है। यह धर्मोत्पन्न स्वरूप एव आश्रित मेन्द्र से दो भागों में विभक्त है, जसा कि द्वितीय अध्याय के धर्म मेन्द्र प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा । स्वरूपधर्मयोपम की आत्मा "पोहरीपुरुष" कहलाता है। आश्रितधर्मयोपम की आत्मा "प्रजापति" कहलाता है। प्रजापति पञ्च प्रकृति, एव अग्रादि तीन शुद्धों की समष्टि ही प्रजापति है एवं एतद्विशिष्ट पोहरी ही "सर्वम्" है। परिग्रहों की कृपा से ही योग्ययाचकक्षिप्तम वक्ता हुआ यही व्यापक धाम्ना अध्यात्मसत्त्वा में प्रविष्ट होकर हेतुसङ्घ, एव सगुण सन्निकर साक्षर साक्षन वन्ता हुआ सविशेष नामसे व्यञ्जन होता हुआ "जीव" नाम से सम्बोधित होन सम्या है। यह जीवना पापान्नों की कृपा से ज्योतिरूप आनन्दस्वरूप से आभूत होता हुआ दुःख पाप करता है।

यह विचार रखिए कि विधर्म्यपक कारणा पर विश्व सीमा में रहने वाले दुःख मूकक दोष कोई आत्मस्य नहीं कर सकत। यह भी विचार रखिए कि हम (जीव) उसी के अग्र ही नहीं है, फलतः हमें भी दोषमूकक दुःख से शृणु ही रहना चाहिए म् । परन्तु होता क्या है, मुनिर् ।

श्रीलोक्य में सौरप्रकाश व्याप्त है। यही सौरज्योति अध्यात्मसत्त्वा में अग्ररूप से प्रविष्ट होकर चतुरिन्द्रिय की स्वरूपसमर्पिक बनती है। सूर्य ज्योति है, चतुः अग्र है। परन्तु चतुः गोचररूप योगनाया के आकार से सूर्यरूपा चतुःज्योति अपने त्रैलोक्य व्यापक सौरज्योतिस्वरूप को भूष रही है। इसका परिणाम यह होता है कि जब सूर्य और चतुः के मध्य में योग्य-वर्ण आभात है तो हम भ्रान्तिवश यह कहने लगते है कि—“मेघो नै सूर्य को ढक सिया” । चतुः अग्र है, सूर्य दशविण है। मध्य में सूर्य का आकार है। यह आकार सौरप्रकाश की



अपेक्षा मन्द-मन्द-मन्दतम है। वृद्धिविज्ञान के अनुसार प्रथम से बड़ा मेघस्रपट १२ कोशप-  
 म्यक्त अपनी व्याप्ति रखता है। उच्च सूर्यप्रकाश त्रैलोक्य में व्याप्त है। यथा ऐसे-वायक सौर  
 प्रकाश को साधारण मेघस्रपट कैसे आवृत कर सकता है। वायु से तदवच्छिन्न सौर श्रेण्टि आव-  
 र्त होरही है। इसीलिए हम उस व्यापक प्रकाश से वञ्चित होते हुए तमोरूप दुःख के अधि-  
 क्तरी बन रहे हैं।

यिक यही दशा अज्ञानशक्ति के सम्बन्ध में समझिए। महामायावच्छिन्न आत्मा विश्वव्या-  
 पक है। हम उसी के अन्तर्गत हैं। यह दस्यपिता है, हम दस्य हैं। दोनों के मध्य में योगमाध्यक  
 आवरण आ रहा है। इस आवरण से हम सूर्यस्थानीय व्यापक आत्म्य को आवृत समझने  
 लगते हैं। वस्तुतः यह आवरण हमारे भूतत्वा के साथ सम्बद्ध है। इस रहस्य को न जानने  
 के कारण लोक में जैसे—“मूर्खों में येनाहन” (सूर्य को बरछोंमें ढक लिया) यह मिथ्या व्यव-  
 हार प्रचलित है, एवमेव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण—आत्मा दोषेणा  
 वृत” (आत्मा को दोषोंमें ढक लिया) यह मिथ्या व्यवहार हो रहा है। “बन्तुर्वोपावुल्लुकोऽथ  
 मृपश्रयोतिनपरयति” यह प्रसिद्ध ही है। यह निस्मानन्दमूर्ति है तो हम भी निस्मानन्दमूर्ति  
 ही हैं। उसके अन्तर्गत हमारे बीच में जो मायास्त किंवा परिग्रहस्वरूप आवरण आवृत हैं, उन्होंने  
 ही हमें उससे वञ्चित करते हुए दुःख बना रखा है। दुःखमुलक, किंवा दुःखोदय के हेतुभूत  
 अविद्यालक्ष्य इन महादोषों के शासन का उपस्य बतलाना ही गीताराम का मुख्य विषय है।  
 यह अत्यन्त सर्वभर्गोपपन्न ही है। यही गता का प्रधान अन्तर्गत है।

- |   |                        |
|---|------------------------|
| १-निर्धर्मिकः, अमत्स्यः, निर्युक्तः निर्विशेषः विगुहरसमूर्धः सर्वातीत | } शास्त्रानधि-<br>कृती |
| २-सर्वधर्मविशिष्टः, विमत्स्यः, सर्ववसविशिष्टरसमूर्धः—विश्वातीत        |                        |
| ३ सर्वधर्मयोग्यः—द्वैतलक्ष्यः—महामायावच्छिन्नः—विश्वात्मा             | } शास्त्राधिकृतः       |

## (३)-१-सर्वधर्मयोग्य

- १-अभ्ययासुरात्मत्ररुक्तमूर्तिमहामायी-विश्वाम्ना ( असूतम् )-ज्ञानात्मा
- २-पञ्चरुक्तिविशिष्टो योगमायी-विश्वकर्षा ( ब्रह्म )-कामात्मा
- ३-शुक्लमयविशिष्टो योगमायी-विश्वारम्भका (शुक्लम्)-कम्पात्मा
- ४-योगमायावच्छिन्नोऽशाप्यको जीव-कम्पात्मा ( समष्टि )-समष्टि

शास्त्रोद्देश, किंवा गीतोद्देश हमारे (जीवत्मा के) ठपकार के लिए प्रवृत्त हुआ है। अतः जीवत्मा ही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। अभ्ययासुरात्मा ( जीवत्मा ) के स्वरूपज्ञान के लिए हमें अभ्यास के विद्यात्मा, चिदंग, चिदात्मास इन तीन स्वरूपों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। इन तीनों के यथार्थपरिचय के लिए ज्ञान-क्रिया-ध्यान सूर्य दश को अपने सामने रखिए। सूर्यभक्तान् ज्ञानोक्ति से श्रीलोक्य में व्याप्त हैं। कहीं भी सूर्य का अभाव नहीं है। विशेषतः व्यापक नहीं सूर्य सर्वत्र रहता हुआ भी प्रतिबिम्ब रूप से नहीं निरस्त होता है, जहाँ कि दर्पण स्फटिकमणि पानी आदि सूर्यप्रतिबिम्बसदृश पदार्थ विद्यमान रहते हैं। इन प्रत्येक पदार्थों में सूर्य का दो तरह से सम्बन्ध होता है। पदार्थ के ज्ञेयपक्ष के अनुसार सूर्य प्रतिबिम्ब रूप से पदार्थों में प्रतिष्ठित हो जाता है। प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त धातु ( भूष प्रकाश ) रूप से भी इन पदार्थों के साथ सूर्य का सम्बन्ध होता है। प्रतिबिम्बित सूर्य अन्तर्यामि सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। अतःपारमक सूर्य बहिर्भाग सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार एक ही शरीरक व्यापक सूर्य, पदार्थ के साथ अंतर्ग रूप से ( व्योमकत ) सम्बन्ध धातुपक्ष सूर्य, पदार्थ के साथ कहने भर को ससङ्गता से सम्बन्ध प्रतिबिम्बित सूर्य मेरु से तीन स्वरूप धारण कर लेता है। ठीक वही स्थिति आर्या के सम्बन्ध में समझिए।

“यो लोकप्रयमाधिरय विमर्षाभ्यय इत्वर” इस गीता सिद्धान्त के अनुसार सत्त्वोक्त मूः भूः स्वः रूप महात्मावृत्तियों से अवच्छिन्न महाविद्य में ईश्वर नाम से प्रसिद्ध सूर्य-स्वामीय पोषणी प्रजापति सदान रूप से व्याप्त हो रहा है। यही पहिल्य सर्वव्यापक, किंवा

विषयव्यपक चिदात्मा है। सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी यह चिदात्म्य वही प्रकट होता है जहाँ कि अणु-वासु-सोम रूप चिद्राहक पदार्थ विद्यमान रहते हैं। यह तीन ही तत्त्व त्रिवृत्त राहक हैं। अतएव जीववृत्ति ध्राप्य, नायक्य, सौम्य मेद से तीन ही भागों में विभक्त देखी जाती है। इन तीनों पदार्थों में चिद्रत्न्य ज्योतिरूत से भी प्रतिष्ठित होता है, एव प्रतिविम्बरूप से भी प्रतिष्ठित होता है। ज्योतिर्मय चिद्रत्न्य अस्तंग है, ज्योमवत् निर्लेप है। प्रतिविम्बित चिदात्म्य सस्य है, सखेप है। यही दोनों क्रमशः चिद्रत्न्य, एव चिद्रामास नामों से व्यक्त होते हैं।

अथवा प्रकारान्तर से यों समझिए कि विरक्त्यापक आत्मा चिदात्मा है। एव शरय परिच्छिन्न बही आत्मा चिद्रत्न्य है। इसी के अन्तर्ध्याम, बहिर्ध्याम सम्बन्ध मेद से दो मेद हो जाते हैं। अन्तर्ध्याम सम्बन्धात्च्छिन्न चिद्रत्न्य शारीरक ध्यात्मा, है, यही चिद्रामास है। बहिर्ध्यामवच्छिन्न चिद्रत्न्य प्रज्ञात्मा है, यही चिद्रत्न्य है। यह दोनों एक ही स्वान पर (हृदय) प्रतिष्ठित हैं। एक ही स्वान में प्रतिष्ठित आतपरूप प्रख्यात्न्य केक्य साक्षी है, प्रतिविम्बरूप शारीरक आत्म्य भोक्ता है। साक्षी भाग शरीरतस्या में प्रतिष्ठित ईश्वर है। इसी के लिए—“ईश्वर” सबभूतानां हृदयेऽजुन ! तिष्ठति” यह कथ्य यथ्य है। इसी शरीरक ईश्वर तत्र क्य अरूप जतवाते हुए मगधन् कहते हैं—

उपद्रष्टानुमत्ता च भर्षा भोक्ता महेश्वर ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता १२ । २२ ।)

भोक्ता भाग जीव है। इसी के लिए मगधन् मनुमे कथा है—

जीवसङ्घोऽन्तरात्मान्यः सहसः सर्षेवेदिनाप ।

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ (मनुः १२।१७) ।

वेद संहिताने चिद्रत्न्य रूप साक्षी परमात्मा को “साक्षीसुपर्य” नाम से, एव चिद्रत्न्य रूप भोक्ता जीवत्मा को “भोक्तासुपर्य” नाम से सम्बोधित किया है, जैसा कि निम्न लिखित अथर्ववेद से स्पष्ट हो जाता है—

इति सुषुप्ता सखाया समानं ह्यपरि पश्यन्ते ।

तयोरन्य विषयं स्वाद्भस्मन्मन्त्रयो अभि चक्षुरीति ॥ (शुक् १।१६०२०)

दोनों सुषुप्त एक ही (अवस्था) रूप पर बैठे हुए हैं। दोनों अभिष, एव जोड़े मिले हैं। दोनों का स्वरूप एक साथ, एक ही काल में प्रादूर्भूत हुआ है। परन्तु भाष्य है कि दोनों में से एक को सप्ताफला का भाग कर रहा है, एव दूसरा निना कुछ कर पीछे उस खाने फेंके बाल की चौकनी कर रहा है। प्रसंगान्ना से संश्लेष्य शरीरक भागा बहक इन्द्रियों के सम्बन्ध से नियंत्रित वर अनुपमी बना रहता है तब तक इसे आन उस निर्वैष हृदयस्य प्रसंगान्ना का स्वरूप छान नहीं होता। यदि शरीरकान्ना इन्द्रियप्रकृत का परिष्कार कर अपने विज्ञानवस्तु का नियंत्रण से हटाकर अन्तर्हृदय की ओर स झुकाव होता है तो इस विज्ञानवस्तु के प्रभाव से इस धर्म शारीरक भागा को उस शरीरक हृदयस्य प्रसंगान्ना के दखन हो जाते हैं। यही इस जीवशास्त्र का दु सम्बन्धनिष्ठि है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन करती हुई तपनियवृत्ति करती है—

पराधि क्षानि व्यतृण्वस्वपन्मूस्तस्मात् परात् पश्यति नान्तरात्मनः ।

कश्चिद्दीर मत्तगात्मानमवदात्तृचपसुपृथगभिच्छन् ॥ (इ. २। १। ११) ।

प्रसंगान्ना को हस्त ज्योति(मातप) एक शारीरक अत्मा को प्रतिबिम्बरूप बतलाया है। ज्योति ही “हृदय” नाम से प्रसिद्ध है। यही अहंतेज अन्तरात्मन किंवा आत्मदीप है। ज्योति कि—“वजापनिस्तेजो वीर्य हृदय” (उत० ६।७।७।६) इत्यादि प्रमाण से स्पष्ट है। यह हृदय शरीर परिलिख्य होता हुआ भी अपने अस्मात्त्व के कारण उस ज्योतिर्वन निरात्मा की तरह व्यापक ही है। स्वरूप, किंवा ज्योतिरूप प्रसंगान्ना के इसी व्यापक स्वरूप का अभिनय करने के लिए भूमिने “हृदयो वे समुद्रः” (उत ७।१।२।५) इत्यादिकर से इसे समुद्र नाम से सम्बोधित किया है। जब प्रतिबिम्बरूप जीवशास्त्र स्वरूप, किंवा स्वरूप अपने इस प्रसंगान्नास्वरूप को परिष्कार सेवा है तो दुःखों से पर्यन्त मुक्त हो जाता है। इसे रहस्य को तत्त्व में रखकर भक्ति करती है—

समाने वृद्धे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

बुध यदा परयत्नन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥१॥

यदा पश्यन् पश्यने रुममवर्षं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

वदा विद्वान् मुयप्रपापे विधूय निरङ्गमन परम सात्त्वमुपैति ॥२॥

(मुयत्क. ३।१।२-३) ।

जिस अक्षय वृद्ध पर ईश्वर प्रतिष्ठित है, उसी पर, उसी स्थान में वह पुरुष (जीव) प्रतिष्ठित है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि वह जहाँ नित्य जागृत है, वहाँ यह मोहनिया में निम्न है। इसी मोहरूप अज्ञान से अपने उस ईश भाव को भूलता हुआ यह शोकग्रस्त अनुग्रामो बन रहा है। जिस दिन वह पुरुष अपने से सर्वथा सम्बद्ध उस दूसरे ईश को देख लेता है, पहिचान लेता है, उसी दिन उस की महिमा का अनुभव करते हुए यह वीतराग बनता हुआ वीतशोक बन जाता है। यह ब्रह्म भीकारा जब उस ब्रह्मयोनि, कर्त्ता, सर्वेश, रुमवर्ण दशमिता को देख लेता है, तब आत्मस्वरूपविद् यह जीवात्मपुरुष-पाप को छोड़ कर (इस त्रय गामा के साथ अभिन्न बनता हुआ इस के द्वारा) उस व्यापक निरञ्जन विदात्म के साथ सम भाव को प्राप्त हो जाता है" उक्त मन्त्रों का यही तात्पर्य है। इस प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही कहना है कि वही व्यापक आत्म केवल योग्यात्मा के प्रमाण से विदात्मा-विद्येश-विदाभास रूपों में परिणत हो जाता है। इन तीनों में विदात्मा "अमृतम्" है विदश प्रकृतिमान से उक्त होता हुआ "ब्रह्म" है। इसी लिये मुयत्कृति में इसे "ब्रह्मयोनि" कहा है। एवं विदामास मूलभाग से संसृष्ट होता हुआ "शुक्लम्" है। विदात्मा ज्ञानप्रधान है, विदश क्रिय प्रधान है, इसीलिए इस के लिए "आमपन् सर्वमृतानि" यह कहा गया है। एवं विदाभास अथप्रधान है।

अध्यात्मसंस्थापेक्षया त्रीशयात्मविवर्त्तानि



(पूर्व) १-विदात्म (विद्यव्यापक-बोद्धरी)-विदात्मा (विदशमा)-अमृतम्-ज्ञानपदा

( आत्मनः ) २-ब्रह्मब्रह्म ( शरीरविकृतो-निर्लेपा-परमात्मा (विदश)-ब्रह्म-ब्रह्मब्रह्म  
(प्रतिबिम्ब) ३-शारीरकस्य ( पाप्मनियुक्तः-सद्यः-—जीवात्मा (विदाम्यस)-शुक्ल-कर्मात्म

पूर्ण में हमने ब्रह्म-ब्रह्म-शुक्ल इन तीनों के सम्बन्ध में अनेक विषय बताये हैं । सभी विषय परस्पर में कोई विरोध नहीं रखते । अन्वया यों कहिये कि सब में विरोधसहित्वा अविरोध है । इन दोनों भावों में विरोध का अर्थ ब्रह्म की महिमा है, एव अविरोध का अर्थ रस की महिमा है । रस ब्रह्म दोनों ही आत्म के स्वरूपधर्म हैं । सब को सब ज्ञाना जा सकता है सब को सब से पूर्यक् भी ज्ञाना जा सकता है । इसी आधार पर पूर्वप्रतिपादित सभी आत्मविषय स र्वथा उपपन्न हो जाते हैं । इसी आधार पर 'संभे सर्वाभिवाचका वाचीयुक्तस्य पाणिनेः' यह श्रुति सिद्धांत प्रतिष्ठित है । सभी अनेकधा अर्थपर है, अक्षर है, क्षर है, मन है, प्राण है, वाक् है, अप्रकृत है, अक्षर है, शुक्त है ब्रह्मब्रह्म है, कामात्म है, कर्मात्मा है । हाँ उस ओर का एकत्व, इस ओर का एकरूप अन्वय ही नियतभावसे सम्बन्ध रखता है, जिस कि आगे की वाक्यार्थों से स्पष्ट हो जाता है ।

समाने वृक्षे पुरुषो नियमोऽनीयया शोचति मुह्यमानः ।

सुष्ठु पदा परमसन्धमीशमस्य महिमानमिति धीतशोकः ॥१॥

यदा पश्यन् पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान् पुण्यधपाये विधूय निरञ्जनं परमं सास्यमुपैति ॥२॥

(मुण्डक. ३।१२-३) ।

“जिस अशक्त वृक्ष पर ईश्वर प्रतिष्ठित है, उसी पर, उसी स्थान में यह पुरुष (जीव) प्रतिष्ठित है । अन्तर दोनों में केवल यही है कि वह जहाँ नित्य जागृत है, वहाँ यह मोहनिद्रा में निम्न है । इसी मोहरूप अज्ञान से अपने उस ईश्वर भाव को भूलता हुआ यह शोककण्ड अनुग्रामो जन रहा है । जिस दिन यह पुरुष अपने से सर्वथा सम्बद्ध उस दूसरे ईश्वर को देख लेता है, पहिचान लेता है, उसी दिन उस की महिमा का अनुगमन करते हुए यह भीतरग जनता हुआ धीतशोक जन जाता है । यह ब्रह्म सीधत्वा जन उस ब्रह्मयोनि, कर्त्ता, सर्वेश, रुक्मवर्ण दर्शयिता को देख लेता है, तब आत्मस्वरूपनित्य यह जीवात्मपुरुष-भाव को छोड़ कर (इस ज्ञान प्रपञ्च के साथ अभिन्न बनता हुआ इस के द्वारा) उस व्यापक निरञ्जन विद्वान् के साथ सम भाव बने प्राप्त हो जाता है” उक्त श्लोको का यही तात्पर्य है । इस प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही कहना है कि वही व्यापक आत्म केन्द्र योग्यता के प्रभाव से विदात्मा-विदश-विदामास रूपों में परिणत हो जाता है । इन तीनों में विदात्मा “अस्मृतम्” है विदश प्रकृतिभाव से उक्त होता हुआ “ब्रह्म” है । इसी श्लेषे मुण्डकश्रुति में इसे “ब्रह्मयोनि” कहा है । एष विदामास भूतभाव से संसृष्ट होता हुआ “शुक्लम्” है । विदात्मा ज्ञानप्रधान है, विदश क्रियाप्रधान है, इसीलिए इस के लिए “ध्यायन् सर्वभूतानि” यह कहा गया है । एष विदामास अज्ञप्रधान है ।

अध्यात्मसंस्थापेक्षया त्रीश्यात्मविवर्त्तानि

(सर्वेषु) १-विदात्मा (विश्वव्यापक-योग्य) -विन्वात्मा (विदात्मा)-अस्मृतम्-ज्ञानरत्ना

( अक्षय ) २-प्रत्यगात्मा ( शरीरवर्षिष्णो-निर्जेषा-परमात्मा (चिदरा) — ब्रह्म — कामात्मा  
(प्रतिबिम्ब) ३-शरीरकस्य ( पान्थभिर्गुक्ता-सलेयः—जीवात्मा (विदामास) — शुक्लम् — कर्मात्मा

पूर्व में हमने अमृत-ब्रह्म-शुद्ध इन तीनों के सम्बन्ध में अनेक विषय बतलाये हैं । सभी विषय परस्पर में कोई विरोध नहीं रखते । अथवा यों कहिये कि सब में विरोधसहित अविरोध है । इन दोनों मन्त्रों में विरोध का अर्थ ब्रह्म की महिमा है, एव अविरोध का अर्थ रस की महिमा है । रस ब्रह्म दोनों ही अक्षय के स्वरूपधर्म हैं । सब को सब मना जा सकता है, सब को सब से श्रेष्ठ भी माना जा सकता है । इसी आधार पर पूर्वप्रतिपादित सभी आत्मविषय स रस्य उपपन्न हो जाते हैं । इसी आधार पर 'सर्वे सर्वाधिनाथका दात्रीपुत्रस्य पाखिने' यह अक्षय सिद्धांत प्रतिष्ठित है । सभी अपेक्षया अक्षय है, अक्षर है, चर है मन है, प्राण है, वाक् है, अमृत है, ब्रह्म है, शुद्ध है ज्ञानात्मा है, कामात्मा है, कर्मात्मा है । हां उस और का एकत्व, इस और का एकत्व अक्षर ही नियतात्म्यसे सम्बन्ध रखता है, जिस कि आगे की शक्तिधर्मों से स्पष्ट हो जाता है ।



१-अव्ययतामा-(अव्यययात्रासत्तरसूचि) (कार्या सर्वेषां निक्षेप, निष्किल "एकमेवाद्वितीय प्रकाश"-अव्यययद्दृष्टिः) ।

अव्ययः	अक्षर	आत्मकार	अक्षर्यनिर्गतयः
१	कामन्द	अव्युतो प्रकाश	मन्यो प्रकाश
२	विद्याः	अव्युतो इन्द्राविष्णु	मन्यो इन्द्राविष्णु
३	मत्	अव्युतो अग्नीषोमी	मन्यो अग्नीषोमी
४	मनः	अव्युतो प्रकाश	मन्यो प्रकाश
५	प्राक्	अव्युतो इन्द्राविष्णु	मन्यो इन्द्राविष्णु
६	वाक्	अव्युतो अग्नीषोमी	मन्यो अग्नीषोमी
७	वाक्	अव्युतो प्रकाश	मन्यो प्रकाश
८	आप	अव्युतो इन्द्राविष्णु	मन्यो इन्द्राविष्णु
९	अग्नि	अव्युतो अग्नीषोमी	मन्यो अग्नीषोमी

अव्ययनिर्गतयः

१

२

३



(क) प्रकारान्तरेणाव्ययान्मा द्रष्टव्य २

१-मानन्द	रसोद्वेक	→ प्रसन्न्य, मनः, ज्ञानं, ज्ञानात्मा, प्रभृ० १-१
२-विज्ञानम्		
३-मनः		
१-मन	उपयोद्वेक	→ प्रसन्नः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, प्रसन्न १-२
२-प्राणः		
३-वाक्		
१-वाक्	बसोद्वेकः	→ चरः वाक्, प्रथः कर्मात्मा शुद्धम् १-३
२-प्रायः		
३-प्रसिः		

अव्ययान्माविवर्त्तम्



२-अक्षरात्मा-(अक्षराभ्यवात्मन्नासृषिः)-(आत्मा निलिपः सित्तु विषसाक्षी, शिरसकवी अक्षररुष्टि) ।

	अक्षरात्मा ५	अक्षराभ्यामा ५	अक्षरात्मा ५
१	असृतो ब्रह्मा	आनन्द	सर्वो ब्रह्मा
२	असृतो-सि-शु	विज्ञानम्	सर्वो सिष्यु
३	असृतान्द्रः	मन	सर्वे इन्द्रः
४	असृतः सोमः	प्रास	सर्वे सोम
५	असृतोऽसि	धाक्	सर्वोऽसिः

→ अक्षययः यनः, ज्ञान, ज्ञाना मो, असृतम् १

→ अक्षरः, प्रासः, क्रिय, कापात्मा, ब्रह्म-२

→ क्षरः धाक्, अर्थः, कर्मात्मा, शुक्लम्, -३

अक्षराभ्यामात्मा



३-आत्मचरितात्मा (आत्मचरिविकारचरित्रान्वययमूर्तिः)-(अल्पे विरक्तस्मरु (अपराधानकारणम्)-"आत्मचरिदृष्टि) ।

आत्मचरितात्मा	विकारचरित्रः	चरित्रः	प्रकृत्ययाः
१	विद्युद्दः प्राणः	अमृतो प्रज्ञा	आनन्दः
२	विद्युद्दः प्राणः	अमृतो विप्लवः	विज्ञानम्
३	विद्युद्दः प्राणः	अमृत इन्द्रः	मनः
४	विद्युद्दः प्राणः	अमृत सोमः	माखः
५	विद्युद्दोऽस्रदः	अमृतोऽग्निः	बाहः

१-प्रकृत्यया, मनः, ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अमृतम् } —१  
 २-प्रचरः, माखः, क्रिया, कामात्मा, प्रज्ञा } —२  
 ३-चरः, बाहः, प्रयः, कर्मात्मा, सुकम्प } —४

आत्मचरितात्मा







४-विकारचरात्मा ( विकारस्वर वैकारिकस्वर आत्मस्वर अक्षर अन्ययमूर्ति )  
 ( अक्षरान् विचरस्योक्त्युक्तं त्रसं स्वाम् ( विकारचरदृष्टि ) ।

विकारस्वरः ५	वैकारिकस्वरः ५	आत्मस्वरः ५	अक्षरः ५	अन्ययः ५
विद्युदः माखः	पञ्चीकृतः माखः	मत्स्यो मखा	अयुतो मखा।	मानद्ः
विद्युदा मापः	पञ्चीकृता मापः	मत्स्यो विष्णु	अयुतो विष्णु	विद्वानम्
विद्युदा बाक्	पञ्चीकृता बाक्	मर्षो इन्द्रः	अयुत इन्द्र	मनः
विद्युदपक्षम्	पञ्चीकृतमपक्षम्	मर्षो सोमः	अयुतः सोमः	पाञ्चः
विद्युदोऽभारः	पञ्चीकृतोऽभारः	मत्स्योऽग्निः	अयुतोऽग्निः	वाक्

१- अक्षय्य , मनः ज्ञान, ज्ञानात्मा, अयुतम् } १

२- अक्षरः, माखः, क्रिया, कामात्मा, अक्ष } -२

३- अक्षरः, बाक्, अर्थः, कर्मात्मा, युक्तम् } ३

विकारचरात्मा ( विकारस्वर )



५—वैकारिक चरात्मा—( शुक्र-वैकारित्तर-विकारित्तर-आप्तत्तर-अत्तर-अव्ययमूर्ति )  
 ( आत्मेव विरम्य—"वैकारित्तरदृष्टि "

शुक्राणि ६	वैकारित्तरः	विकारित्तरः	आप्तत्तरः	अत्तर	अव्ययः
१ अप्रवृत्तावाक् (स्वप्नमुमुना	पथी० पाणः	विद्यु० पाणः	मर्या० प्रसा	अपृ प्रसा	आनन्व् }
२ अप्रवृत्ताभावाः(परमेष्ठिमुसाः)	पथी० प्रापः	विद्यु० प्रापः	मर्या० विष्णु	अपृ विष्णुः	विज्ञानम् }
३ अप्रयोरितिः } मर्या० इन्तिः } —(सुवसूयौ)	पथी० वाक्	विद्यु० वाक्	मर्या० इन्द्र	अपृ इन्द्रः	मन }
४ मर्या० प्रापः (चन्द्रमुसा )	पथी० प्रसाप	विद्यु० प्रसाप	मर्या० सोमः	अपृ सोमः	पाण }
५ मर्या० वाक्— वृषिरीमुसा )	पथी० प्रसाद	विद्यु० प्रसाद	मर्या० इति	अपृ प्रीति	वाक् }
	२	१	४	५	६

अव्यय, मन, आन, आ  
 नाम्ना, असुतम }—१  
 अत्तर, प्राण, क्रिया,  
 कज्जाला, प्रसा }—२  
 अत्तर, वाक्, अर्थ, क  
 म्नात्मा, युक्तम् }—३

पादकौशिकपदसर्वमित्यभियुक्ता आहु



सर्वसंग्रह

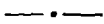
- |   |   |  |
|---|---|--|
| १ | $\left\{ \begin{array}{l} १-परात्परव्यभिक्त्वा पञ्चकलाऽन्यत्रपुरुष-अन्यथात्मा \\ २-परात्परव्यभिक्त्वा पञ्चकलाऽचरपुरुष-अचरात्मा \\ ३-परात्परव्यभिक्त्वा पञ्चकला चरपुरुष-आत्मचरात्मा \end{array} \right.$ | $\left. \begin{array}{l} १ \\ २ \\ ३ \end{array} \right\} \text{॥ पौंडरीपुरुष-समूहात्मा}$      |
| २ | $\left\{ \begin{array}{l} ४-पौंडरीपुरुषव्यभिक्त्वा पञ्चप्रकृतय-विकाराचरात्मा \end{array} \right.$   | $\left. \begin{array}{l} १ \\ २ \end{array} \right\} \text{॥ पञ्चप्रकृतया-ब्रह्मात्मा}$        |
| ३ | $\left\{ \begin{array}{l} ५-पुरुषप्रकृत्यव्यभिक्त्वाणि पाण्डि शुक्लाणि-वैकारिकचरात्मा \end{array} \right.$  | $\left. \begin{array}{l} ३ \\ ४ \\ ५ \end{array} \right\} \text{॥ श्रीशु शुक्लाणि-शुक्लात्मा}$ |

— 01 —

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में (विताशास्त्र की अपेक्षा से) हमें जो कुछ कहना था, सबैय से सब कुछ बतला दिया गया। पूर्व के निरूपण से पाठ्यों को निश्चित हुआ होगा कि समिशेष आत्म-विकर्तों में से अन्यथाचरात्मरूप त्रिपुरुष पुरुषात्मक एक आत्मा ही "शुद्धोत्मा" है। यही इन्द्र (जीवसत्त्वा का) प्रसंगत्मा नाम का मुख्य आत्मा है। जिस अक्षत्यवृत्त पर यह अपने मित्र शारीरिक आत्मा के साथ बैठा है, उस अक्षत्य के ज्ञान-कर्म रूप से दो भेद हैं। ज्ञानमय अक्षत्य ब्रह्माक्षत्य नाम से, एव कर्ममय अक्षत्य कर्माक्षत्य नाम से प्रसिद्ध है। महात्मायाव्यभिक्त्वा पञ्चपुरुषविरात्मक महेश्वर के साथ (पापक विदात्मा के साथ) ब्रह्मरक्षत्य का सम्बन्ध है, एव योग्याव्यभिक्त्वा पञ्चखरवात्मक प्रसंगमसक्त शारीरिक आत्मा के साथ कर्माक्षत्य का सम्बन्ध है। कर्मसंतान, किंवा कर्मपरम्परा ही कर्माक्षत्य है। इसी कर्मसंतान के बल से जीवमा जन्म लेता है, मरने के लिए। मरता है, जन्म लेने के लिए। प्रसारण से निष्सम्बद्ध कर्म्य रक्षत्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली महात्मापी ईश्वर की प्रकृतिरूप अक्षिया के व्याकरण से इस जीवात्मा में अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश नाम के पांच स्तोत्र, ६ सर्म्मिए, ६ अक्ष्याएँ, कर्मविपाक, आशयादि दोष सारे पाप्मा आते रहते हैं, आकर प्रवाह रूप में परिष्कृत होते रहते हैं, परस्पर में जोतघोत होते रहते हैं।

पोद्बन्धीपुरुषान्तगत धन्यपुरुष के विद्या-एव कर्म नाम के दो बात हैं । धानम् विज्ञान मन इन तीनों पदों की समष्टि विद्यास्पष्ट है । चूँकि यह आत्ममय ज्योति प्रधान बनता हुआ अविचाररूप अचेकर को मग्न करता हुआ मुक्तिसाक्षी है, अतः अविचारनिवृत्तलेन इन अक्षरप ही इस पर्वत्रयी को 'विद्या' नाम से व्यञ्जन कर सकते हैं । मन-प्राण-वाक् की समष्टि कर्मव्यय है । यह कर्ममया बीजमभान बनता हुआ सृष्टिसाक्षी बनता है, अतः कर्ममय विश्व की व्यपेक्षा से उक्त पर्वत्रयी को हर अक्षरप ही "कर्म" शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं । परिग्रह की कृपा से आत्मा के विद्या (ज्ञान)-कर्म इन दोनों के क्रमशः सम्पक्ञ्ज्ञान, धन्यसाज्ञान, अज्ञान, सुकर्म, विकर्म, अकर्म यह तीन तिन अवस्थाएँ हो जाती हैं । इन ६ओं में सम्पक्ञ्ज्ञान, और सुकर्म शान्तिसङ्घस्य आल-द के कारण हैं । एव एव चारों धोनसङ्घस्य दुःख के कारण हैं । इस प्रकार परिग्रहस्य सेवानिक आत्म में जो दुःखमूलक दोष आनाते हैं, उन्हें एकान्तत हर करने के लिए, साध ही में विचारि गुणों का आत्म में आधान करने के लिए ही हमारा गीताराज प्रवृत्त हुआ है । निम्कय यही हुआ कि- 'गीता राज्ञ समी आत्माधो का निरूपण करता हुआ ध्रुव्ययात्मा को ही धपना प्रधान सक्षय बनाता है' ।

### इति-आत्मविद्याप्रकरणम्



### १-गीताप्रतिपादित बुद्धिविद्या

गीता विद्याराज है । यह विद्या आत्मविद्या, विश्वविद्या मेद से दो मार्गों में विभक्त है । आत्मविद्या पुरुषविद्या है, विश्वविद्या प्रकृतिविद्या है । पुरुषविद्या ज्ञानविद्या है, प्रकृति विद्या कर्मविद्या है । ज्ञानविद्या सांख्यनिष्ठा है, कर्मविद्या योगनिष्ठा है । सांख्यनिष्ठा निम्कय पुरुषविद्या ही ज्योतिर्विद्या है । योगनिष्ठा निम्कय प्रकृतिविद्या ही बीर्जविद्या है । ज्योतिर्विद्यापे क्षय गीताराज ब्रह्मविद्याराज है, बीजविद्यापेक्षय गीताराज योगराज है, वैसाकि पूर्व में

नित्यर से बनक बा जा चुका है । पुरुषविद्या अथर्वय, अक्षर, चर-मेद से तीनों भागों में विभक्त है, यही तीन आत्मविषय हैं । गीता इन तीनों अत्माओं में से किस आत्मा को, किस आत्मविद्या को धारणा प्रधान उद्देश्य बनाती है ? इस प्रश्न का समाधान पूर्व प्रकरण में किया गया चुका है ।

इस प्रश्न प्रकृतिविद्या किंवा कर्मविद्यापरपर्यायक योग ववा ज्ञानयोग, भक्तियोग कर्मयोग, मेद से तीन भागों में विभक्त है । गीता इन तीनों योगविद्यार्यों में किस योगविद्या का निरूपण करती है ? यह प्रश्न हमारे सामने उद्दिष्ट है । इस प्रकरण में इसी प्रश्न का सङ्क्षिप्त समाधान उद्देश्य है । उक्त स्पष्ट है । गीता तीनों से अपूर्व बुद्धियोगविद्या का निरूपण करती है । यह बुद्धि है क्या वस्तु ? इस प्रश्न का उत्तर आत्मिकी प्रकृति ही है । पौण्ड्रपुरुषात्मक पुरुष की बहिरंग प्रकृत प्राण, अप, वरु, कन्द, कन्दनाद मेद से पाच भागों में विभक्त है । इन पाँचों प्रकृतियों से क्रमशः स्वप्नम्, परमेष्ठि, सूर्य चन्द्रमा, पृथिवी इन पाँच पुरों का विकास होता है । यही पाँचों आत्मविद्यार्यों पुर आत्मवैतन्या में अक्षर से प्रकृतित होकर अथर्वय, महान्, बुद्धि मन, मायातया इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं । इस स्थिति से पाठकों को यह विदित होगा । होगा कि आत्मिकी तीसरी प्रकृति ही सूर्यरूपा में परिचित होकर बुद्धि-नाम से प्रसिद्ध होती है । सूर्य ने ऊपर परमेष्ठि एवं स्वप्नम् में अपृततएव की प्रधानता है, एवं सूर्य से नीचे पृथिवी चन्द्रमा में मृत्युत्व की प्रधानता है । मध्यस्थ सूर्य में अपृत-सृष्टि दोनों का सम्बन्ध है—'निवेशयामृतमर्त्यं च' । अपृत ज्ञान है, विद्या है । सृष्टि कर्म है, अविद्या है । सूर्य में दोनों का सम्बन्ध है । फलतः सौरी बुद्धि में भी विद्या-अविद्या दोनों अर्थों की सदा सिद्ध हो जाती है । विद्या अविद्या दोनों ही ६-६ भागों में विभक्त हैं । विद्या के ६ रूप ज्ञान, वैराग्य, देहाय यश श्री इन नामों से प्रसिद्ध हैं । विद्या के ६ रूप अविद्या, राग द्वेष, अग्निनिवेश, अविमता, अपयश, अज्ञानी इन नामों से प्रसिद्ध हैं । ६ अर्थों विद्याभाग भग नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं ६ अर्थों अविद्याभाग मोह नाम से उल्लेखित हुए हैं, जैसाकि जभि उक्त करते हैं—

एश्वर्यस्य च सपत्नस्य धम्मस्य यद्यथा भिया ।  
ज्ञान-शैरग्ययोश्चैव पञ्चानां भग इतीरथा ॥

सक ६ श्री भग एव ६ श्री मोहों में से धम्म ज्ञान, धैर्य, एश्वर्य इन चारों मन्त्रों की, विकासभूमि सूर्य है । एक इन चारों के प्रतिद्वन्द्वी अस्मिता, अविद्या, सग-द्वेष, अस्मिता यह मह ब्रह्मण चारों अविद्यामल भी सूर्य से ही सम्बन्ध रखते हैं । यश एव अणुपणु का कर्मण से सम्बन्ध है । अस्मी एव अविद्या का आप्तमय परमेष्ठीमण्डल से सम्बन्ध है । अप्यात्मज्ञान के अनुसर वीं समिन् कि अस्मी रूप कर्त्तृ का, एव श्री हीनता का, स्पृशशरीर से सम्बन्ध है । यश श्री अणु का मन से सम्बन्ध है । एवं श्रेय चारों मन्त्रों, एव चारों मोहों का बुद्धि से सम्बन्ध है । कारण स्पष्ट है । सूर्य ही बुद्धि का उपादान है । अन्तरा ही मन का धम्म है । परमेष्ठी का आप ही "अदृश्यः पृथिवी" इस श्रेष्ठ सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी बना है । पृथिवी ही स्पृशशरीर का प्रमाण है । इस प्रकार ४-४, १-१, १-१, इस क्रम से १२ भाग मोह सर्वथा निवृत्त हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि लोक में धर्म-ज्ञानादि का आचरण करने वाले का भी अणुपणु देखा गया है । आप ही में सकल अणु विद्यो में प्रकृत मनुष्य को भी पणुपणु देखा गया है ।

१-१-धम्मो	→ धर्मनिवृत्ता	(१) ७	} -मूर्त्यत ( बुद्धो प्रतिष्ठित )
२-२-ज्ञानम्	→ अविद्या	(२) ८	
३-३-शैरग्य	→ रागद्वेषी	(३) ९	
४-४-एश्वर्यः	→ अस्मिता	(४) १	
५-१-यथा	→ अणुपणु	(१)-११	} -अणुतः मनसि प्रतिष्ठितो )
६-२-भोः	→ अस्तधम्मो	(२)-१२	

} -परमपठितः ( शरीरे प्रतिष्ठिते )  
(अथवा पृथिवी स्थानतः। अदृश्यः पृथिवी  
अपानमयः परमज्ञे। तत् पणुपणु लक्ष्मी )



हमारा गीताशास्त्र बुद्धियोगनिष्ठा का निरूपण करता है। एव पूर्व कथनानुसार बुद्धि के सार चार विधामात्र, चार अविविधानों का ही सम्बन्ध है। अतः यहाँ इन आठ भागों का ही निरूपण हुआ है, शेष चारों को छोड़ दिया गया है। इन आठ भागों के सम्बन्ध से एक ही बुद्धि की आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। यही सांख्यामिमत—'अष्टौ बुद्धयः' हैं। चार विधा बुद्धि अमृत प्रधान होती हुई विद्यात्मिका है चार अविद्या बुद्धि र मृत्युप्रधान होती हुई अविद्यात्मिका है। इस प्रकार भग नेद से एक ही बुद्धियोगनिष्ठा चार मार्गों में विभक्त हो जाती है। अव्ययामवेद्या के साथ साथ गीता इन चारों बुद्धियोगनिष्ठों का भी निरूपण करती है।

ईश्वर की योग्याया बड़ी विचित्र है। दुःख बिना प्रयास के भी आ जाता है, सुख प्रयास करने से भी नहीं मिलता। जोक में भी तो हम ऐसा ही देखते हैं। प्रकाश के लिए सूर्य चन्द्रादि के उदय की आवश्यकता होती है, परन्तु अन्धकार बिना किसी फायद करणभाव के अपने आप ही अपना अधिकार जमा लेता है। उज्ज्वले के लिए दीपक की अपेक्षा है, अंधेरे के लिए कोई कोशिश नहीं करना, फिर भी वह आक्रमण कर घेड़ता है। कूड़ से वीन कहता है कि आप उन सख्त अज्ञानिकों में पधारिए, एव वहाँ की सख्तता दूर कर सब प्राणियों को मखिन कर दीजिए। परन्तु आप बिना प्रयत्न के ही पधार जाते हैं, और बड़ी प्रसुप्त से विराजमान हो जाते हैं। उभर सख्तता खरने आप नहीं रहती। इस के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। बुद्धारी देनी पड़ती है सफाई क नी पड़ती है। क्यों 'उत्तर प्रकृति से बुद्धि। प्रकृति समाप्त से ही दोनों पर अधिक कृपा रखती है, गुण पर प्रायः अरुण रखती है। कारख प्राकृतिक विषय का मूल ही तमोगुण है। कउन तमोमय विषय में लोगों का ही साम्राज्य होना समाप्तसिद्ध है।

पूर्वोक्त इसी सामाजिक नियम के अनुसार हवारी बुद्धि में भी अविद्याबुद्धिरूप चारों केंद्रों का रहना सामाजिक बन जात है। अविद्या (शास्त्रानाभाव), अस्मिता (आत्मसंकोच), राग-द्वेष (विषयासक्ति), अभिनिवेश (दुःखप्रद-वृत्तधर्मी), यह चारों बिना किसी प्रयास के अपने आप हमारे घर के प्रचुरिक (पाइने) बन रहते हैं। एव हयने के लिए हने

प्रयत्न करना पड़ेगा। यह प्रयास होगा उक्त चारों कर्मों के प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य, धम्म इन चारों मातृ का बुद्धि में विकास करना। किन्तु कारण से कौन सा दाप कब पुद्गल पर आकृष्ट करता हुआ आप्त को मस्तिष्क बना डालता है ? इस प्रश्न का उत्तर देना मानवी-शक्ति से बहर है। अधिक से अधिक इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि मनुष्य जैसे शुभाशुभ कर्म करता है उन कर्मों का उस के अन्तःपटल पर बैसा ही संस्कार होता जाता है। एक सांस्कारिक कर्म का फल भोगने के लिए हम संसार में आते, हमारे शरीरों में हम स्वयंशरीर धारण किया इस शरीर से हमने ओर ओर कर्म कर डाले। परिणाम यह हुआ कि जब पूर्व संस्कार के फल से उत्पन्न शरीर के (इस संस्कार भोगसमय पर) विनाश का समय आया उस समय ऐसा नवीन कर्म संस्कार उत्पन्न हुआ जो अन्त में और प्रतिष्ठान हो गया, जिस के फल में पूर्वशरीरपरिणामानन्तर उत्तर शरीर का प्रकट करना (जन्म लेना) आवश्यक हो गया। इस प्रकार सांस्कारिक कर्म से उत्पन्न शरीर द्वारा होने वाले कर्मों की क्रम से प्राणु कर्म, मृत्यु जन्मपक्ष परम्परा निरन्तर चलती रहती है, जन्ममृत्युद्वैतभूत इस सांस्कारिक कर्मपरम्परा का ही नाम "कर्मसावत्य" है, जसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। इन सांस्कारिक कर्मों को कृपा से जन्ममृत्युसागर में बहा, अतएव सत्वा परलम्प इस आप्त में संस्कार बहा दया समय अस्मिन्निदोषों का बुद्धि द्वारा आकृष्ट हुआ करता है। इन अस्मिन्निदोषों से अज्ञान होती हुई बुद्धि भी अस्मिन्निदोष वन जाती है। इस अस्मिन्निदोषों के सम्बन्ध से आप्त का विधा भाग आवृत्त हो जाता है। विधा के निर्वहण हात ही, किन्तु आवृत्त होते ही अस्मिन्निदोषों को अस्मिन्निदोष बुद्धि द्वारा आत्मा पर आकृष्ट करने का अन्तर मिल जाता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी धरोहर को कहीं रख कर भूख जाता है, इस भूख से घर में ही कहीं अज्ञान स्थान में धरोहर के पड़े रहने पर भी इस अज्ञान की कृपा से अन्वयनरुक्त बनता हुआ अज्ञान एक दुःखी होना हुआ उस धरोहर की खोज में इतर उतर भटकता हुआ "तुम मात्स्य है क्या" "तुमन मगी रस्तु हस्ती है क्या" इस प्रकार इतर व्यक्तियों से पूछा करता है, एवं यहाँ—"नहीं हमन नहीं देखी" "हमें नहीं मान्य" इस प्रकार के निराशास्व उत्तर सुन का

भीर भी अधिक दुःख पाया करता है, ठीक वही परिस्थिति उस व्यक्ति की होती है, जो कि अधिष्ठा से अज्ञान है । शान्तिवर्षा आत्मानन्दरूप घरोहर इसी के पास है, इसी के ऊपर में प्रतीति है । परन्तु अधिष्ठा के आक्रमण से यह अपनी उस आनन्द सम्पत्ति को भूल जाता है । यही घरोहर इस का जीवन है, अतः इस के बिना इसे बचकर भी बच नहीं सकता । फलतः अज्ञानमय मोह में पड़कर इसी आनन्द की खोज के लिए इन्द्रियों के द्वारा यह लौकिक विषयों के पाप भक्तता करता है । उभर विषयों में आनन्द कहाँ । वे तो स्वयं अज्ञानरूप होते हुए आत्मानन्द से अज्ञान हैं । फलतः विषयों में अज्ञानित आनन्द के न मिलने के कारण यह भीर भी अधिष्ठा म्याकुल हो जाता है । जीवत्वा की इस आगन्तु क वेदना को दूर करनेके लिये, वेदनामूलक अधिष्ठा दोषों का समूल निरास करने के लिए प्रवृत्त होने का गीताशास्त्र अधिष्ठा से उत्पन्न लोकनिवर्णार्थ आचर्य लक्षण अधिष्ठादि दोषों को हटाने का उपायमात्र बन जाता है । यह उपाय है—धम्म-ज्ञानादि रूप विद्यामार्गों का उरुत्व । अधिष्ठा जिन उपायों से प्रकट हो जाती है, उन उपायों का रक्षण करना ही तो गीता का मुख्य सच्य है । उन उपायों से होता क्या है ? अतर्विद्य बुद्धियोगनिष्ठाओं की प्राप्ति । धम्मबुद्धियोग से अधिष्ठा विषय की, ज्ञानबुद्धियोग से मोह रूपा अधिष्ठा की, वैराग्यबुद्धियोग से रागैररूप आसक्ति की, वैश्वबुद्धियोग से अधिष्ठा की निर्हास हो जाती है । आचर्य हट जाता है, आत्मबोध का उदय हो जाता है शान्ति प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार आत्मविद्याम जैसे गीता अधिष्ठा को मुख्य सच्य बनाती है, एनमेव प्रकृतिविद्या किंवा बुद्धिविद्या में गीता बुद्धियोग को अपना प्रधान उरुत्व मानती है ।



## बुद्धियोग का स्वरूप निर्बचन

क्या अधिष्ठा के साथ बुद्धि का योग नहीं रहता ? विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार तो हम यही कहेंगे कि बुद्धि अधिष्ठा के बिना अज्ञानमय भी स्वस्वरूप से प्रतीति नहीं रह सकती । इन्द्रियों

का बिम्बों के साथ सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियों में जो एन्द्रियरुचि ज्ञान रहता है, उसी से तत्त्व बिम्बों का साक्षात्कार होता है। इस बिम्बव्यवस्था के हेतुभूत ऐन्द्रियरुचि ज्ञान की प्रतीक्षा एवं प्रसंग सर्वेन्द्रियपवन नाम से प्रसिद्ध प्रबलतन्त्र नाम का इन्द्रमत्स्य मन्त्र ही है। प्रज्ञाशास्त्रात्मक इस मन्त्रका उक्त से निकलने वाले अर्थात् का हो नाम इन्द्रिए है। दूसरे शब्दों में मन्त्र यदि दीर्घ बिम्ब (दीर्घक की ओ) है तो इन्द्रिए इस बिम्ब से निकलने वाली रश्मि है। फलतः इन्द्रियों का मन्त्र के साथ नित्य सम्बन्ध रहना सिद्ध हो जाता है। मन्त्र काश्मा से निष्पन्न हुआ है, बुद्धि सूर्य से उत्पन्न हुई है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। जिस प्रकार ईश्वरसंस्था में काश्मा सूर्य प्रकार की लेकर ही प्रकाशित रहता है, एवमेव जीवसंस्था में काश्मरूप मन्त्र सूर्य रूप बुद्धि के प्रकाश को लेकर ही प्रकाशमान रहता है। इसी शीघ्रप्रकाश की कृपा से इन्द्रिय-ज्ञानों के बढ़ होने पर सञ्ज्ञावस्था में परिवर्तित होता हुआ मन्त्र अपने सांकारिक मानस बिम्बों के साथ स्निग्ध बित्या करता है। जब बुद्धि महानात्म्य के साथ पुरीतति नाडी में जाकर ज्योतिर्बल काश्मा में अपीत हो जाती है (रूच जाती है) तो बुद्धि से प्रकाश प्राप्त करने वाला मन्त्र प्रकाशकाय होता हुआ सुषुप्तवस्था में परिवर्तित हो जाता है। फलतः मन्त्र का बुद्धि के साथ अनिष्ठ सम्बन्ध होना सिद्ध हो जाता है। बुद्धि में जो चिदप्रकाश है, वह भी उस का अपना प्रकाश नहीं है। कारण बुद्धि वाक्प्रकृतिरुचि होती हुई तत्त्वरूप से सबका ज्ञान है। कर्तृप्रकृति इस बुद्धिकार्य प्रकृति में अवरप है, उपर पुरुषत्वात्मा से प्रसिद्ध विद्वान्ता निष्कल्प है शुद्ध चिदास स्वरूप है। इस विद्वान्ता के विद्वान्ता को लेकर ही बुद्धि में ज्ञानज्योति का प्रादुर्भाव होता है, जसा कि—“वक्तुः कर्मा, पुरुषस्तु पुण्डरिकावधिर्मेवः इत्यादि प्राधानिक सिद्धान्त का अनुसार स्पष्ट है। जसा जो बुद्धि काश्मा के चिन्ता को लेकर ही अपना बुद्धित्वा सुखान्तरवने में सर्व्व होती है, उस बुद्धि का काश्मा के साथ योगन हो, यह कहे माना जा सकता है। अवरप ही काश्मा (महदवधिर्ब्रह्म पुण्यात्मा) का बुद्धि के साथ साक्षात्सम्बन्ध है। मन्त्र के साथ बुद्धि द्वारा काश्मा का सम्बन्ध है। इन्द्रियों के साथ बुद्धि—मन्त्र का काश्मा का सम्बन्ध है। एवं बुद्धि—मन्त्र—इन्द्रियों के द्वारा परम्परया काश्मा का बिम्बों के साथ भी सम्बन्ध है।

तभी तो उन्हें पर्यायि, उन्हें शृणोमि अहं वदामि, उन्हें स्तुयामि, उन्हें विचारयामि इत्यादि रूप से इन्द्रिय-मन-बुद्धि के व्यापारों के सम्बन्ध में अहंरूप आत्मा का अभिनय किया जाता है। इसी पारम्परिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराशयाद्बुद्धिरिन्द्रियेषु परा मनः ।

मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतन्तु सः (गी० १५४२) ॥

इस प्रकार उक्त निदर्शन से यह अजीबोती सिद्ध हो जाता है कि बुद्धि का आत्म के साथ अक्षरप ही निम्न योग है। ऐसी दृष्टि में हम प्रश्न कर सकते हैं कि, जब बुद्धि का आत्मा के साथ योग रहना प्रकृति सिद्ध है तो भगवान् ने बुद्धियोग नाम की किस अपूर्व निष्ठा का प्रतिपादन किया, भगवान् ने हमें क्या नई बात सिखाई? प्रश्न यथावत् है। सधमुच बुद्धि का योग प्रकृति सिद्ध है। अक्षर केवल यही है कि प्रकृति मिद योम विपमयोम है, एव भगवान् ने सम्बन्धयोग का उपाय दिया है। अक्षरवत् सर्वत्र सम है। फिर बुद्धि मन-इन्द्रियों के व्यापारों में विचरना क्यों? मानना पड़ेगा कि सम्बन्धमाशयक आत्मा के साथ बुद्धि आदि का विपम योग होता है। इस विपमता का क्या कारण? कहना पड़ेगा कि आत्म एव बुद्धि के बीच में आने वाले अविद्या के आश्रयने ही इस योग का विपम बना रक्खा है। इसी विपम-योग में हमें (आत्मा को) मोह में अलत रक्खा है। इसी दृष्टि पर सादीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरन्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानपाटत्य देहिनाप ॥ (गी० १५४) ॥

जोक में हम देखते हैं कि यदि एक रोगी मनुष्य कुछ भोजन करता है तो वह उसे खाति न करते हुए अहित ही करता है। इस का भोजन करना भोजन न करने के समान है। यदि हम विपमता से रिस्ती से मिलते हैं तो हमारा यह मित्रता न मित्रता के समान है। यदि दो प्रेमियों के मध्य में कोई अन्तराप है तो उनका मित्रता न मित्रता ही कहा जायगा।

एक सिद्ध के सामने लड़े हुए अथ पशु को यदि अथ भास सिद्धते हैं तो क्या यह सिद्धान्  
 सिद्धाना कश्चात्प्रम २ ठीक यही दशा यहाँ समझिए । यदि बुद्धि और अज्ञान के साथ आत्म  
 के अन्तराल से विषम योग है तो क्या यह योग योग कश्चात्प्रम २ यद्यपि नहीं । मन्वान् तो  
 यह तक मन्वते हैं कि यदि बुद्धि अथ अज्ञान के साथ विषमयोग है तो यह योग योग नहीं, एक  
 यह बुद्धि बुद्धि नहीं- 'नारितबुद्धिरयुक्तस्य , न चायुक्तस्य मानना " । इन्हीं की हृदय  
 से एक सांस्कारिक कर्मा के प्रभाव से अनेक बड़े दोषों ने बुद्धि की प्रातिरिक्त प्रतिभा का  
 नाश करते हुए ज्ञान-विज्ञान दोनों का अन्त नष्ट कर रक्खा है । दोषों ने हम बुद्धियोगनिष्ठ  
 से बहित कर रक्खा है । सुनिष्ट । मन्वान् क्या कहते हैं—

तस्मान्नविश्विवाद्यावर्षा निषम्य मरतर्षम ।  
 पाप्मान मन्वि सन ज्ञानविज्ञानायन्म् ॥ ( गी ३ । ४१ । ) ॥  
 धूमेनाग्निपते नहिर्यथाग्निर्गो मनेन च ॥  
 पथोन्मेनाहतो गभस्ताया तनेद्माहतम् ॥ ( गी ३ । १८ । ) ॥  
 ग्राह्य ज्ञानमनेन ज्ञानिनो निरवधैरिथा ।  
 कामरूपेण कान्तेय दूष्प्रेषानसन च ॥ ( गी ३ । २६ ॥

यू में हमने जोटा की संख्याजता अनेक प्रकार से सिद्ध की है । दो शब्दों में यहाँ  
 भी इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहते हैं । शीला को अथ 'प्रज्ञाविद्या' समझिए ।  
 अथ शब्द के अनेक अर्थ हुए हैं । परन्तु गीता के सम्बन्ध में हम अथ से 'अभ्यय पुरुष'  
 का अर्थ करेंगे, अथ शीला का यही अर्थ प्रचलन अर्थ है । इस अभ्यय अथ की विद्या पुरुष-  
 विद्या प्रकृतिविद्या मेह से दो भागों में विभक्त है । अभ्यय पुरुष से ही सम्बन्ध रखने वाली  
 अभ्यय की मक्ति ( भाग-अथ-अभ्यय ) रूपा, अतएव आत्मरूपका आत्मयी विद्या पुरुषविद्या  
 अभ्यय अथ की पहिली विद्या है । प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली प्रकृति की मक्तिरूपा, अतएव प्रकृति  
 अथका प्रकृतिमयी विद्या दूसरी प्रकृतिविद्या है । अभ्ययमक्तिरूपा, अतएव आत्मरूपा इस  
 पुरुषविद्या , किंवा आत्मविद्या में बुद्धिमक्तिरूपा, अतएव प्रकृतिरूपा इस प्रकृतिविद्या

यज्ञ योग हो जाना ही बुद्धियोग है। दूसरे शब्दों में सूर्यलक्षण बुद्धि का विषम योग से हटकर सूर्यलक्षण से अन्वय के विषय भाग के साथ सम्बन्ध कर सना ही बुद्धियोग है। योग पहिले भी था परन्तु वह विषम था, अतएव पूर्वकपनानुसार वह योग अयोग था। समस्त सङ्गता बुद्धि का आत्मा के साथ योग होना ही वास्तविक बुद्धियोग है, बुद्धियोग का यही स्वरूपनिवर्तन है। गीता को प्रधान रूप से यद्यपि बुद्धियोग का उपाय ही बतसाना है। ऐसी स्थिति में इसे केवल योगशास्त्र ही कहा जाना चाहिए था। परन्तु जिस आत्मप्रज्ञ के साथ, किंवा अहमविद्या के साथ बुद्धि का योग बतसाना है, उस आत्मा का स्वरूप बतसाना भी गीता का आवश्यक कर्तव्य हो जाना है। फलतः जहाँ गीता ने बुद्धियोग का प्रतिपादन करने से योगशास्त्र को उपाधि प्राप्त की है, वहाँ योगशास्त्रमूढ अहमप्रज्ञ का निरूपण करने के कारण "ब्रह्मविद्या" उपाधि से भी आने को मुक्त करत हुए अपनी सर्वशायता को चरिताप किया है। अहमविद्या के साथ बुद्धि का योग चार प्रकार से हो सकता है। चार प्रकार से समत्वयोग उपपन्न होता है। अतएव बुद्धियोग चार प्रकार के होजाते हैं। कारण स्पष्ट है। जिन के कारण बुद्धि में विषमता का उदय होता है वे स्वयं चार भागों में विभक्त हैं। विषमतामूढक क्लेशों को बुद्धियोग दूरा दहाना है। हटने वाले चार हैं, अत हटा ने बाल भी त्वार हा होने चाहिए। प्रतिश्रुति में समनता ही अपेक्षित है। भाग्यो यह मानना पड़ेगा कि दुःख को आप उतारन नहीं करते अपितु दुःख का मूल प्रकृति है। भसा जिसके कारण आप नहीं, उस आप हटा करे सकते हैं। इसके सिवा तो आपको प्रकृति की ही शरण में जाना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यदि कोई हतर्था दुःखों से प्रस्त होकर उन्हें दूर फान के लिए प्रकृति विशेषी अपन कल्पित कारणों का आश्रय सता है, तो फल होने का स्थान में उसके दुःख और बढ़ते ही हैं। प्रकृति न दुःख रिया है, प्रकृति सुधारण। प्रकृति में गुण भी हैं, दोष भी हैं। दूसरे शब्दों में जो समन्वित कि विषम प्रकृति भी प्रकृति है, सम प्रकृति भी प्रकृति है। विषम को सबसे हटाना जासकता है। प्रकृति का प्रकृति को निकटता है—"विषय विषयीपचम्"। कांश स्पष्ट से निकल सकता है। एक कांश को निवारण ने

के लिए आपके हाथ दूसरे कटि के प्रयोग में निमित्त बन सकते हैं। आप स्वयं यदि हाथों से ( बिना कटि के सहारे ) कंटा निकलाना चाहेंगे तो परिश्रम व्यर्थ जायगा। पूर्व अनुसृत्यदि के आघात से वह सूक्ष्म कण्टक इतस्त होकर छोटे भी गहराई में जाता हुआ अधिक वेगना का कारण बन जायगा। कपरा साफ करना है तो उस कचरे का ( तुरतमह रूप मुहारी का) आश्रय छोड़िए। यदि छोटे पर मिट्टी (मैल) जम गई है तो मिट्टी से बर्बाद करिए। मिट्टी आने काय जमी थी मिट्टी ही उसे हटाएगी। क्या बिना साधुन पानी के आप बह का मैल दूर करसते हैं !। बस ठीक वही दशा यहां समझिए। दुःख दुःखा है, अविद्यादि दोषों से, नियम प्रकृति से। इसे हटाने के लिए आगको समप्रकृति का ही आश्रय लेना पड़ेगा। आगका काम जेकस इतना ही है कि विषमप्रकृतिरूप विन अविद्यादि प्राकृत दोषों में आप को बुझा कर रक्खा है उन दोषों के प्रतिद्वन्द्वी विषाद गुण उपस्थित करदे। जिस प्रकार प्रकृत के आ जाने से प्रकाश का प्रतिद्वन्द्वी अन्धकार अपने आप विहीन हो जाता है, बिना प्रकृत के आप आश्रय लेना करने पर भी प्रकृति सिद्ध तम नहीं हट सकता। एकमेव जिस दिन आप का बुद्धि में अविद्या दोषों को प्रतिद्वन्द्वी विषाद का उदय हो जायगा, उस दिन दुःखमूला अविद्या जाने काय निवृत्त हो जायगी।

हा आप प्रकृत में अन्धकार आतन्त्र है। दुःखनिवृत्ति के प्रयास में नहीं, अतित्तु दुःख निवृत्त करने काको प्रकृति परे व्यत्मसाह करने के प्रयास में। मिट्टी ही छोटे का मैल साफ करेगी। प्रकृति की ओर से पहिले से यह नियत है कि इतने बह प्रयोग से मिट्टी छोटा साफ कर देती। आप उतना बह यदि १० मिनट में ही सगा देंगे तो दस ही मिनट में छोटा साफ हो जायगा। यदि २ घंटे में अपेक्षित बह लक्ष करेंगे तो सत्राई में ही उतना ही समय लगेगा। बह प्रयोग आपको अनिच्छर में, सत्राई प्रकृति के अनिच्छर में। साथ ही में बह भी निश्चित है कि यदि आपने अपेक्षित बहप्रयोग कर बासा तो प्रकृति तदनुसार अपने आप सत्राई कर देगी। इसी प्रकार समस्तयोग में कितना बह कितना आत्मसुख, कितना इन्द्रिय निग्रह अपेक्षित है, सत्व, आर्बुद, अज्ञान, अहिंसा, सर्वभूतकी आदि जो जो नियम अपेक्षित हैं इन को आप कितना ही खम



सपन कर लेंगे, सिद्धि उतनी ही अधिक निकट आजायगी। इसी रहस्य को धरम में रख कर मागधन् कहते हैं—

“तव स्वयं योगससिद्धिं कासेनात्मनि बिन्दति ॥ (गी० ७। १८)।”

यदि आश्रम प्ररन करें कि हमें सम्यकयोग को प्राप्त करने में कितना समय खोगे ? भयस्य कितना बड़ा खर्च करना पड़ेगा ? तो हम कहेंगे अपने कर्मों से पूँछिए । “ भितना गुह दासो उतना मीठा” किन्दन्ती प्रसिद्ध है । आपके आत्मा में जितना कर्म लेप है, वह सब बिस बिम एकमन्ततः निहृत हो जायगा, बुद्धियोग सिद्ध हो जायगा । परीक्षित की मुक्ति सात दिन पाठपठ सुनने से हो सकती है । आश्रम बरसों मागधत सुनने वाले, स्वयं अपने को भगवत्ताभावमानने वाले कथावाचक भी राम-श्रेय से मुक्त देखे जाते हैं । होसक्या है आप आश्रम ही मुक्त हो जाय, संभव है अनेक जन्म में मुक्ति हो । कर्मप्रतिपत्तारत्न्य, साय ही में प्रयत्न तारतम्य ही उक्त प्ररन का सम्पादन कर सकता है । फिर भी आत्मसिद्धि के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि अनेक जन्म का प्रयास ही इस सिद्धि की प्राप्ति का कारण है । क्योंकि इस म्यायामय दोषमूर्ति मित्र के कुवर्तों में बद्ध पड़िये तो कोई प्रयत्न ही नहीं करता । बहानों में एक आश्रम ध्यकि प्रयास करता भी है तो मोह जाड इसे पद पद पर सद्व्यभुत मनान के लिए सायने व्यस्य है । फलतः प्रयत्नशीलों में भी कोई बिरला ही भाग्यवान् धरम सदय परपदुष सप्य है ।

मनुष्याणां सहस्रपु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

पततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वचि तत्ततः ॥ (गी० ७। ११) ।

पहना जन्मनामन्ने ज्ञानचाम्ना प्रपद्यते ।

धामुदेवः सनमिति स मरारमा मुदुनम ॥ (गी० ७। १२)।

धेनकजन्मससिद्धस्तवो याति परां गतिर ॥

“चुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पयस्तत् कवयो वदन्ति”

क्या इसी एकमात्र विभीषिकासे दर दर उक्त बुद्धियोग-निष्ठायास के माग को मोहरे ।

नहीं। यह ठीक है कि पूर्णतन्त्रि पेट भर जल पीने से ही होती। परन्तु एक पुस्तकूर पानी भी प्यासे के आहवा को आसिक खानि पदुषा सकता है। हमें एक रूप्या नहीं मित्र सकुष इसलिये नया दो चार आनें छोड़दें। यदि आसिक बेतन २० न मित्र तो ५० - ६० की उपेक्षा कर आकर्यस्य वनते हुए नया अपने कुटुम्ब को मोर भी अधिक हु सी करने के कारख नमें। कौन बुद्धिमान् इस युक्ति का समर्पन करेय। उचम कम्म सदा उचम ही रहंय। पूर्ण न सही, बहुतसही, बहुत न सही बोका सही। “सही” उपादेय है, “गसती” अनुपादेय है। आम प्रत्येक दशा में काम है। कुक्षु भी न करने से कुक्षु करना आम्हा मनाग या है। वृ—वृद्ध करते घट कम्मान्तर में जल से परिपूर्ण हो जाता है। “बापरे बाप ! अनेक जम्म, ओह कैसा भयङ्कर मतिबान न हम से यह कमी न होगी” यह आकर्यस्यों की भाषी है। “जितना, जैसा बन पड़ेगा, उतना पैसा करेगे, और अनरय करेगे”—यह कर्मकीरों का उद्घोष है। यही उद्घोष सिद्धि का मूख्यार है।

न हि कस्याप्यहं कश्चिद् बुर्गति तान ! गच्छति ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य प्रापते महतो मयात् ॥

निष्कर्ष यही हुआ कि—“आत्मविद्या में बुद्धि का सममत्र से योग हो जाना ही बुद्धियोग है। यह योग चार भागों में विभक्त है। गीता आत्मविद्या के साथ साथ इन्हीं चारों योगों का उपदेश देती है” जैसा कि पाठक आने के प्रकस्थ में देखें





## १२- गीता का बुद्धियोग



## १-वैराग्य-बुद्धियोग

एव के गीताप्रतिपादित व्या परिध्या, गीताप्रतिपादित बुद्धियोग, एव बुद्धियोग-शब्द का स्वरूपनिर्वाचन इन तीनों प्रकारों से पाठकों को यह विदित होग्या होग कि गीता शब्द ने आत्मा के ज्ञान भाग के सम्बन्ध में तो चार विधाओं का निरूपण किया है, एव आत्मा के कर्मभाग के सम्बन्ध में चार बुद्धियोगों का निरूपण किया है। गीताप्रतिपादित आत्मा प्रथमपुरुष है। विश्व द्वारा अ-पमक्ति-लक्षणा आत्मविद्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, एव बहिर्लक्षप्रकृतिमक्ति-( बाह्यप्रकृतिमक्ति)-लक्षणा बुद्धि की ओर बुद्धियोग द्वारा हमारा ध्यान आर्षित किया है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के समन्वितरूप का निरूपक यह गीता शब्द अत्रय ही एक एव अद्वैतिक प्रत्य कहा जासकता है। कृशनिवृत्ति ही गीता शब्द का मुख्य उद्देश्य है, तदर्थ भगवत्सम्पत्ति प्राप्ति का उपाय बतलाना ही गीता का मुख्य विषय है। विज्ञान प्रयाही के नष्टमाय हो जाने से आनन्द-समान में क्लेश को दुःख का पर्याय, एव भग को ऐश्वर्य का पर्याय समझ बारहा है। वस्तुतः क्लेश दुःख का कारण है, एव भग पर्याय का कारण है। अविद्या अस्मिता राग-द्वेष अभिनिवेश इन पाँचों के लिये क्लेश शब्द नियत है। इन क्लेशों के आजाने से दुःख का उदय होता है। इसी प्रकार अज्ञान-वैराग्य पेशय इन चारों के लिये भग शब्द नियत है। इन के अगमन से शान्ति-लक्षणा आनन्द का विकास होता है। आनन्द-लक्षणा भगवत्सम्पत्ति को प्राप्त करो, भग के प्रतिवृत्ति क्लेश निवृत्त हो जायगे, क्लेशनिवृत्त से क्षोभ-लक्षणा दुःख अने व्या-निवृत्त हो जायगा। सत्य भगवत्सम्पत्ति का नाम बुद्धियोग है। भगवत्सम्पत्ति प्राप्ति के प्रकार (तत्त्विक) का नाम विद्या है। इस प्रकार चार बुद्धियोगों के कारण तत्त्वज्ञान-प्रकार-मत्ता विद्या भी चार ही हो जाती है, जैसा कि आगे की तात्त्विक से स्पष्ट हो जायगा। इन चारों प्रकारों में से एक भी प्रकार का अनुष्ठान अस्मत्सत्त्वा की शान्ति का कारण नन प्राप्त है। यदि चारों का ही विकास है तब तो कहना ही क्या है। अतुर्विद्य बुद्धियोगविद्यता पुरुष पुरुष नहीं, साक्षात् परब्रह्म का अन्तार है।

बुद्धियोग-विद्या चतुष्टयी —

- १-वैराग्यबुद्धियोगः—॥ राजर्षिविद्या—॥ तत—रात्रियेय नद्वैतः (१)
- २-ज्ञानबुद्धियोगः—॥ सिद्धविद्या—॥ तत—अविद्यालक्षणमहमिष्टि (२)
- ३-ऐश्वर्यबुद्धियोगः—॥ राजविद्या—॥ तत—अस्मिन्नानिष्टिः (३)
- ४-धर्मबुद्धियोगः—॥ व्यासविद्या—॥ तत—अभिपिबेत्तनिष्टि (४)

यद्यपि सत्य मुक्तमात्म में उक्त योगों, एव विद्याओं का विस्तार से निरूपण होने बाक्य है, पर तु प्रकृतसंसार के लिए संक्षेप से इस उपोद्घात प्रकरण में भी क्रमशः इन का स्वरूप ज्ञान सेना लनाकरपक न होगे। पहिले राजर्षिविद्या मुक्त वैराग्यबुद्धियोग को ही धीन्विए। राम-द्वेषसद्यः क्षेत्र से उत्पन्न होने वाले खेक को उठाने बाक्य करण ही वैराग्यबुद्धियोग है, एव इस करण का स्वरूपज्ञान कराने वाली प्रक्रिया ही वैराग्य विद्या है। यही विद्या क्षेत्र में राजर्षिविद्या नाम से म्बद्ध हुई है।

पूर्वजन्मकृत कर्मों की हृषा से उत्पन्न सुस्कार हमारे इस प्रारम्भ जन्म के कारण बनते हैं। सांसारिक कर्माजुस्तार ही हमें प्राणाय-सत्रिय-वैश्य-शूद्र इन चारों वर्गों में से किसी एक वर्ग में जन्म लेना पड़ता है। व्यपक आत्मा का कर्मकण शरीर क-वन में जा जागा यही आत्मा की पहिली परतम्बता है। उन्ही सांसारिक कर्मों के प्रबल भाषत से, प्रबल प्रेरणा से हृषा न होते हुए भी—“अनिष्टमपि पार्श्वेय वनादिव नियोजित” इस सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक दुःखपर तत्त्व मोगों में प्रवृत्त होना, आत्मा की दूसरी परतम्बता है। पिता के शुक, माता के शोम्बित में औपपातिक रूप से कम्बल प्रतिष्ठित होकर गर्भाशय यन्त्र से नियन्त्रित होना भी एक महा परतम्बता है। माता पितृ के सांक्रामिक दोषों का उन के पुत्र होने के लते अधिकारी बनना ही एक महादुःख का उदय है। प्रहृष्टिमण्डलन भ्रूरम्बों की सद्य में गर्भाशय में आने से तत्त्व प्रबों के तत्त्व प्रबों से युक्त होकर उन की हृषा का मापन बनाना भी कम पर तम्बता नहीं है। जिस वेद्य में हम जन्म लेते हैं, उस



देश की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति भी हमें निर्भय नहीं छोड़ देती। आर्थिक परिस्थिति के अनुपार, किंवा शिक्षा की कमी के कारण मता को जैसा भोजन प्राप्त होता है, उस विकृत व बहुल भोजन के रस से नाभिनाश द्वारा गर्माशय में प्रतिष्ठित हन्यार जो पोषण होता है, उस रसपोषण से होने वाले जो गुण दोष हैं, उनका भी हमें हिस्सेदार बनना पड़ता है। इस प्रकार शुक्रदोष, शोथितदोष, प्रहृदोष, नाड़ीदोष, देशदोष, अन्नदोष, कम्मदोष, शरीरदोष आदि अनेक दोषों की चहार दीवारी से घिरता हुआ यह जीवन्मा कम्मरूप भोगने के लिए परतल पर अक्रीण होता है। बोध्य क्या है—सहजसिद्ध सांसारिक कर्मा की परतन्त्रतावश ऐसे उक्त दोषों को तो निवृत्त होना ही पड़ता है, परन्तु हम से अतिरिक्त अपने इन्द्रियरोषणक्षय प्राप्तपरम ( नासमग्नी ) से यह भोर भोर भी दोषों को बटोर लेता है। पहिले के समाप्त नहीं होते, भोर सञ्चित हो जाते हैं। सञ्चित अपिद्यादिदोष एव प्राक्कनकम्मरूप सांसारिक दोष जीवन्मा के जोतेष्य विद्याभाग को सदा ब्राह्मण कर लेते हैं। यही इसके दुःखी रहने का मूल कारण है। किन्तु कारणों से यह दुःखी रहता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हम पहिले रागयो-द्वेष नाम की दो प्रसिद्ध अथवाविभूतियों को ही पठकों के सम्मुख उद्दिष्ट करते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा मन से हुए सांसारिक विषयभोगों में प्रवृत्त होते हैं। साथ ही में यह भी एक सिद्ध विषय है कि किन्तु ही पदार्थों के साथ तो हमारा प्रेम होता है, एक विलसनों ही से एष्यन्त देव रहता है। प्रेम और द्वेष दोनों ही व्यापारों में हमारा मन उन विषयों में बद्ध हो जाता है। जिस के साथ हम प्रेम करते हैं उस प्रती के व्यक्तर से हमारा मन आकारित रहता है। साथ ही म जिस के साथ द्वेष करते हैं, उस का व्यक्तर भी अन्त पटल पर उचित रहता है। शत्रु एवं मित्र दोनों मन पर चट्टे रहते हैं। आश्रयतो यह है कि एक प्रेमी मित्र कभी मुक्त्या भी जासकता है, परन्तु एक प्रमत्त शत्रु छाते, पति, सोते, उठते, पिये सदा ही सारी उचित पर बड़ा रहता है। जिसो रसु ( रस्ती ) में सीधी गूँठ लगना राग है, उन्ही गूँठ लगना द्वेष है। शास्त्रपरिभाषा के अनुसार अनुकूल वाचन राग है, अनिकूल वाचन द्वेष है। एक आदमी आप के सामने खड़ा है, दोनों के शरीर का स्पर्श नहीं है, केवल दृष्टि का स-

मन्ध है। वह व्याप को देख रहा है व्याप उसे देख रहे हैं। दोनों का मन्ध पराठक एक है, दोनों का सहयोग हो रहा है। शरीर से प्रयुक्त रहते हुए भी दोनों का बन्ध एक कन रहा है। इस मुख-सामुख्य का ही नाम "राग" है। छीत्रिए अप दोनों ने मुख को लौटा दिया। पीठ से पीठ मिखा दी। परिष्कान कण हुआ-आप का दृष्टि पूर्व में है तो दूसरे की दृष्टि पश्चिम में है, दोनों के बन्ध मिस्र मिस्र हैं। स्थान स्थिर-शरीर दोनों के परस्पर में मिले हुए हैं। सहयोग में अवहयोग है, सम्बन्ध में असम्बन्ध है, मेल में वेमेल है। इस प्रसिद्ध सहयोग का ही नाम "द्वेष" है। राग में विषय का आगमन होते हुए बन्धन है, एवं द्वेष में विषय के न जाने पर भी बन्धन है। सप स्थिर, विभक्त प्राणी आदि से हम कोसों दूर भागते हैं। फिर भी इन के साथ मन का योग रहता है। कानून के जानन वाचों को यः मासुम है कि बोरी करने वाले जोर की अपेक्षा छोटी की मशह रखने बसे को अघक दण्ड मिलता है। ठक बही दरा यथा है। मन का विषय के साथ सम्बन्ध करने बसे द्वेषानुयायी का मन उस अधिप विषय के साथ दृक्कृप से बद्ध रहता है। राग एवं द्वेष दोनों ही आसक्ति के कारण हैं। अपवा आसक्ति के ही रागासक्ति एवं द्वेषासक्ति भेद से दो विवर्त हैं।

आपने मार्ग में चबते हुए एक सुन्दर दरप देखा। दरप की अक्षिणसुन्दरता से आपका मन उस ओर विशेष रूप से आकर्षित होगया। तत्काल उपसम्पिबेद के प्रभाव से उस दरप की सुगुण आप के मन पर उग गई। आप आगे निकल गए, परन्तु मन में बही दरप बद्धा हुआ है, मन दरपकाउपकारित बन रहा है। मन पर दरप की जो श्राव है ( जो कि सत्कार नाम से प्रसिद्ध है ), बही "वासना" नाम से प्रसिद्ध है। वह दरप संस्काररूप से मन पर बस जाता है, अतएव इसे वासना कहना बन्धन होता है। यह वासना सत्कार करता क्या है ? सुनिए ! आप घर सोट आते हैं। परन्तु आपको वह मनसत्कार "घसें, फिर एकबार उस दरप को दूसें" यह विचार उत्पन्न किया करता है। फलतः इस चबणा से मन उस विषय के साथ बद्ध हो जाता है। वापना ही स्मृति की जननी है स्मृति ही रागसंस्काररूप विषयबन्धन की जननी है। वह आसक्ति होती कब है ! यह भी विचारयोग्य प्रश्न है। यदि आप घर लौट

कर क्षणिक कर्मों में व्यस्त हो जाये तो स्पृष्टि का उदय न होगा। फलतः अज्ञाना सरकार को वृत्तसम्बन्धी विषय की ओर मन को ले जाने का व्यवहार न मिलेगा। यदि आप ओर किसी कार्य में प्रवृत्त न होकर बार-बार उसी विषय का चिन्तन करते रहे तो इस ध्यान का विरक्तता से व्यवहार ही स्पृष्टि का उदय हो जायगा। फलतः मन आसक्तिपाश में बद्ध हो जायगा। आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि 'चञ्चल हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्' के अनुसार सक्षम-विकल्पान्तर ( प्रवृत्त-परित्यागधर्मीवच्छिन्न ) मन किसी विषय पर विरक्तता तक स्थिर नहीं रह सकता। अथवा इस विषय पर, अथवा उस विषय पर, कभी उसको छोड़, इसको छोड़ा, कभी अन्य को छोड़, अन्य को छोड़ा यह मन का सामाजिक धर्म है। जब मन चिरकाल तक किसी विषय पर स्थिर नहीं रह सकता तो यह मान लेना पड़ता है कि आसक्ति के मुख्य हेतु चिरकालिक ध्यान में व्यवहार ही मन को किसी अन्य सहयोगी की सहायता से अक्षय्य हो जाता है। विद्युत् मन चिरकाल तक एक ही विषय के अनुष्यन में सदा व्यवहार है। यह सहयोगी है—बुद्धि। बुद्धि स्थिरचक्षुः है। बुद्धि के सहयोग से मन में स्थिरता का उदय होता है। फलतः बुद्धि सहकृत मन चिरकाल तक उस विषय के चिन्तन में सम्यक् हो जाता है। मन स्वयं स्थिर पदाथ है। अज्ञान मन का निर्माय अज्ञाना चन्द्रसोम से हुआ है। चन्द्रसोम भाग्य तरण है। भृगु तेजोरूप है। इस अपने स्नेहगुण से तेजोवर्षणा बुद्धि की स्थिरता को लेकर मन विषय में आसक्त हो जाता है। यह अनुष्यन ही विषयसंग का कारण है। बुद्धि के इसी सहयोग को लोकमान्यों में "सुयात्" कहते हैं। सुयात् बुद्धि का आधार है। यदि मन बार-बार उस विषय का खयाल करता रहेगा, बुद्धि की मदद लेता रहेगा, तो व्यवहार ही वह विषयासक्ति में फस जायगा। यदि आपने सुयात् ( बुद्धि ) हटा दिया तो आसक्ति को व्यवहार न मिलेगा।

बुद्धि तत्र उपेक्षा उपेक्षा मेद से दो भागों में विभक्त है। मन और बुद्धि का सयोग होता है। इस सयोग में यदि बुद्धि मन के अधीन है, तो उपेक्षा है। यदि मन बुद्धि के अधीन है, तो अपेक्षा है। उपेक्षा बुद्धि उन्मिषाकावृत्ता (अपने आप उठी हुई स्वभाषिकेष्वा,

के उस ओर विमत्स्थान में प्रतिष्ठित विषयों के ससर्भ से आत्मरूप समता से प्युत होता हुआ विषयमात्मसूक्त विपाद से मुक्त होजाता है। इसी प्रकार आसक्तिबश विषयों से रूप करता हुआ व्यस्त्य से इस ओर हटता हुआ भी विपाद के कुबल में फस जाता है। दोनों (एग-डेप) में ही स्थानविप्युक्ति है, दोनों में ही चोम बध्ना करतांति है, जैसा कि परिसेस से स्पष्ट है।

करना नथ बाहिर ! कैसे आसक्ति हटाना बाहिर ? उत्तर यही सुप्रसिद्ध बैराग्यबुद्धि योग है। आसक्ति को आप नहीं हट सकते, अपितु आसक्ति का प्रतिद्वन्द्वी अनासक्तिबलस्य बैराग्य ही इसे हटा सकता है। जबकि आसक्तिरूप अविद्यायुक्त बुद्धि में तन्मयनिवृत्ति लक्षण बैतम्यमात्र उत्पन्न न किया जायगा, ज्यत्क पूर्णरूपनानुसार सारे उपाय व्यय जांसी। जिस दिन बुद्धि में, किंवा बुद्धिसहकृत मन में बैतम्य का उत्प होजायगा, उस दिन आसक्ति अपने आह हट जायगी। ऐसी बैराग्यभागेपेता बुद्धि का अरमविषय के साथ जो योग होगा, यही बैतम्यबुद्धियाग कहलावेगा। तम्य को बुद्धियोग नहीं कहा जाता है। बुद्धिका ( अरम्य क साथ ) योग तो सतः सिद्ध है, जसा कि पूर्व के बुद्धियागनिर्बचन में विस्तार से स्तसाया जा चुका है। सतः सिद्ध बुद्धियोग आसक्तिरूप आसक्त से अरममोक्षि से विमुक्त होता हुआ विप-मता का करण बन जाता है। आसक्तिरूप बैराग्य क भा जाने से आसक्त हट जाता है, सम-लक्षण अरमा से मुक्त मुद आत्मभ्याति से योग करती हुई प्रसात्कार का प्राप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में "बैराग्यबुद्धियोग" का "बराग्यहनुक-बुद्धियाग" यही तम्यस्य समभला बाहिर। बुद्धियोग सिद्ध लक्षण है, बैतम्य साथ है। इस साथ की सिद्धि के लिए, दूसरे शब्दों में आग्य के उत्प क लिए अन्तरे ही उपयों का आभय लेना पडता है। यह उपाय सम्य ही बैराग्यविषय है, यही गजविषय है। गजविषय में भगवान में प्रधान रूप से अनासक्ति का ही उत्पण दिया है प्र त्रिन वृत्तियों से त्रिन उपायों से आत्म एग रूप से विमुक्त होता है, वे उपाय बलगाय हैं। अमुक न्यक्त में बैतम्यहनुक बुद्धियाग का उत्प हुआ कि नहीं, यदि इस का निश्चय करना हो तो उस व्यक्ति की वृत्ति ( वचन व बहार ) पर लक्ष्य दीजिये। यदि उस व्यक्ति की वृत्ति में ममता है, पर उस के स्पष्टार में "दूसरा ही काइ करना है, दूसरा ही कोइ





कराता है। दुनिया के काम ऐसे ही बनते हैं, ऐसे ही बिगड़ते हैं। इन भावों की अप्रामाण्यता देखते हैं, तो विश्वास कर लीजिए! उसने वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठा में सिद्धि प्राप्त कर ली, यही इस योग की पहिचान है। एक हीरा मिच गया तो हर्ष नहीं, बर नष्ट होमम तो झोम नहीं। न किसी से राग, न किसी से द्वेष, इसी का नाम समता है। कार्य सिद्ध हो गया तो ठीक है, न सिद्ध हुआ तो ठीक है, यही समत्वयोग है। समय समय पर ज्ञान-कर्म के द्वारा आत्मा में ऊँचे नीचे भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। कभी हमारा ज्ञान हमारे आनन्द का करण बनता है, कभी हमारी सपना हमें दुःख देने लगती है। कभी कोई कर्म हमें प्रसन्न कर देता है, कभी किसी कर्म को करके हम पश्चिन्न होते हैं। ज्ञान-कर्म के यह उच्चावचभाव हमारे मन में झोम उत्पन्न करते रहते हैं। किसीने आपके कह दिया कि तुझे अमुक व्यक्ति एक सहज रूपमें देगा। लीजिए सुनते ही यौद्धजगद् में एक लज्जन खड़ा हो गया। जिस प्रकार एक रोगघट मनुष्य को खाना पीना कुछ अन्धा नहीं लगता, वह रोगवेदना से छटपटाता रहता है, ठीक वही दशा इस की हो जाती है। अपसावसा सब कुछ सुना देती है। इसी प्रकार किसी ने कह दिया कि आज से तुझे सेवा कर्म करना पड़ेगा, लीजिए सारा वरसाह भन्द होगया। वस जो पुरुषपुत्रज ज्ञान-कर्म के इन उच्चावचभावों में सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी निरव्य निर्दम रहता है, जो म कभी अज्ञानवास करता, न कभी अज्ञानता करता, विश्वास लीजिए! उसे वैराग्यबुद्धियोग मिच गया। ऐसे भीर की प्रज्ञा ( बुद्धिसहकृत मन ) सर्वथा स्थिर हो जाती है, क्यों कि उसने प्रथिमाग छोड़ते हुए अज्ञान-प्रतिष्ठा को अपना लिया है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि मन के आधीन हो जाती है, उपेक्षा-भाव का उदय हो जाता है। फलतः सतत विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी यह निर्विकल रहता है। इसका अपना इच्छास्वात्मन्य दूट कर ईश्वरेश्वर में अन्तर्भूत हो जाता है। इसकी तो "कुर्वन्नेवेह कर्माणि न करोति न सिष्यते" यह अवस्था हो जाती है। इसी वैराग्यबुद्धि योग का विस्तरण करते हुए भगवान् कहते हैं —

१ — योमस्यः कुड कर्माणि सज्ज त्यक्त्वा धनक्षय !

सिद्धपसिद्धयोः समो मृत्वा समर्त्तं योग उच्यते ॥ (२।११।)

२ — ईदं तैमित्तं सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (५।१६) ।

३ — सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईश्वरे योगयुक्तत्वात् सर्वत्र समदर्शनं ॥ (६।२६) ।

४ — ब्राह्मणोपम्येन सर्वत्र समं परयति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (६।२७) ।

है अनुभूतं तुम्हें ब्रह्मसिद्धि छोड़ कर ( वैराग्यसंपत्ति प्राप्त करने हुए ) योग ( बुद्धि-

योग ) में प्रतिष्ठित हो जाओगे । सिद्धि एवं ब्रह्मसिद्धि में अपने आपको सम बना लो । क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है । क्योंकि जिस दिन राग-द्वेष-मद-मोह-मांस-कर्म छोड़ते हुए तुम वैराग्यवद्बुद्धिव्यापक ब्रह्म ब्रह्म ही सोचें, उस दिन तुम्हारा बुद्धिसहज मन योगसहज ब्रह्म ही प्रतिष्ठित हो जाएगा । उस दशा में न सिद्धि से तुम्हें राग होवे, न ब्रह्मसिद्धि में द्वेष रहे, क्योंकि योग की यही महिमा है । ब्रह्मयोग सच्चिदानन्दसहज है । उस पर प्रतिष्ठित हो जाने से विषयों को अन्तर ही नहीं मिलता ।

जिन योगियों का मन समत्वयोग में प्रतिष्ठित हो गया, उन्होंने इसी लोक में, इसी शरीर से सम्पूर्ण विराट् पर विजय प्राप्त कर लिया । कारण स्पष्ट है । इन्द्रियत्व अन्वयवत्तं "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमरसवत्" के अनुसार सर्वत्र सम है, ब्रह्मसिद्धि दोषों से स्वयं स्वतः निर्निमित्त है । मैं सब शय्य अपनी बुद्धि का जिन्होंने इस इन्द्रियत्व सम एवं निर्दोष ब्रह्म के साथ योग कर दिया, जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो गए, वे अन्तर ही विषयतासहज विराट् पर विजय प्राप्त कर चुके ।

एकविंशतितमोऽध्यायः अनुष्ठान से ब्रह्मपहेलिक बुद्धिविद्ये को सिद्ध करने वाला, अर्थात् "योगयुक्तत्वात्" नाम स प्रतिष्ठित ब्रह्म योगी सदैव मशानमन्त्र से कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहता । बुद्धि अपने स्वयं को सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, एवं सम्पूर्ण भूतों को अपने आगमों प्रतिष्ठित देखता है । तदप्यप्य पद है कि जिस प्रकार विराट् पर विजयवाक्य अन्वयवत्तं सम्पूर्ण विराट् में



प्राप्त है, एव सम्पूर्ण विरव उसके गर्भ में प्रसिद्ध है, इसी आत्मीयता से जैसे उस का कित्ती के साथ न राग है, न द्वेष है, तथैव बैराग्यबुद्धियोग द्वारा अल्प क्ल साक्षात् करने बाबा औषात्मा' (संकीर्णकर्मणा) अव्यय के साथ सममात्र को प्राप्त होता हुआ इन्द्रमात्रों से वृषक् हो जाता है ।

हे अर्जुन ! जो (महापुरुष ) अपने ही समान सर्वत्र देखता है, विरव के दु सखो अपना' वृषा समन्ता है, विरव के सुन को अपना सुख समन्ता है, वही मेरी दृष्टि में धेष्ट योगी है । अर्थात् ज्ञान- एरव्य - भर्माबुद्धियों का अनुष्ठान करने बासे भी योगी अवरय फलसते हैं । परन्तु इन सबकी अपेक्षा समस्तकाल बैराग्यबुद्धियोग से सिद्धि प्राप्त करने बासा योगी ही सपथेष्ट कष्ट जायगा । गीताप्रातिपादित राजर्षिनिषा हाए सिद्ध बैराग्यबुद्धियोग का यही संक्षिप्त स्वरूप निर्वचन है ।



## ९—ज्ञान-बुद्धियोग

जिस प्रकार राम-द्वेषरुपि आसक्ति का प्रतिद्वन्दी भाव "बैराग्य" नाम से प्रसिद्ध है, एतमेव मोह का प्रतिद्वन्दी भाव ज्ञान है । दर्शन ने ज्ञान के प्रतिद्वन्दी इस मोह को "अविद्या" शब्द से व्यञ्जन किया है । यद्यपि दर्शनमयाहा के अनुसार ज्ञान के प्रतिद्वन्दी को अविद्या शब्द से व्यञ्जित करना असङ्गत प्रतीत नहीं होता, परन्तु विज्ञान भर्षादा के अनुसार इसे अविद्या न कह कर मोह शब्द से ही व्यञ्जन करना चाहिये । करव मोह-अस्मिता-आसक्ति-अभिविषेय इन चारों का ही नाम अविद्या है । अविद्या शब्द से चारों का ग्रहण होता है । इस दृष्टि से तो अस्मिता भी अविद्या है, अभिविषेय भी अविद्या है, आसक्ति भी अविद्या है, मोह भी अविद्या है । परन्तु जब चारों के वृषक् नामों की हम गणना करेंगे तो उस समय मोह को मोह ही कहेंगे । फलतः विज्ञानपथ में— "अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषा-भिविषेयाः पञ्च केया " इस के स्थान में "मोहास्मितारागद्वेषाभिविषेयाः पञ्च केया" यह रूप होना चाहिये । मात्र हमारी बुद्धि में सत्सत्कथ, निय प्रकृति की दृष्टा से मोह का साक्षात्प रता है । इस मोह के सम्बन्ध में बुद्धि भी मुख बन जाती है, सद

सत्रियेक नष्ट हो जाय है। हमने पूर्व प्रकारों में आप्त को ज्ञानकर्ममय कतवाया है। साय ही में यह भी कतवाया गया है कि पाप्म की कृपा से ज्ञान के सम्पूज्ज्ञान, मन्वयाज्ञान अज्ञान भेद से तीन पूर्व हैं, एव कर्म क भी सुकर्म, विकर्म, अकर्म भेद से तीन ही पूर्व हैं। विद्वत् ज्योति सम्पूज्ज्ञान है, इसल उद्येजक क्रिया उदय का हेतु सुकर्म ( निवृत्ति उद्येण निष्कर्म कर्म ) है। निष्कर्म कर्म के प्रभाव से जिस में इस निराशय शुद्ध ज्योति-मय सम्पूज्ज्ञान का उदय हो जाता है, उसे ही जीवमुक्त, विदेहमुक्त "मुक्तात्मा" कहा जाता है। गीता की परिभाषामुसार यही "सिद्ध" कहा जाता है। इसी सिद्धावस्था के सम्बन्ध में— "बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" "ज्ञानामि" सब कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽजुन" " उदारः स एतं ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। मन्विन ज्योति कर्ममय ज्ञान है, यही साध्यवस्था है। इस अवस्था से युक्त व्यक्ति को ही गीता ने "ब्राह्मण" कहा है। आरण्य अज्ञान है। यह नष्टवस्था है। प्रपद्यत का ( ज्ञानज्योति का ) दोषों से सत्त्वा आहत हो जाना अज्ञानवस्था है, ज्ञानाभावा का नाम अज्ञान नहीं है, अज्ञान अज्ञान से एकमत आहत ज्ञान ही का नाम अज्ञान है। इसी अज्ञानाहत ज्ञान को, जिसे आरण्ययुक्त ज्ञान को "योः" कहा जाय है, जैसा कि — "अज्ञानेनाहत ज्ञान तेन मुच्यन्ति जन्तवः" इत्यादि से स्पष्ट है। यहाँ ज्ञानज्योति का सत्त्वा अभिप्राय है। अज्ञान इष्टे "प्रपद्यतः" कहा जाता है। विद्वत् शौचिक, केवल अज्ञाननिवृत्ताभयमथुनादि सामाजिक विषयों को ही परम पुत्राभ मानने वाले ऐसे नष्टव्यवस्थामुक्तों के जिये ही भगवान् को "सर्वज्ञानविमूर्खांस्तान् विदि नष्टानपद्यतः" इन कर्तृ शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। ऐसे अज्ञानियों के जिये तो शारीरगत एक प्रकार से केवल अज्ञान-रहित ही बनता है। निरक्त अज्ञान में आरण्य की कमी रहती है, उनका ज्ञान आधिक रूप से विकसित रहता है। कुछ व्यक्ति है, उन जिन ती सत्कर्मों में प्रवृत्ति होती है। एव सत्त्व का मे अज्ञान भी है, इस जिनविद्वत्त्व का भी उदय नहीं होता। यही साध्यवस्था-एव अज्ञानमुक्त है। इनका जो मोह है, समस्त ज्ञानबुद्धियोग उसे ही हराता है। विद्वत्

मोहात्म्यात्म विमुक्त अवस्थानियों की चिकित्सा सर्वथा अशुभव है । ज्ञानबुद्धियोग के प्रभाव से जब मोह रूप आवरण की एकान्तता निवृत्ति हो जाती है, तो अन्तर्भ्रंशिता का उदय हो जाता है । यही सिद्धावस्था, किञ्च मुक्तावस्था है । इस प्रकार ज्ञान कर्म के तारतम्य से जीव अवस्थाएँ हो जाती हैं ।

- १— १— शुद्धज्योतिः ( शुद्धस्वः ) — सिद्धावस्था ( मुक्तयोगी ) — मुक्तात्मा  
 २— मञ्जिवज्योतिः ( मञ्जिनस्वः ) — साध्यावस्था ( पुञ्जावयोगी ) — आरुक्छुः  
 ३— आकरयन् ( विशुद्ध तम ) — लौकिकभावस्था ( अयुक्त ) — अक्षयभ्युतः  
 २— १— सम्यग्ज्ञानम् — सुकर्म ( विकल्पितः ) — मोहात्यन्तिकनिवृत्तिः  
 २— अन्वयाज्ञानम् — विकर्म ( विकल्पितः ) — मोहात्याशात्मना प्रवेशः  
 ३— अज्ञानम् — अकर्म ( असाध्य ) — मोहात्यन्तिकप्रवृत्तिः

उक्त खानों ज्ञानपथों, एव तीनों कर्मपथों का परस्पर में सन्धि होता रहता है । हम यह प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि कभी क्षणमात्र के लिये हमारी बुद्धि में सात्त्विक विचार आते हैं, कभी मज्जिम विचार प्रवाहित रहते हैं । कभी हम सर्वथा मूढ़ ( अज्ञानी ) बन जाते हैं । बुद्धि कुण्ठित हो जाती है । इन्हीं तीनों विचारों के आधार पर कभी हम सुकर्म की ओर, कभी विकर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं । कभी अज्ञान के प्रभाव से “क्या करें कोई काम ही नहीं दीखता” ऐसे अक्षरों का प्रयोग करते हुए सर्वथा अकर्मत्व बन जाते हैं । इस प्रकार हमारी बुद्धि किसी एक ज्ञान-अन्वयाज्ञान-अज्ञान-सुकर्म-विकर्म-अकर्म पर निर्भर न रह कर समय समय इन तीनों के सन्धि में पड़ी रहती है । प्राकृतिक विज्ञान के अनुसार सन्धि सदा क्षोभ का कारण है । उदाहरण के लिये पौं समझिये कि हम किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं । उस वस्तु की ओर हमारा मन मुक्त रहा है, यही काम है । अब उसी वस्तु को दूसरा भी चाह रहा है । एक ही वस्तु पर दो व्यक्तियों के काम ने आकांक्ष कर रक्खा है । इन दोनों कामों के सन्धि का परिणाम यह होता है कि दोनों व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । इस क्षोभ से “हम अमुक विषय को चाहते

‘हूँ’ यह मात्र सस्कार पर आधारित होता है। इसे वह प्रतीति इति कहता है कि अमुक व्यक्ति इनारे अभिसहित पदार्थ को लेना चाहता है। यदि वह न होता तो हमारी इच्छा में कोई बाधा न थी। इस सस्कार के आधार से मन सुख हो जाता है। मन के दोष से मुक्ति सुख ही जाती है। कर्तव्याकर्तव्यविवेक जाता रहता है। हम श्रमणत् सम जाते हैं। अन्त कोई काम नहीं करती। सामने कोई खड़ा है, अपना नहीं यह भी मान नहीं रहता, जागते हुए भी सो रहें हैं। इस प्रकार ज्ञानरूप के लिए संपन्न से उपमर्दित, काम से उत्पन्न क्रोध के आवेश से उपमर्दित सस्कारों में जो एक जोम उत्पन्न होता है, उस जोम से मुक्ति में जो एक स्वस्थ हृत्ति का उदय होता है, वही माइ क्रिया समोह नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् श्याम ने इसे को मुखावस्था” कहा है। ‘मुग्धेऽर्धसवति.परिशेषात्’ (शा०सू. १।२।१ ) के अनुसार इस मोहावस्था में आधी जाग्रदवस्था रहती है आधी सुषुप्तावस्था रहती है। जाग्रदवस्था में शत्रु-गुरु-इत्यादि पापी जो चलाए हैं, वे भी यहाँ उपस्थित होती हैं। एव सुषुप्तावस्था की क्लेशमयवस्था जो चलाए हैं वे भी यहाँ विद्यमान हैं। फलतः मुखावस्था में दोनों अवस्थाओं का धर्मा का सम्मिश्रण हो जाता है। यही चित्त ( मन ) का बन्धन है यही वैचित्र्य मोह है। इस मोह से मुक्ति का ज्ञानरूप विद्यमान है, वह आवृत्त हो जाता है। परिणाम इस का यह होता है कि हमें फलस्य का ज्ञान नहीं रहता। फलतः आत्म्य एव सुख रहता है। किसी न भवा मुग कह िय तो हम महातु र्छ हो जाते हैं। महातावृत्त ज्ञानरूप सार्वत्रिक मोह हमें पर पर पर उपमर्दित किया करता है। जिस दिन ज्ञानोदय से मोह निवृत्त हो जाता है उस दिन हम सत्य निर्दोष को प्राप्त हो जाते हैं, उसा कि आचान् फलत है —

यदा ते मोहकलिनर्षं पृच्छिष्यतिपरिष्यति ।

तदा गच्छामि निर्द्वं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी०।१।५ )

(म उक्त शत्रुण मोह नामक शत्रु से उत्पन्न जो शोक है, उसकी निवृत्ति के लिए श्रेष्ठ या प्रसिद्धी अन्तर्गत प्रसिद्ध मन ज्ञानचुद्धियोग ( शान्तिगुण प्रादयता ) उपेक्षित है ।

पुष्टि में इस ज्ञान का उदय करते, किन्तु उपायों से, कत्र सम्भव है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए महाशान् ने जो उत्तर दिये हैं, उनकी सप्रष्ट ही ज्ञानविद्या है। ज्ञानोदय से सिद्धावस्था का उदय होता है, अतएव इस ज्ञानविद्या को सिद्धविद्या भी कहा जाता है। जिस प्रकार अनासक्ति वैराग्यविद्या का रहस्य था, एवमेव इस ज्ञान विद्या का मूल रहस्य अन्तर्ज्योति है। वैराग्य से जैसे आत्मा में अनासक्तिभाव का उदय होता है, एवमेव ज्ञान से अन्तर्ज्योति का उदय होता है।

ज्योतिराव अन्तः— बहिः मेद से दो मायों में विभक्त है। दोनों के स्वरूपज्ञान के लिये सूर्य चन्द्रमा को सामने रखिये। सूर्य ज्योतिर्भूषण है, चन्द्रमा भी ज्योतिर्मय है। परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। सूर्य चारों ओर से (बाहर भीतर सब ओर से) प्रकाशित है। इसे अपने को प्रकाशित करने के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। यह अपने ही प्रकाश से धार भी सर्वात्मना प्रकाशित है, एव इसने अपने प्रकाश से त्रिदोष्य को भी प्रकाशित कर रक्खा है। अतएव सूर्य को "स्वज्योति" कहा जाता है, यही अन्तर्ज्योति है। चन्द्रमा अग्नि के पुत्र माने गये हैं। प्राणैविज्ञान के अनुसार अग्नि प्राण पारदर्शकता का प्रतिवर्धक बनता

• प्राणविद्या ही वेदविद्या है। वन में इन प्राणों के बड़े बड़े गम्भीर रहस्यों का प्रतिपादन हुआ है। इन प्राणों की प्रधान रूप से १० जातियाँ मानी गई हैं। इन में ५-५ प्राणों के द्वा विभाग हैं। शून्य परस्पर में विद्या अविद्या पशुपत्नी की तरह प्रतिद्वन्द्वी हैं। अग्नि पहिला पञ्च मुख्य प्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी वायुसप्राण है। रुधिर स्रवण करना इस प्राण का मुख्य काम है। खून को सफेद बना कर प्राणी का निचाल करना इसी प्राण का अन्यतम कर्मा है। स्थूलकाय प्राणी भी वायुसप्राण के प्रवृत्त हो जान पर बिलकुल पीछा पड़ जाता है। पहला सफेद हा जाता है। अग्निप्राण के निर्मल हा जान पर भी वायुसप्राण का प्रवरा करने का अचमर मिलजाता है। दूसरा पितृप्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी पितृसप्राण है। मांस पर आक्रमण कर उस सुखा देना इस का काम है। पितृसप्राण का नाम है। पितृसप्राण का अनुसार पितृसप्राण पर आक्रमण करने वाला प्राण ही पितृसप्राण है। इसका आक्रमण से इन्हीं २ निकल आती है। इसी का "सूक्ष्म का रोम" कहा जाता है। तीसरा दधप्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी दधसप्राण है। पुष्टि का नत्र

इत्या वाचस्पतुर्द पदार्था का उत्पादक माना गया है। वाक्-घ्राण-अग्नि नाम के तीन सुष्ठो से वाचस्पतुर्विरव का निम्नत्व हुआ है, जैसा कि पूर्व के आत्मविधाप्रकरण में विस्तार से बताया जा चुका है। यही तीनों सुष्ठु कर्मणः अग्नि, सृगु अगिरा नाम से स्पन्दन हुए हैं। इन तीनों में अग्नि नामक अग्निशुक्त भी अग्नि-यम-घ्रादित्य भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। सृगु नामक वाक् शुक्त भी घ्राण-वायु-सोम भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। परन्तु अग्नि नामक वाक् शुक्त तीन नहीं हैं, अतएव "न अग्निः" इस निकृष्ट से इसे अग्नि कहा जाता है। अग्नि यह सौम्योत्ति को बा जाता है, अपने परदसकृता प्रतिकम्भक घर्म के प्रभाव से जिस पदार्थ में अग्निप्राय प्रथम रूप से रहता है, उसके अकारपर रक्षिणों को नहीं जाने देता, स्वयं उन को पी जाता है। इस अग्नि की "वचीति-अग्निः" इस निकृष्ट से इसे अग्नि कहा जाता है। सर्वथा हृष्य चन्द्रमा में अग्निप्राय की ही प्रथमता है। इससे शब्दों में अग्नि प्राय के आत्मन से वाचस्पतुर्द चन्द्रमा का स्वरूप निम्नत्व हुआ है। अतएव इसे अग्निपुत्र मानना स्वास्तगत होता है। इसी अग्नि की हृष्य से चन्द्रमा में अपने वाच्य सौम्यप्रकाश कारण न निकृष्ट कर प्रतिकल्पित होता हुआ अपत बीट जाता है। चन्द्रमा का जो प्रकाश है, वह सूर्य का ही प्रकाश है। सत्य ही में यह प्रकाश अत्यमुक्त मही अस्तित्व बहिर्मुक्त है। इसी अग्नि चन्द्रमा को "परशपोति" कहा जाता है, यही बहिर्मुत्ति है।

यही दो विभाग आत्मप्रकाश के सम्बन्ध में समन्वित। आत्मज्योति ही आत्मा-महत्त्व भेद से दो मार्गों में विभक्त हो जाती है। आत्मज्योति ( अन्तर्ज्योति ) अन्तर्ज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। अहोर्ज्योति बहिर्ज्योति है, यही भूतज्योति है। सूर्य-चन्द्रमा-विभक्त-तत्क-

करना, बुद्धि पर आत्मत्व करण इस का मुख्य कर्म है। यौवा मनुष्यप्राण है। इसका प्रतिह न्नी मन्वर्षप्राण है। मरण के अनन्तर प्राणी की वा अवस्था रहती है यही मन्वर्षप्राण है। इस का मन पर आत्मत्व होता है। यौवा प्राण्यप्राण है इसका प्रतिहन्नी आरप्यप्राण है। इन सब प्राणों का विषय प्रकृत में नहीं किया जा सकता। इसके अति आधिष्ठान्यदि प्राण ही इन्द्रिय हैं।

अग्नि आदि सब का इस भूतज्योति में ही अन्तमात्र है । 'तेमव भान्तमनुमावि सर्वं तस्य मासा सन्नमिद् विधाति' इस औपनिषद् सिद्धांत के अनुसार ज्ञानज्योति जहां भूतज्योति की मूलप्रतिष्ठा है, वहां "पञ्चब्रह्मोतिरयं पुरुष" इस ब्राह्मण सिद्धांत के अनुसार बिना भूतज्योति के ज्ञानज्योति भी स्वस्वरूप से विकसित नहीं हो सकती । दोनों का परस्पर में उपरान्त व्योपकारक सम्बन्ध है । सूक्ष्मज्योतिरूप भूतज्योति से बुद्धि का, एव अक्षरज्योतिरूप भूतज्योति से मन का स्वरूप निम्नगण्य हुआ है । फलतः अन्त्यात्मसंस्था में इन दोनों को हम भूतज्योति कह सकते हैं । इनके साथ इन्द्रियस्य अन्तर्ज्योतिष्वन अन्त्यकाम का सम्बन्ध रहता है । यदि इन दोनों ज्योतिषों के मध्य में मोह नामक क्लेश प्रविष्ट हो जाता है तो अन्तर्ज्योति अग्रहृत हो जाती है । फलतः बुद्धि अन्तर्ज्योति से वञ्चित होती हुई, केवल भूतज्योति के चक्र में बह होती हुई ज्ञान का कारण बन जाती है । यही ज्ञान मोह है, यही अज्ञान है, ज्ञानज्योति-विहीन बुद्धि का यही अविद्याभाव है । ऐसी स्थिति में अन्त्यविद्या में बुद्धिविद्या को बिना किसी उपाय के मुक्त करने के लिये मोह की निवृत्ति अपेक्षित है, एव तदर्थ अन्तर्ज्योतिर्द्वारा ज्ञान का आश्रय अपेक्षित है । यही ज्ञान मोह को हटायें, फलतः निराकरण बुद्धि अपनी ज्ञान संपत्ति से विकसित होती हुई आत्मविद्या के साथ योग कर लेगी । यही दूसरे ज्ञानबुद्धियोग का सक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है । इसमें ज्ञान ही प्रधान इतर है, अस्तपुत्र भगवान् ने इस ज्ञान विद्यापरम्परीयक सिद्धविद्या में प्रधान रूप से ज्ञान-विज्ञानद्वारा अन्तर्ज्योति के स्वरूप, एव तत्प्राप्त्युपायों पर ही विशेष प्रकाश डाला है । तृप्ति ही इस योग की सफलता की पहिचान है । तृप्तिस्तत्र १७ भागों में विभक्त है । जिसमें आरंभ इन तृप्तिषु का विकास देखें, विरहास कर जोनिये, उसे ज्ञानयोगनिष्ठा प्राप्त हो गई ।

— २ —

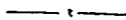
### ३—ऐश्वर्य बुद्धियोग

आनन्द-विज्ञान गर्भित, मन-प्राण-ब्रह्म, अक्षर-क्षरपुरुष से निरय सम्बद्ध, अक्षरिण पञ्चब्रह्मविशिष्ट, शुद्धआत्मनिष्ठम निवृत्ति का ही नाम "ईश्वर" है । इस ईश्वर की ईश्वरता

का ही नाम "एश्वर्य" है। यह ऐश्वर्य, किंवा ईश्वरता ज्ञान-कर्म-अप्य भेद से तीन तन्त्रों में विभक्त है। ज्ञान उसका पहिला ऐश्वर्य है, कर्म उसका दूसरा ऐश्वर्य है, एवं अप्य उसका तीसरा ऐश्वर्य है। इन तीनों ऐश्वर्यों से किंवा त्रिधा ऐश्वर्य से ईश्वर सब का ईश्वर (सानी-बन्धु) बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व में विकसित हो रहा है। ऐश्वर्यप्राप्ति इती ईश्वर के अर्थ का नाम जीवाम्म है। फलतः इस में भी उन ईश्वरीयवर्णों का आगमन सतःसिद्ध है। भेद ने ईश्वर की ईश्वरता के सम्बन्ध में जहाँ ज्ञान-कर्म-अप्य यह तीन तन्त्र मन्ने हैं वहाँ उपवेद मूल आख्यवेद ने इन्हीं तीनों को कर्म-कर्म-अप्य नामों से व्याख्या किया है। मन ही कर्म-रम्भ स्थिति है, यही कर्मरम्भ है, शिरोपत्र ही इस की प्रतिष्ठा है। प्राण ही कर्म है, यही कर्म है, हृदयपत्र ही इसकी प्रतिष्ठा है। वाक् ही अप्य है, यही अप्य है, नासिकपत्र ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अष्टांगसंस्था के तीनों पत्रों के द्वारा हम ईश्वर की ईश्वरता के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

- १-ज्ञानम्-(कर्म)-कर्मरम्भ (कर्म-शिवः)-मन
- २-क्रिया-(कर्म)-कर्मरम्भ (कर्म-मन्त्र)-प्राण
- ३-अप्यः-(अप्य)-अप्यरम्भ (अप्य-विष्णु)-वाक्

} - "त्रयंसदेकमयमात्मा"



मनःप्राणवाक् इत्येव ईश्वर प्रत्यपि असे ज्ञान से सर्वज्ञ, क्रिया से सचराकिमान्, एव अप्य से सचरित् बनता हुआ सभर्षि, किंवा पूणमर्षि बन रहा है। एकमव तदशमृतमनःप्राण-वाक् इत्येव जीवप्रजापति भी "पूणमर्षः पूषामिदम्" यद्वह तश्चमुष यद्वमुष तद्वन्विह" "योऽसौ, सोऽहम्-योऽह सोऽसौ" इत्यादि प्रत्यक्षों के अनुसार ईश्वर की ज्ञान-क्रिया-अप्य तीनों शिभूतियों से पूण है। ईश्वरता-भूत ज्ञान में किसी बात की कमी नहीं है। परन्तु आश्रय यह है कि ईश्वर के इन तीनों ऐश्वर्यों से निराप सुक्त रहता हुआ भी जीवाम्म अन्तर्गत, अन्तःशक्ति, एवं अन्तःशक्ति बन रहा है। "हमारे यह बात सभम्भ में नहीं जाती, हम उस परमस्ये परम में असमभ है, हमारे पास उस साधन की कमी है इस प्रकार यह अपने जीवन में ज्ञान-क्रिया-अप्य तीनों



विभूतियों की कमी का अनुभव करता रहता है। भ्रान्त यह नहीं, कस यह नहीं, पर्याप्त प्रथम नहीं, पदात्त भ्रम नहीं, पर्याप्त गृह नहीं, कहीं से यह कुछ भाग, कहींसे यह कुछ दे भाग, इस प्रकार यह निरन्तर भ्रम के पीछे अनुवाचन करता रहता है। यह सब क्यों होता है ? इस प्रकार उचर अस्मिता नम की अभिधा है। आत्मा के वास्तविक विकास को, आत्मा के ऐश्वर्य को को रोकने का भाव ही अस्मिता है 'स्मिन्-ई-पदसने' के अनुसार विकास ही स्मितभाव है। खिळा हुआ पुण्य स्मित है, इसलत हुआ मुख स्मित है। मुकुलित पुण्य अस्मिता है, मुग्धया हुआ चेहरा अस्मिता है। बुद्धि में जब इस अस्मिता श्रेय का आगमन हो जाता है तो रहता हुआ भी अस्मिता रह जाता है। इस अस्मिता से अनेकबलशय शोक का उदय हो जाता है, सदा मन मुग्धया रहता है निश्च अग्रान् रहता है। इस शोक को हटाने का उपाय है अस्मिता छूट को हटाना। अस्मिता तभी हट सकती है, जब कि अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य बुद्धि में उदित हो। बस जिस उपाय से बुद्धि अपने विष्कारूप ऐश्वर्य से युक्त हो जाती है, जिस ऐश्वर्य के आने से अनेकशयनिका अभिधा अपने आप हट जाती है, उन उपायों का समग्र ही ऐश्वर्यमिधा है। इसी को राजमिधा कहा जाता है। राजमिधा से ऐश्वर्यहेतुक बुद्धियोग का उदय हो जाता है, जिस प्रकार अज्ञमिधापरपर्यायक सिद्धमिधा का मौलिक रहस्य अन्तर्मोक्षि था, परमेश इस ऐश्वर्यमिधा का मौलिक रहस्य ईश्वरानन्वयत्व ही समझना चाहिए। हमारे और उसके उसके मध्य में अस्मिता का आभरण आगया है। इसी लिए हम अनेक अन्धी कि ईश्वरता को मूढ रहे हैं। हम मूढ जाते हैं कि हम उसी के एक अन्ध हैं, भाग हैं, अवयव हैं, जुग हैं। हम यह प्रपण देखते हैं कि यदि हमें हमारे वास्तविक इतिहास का पता ज्ञम जाठा है तो हमारे अहमा में अपने आप नवीन बल का संचार हो जाता है। उदाहरण के लिए आत्र के भारतवर्ष को लीजिए। हमें अपने मौलिक रहस्यरूप संन्य इतिहास से कथित रहते हुए आत्म में ही निष्ठा इतिहासों के द्वारा हमारे यह संस्कार बना दिए गए कि "हम पहिले, पूर्वयुग में मूल थे, अग्रम्य थे, जन्मही थे, जब पदार्थ की उपाय घना करने वाले थे, विज्ञानशून्य थे"। परिसामयह हुआ कि आत्र इस निष्ठासंस्काररूप अस्मि-

ता के आकरण से इस अपने उस पूर्व ऐश्वर्य को भूलते हुए अन्तरा अस्मिता प्रचारको कर ही गुणगन करने लगे । यदि कोई पुरुष उन्नत हर्षे सत्साक्षियगण ( भैरव विज्ञानद्वारा ), एष सत्य स्तिष्ठस द्वारा यह बता देता है कि तुम ऐसे न थे जैसे थे, तो तत्काल हमरी अस्मिता हट जाती है । जिस दिन हमें अपने वास्तविक स्वरूप का पता लग जाता है, उसी दिन हम अपने अन्तर में एक अमूर्त निश्चय का अनुभव करने लगते हैं । इसी निश्चय के बल पर हम अपने खोए हुए, एष बिने हुए, किन्तु छुने गए ऐश्वर्य को प्राप्त करने में समर्थ होजाते हैं । दो प्रतिद्वन्द्वियों में से पराजित होने वाल व्यक्ति के मन में यदि "अरे तुम तो अमुक के बराबर हो, कोई पचाह नहीं खेर ! फिर से मुक्तववा करो ' यह आशय पड़ जाते हैं तो अपने बराबरी का एक जागृत हो जाता है, अस्मिता पक्षमि हो जाती है । इस प्रकार ऐसे सैकड़ों स्थल बत ब्याज जासकते हैं, जिन में अस्मिता के प्रभाव से रहता हुआ भी बल-वीर्य दबा रहता है, एष यहाँ वास्तविक ऐश्वर्य के परिष्कृत कर देने से अस्मरीय निश्चित हो जाता है । टीक पही दया यहाँ समन्वित । जीवमान अस्मिता के आचरण से अपने मूलप्रभव ईश्वर के ऐश्वर्य से बन्धित होता हुआ खोसस्त बन रहा है । दूसरे स्थानों में यों समन्वित कि अस्मिता की हला से अन्तराक्षियुत बं बाम्म की बुद्धि भी अस्मितारूप अविद्या से युक्त हो रही है । इस अविद्या के प्रभाव से बुद्धि में जाने बला आत्मा का ऐश्वर्य आहत हो रहा है । पक्षत विद्याबुद्धि का अस्मितारूप विद्या के साथ योग नहीं हो रहा । पही इस जीवमान की ऐश्वर्य से विष्णुति है । इस के लिए इसे बुद्धि की अस्मिता हटानी पड़गी । साथ ही में अस्मिता हटाने के लिए इसे ईश्वर की अन्तर्य उपासना परनी पड़गी । फिरकाल ठक ज्ञान-विज्ञानमूर्ति ईश्वर का अनुष्णान करना पड़गा । इस उपासना के बल से ज्यों ज्यों जीवमान ईश्वर के निकट पहुंचता जायगा त्यों त्यों बुद्धि से अस्मितारूप अविद्या का आकरण हटना जायगा । जिस दिन उपासना सिद्ध हो जायगी, जीवमान सनामना उस का भक्त ( भग-भार ) बन जायगा, उस दिन बुद्धि से अस्मिता का एकपक्षतः विनाश हो जायगा, तत्काल बुद्धि में एष्य का उदय हो जायगा । एही ऐश्वर्यतत्त्व बुद्धि का अस्मितारूप के साथ जो योग होगा, वही ऐश्वर्य नामक बुद्धियोग कह

वाचस्पतिका । ईश्वर अनन्तधर है । इस की उस अनन्तरक्ति का मागीदार बनने के लिए "सा परानुरक्तिरीश्वरे" ( शास्त्रित्वस्य ) अनुसार जाते, पीते सोते, उठते, बैठते, चढ़ते सदा उस ईश्वर में परानुरक्ति ( अनन्वयभाव से ईश्वर की ओर मन फरे जगहना, अनन्वयभाव से वाच्य समर्पण ) रखनी पड़ेगी, इससे उस शक्ति का इसमें प्रवेश होगा । जिस प्रकार एक मित्रास्तीय अपरिचित के जाने से एक वाचक कुम्पित हो जाता है, एक सजातीय बन्धु के जाने से उस की मुकुञ्चित वृत्ति उच्छिन्न हो जाती है । एवमेव अस्मितारूप मित्रास्तीय के आने से हमारी बुद्धि कुम्पित हो जाती है । सजातीय ईश्वर-बन्धु के संसर्ग से हमारा यह मुकुञ्चित भाव दूर हो जाता है, हम अपने वास्तविक रूप को पहिचान लते हैं । इस बुद्धियोग का प्रधान वाचस्पतिका ईश्वर की अनन्वय उपासना है, इसी लिए भगवान् ने ऐश्वर्यविद्यापरपर्यायिका इस शास्त्रविद्या में प्रधान रूप से ज्ञान-मिथानसमुत्था, उपासना लक्षणा ईश्वर की अनन्वयभक्ति का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया है, अतः कि विद्यामात्र में स्पष्ट हो जायगा । इस उपासना का फल है, अक्षर-परब्रह्मण्य धर्मव्यपन्नसिद्धिश्च वैष्णव्यभाव की सिद्धि ।

अध्यात्मपुरुष के विद्या-काम-कर्म यह तीन रूप मने गए हैं । आनन्द विज्ञान विद्या अध्यात्म है, इसे ही परमपद कहा जा सकता है । प्राण-वाक्-कामाध्यात्म है, इसे ही अक्षर अध्यात्म कहा जा सकता है । दोनों के मध्य में श्रोत्रैसीयस नामक मन प्रतिष्ठित है, यही कामाध्यात्म है । मन

• विज्ञानशास्त्र में मनस्वस्व धार माया में विभक्त है । दूसरे शब्दों में अध्यात्मसंस्था में पृथक् पृथक् नाम-रूप कल्पबाधे धार मन प्रतिष्ठित हैं । सुख-दुःख का अनुभव करने वाला, नियत विषय के कारण इन्द्रियकोटि में ही अस्मत्भूत संबन्धीय मन पहिला मन है । इसे ही इन्द्रिय मन भी कहा जाता है । इसी के लिए अक्षरसंस्थिताने "मन पट्टामतीन्द्रियाधि" ( अथर्वसं० ) यह कहा है । वाक्-प्राण-बलु शोभ-मन इन पाँच इन्द्रियों में जो पाँचवाँ मन है, वह यही वैश्वीय मन है । इसी को हम बहिर्मान कहा सकते हैं । उक्त सब इन्द्रियों का सम्बन्धन करने वाला, अतएव सर्वोन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध, किन्तु इन्द्रिय न होने से अग्निन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अतोन्द्रिय मन ही दूसरा मन है । यही "प्रज्ञान" नाम से भी प्रसिद्ध है । इसे हम आन्तर्मान नाम से भी व्यवहार कर सकते हैं । तीसरा मन महेश्वर है । इसे ही चित्त-महात्-सत्त्व-

कर दोनों से सम्बन्ध है। यदि मन अथवा अन्वय की ओर है तो संसार है, पर अन्वय की ओर है तो मुक्ति है, अपने स्फुट पर है तो दोनों कर सम्बन्ध है। पर-अथवा-मनो वेदसे अन्वयकार्य के तीन भिन्न हो जाते हैं। इन्हीं तीनों के आधार पर प्राचीनों के ज्ञान-भक्ति-कर्मनाम के तीनो योग प्रतिष्ठित हैं। भिद्युक्त सांसारिक कर्मा में स्थित रहना कर्मयोग है। इसका साक्षी प्राणभक्त्युक्त अथवा अन्वय है। सांसारिक कर्मा कर एकमतत परिणाम करते हुए सर्वकर्म-परित्यागच्छरण संप्राप्त कर अनुत्पन्न करना ज्ञानयोग है। इस का साक्षी आनन्दबिज्ञानमय पराम्य है। कर्म सब करते रहना, परन्तु ईश्वर के निमित्त, यही भक्तियोग, किंवा उपासन

शुद्ध आदि विविध नामों से व्यक्तित्व किया जाता है। अन्वयान्दोष प्रकृतमन लक्षणसे पार कृत्य है। सूर्यस्थानीय विज्ञान (युक्ति) प्रकृत्य से यह प्रकाशित होता है। पस आ लक्ष इस प्रकृत का साक्षी विज्ञानमयाति का सम्बन्ध करता है, यही तीमरा विद्युक्त सत्त्व मन है। इसका, इसका ही नहीं सब का आत्ममन अन्वय मन ही श्लेषस्थीयस मन है। इसीको विज्ञानमानकमन श्लेष स्वसप्रज्ञ इत्यादि नाम से भी व्यक्तित्व किया जाता है। पदिक कर्मोंसे मन करणकूप है, एवं यौवा मन आत्मकूप है। इस पर अन्तर्भिति, बहिर्भिति भेद से वा प्रकाश की पित्तिये होती है। आनन्द विज्ञान की विधि ही अन्तर्भिति है। प्राण-वाक् की विधि ही बहिर्भिति है। अन्तर्भितिरूप अन्वय ही पर है, यही मुक्तिसाक्षी है, यही ज्ञानप्रकाश है। बहिर्भितिरूप अन्वय ही अथवा है यही सृष्टिसाक्षी है, यही कर्मकर्त्ता है। शब्दों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयधर्मव्यक्तिज्ञ मन ही अस्मात्मा है।

- |                     |                              |                                   |         |         |
|---------------------|------------------------------|-----------------------------------|---------|---------|
| १-विज्ञानमा-अन्वयमन | -स्फोरम्यर्थ ब्रह्म आत्ममनमन | आत्ममन                            | } आत्मा |         |
| २-चित्तम्           | मदमन                         | -गुणतमकमन-सत्त्वमनः               |         | अन्तमनः |
| ३-प्रज्ञानम्        | -सर्वेन्द्रियमन-             | अनिन्द्रियमनः-अनिन्द्रियमनः-बहिमन |         | } अहम्  |
| ४-बन्दीयम्          | -इन्द्रियमनः                 | - x - x - प्राणमनः                |         |         |

इन पाठों में से प्रकृत की इतरग्रासन में विज्ञानमा समक मन का ही सिद्ध करना पड़ता है। यही अथवा का अधिपता पता हुआ शक्ति का अकारण है। इसी के विकास का साक्ष्य-धारा में "अथ" (अथवा-विनि-वज्रामन) कहा जाता है। इसका अभाव का ही इसापी आन्वीय धारा में "अथवा" (अथवा अथवा-वज्रनिगमन-वज्रा अथवा-वि) कहा जाता है।

है। इसका साक्षी मध्यम अथवा मन है। इसमें पर अन्वय के ज्ञान माग का भी समावेश है, अथवा अन्वय के कर्म माग का भी समावेश है। अतएव भक्तियोगापरपर्यायिक इस उपसत्ता में कर्म की क्रिया आता है, ईश्वरानुत्थानलक्ष्य ज्ञान की ओर भी प्रवृत्ति रखी जाती है। यह मन मध्यपरिचित होने से ज्ञान-धर्म ( पर-अथवा ) दोनों की मत्त ( अवयव ) बना हुआ है। इन्द्रियमन का प्रधानमन में सम्मुख करते हुए दूसरे अर्थों में इन्द्रियसंपन्नलक्ष्य भोग का अनुष्ठान करते हुए चित्त द्वारा आत्मा को इस परास्वरलक्ष्य भक्तिरूप मन के साथ जुक्त कर देना ही भक्तियोग है। यही भक्तिनिष्ठा की सिद्धि है। कर्म कर रहे हैं परन्तु भक्तभाव, ईश्वर-रूप। अतएव यह कर्म कर्म होता हुआ भी वैश्वानरकोटि में प्रविष्ट हो जाता है।

१—ज्ञानम् } — परम्वय ( ज्ञानप्रधान ) कर्मनिवृत्तिलक्ष्यो ज्ञानयोगः ।  
 २—विज्ञानम् }

१—मनः } — उभयावयव ( ज्ञानप्रधान ) उभयलक्ष्यो भक्तियोगः ।

१—माय } — अवयव ( कर्मप्रधान ) कर्मप्रवृत्तिलक्ष्यो कर्मयोगः ।  
 २—माक }

विसृज्य भक्ति में आप अनर-परम्वयसमन्वितरूप कर्मावयवलक्ष्य वैश्वानरमात्र देखें, शिरसास कीर्तिये ? उसने ऐश्वर्यबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करली। ऐस भक्ति प्रत्येक कर्म में "भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी" यही वृत्ति रखता है। कर्मसिद्धि पर न यह हर्ष प्रकट करता, कर्म की असिद्धि में न शोक प्रकट करता, यही तो वैश्वानरसिद्धि है। इस तीसरे ऐश्वर्य बुद्धियोग का यही सञ्चित स्वरूपनिदर्शन है।

— ३ —

### ४—धर्म बुद्धियोग

प्रवृत्तिगुणक ज्ञान एव कर्म अन्तर्भाव की उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं। विज्ञान पर यह एक माना हुआ सिद्धांत है कि हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ देखते हैं, वह हमारा धनाय हुआ ही है। चन्द्रमा पृथिवी आकाश प्र. नक्षत्र-नद-नदी-प्रोपधि-वनस्पति-पशु-पक्षी

छवि-छीट-मनुष्य इत्यादि इत्यादि जितने जड़चेतनोपपत्ति पदार्थों को हम अपने धर्मबुद्धियों से देख रहे हैं, वे सब दीखने वाले पदार्थ हमारे बनाए हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने निर्मित पदार्थों को ही देख सकता है, एव देख रहा है। बात जब आपकी सी मामूम होती है। सूर्य चन्द्रादि हमारे बनाए हुए हैं, मन्त्र इस बात पर कौन विश्वास करेगा।

परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि तुम्हें अन्तर्य ही विश्वास करना पड़ेगा। इस विश्वास के लिये अन्तर्मगत् एव बहिर्जगत् मेद से जगत् के दो विषय मानने पड़ने। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्मगत् सर्वथा निष्क एव नियत है, एव बहिर्जगत् सब के लिये एक है। जहाँ तक आपका ज्ञान व्याप्त है, वहाँ तक आपका अन्तर्मगत् व्याप्त है। इस ज्ञानीप (ज्ञायाली) अन्तर्मगत् में अनेक प्रकार के (माकना वासनासदृशपामक) पदार्थ बैठे हुए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञानीपजगत् सर्वथा स्वच्छ है। कोई भी व्यक्ति दूसरे के ज्ञानीपजगत् के पदार्थों को नहीं देख सकता।

आपके ज्ञायाल में क्या है? आपके अन्तर्मगत् में कौन कौन सम्भार हैं? हम यह न जान सकते, न देख सकते। इसी प्रकार आप भी हमारे ज्ञायाल को नहीं जान सकते। आप, एव हम उसी को जान सकेंगे, उसी को देख सकेंगे, जो कि विषय आप के एव हमारे ज्ञानधरातल पर आता हुआ आप की एव हमारी प्रातिदिवस उपवि बन जाएगी। जिस प्रकार हमारा ज्ञानमण्डल हमारा अन्तर्मगत् है, एवमेव जहाँ तक ईश्वर का ज्ञान व्याप्त है, वहाँ तक ईश्वर का अन्तर्मगत् है। सम्पूर्ण निष्क ईश्वर का ज्ञानमण्डल है। सूर्यचन्द्रादि सारे पदार्थ ईश्वर के ज्ञानमण्डल में प्रतिष्ठित हैं। मन्त्र जब हम एक मनुष्य के ज्ञानीपजगत् रूप अन्तर्मगत् को नहीं देख सकते, तो ईश्वर के उस ज्ञानीपजगत् रूप विश्व को, किंवा विश्ववर्षित पूर्वोक्त सूर्यचन्द्रादि पदार्थों को कैसे देख सकते हैं। इसी प्रत्यक्षबिज्ञान के आधार पर हमें मन्त्र सेना पढ़ता है कि हम जो कुछ देखते हैं, हमारा ज्ञायाल हुआ ही देखते हैं। हमारे अन्तर्मगत् की अपेक्षा ईश्वर का अन्तर्मगत् भी बहिर्जगत् है, एव अन्य व्यक्तियों के अन्तर्मगत् भी बहिर्जगत् हैं।

बहिर्जगत् के आधार पर हमारे अन्तर्मगत् का निर्भर होता है। यही हमारी दृष्टि का विषय है। बात यथार्थ है। वैज्ञानिकों का कहना है कि ईश्वरीपजगत् में सूर्य भूषिकी से १३ सहस्र गुना बड़ा

है। क्या हमने कभी अपनी आँखों से सूर्य का इतना बड़ा आकार देखा है? असंभव। जब हम सूर्य का वह कार्बनिक आकार नहीं देख सकते तो किस आधार पर हम यह अभिमान कर सकते हैं कि हमने ईश्वरनिर्मित सूर्य को देख लिया। यही अवस्था अन्य ईश्वरीय पदार्थों के सम्बन्ध में समझिये। सूर्य का प्रतिबिम्बमात्र से चन्द्रपटल के साथ सम्बन्ध होता है। चन्द्र ने जिस सूर्यप्रतिबिम्ब का ग्रहण किया है, वह उस महाकाय सूर्य से सर्वथा अपूर्ण तरह है। इस आधार का जनक एकमात्र हमारा चन्द्र है। चन्द्र द्वारा प्रतिबिम्बित सूर्य का प्रधानमन से सम्बन्ध होता है। चन्द्र से निर्मित प्रधान पर आए हुए इसी द्वितीय सूर्य के लिये हम 'मैं मूर्ख देख रहा हूँ वह कहते हैं। प्रधान पर आया यही सूर्य सांस्कृतिक सूर्य है। संस्कार क जनक हम हैं, सांस्कृतिक सूर्य के जनक भी हम हैं, एव यही हम देख रहे हैं। जिस वस्तु की अन्त पटल पर संस्काररूप से आगति नहीं होती, दूसरे शब्दों में हमारा मन जिस का निम्न ख नहीं करता न उस का हमें ज्ञान ही होता, न उस को हम देख ही सकते। इसी आधार पर "भाषा माँ और भग परल-(मन्त्र)" यह किंवदन्ती प्रचलित है।

यह सांस्कृतिक जगत् ज्ञान कर्म भेद से दो भागों में विभक्त है। हम बिनाकर्म किये हुए ठाड़ी बैठे कुछ सोचा करते हैं नवीन नवीन कल्पनाएँ किये करते हैं। यह कल्पना व्यर्थ नहीं जाती। इसकी मम प छाप लग जाती है इसी का नाम कर्मजनित संस्कार है, इसी को शास्त्रों ने "भाषना" नाम से व्यवहृत किया है। इसी प्रकार कर्म करने से भी आत्मा पर उसी प्रकार से एक छाप लग जाती है, जैसे कि बासू मिट्टी पर पैर रखने से एक टप्पा लग जाता है। यही कर्मजनित संस्कार है, इसी को "रासना" नाम से व्यवहृत किया है। भाषना-भाषनात्मक संस्कारपुञ्ज ही हमारा अन्त जगत् है। इन संस्कारों की आधारभूमि बाह्य जगत् के पदार्थ ही हैं, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। उदाहरण के लिये हम अपने ज्ञान से अपने ज्ञान के भासना पर ही एक मकान बनाते हैं। मकान बन कर तैयार हो जाता है, यह द्वितीय मकान है। इसमें यहिजगत् (ईश्वरीयजगत्) का ईंट पत्थर सब कर इसे हम

वर्तमानकाल का रूप दे सकते हैं। यदि ज्ञानीय मन्त्रों की सीमा से बाहर कोई १२ पत्र ( शिखी के क्षेत्र से ) सम आता है तो उसे फ तो हम निकलवा देते हैं यदि उसका निकलना असुविधाजनक होता है तो वह इष्ट पत्र हमारे मन में सटवा करता है।

इसी प्रकार अपने ज्ञानीय विद्यासंस्कारों को वर्तमानकाल की वस्तु बनाने के लिये हरे काल, स्थायी, क्षैतिगी, लिपी आदि का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी वस्तुओं में जीव ईश्वर दोनों शिखरों का सम्मेलन है। एक जगती वृक्ष विशुद्ध ईश्वर का शिखर है हमारे अन्तर्गत में प्रतिष्ठित वही सांस्कृतिक जगती वृक्ष विशुद्ध जीव का शिखर है। हमने अपने इस अन्तर्गत के वृक्ष के आधार पर काटकाट कर उस ईश्वरीय वृक्ष का संस्कार कर उसे वायु के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस परिष्कृत वृक्ष में दोनों के शिखर हैं। प्राकृतिक पदार्थों को लुप्त कर मनुष्य विरहित जितने भी पदार्थ हैं सब में दोनों का सम्मेलन है। इस वही ईश्वरत्व का नाम अग्नि निवेश है।

यह हमने किया है, यह हमारी रचना है यह हमारी कारीगरी है यह हमारा सेवक है यह हमारा पुत्र है, यह हमारी सम्पत्ति है। यदि आवेशों को ही अग्निनिवेश कहा जाता है। अन्ततः देखा जाय तो उस ईश्वरीय अन्तर्गत के सामने हमारा एव हमारे अन्तर्गत का कोई मूल्य नहीं है। हम उससे कोई पुण्य पदार्थ नहीं हैं। हम उसी के अग्र हैं, वही हैं। अग्नि बुद्धि, मन इन्द्रियों के सब पर हम हमारे अन्तर्गत का निर्माण करते हैं वे सब कर्ण ( साधन ) ईश्वरीय सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि-वायु इन्द्र मास्करसोम दिक्त्वोम के प्रत्यक्ष हैं। जिस शरीर को हम अपनी सम्पत्ति समझते हैं, वह ईश्वरीय पार्थिव पदार्थ का प्रत्यक्षमात्र है। शुद्ध-शोधित के सम्मेलन से उत्पन्न अग्नि पुत्रादि को हम अपना समझने का अग्निमान करते हैं इनके मूल मूल शुद्ध शोधित ईश्वरीय अग्नि-वस्तुत्वों के प्रत्यक्षमात्र हैं। निदर्शनमात्र है। अग्निमानस्य के परमाणु परमाणु का विच्छेदन कर जातिये। सर्वत्र आपको ईश्वर की विभूति के ही दर्शन होंगे। फिर हम क्या रहे हमारा अन्तर्गत क्या रहा संस्कार क्या रहे फलतः अग्निनिवेश का क्या मूल्य रहा।



घोर-घोरतम इस अभिविषय नाम क वाप्याने ही हमें उम से पूवक कर रक्खा है। इन कामम नस भावना-वासनासंस्कारका अभिलेख न ही हमें “ वसुधै कुटुम्बकम् ” इस दुर्भीय विभूति से शकित कर रक्खा है। अभिविषयसंस्कारक इन संस्कारों की जननी है “प्रवृत्ति”। प्रवृत्ति से ही आत्मा में संस्कारों का उदय होता है। “वह हम स अनग है, हम उस अपना बनाम तो भ्रष्टा हो” “अमुक वस्तु हारा वन जाय तो भ्रष्टा हो” यही प्रवृत्ति है। इसी से संस्कार का उदय होता है। मनोवृत्ति का आवेशपूर्वक तत्सद् विषयों के साथ प्रवृत्त होना ही प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति कथन का मूल कारण है। उस आवेशमूलक इस प्रवृत्ति में जहाँ संस्कार का उदय होता है, ठीक इससे विपरीत निवृत्ति रूप अनावेश से कर्म करते रहने पर भी संस्कार का उदय नहीं होता। ऐसे संस्कारों द्वारा पाठकों के सामने रखे जासकते हैं कि जिन में प्रवृत्ति के कारण संस्कार देखा गया है, एवं निवृत्ति के कारण संस्कारों का अभाव देखा गया है। संसार में हम हजारों पदार्थ देखते हैं परन्तु मनीषा संस्कार आत्मा पर ही नहीं होता। जिस पदार्थ के साथ आत्मा का आवेश होता है, यही स्मृतिपटल पर अंकित होता है। प्रतिदिन सात्त्विक भोजन करते हैं। सुबह का योग शाम को भी याद नहीं रहता। यदि किसी पदार्थपर मन का अधिक कुत्सा हो जाता है तो उस पदार्थ का संस्कार आत्मा पर जम जाता है। जितनी भी इन्द्रियें हैं सब निरन्तर अपना अपना काम करती रहती हैं। आंख निरन्तर कुछ देखती रहती है, श्रोत्र निरन्तर कुछ सुनत रहते हैं, घ्राण निरन्तर कुछ सुगंध रहना है मन निरन्तर कुछ चिन्तन करता रहता है बुद्धि सतत कुछ विचार किया करती है। परन्तु सग ही इन से संस्कार उत्पन्न नहीं होते। धर्म में कतत हुए हम देखने भी हैं, सुनते भी हैं, सूंघते भी हैं मनन भी कर रहे हैं विचार भी किया करते हैं, फेद करण पुन वार नहीं है। परन्तु सभा स्थानों का शब्दों का, घ्राणों का, एवं विचारों का पर आने पर हमें स्मरण भी नहीं रहता। यह निवृत्ति की वृत्ति है। यदि किसी कामपर, शब्दपर, स्मरणपर, विचारपर हम आवेश के साथ मन का प्रयोग करते हैं तो इस प्रवृत्तमूलक आशय में संस्कार तब तक उत्पन्न विचारों को उद्भूत करने का अन्तार मिल जाता है।

पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म बना बंधन का कारण नहीं है। अपितु कर्मप्रसिद्ध सत्कार बंधन का मूल है। प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि लोक में वचकर्मों में नियत अधिक की कोड़े निम्ना नहीं होती। कारण उस की प्रवृत्ति मारने की नहीं है। वह अपने अधिकृत कर्म का पावन कर रहा है। सभी इन्द्रिय सत्ता कर्म कर रही हैं, कि सत्कार क्यों नहीं होता? क्यों नहीं बिना सत्कार के इन में जोम का उदय होता? क्यों सत्कारमात्र से बिना भी कर्म के जोम उत्पन्न हो जाता है? इन्हीं सारी परिदृष्टियों से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि कभी कर्म प्रवृत्तिमूलक बनता हुआ बंधन का कारण है, एव कभी कर्म निवृत्तिमूलक बनता हुआ बंधन है। कर्तव्यत्वेन कर्म अनुष्ठान करना ही निवृत्तिकर्म है। निवृत्तिमात्र को प्रभाव मानते हुए यदि आप धोरे से धोरे पाठक कर्म कर सकेंगे, तब भी बन्धन होगा। यदि जान बूझ कर कोड़े व्यक्ति किसी पर पापाण से प्रहार करता है तो वह दण्डन समझा जाता है। अनजाने पाद उसको हाथ से धोके से कोड़े मार भी जाता है तो म्यायाज्य उस के दण्ड पर सावधानी से विचार करता है। एक बारूक की असावधानी तथा क्षम्य मानी जाती है। चोरी करने वालों की अपेक्षा चोरी की म राह रखने वाले को अधिक दण्ड दिया जाता है। अपराधों पर मर्याद को निरोध प्रकृत दिया जाता है। हम सब का मूल रहस्य यही है कि कर्मलामप सत्कार बंधन का कारण है, एव ये ही प्रवृत्तिमूलक आवेश का जनक हैं। हम तो ऐसा ही कहेंगे—“हमारा कौन क्या निगाह सकता है” इसी का नाम आवेश है। यह उन सत्कारों की ही प्रकृति है। यही आवेश अभिविषय है, यही हठवाद है यदि बुराप्रह है। इस दोष को शास्त्रोंने महामपात्रह माना है। अभिविषय की विच्छिन्ना करना साधारण काम नहीं है। ‘तुम कुछ भी करो, हम नहीं मानते’ इस दुःप्रह की क्या विच्छिन्ना करे जाय। जहाँ धोरे धोरे शास्त्रकारों ने “न तु यदितिनिविष्टमूर्खजनचित्त माराधयेत्” कहा कर अभिविषय की विच्छिन्ना सर्वथा असमभव बतला दी है, क्या हमारा गताशास्त्र धर्मबुद्धिबोधद्वारा इसकी भी विच्छिन्ना बतलता हुआ सर्वमूर्ख बन रहा है।

प्राकृतिक ईश्वरीय नियमों के संघ का ही नाम “धर्म” है दूसरे शब्दों में प्राकृतिक कर्म

का ही नाम धर्म है, एक प्राकृतिक नियमों से विरुद्ध जाना ही अधर्म है, यही अधर्मसत्कार अभिनिवेश का जनक है। हम यही हैं, हम अपनी ओर से कुछ नहीं करते, सब कुछ यही कर रहा है, यही करवा रहा है, यही धर्म है। हम करते हैं, हम लेते हैं, हम देते हैं, यह प्रकृति विरुद्ध बहता ही अधर्म है। अधर्म से अभिनिवेश का उदय होता है। अभिनिवेश के आगने से बुद्धि का प्राकृतिक धर्ममात्र आवृत हो जाता है। ऐसी अभिनिवेश प्रकृति की जननी कनती हुई सत्कारोदय का कारण बन जाती है। यही सत्कार धम्मन के कारण बनते हुए आत्म अशांति के कारण बन जाते हैं। अभिनिवेशबन्धन क्लेश से उत्पन्न इस शोक के उत्पन्न होने का प्रतिबन्धक यही हमारा सुप्रसिद्ध धर्मसुद्धियोग है। बुद्धि में धर्म का उदय कैसे, किन्तु तपायों से, एकत्र हो। इन विषयों का समाधान करने वाला विद्याभाग ही "धम्मविद्या" नाम से प्रसिद्ध है। यही विद्या मीमांसा में 'धार्पविद्या' नाम से व्यक्तित्व हुई है। जिस प्रकार ईश्वरानन्यमक्ति ऐश्वर्यविद्या का मौलिक रहस्य था, तथैव इस विद्या का मौलिक रहस्य निवृत्त धर्म है। निवृत्तधर्म ही प्राकृतिक है, ये ही सत्त्व कर्म है, एवं यही धर्म है। ज्यों ज्यों आप निवृत्तधर्मरूप धर्म का आचरण करते जायेंगे, त्यों त्यों बुद्धि से अभिनिवेशरूप सत्कार हटते जायेंगे। इस चिरकालिक धर्मानुष्ठान से जब सत्कार एकान्ततः हट जाते हैं, एवं इसी धर्मरूप निवृत्त धर्म के प्रभाव से मविष्य में सत्कारों का उत्पन्न होना अशक्य हो जाता है तो उस समय बुद्धि सर्वथा निर्मल बनती हुई इसी धर्म के प्रभाव से उस धम्मयज्ञविद्या के साथ योग करती हुई पूर्ण प्रसादमात्र को प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में यों समझिये कि निवृत्तधर्म से धर्म का बन्धन बहता है, अधर्म निर्बन्ध बनता है। अधर्म के एकान्ततः उन्मोद से उत्पन्न अभिनिवेश नष्ट हो जाता है, धम्मसुद्धियोगनिष्ठ प्राप्त हो जाती है। जिसे आप धाम-अधम-जय पराजय-अन्धे-बुरे सब भावों में पूर्ण प्रसन्न देखें, जिस की आप सदा सार्विक कर्मों में त्वाभाविक-प्रकृति देखें, समस्त जीविये उसे धर्मसुद्धियोगनिष्ठ प्राप्त हो गई। यही इस की पहिचान है।

इस विद्या के सम्बन्ध में यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जिन कर्मों से सत्कार होता है,

उन कर्मा को ही क्यों न छोड़ दिया जाय ! न रहण्य वास, न बज्जेणं बांसुपी । इसी आधार पर प्राणियों ने सर्वकर्म-विषाग छत्रवृक्ष सन्यास को उगदेय भी माना है । इस प्रश्न का मु-  
सोप्पेद करते हुए भगवान् कहते हैं —

न कम्मयत्तामनारम्भाण्णकम्म्य पुरुपोऽरनुते ।

न च सन्धमसाद्द्व सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ( गी० १ । ४ । )

कर्म छोड़ देने से कभी नैककम्मयत्तवृक्ष ज्ञान का उदय सम्भव नहीं है । कर्म परि-  
षाग उद्वृक्ष सन्यास से कोपे भी व्यावसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता । कारण स्पष्ट है ।  
जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है एतन्नेव कम्म भी आत्मा का स्वरूपधर्म है । कम्म छोड़ना  
आत्मा का नाश करना है । भला आत्मा का भी कभी नाश हुआ है ? आत्मा अविनाशी है  
अनुच्छिन्नि मग्ना है । फलतः इसके ज्ञान-कर्म दोनों अनवरत भी अविनाशी हैं । जिस प्रकार  
जल कभी आग्नि से पृथक् नहीं होता एतन्नेव कम्म को भी आग्नि से कभी पृथक् नहीं किया  
जा सकता । जो पूत ब्रह्मण— 'हमने तो सब छोड़ दिया, कम्म से हमारा क्या सम्बन्ध, हम  
तो कीनराला हैं सम्पत्ती हैं' यह कह कर जनता को भोका दते हैं, वे महापातकी हैं । वे स्वयं  
बचने आत्मा को भोका दे रहे हैं । क्या उन की इन्द्रियों ने काम करना छोड़ दिया ? क्या वे  
मृते पीने लगे ! फिर वे किस आधार पर कम्म छोड़ने का अभिमान करते हैं । जो पापघटी  
कम्मविषागवृक्ष सन्यास का विमिद्वनयोप करत हैं, उनकी वृत्तिएँ उनसे भी अधिक वृत्ति  
है, जो प्रवृत्त कम्म में लगे हैं । कहने दें सब कुछ छोड़ दिया, भीतर सब की बगला बज रही  
है । यह ध्यान पाप और भी मध्यस्थ है । इन्हीं मनुष्यों की विपत्ति का दिग्दर्शन करते हुए  
भगवान् कहते हैं —

कम्मिन्द्रियाणि वयमप्य य घाले मनसा स्वरन् ।

इन्द्रियाणान् विमूढाग्ना विस्वापाराः स उच्यन्ते ॥ ( गी० ३ । ६ । )

नाम इन्द्रियाणी कर्मा मे गृहार्थं से भी आगे बढ़े हुए । हार्थी, पाकघटी, घास, सेवन,  
दासिनें छाप वे काम घटि पर ब्रह्म माय पर, क्या इसी का नाम सन्यास है ? क्या इन्हीं स

वासियों से हम आत्मज्ञानब्रह्मका मुक्ति की भ्रष्टा कर रहे हैं । बड़ी विडम्बना ! बड़ा अज्ञान !!  
बड़ा भ्रम !!!

कर्म किसी हासत में कूट नहीं सकता, इस खिचे खोँचा नहीं जा सकता । उभर कर्म सत्कार का जनक होता हुआ बचन का भी कारण है । ऐसी स्थिति में कोई ऐसा माग निकलना चाहिए कि हम कर्म में रत रहते हुए भी सत्कारों से बच जाय । इसी मार्ग का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत्कुलि कहती है —

कुर्वन्भवेद् कर्माणि निमीषिष्येच्छतं समा ।

एवं स्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म सिष्यते नरे ॥ (ईशोपनिषद् १)

कर्तव्यसुदय प्रवृत्ति छोड़ कर सावनीका कर्म करते रहना ही सन्यास है । कर्म-सन्त्यास का नाम सन्ध्यस नहीं है, अपितु— 'काम्पानां कर्मणां न्यासं सन्यास कवयो विदुः' के अनुसार कामना सन्त्यास का नाम सन्ध्यस है । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्मिन्दिप्याणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !

कर्मैर्न्द्रियैः कर्मयोगसक्तः स विधिष्यते ॥ (गी० १।७) ।

मनादिधर्माचार्यो ने- 'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्' (मनु० २।८८) इत्यादि रूप से वैदिक कर्मों को प्रवृत्तकर्म, किंवा प्रवृत्तिकर्म, निवृत्तिकर्म—किंवा निवृत्तिकर्ममेव से दो मार्गों में विभक्त माना है । इनमें प्रवृत्तकर्म अर्थात् ही सत्कारों के जनक बनते हुए कमिनिवेशब्रह्म अविद्या के उत्पादक हैं । इन्हीं वैदिक कर्मों में से यदि प्रवृत्ति को निकाल दिया जाता है तो ये ही निवृत्तकर्म बन जाते हैं । कतकरबोना यह सांस्कारिक मर्कों को मध्य

\*इस मन्त्र के राजमीति धर्ममीति विद्वानमीति शेष से तीन अर्थ होते हैं । राज-मीतिक कर्मों का सूक्ष्मशरीर से धार्मिक कर्मों का सूक्ष्मशरीर से, एवं वैदिक ( प्राकृतिक ) कर्मों का अरुणशरीर रूप आत्मा से सम्बन्ध है । इन सब विषयों की विरोध विज्ञानसा रखने वालों को 'ईशोपनिषद्विद्वानमाध्य १ कण्ठ देखना चाहिये ।

करते हुए स्वयं भी अन्तर्जीन हो जाते हैं। ऐसे कर्म सर्वाया अभ्यन्धक हैं। वैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है—कार्यविधा इसी निवृत्तकर्म का स्वरूप बतलाती है। इसी कर्मस्वरूपपरिचय के बिना महात्मान् ने प्रवृत्तकर्म-निवृत्तकर्म का विवेक करते हुए अनेक प्रकार से सत्त्व-रजस्तमो-गुणों की परीक्षा की है। बिना गुणपरीक्षा के, एक कर्मविवेक के निवृत्तकर्म का रहस्य विदित नहीं हो सकता। बस इस बोधे धर्मबुद्धियोग, किन्तु धर्मवैतुक्त बुद्धियोग का यही उचित स्वरूप निर्वचन है।

— ५ —







१३- विद्या एव योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता ७



## ❀ श्री ❀

### १३—विद्या एवं योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता

गीताप्रतिपाद बुद्धियोग वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म मेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों बुद्धियोगों की प्राप्ति का उदय वतकाने वास्तु चार ही विद्याएँ हैं। वैराग्यविद्या परिधी विद्या है, यही राजर्षिविद्या है। इस विद्या के अन्वेष से बुद्धि से राग द्वेषमूढा आसक्ति निवृत्त हो जाती है, वैराग्यबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। ज्ञानविद्या दूसरी विद्या है, यही सिद्धविद्या है। इसके सम्बद्ध परिज्ञान से बुद्धि से अविद्या (अज्ञान) मूढक मोह निवृत्त हो जाता है, ज्ञानबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। ऐश्वर्यविद्या तीसरी विद्या है, यही राजविद्या है। इसको अनन्यता से अस्मितामूढक अनिश्चर्य बुद्धि से निवृत्त हो जाता है, ऐश्वर्यबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। चौथी धर्मविद्या है, यही आर्षविद्या है। इसके व्याख्यान से अधिनिवेशमूढक अधर्म बुद्धि से निकल जाता है, एव धर्मबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है।

उक्त चारों विद्याओं में क्रमशः अनासक्ति, अन्तर्धर्मोक्ति, ईश्वरानन्यता, निवृत्तकर्म इन चार रहस्यों का निरूपण हुआ है। आत्मविद्या की उपनिषदें वहाँ चार विद्याएँ हैं, वहाँ इन उपनिषदों की उपनिषदें रहस्य) यह चारों भाग हैं। दूसरे शब्दों में ये ही चारों चार विद्याओं के निष्कर्ष हैं। इन चारों में से यदि एक का भी अनुष्ठान सफल हो जाता है तो शारीरक आत्मा (जीवात्मा) वेदस्थित प्रत्यगात्मा (अभ्ययात्मा) के साथ (उस सिद्ध बुद्धियोग के द्वारा) युक्त होता हुआ अभ्यस की मगसम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। उस दशा में पहुँचे बाद जीव जीव न रह कर मगजान बन जाता है। जब एक एक ही बुद्धियोग में इतना सामर्थ्य है तो जिस महा पुरुष में इन चारों का, सो भी जन्म से ही उदय रहता हो, उस की महत्ता का तो कहना ही

- A वैराग्य का अभ्यास होता है।
- B ज्ञान का परिज्ञान स सम्बन्ध है।
- C ऐश्वर्यरूपा सक्ति का अनन्यता स सम्बन्ध है।
- D धर्म का व्याख्यान स सम्बन्ध है।

क्या है। साथ ही मैं यह भी एक सिद्ध विषय है कि देवयुग से आरम्भ कर आज तक यह क्षेत्र  
एकमात्र हमारे चरितनायक, गीतोपदेश्य श्रीकृष्ण को ही मिला है। तभी तो वे चारों विधाओं,  
एक चारों बुद्धियों के प्रथम कहे जाते हैं। तभी तो उन की यह रहस्योपनिषद् 'ममबद्धीतो  
पनिषद्' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

- १—वैराग्यविधा प्रथमा ॥ सैवा एव विविधा — तत — ब्रह्मपदबुद्धियोगसिद्धिः ।
- २—ज्ञानविधा द्वितीया ॥ सैवा सिद्धविधा — तत — ज्ञानबुद्धियोगसिद्धिः ।
- ३—ऐश्वर्यविधा तृतीया ॥ सैवा रात्रिविधा — तत — ऐश्वर्यबुद्धियोगसिद्धिः ।
- ४—धर्मविधा चतुर्थी ॥ सैवा आर्षविधा — ततः — धर्मबुद्धियोगसिद्धिः ।

— ० —

- १—वैराग्यविधान्यासेन ॥ अनासक्तैरुदयः — तत — आसक्तिनिवृत्तिः ।
- २—ज्ञानविधापरिज्ञानेन ॥ अन्तर्भ्योतिरुदयः — तत — मोहनिवृत्तिः ।
- ३—ऐश्वर्यविधानन्यतया ॥ ईश्वरानन्यतायात् — ततः — अस्मितानिवृत्तिः ।
- ४—धर्मविधाचरणेन ॥ निवृत्तकर्मणि प्रवृत्तिः — तत — अभिनिवृत्तनिवृत्तिः ।

— — —

- १—आसक्तिनिवृत्तौ ॥ गगनैपयिताश — ततश्च ॥ वैराग्योदयः — अतस्तथा ।
- २—मोहनिवृत्तौ ॥ अविद्याविनाश — ततश्च ॥ ज्ञानोदयः — तृप्तिः ।
- ३—अस्मिता निवृत्तौ ॥ धनैश्वर्यपराधनात् ततश्च ॥ ऐश्वर्योदय — पूशना ।
- ४—अमनवेशनिवृत्तौ ॥ अभर्त्सोः कान्ति ततश्च ॥ धर्मोदयः — शान्ति ।

— ० —

गीता का उद्देश्य महाभारतकाल में हुआ है यह सबविदित है। महाभारत युद्धपराज में  
गीता के व्याज से महाबान ने जिन चारों विधाओं का एक चारों बुद्धियों का अर्जुन के प्रति उप  
देश दिया है वह उपदेश सर्वथा अपूर्व नहीं माना जा सकता। अतएव महाभारत से कई सदाज कर्म  
पक्षिसे देवयुग के आरम्भ में ही उक्त चारों विधाएँ, एक चारों योग विधयाज से। महाबान ने गीता में

उनका एक ही स्थान में। कुछ सशोधन के साथ, सम्भवतयात्रा कथा है। यह सशोधन, एवं सम्भव अवसर ही एक अपूर्व बात है। इसी अपूर्वता के कारण पूर्व प्रकरण में हमने गीताशास्त्र की इतरशास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूण, एवं विशिष्ट कथा है। अब इस सम्बन्ध में हमारे सामने प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन विद्याओं को राजर्षि, सिद्ध, राम, भार्गव इन नामों से व्यक्त करने का क्या कारण है? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का सङ्घटित समाधान करने के लिए पाठकों के समक्ष उपस्थित हुआ है।

## १—वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिका—“राजर्षिविद्या”—प्रथमा

ज्ञान विज्ञान रहस्यवेत्ताओं के मतानुसार राजर्षिविद्या नाम से प्रसिद्ध यह वैराग्यविद्या प्रधानरूप से आत्मस्वरूपवेत्ता, किंवा औपनिषद्गुरुवेत्ता राजर्षियों में ही विशेष रूप से प्रचलित थी। गीताकामीमांसा नाम के पूर्व प्रकरण में जिस देवयुग का दिग्दर्शन करवाया गया है उसी युग में अन्यत्र द्वारा इस विद्या का आविष्कार हुआ था। इतिहास प्रसिद्ध विश्वानन्द स्वर्गीय देवता थे। भगवान् कृष्ण ने (शरीरान्तर से) सर्वप्रथम विश्वानन्द को ही इस वैराग्यविद्या का उपदेश दिया था, जैसा कि—“इयं विश्वानन्दो योग मोक्षदानइमक्ययम्” इत्यादि श्लोक से सिद्ध है। विश्वानन्द यद्यपि राजा थे, सूर्यवंशियों का मूलप्रवर्तक थे। परन्तु इस भगवदुपदेश वैराग्यविद्या के प्रभाव से इन का अहम्भा श्रुति दुर्लभ बन गया था। अहम्भार का इन्होंने साफल्य कर कर लिया था। वैदिकपरिभाषानुसार साम्राज्यकता ही श्रुति कहलाता है, प्रथम ही श्रुति है। इसी लिये विश्वानन्द राजा रहने हुए भी राजर्षि कहलाए। यही राजर्षि इस वैराग्यविद्या के सम्प्रदायप्रवर्तक हुए जिन जिन सूर्यवंशी राजाओं ने इस विद्या का अनुगमन किया, मनु इन्द्राकु, जनक आदि य सब राजा राजर्षि की उपाधि से विभूषित हुए। इस प्रकार इन राजर्षियों की सम्प्रदाय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित होने के कारण, साथ ही में इनके द्वारा ही लोक में प्रवृत्त होने के कारण इस भगवद्विद्या ने भाग जाकर राजर्षिविद्या नाम धारण कर लिया। राजर्षि ही इसके विशेष ज्ञाता एवं प्रवर्तक थे, इसी अभिप्राय से भगवान् ने—“एव परम्परावाममिमं रामपयो विदुः” कहा है।

राजर्विचारक वैश्वदेवबुद्धियोग 'योग' नाम से प्रसिद्ध हुआ। गीता में जहाँ भी वही शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसे एकमात्र वैश्वदेवबुद्धियोग, किंवा सामान्यतः बुद्धियोग का ही व्यापक समझना चाहिये। केवल इसी परिमाण के व्यापार पर व्यापकता के वास्तविक मर्म पर पहुँचने में सक्षमता का अनुभव हो सकते हैं। अस्तु यद्यप्य यही है कि राजर्वियों के सम्बन्ध से जहाँ यह विद्या राजर्विद्या कहलाई है, एवम् पतेन्द्राक्ष की परिमाण के अनुसार यही बुद्धियोग श्रिका विद्या योग नाम से भी व्यवहृत हुई है। गीता का यह योग तत्त्व प्रवर्धित ज्ञान, मर्क कर्म्य सत्य से विकसित है, अतएव इसे इन तीनों से पूषक बतखान के बिये गता ने इसे केवल 'योग' नाम से ही व्यवहृत किया है। गीता में ज्ञानयोग को प्रधान उच्य बनाती, न अर्क एवं कर्मयोग को। गीता का प्रधान उच्य है—केवल 'योग'। तभी तो यह योगशास्त्र नाम से प्रसिद्ध है।

## २—ज्ञानबुद्धियोगप्रवर्धिका—“सिद्धविद्या”—द्वितीया

स्वयम्भू मनु द्वारा उद्भासित देवपुत्र में देवभिक्षोकी पृथिवी अन्तरिक्ष, चौं भेद से तीन भागों में विभक्त थी। उक्तकालिन मानवसमान को स्वयम्भू मनु ने पञ्चकृष्टि, पञ्चदिति, पञ्चवर्षी, पञ्चजन आदि अनेक भागों में भेषिकर किया था। अग्नि पितर देवता असुर, मनुष्य इन पाँचों की समष्टि पञ्चकृष्टि थी। इन पाँचों के क्रम — स्वयम्भू मनु, इन्द्र, उपाकृष्टि, वैश्वदेवमनु आदि थे। रूप से उत्पन्न अथ ही इनकी प्रधान जीविक थी। अतएव यह पञ्चकृष्टि नाम से प्रसिद्ध हुए। ब्राह्मणी राजा सम्राट्, स्वाराट्, विराट् इन पाँचों की समष्टि पञ्चदिति नाम से प्रसिद्ध थी। यह पृथिवी के अन्विति थे। इस विधि सम्बन्ध से ही इन्हें पञ्चदिति नाम से व्यवहृत किया गया।

जिसे व्याज साध रख जनीशर कहा जाता है यही देवपुत्र में ब्राह्मणी (गर्भक मन्त्रिक) कहा जाता था। राजा की मोम, महामोम मे से दो भेषिक थी, सम्राट् की चक्र वर्धि, सार्वभौम मे से दो भेषिक थी। स्वाराट् की इन्द्र, महेश्व मे से दो भेषिक थी, एवं

शिराद् की ब्रह्मा, चिन्मू मेद से दो भेखिए भी । ब्रह्मा, श्रुति, देव ब्राह्मण, विप्र इन पाँचों की समष्टि ही पञ्चसर्पणी भी ।

जिसे जोकमाया में "सुलभकृत" कहा जाता है, 'मनुष्य' कहा जाता है, वेदभाषा में उसी के लिए "चर्पणी" शब्द प्रयुक्त हुआ है । —(देखिये यजुःस० १७३१३सा०भाष्य) । जिन मनुष्यों में ज्ञान का विकास ( प्रधान रूप से ) रहता है, मनुष्यों में वही मनुष्य कहावता है । ज्ञान की आधुनिक भूमि ब्राह्मण है । इसी के उक्त पाँचों मेद हैं । जन्मना ब्राह्मण विप्र है । शास्त्र ब्राह्मण ब्राह्मण है, शास्त्रज्ञानपूर्वक कर्म में प्रवृत्त ब्राह्मण देवता है, भूदेव है । प्राकृतिक तत्त्वों का परीक्षक ब्राह्मण श्रुति है, सर्वरहस्यज्ञेय सर्वज्ञ ब्राह्मण ब्रह्मा है । इस प्रकार विद्या ( ज्ञान ) के तारतम्य से चर्पणी के पाँच विभाग हो जाते हैं । पुरु, यदु, तुर्वसु, अणु, सुहृषु इन पाँचों की समष्टि पञ्चजनम नाम से प्रसिद्ध थी ।

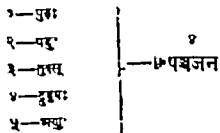
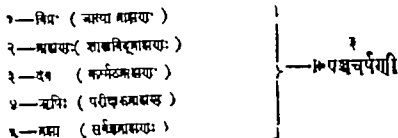
- १—श्रुति ( सप्तमूः—अप्यः )
- २—पितरः ( यम —अप्यः )
- ३—देवा ( इन्द्र —अप्यः )
- ४—अमरा ( वृषाकृषि —अप्यः )
- ५—मनुष्या ( वैवस्वतमनु —अप्यः )

} — पञ्चकृतयः

— ३ —

- १—प्रमथी—( प्रमथिपति—बनीदार )
- २—राजा—( देहापति—मोज, महामोजः )
- ३—सनाद्—( राष्ठापिपतिः—पञ्चसर्पी, सर्पमौमः )
- ४—शिराद्—( वैजोन्पापिपति—इन्द्रः, महेशः )
- ५—शिराद्—( सर्वापिपति—ब्रह्मा, चिन्मू )

} — पञ्चक्षितयः



उक्त चारों विभागों में से पञ्चकृति नाम के प्रथम विभाग में देवताओं का जो तीव्र विभाग है, दशयुग में उसी की अमस्तर देव-देवयानि भेद से ही कल्पित थी। स्वर्ग में रहने वाली प्रजा "दश" दिता "देवता" नाम से प्रसिद्ध थी, एवं शर्मणापत्त पञ्च से आरम्भ कर द्विमास्य पर्यन्त द्विमास्य की श्रेणियों में निश्चय करने वाली जाति देवयानि नाम से प्रसिद्ध थी। यही दशयुग में अन्तरिक्ष जोर था। इस अन्तरिक्ष में रहने वाली यह दशयानि विद्या पर, अक्षरा, पञ्च रासस, गन्धर्व किन्नर, विद्याय गुणरू सिद्ध इन नामों से प्रसिद्ध थी।

आलेखों में इन चारों मानवी प्रजा, एवं स्वर्ग में रहने वाली देवताओं के परस्परिक व्यवहारों पर भेदात्मक इन्हीं मन्त्रों देवयानियों द्वारा हुआ करता था। इन जानियों में "मिद्ध" नाम की जानि में ही साक्षरपञ्च के प्रयोग महाभूमि कल्पित कर जन्म हुआ था। न तो "मिद्ध" उच्च कर्मों पर्यन्त कर शक्य है, एवं न कल्पित उच्च ही किसी पर्यन्तविद्ये



प्रसिद्ध होता है। यह दोनों ही शब्द ज्ञानियों के सूचक हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण जाति में मुख्य-विद्वान् समी तरह के व्यक्ति रहते हैं, ज्योतिष सिद्ध जाति में भी मुख्य विद्वान् समी तरह के व्यक्ति थे।

साधारण मनुष्यों में सिद्ध शब्द का जो यौगिक अर्थ समझकराया है, अन्तरिक्ष में रहने वाली सिद्ध जाति के साथ उस यौगिक अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी सिद्ध जाति में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ, जिसने कर्मवाद का विरोध करते हुए सिद्ध ज्ञानयोग की स्थापना की। बही आदि पुरुष कपिलमुनि नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे जाकर इनके हजारों अनुयायी बन गए। वे भी कपिल नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार जो कपिल शब्द आरम्भ में अर्थ वाचक था, बही काखलतर में जातिवाचक बन गया। दूसरे शब्दों में आदि रूपक ने कर्म-संन्यास लक्षण जिस सांख्य (ज्ञानयोग) का उपदेश दिया था उस योग के अनुयायी कपिल नाम से प्रसिद्ध हुए। कपिल चूंकि सिद्ध जाति में उत्पन्न हुए थे, अतएव इनको यह ज्ञानविद्या भी सिद्धविद्या नाम से व्यवहृत हुई। महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष ब्रह्म की ३०० अध्याय से आरम्भ कर ३०३ अध्याय पर्यन्त इस काण्डसांख्य का विस्तार से निरूपण हुआ है। विरोध निश्चिन्तों की बही प्रकारसे देखना चाहिये।

ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में हमें केवल बही बतलाना है कि महाभारत समाप्तगीतों पदेशकाल के हजारों वर्ष पहिले देवसुगन्धर्व में राजर्षिविद्या के अन्तर अन्तरिक्ष में रहने वाली सिद्ध जाति को असकृत करने वाले महामुनि कपिल ने सर्वकर्मसंन्यासलक्षणा जिस सांख्य-निष्ठ का आविष्कार किया था, एव जिसके अनुयायी "सांख्य" नाम से ही प्रसिद्ध थे, बही निष्ठा सिद्धविद्या नाम से प्रसिद्ध हुई। ज्ञानयोगप्रतिष्ठानी सिद्धों में ही इसका विशेष प्रचार हुआ। योगशास्त्र की मध्यादा ६ अनुसार बही विद्या "ज्ञानयोग" नामक योग कहाजाया। राजर्षि-विद्या यदि स्वीकृत विद्या थी, तो यह सिद्धविद्या अन्तरिक्ष की विद्या थी। निरपेक्ष पर्यन्त से उत्तर

अध्यायों के प्रबल आक्रमणों से अथ महाभारत युद्ध में इन्द्र के पान जब वह समा-चार मंत्र कि "असुरों न सिन्धु का राक्ष विद्या है, सारी देवभूमि ब्रह्मप्राणित हो गई है म रा

अग्निरिच को सीमा में, स्वामूमि के अति सन्निकट ही कपिल का आश्रम था । यहाँ वह सुप्रसिद्ध कुम्भपत्र हुआ था, जिसकी कृपा से मार्गरेषी को सर्प से भूम्यदल पर आना पड़ा था ।

### ३—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रवर्तिका—“राजविद्या”—तृतीया—

अग्निरिच के बाद भारतवर्ष का नम्बर आता है । देवसुता काव्य में भारतवर्ष ही पृथिवी लोक कहलाता था । पण्डित पुराणों में दोगुणित भारत के नामसम्बन्ध से इस देश का नाम भारतवर्ष माना है, पशु बस्तुन. अग्नि सम्बन्ध से ही इस देश का नाम भारतवर्ष मानना स्यात् सङ्गत प्रतीत होता है । देवेन्द्र की ब्योरा से भारतवर्ष के शबडोत्पत्ति अग्नि बनाए गए थे । यही अग्नि भारतवर्ष के भरणपोषण करने का कारण 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि—  
 “अग्ने माहो अग्नि प्राङ्मुख भारतवेति” इत्यदि मन्त्रश्रुतियों से स्पष्ट है । भारतीय प्रजा की रक्षा करना, एवं यहाँ से कर प्रत्यक्ष कर स्वयं में दक्षताओं के पास पहुँचाना ही इनके मुख्य कर्म थे, जैसा कि—  
 “एष हि देवेभ्यो इत्यभ्यभरति” से सिद्ध है । भारतवर्ष में मनु द्वारा बर्णाश्रम व्यवस्थित हुआ । भारतीय प्रजा को व्यवस्था—अग्नि—वैश्य—शूद्र—एतन् चार वर्णों में विभक्त किया गया ।

उक्त चारों वर्णों में अग्निवर्णों के अधिकार में राजशासन दिया गया । इन राजाओं के प्रधान शास्ता स्वयं वेदव्यक्तमनु थे दूसरे शब्दों में यही भारतवर्ष के सचाहू थे देवेन्द्र स्वराट् थे ब्रह्मा-विष्णु सिद्ध थे । भारतीय राजाओं पर प्रधान प्रवृत्ति ईश्वरयोगसुता की ब्योरी थी । राजाओं में ही उपासना का विशेष प्रचार था । कारीगरान् प्रतरान्, महातान् केतय आदि भारतीय राजा प्रसिद्ध उपासक हो गए हैं । इन का सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण कर्म ईश्वरबुद्धि से

कम्भीर भी पानी में निमग्न हो जाता है पानी में तैरि मित्वा रिया है आप शीघ्रपधारिण” को इन्द्र अचरन इबंध नाम का अक्षय्य विमान म नीन दिन का भीतर भीतर दुम्न का पास पहुँचा । इन्होंने त्रिम पवन पर मन्त्रबधम विनाम किया, बड़ी पवन “वचम्यर्षादन् इन्द्र” इस निचजन का अनुभार निचर नाम से प्रसिद्ध हुआ । अन्वय के १ । १४० वें मूल में विस्तार से इन कथा का अन्वय विवक्षित है । यही निचर आत्र सराप्रथमराज से “निचर” बन गया है ।

ही करने चाहिए। फलतः इनके इस भक्तियोगपरम्परापक उपासनायोग में ज्ञान-कर्म दोनों का सम्बन्ध था। इस उपासना में फल का सम्बन्ध था। उपासना द्वारा ईश्वर, एव तदसमूह वैश्वदेवताओं से विविध फलों की आकांक्षा की जाती थी। आज भी भारतवर्ष में उपासना का यही स्वरूप प्रचलित है, जो कि गीताशास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है। उपासना के बल पर यह उपासक विविध ऐश्वर्यों के फलभोक्ता बनते थे, इसी लिये यह विद्या ऐश्वर्यविद्या नाम से प्रसिद्ध हुई। चूंकि इसका विशेषतः राजाओं में प्रचार था, अतएव इसे राजविद्या नाम से भी व्यवहृत किया गया। योगशास्त्र की मर्यादा के अनुसार यही भक्तियोग नाम का योग कहा जाय।

### ४—धर्मबुद्धियोगप्रवर्तिका—“आर्षविद्या”—चतुर्थी

इस कह चुके हैं कि भारतवर्ष में राजाओं के अतिरिक्त ब्राह्मणसमाज भी एक प्रतिष्ठितकर्मी माना जाता था। इनकी दृष्टि में न ज्ञानयोग का महत्त्व था न भक्तियोग का। यह शिशुद कर्मवाद को ही प्रधान मानते थे। पशु-तप-दानकर्मण्य, त्रिगुणभावापन्न वैदिककर्मों का उत्तम अनुष्ठान करना ही इनका परम पुरुषार्थ था। परम्परागतक, कर्म को ही ईश्वर मानने वाले इन कर्मठ भारतीय ऋषियों में बड़े आदेश के साथ भारतवर्ष में कर्मयोग का ही प्रचार किया। कर्म ( यह ) बल से ही इन्होंने सगर्भदि फलोंसे अनन्तता को निवृद्धित किया। “यद्वा वे अष्टतमं कर्म” “व्योविद्योमेन स्वमकामो यजेत” इत्यादि रूप से कर्मनाप्रधान यज्ञादि कर्मों को ही इन्होंने अपना प्रधान लक्ष्य बनाया।

इसका कहना था कि कर्मानुसार जिस कर्म के अनियत कर्म हैं, उनका अनुष्ठान ही धर्म है। इसी धर्म से सन कुछ सिद्ध हो जाता है। इसी कर्ममूलक धर्म के सम्बन्ध से यह चौथी विद्या धर्म नाम से प्रसिद्ध हुई। चूंकि यह भारतीय ऋषियों में ही प्रधान रूप से प्रचलित थी, अतएव इसे आर्षविद्या ( ऋषियों की विद्या ) नाम से व्यवहृत किया गया, एव योगशास्त्र की मर्यादा के अनुसार यही कर्मयोग नाम का योग कहा जाय।

## ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ भगवद्गीता

इस प्रकार गीतारसाल से बहुत पहिले देवयुगकाल से ही चारों विषयों का प्रकाश बसा जाता है। गीताने कुछ अर्थ नहीं बतलाया है, अपितु निरूपण से प्रपञ्चित चारों विषयों का परिष्कारमन्त्र किया है। यह परिष्कार अन्तर ही गीता की अपूर्वता कही जासकती है। इन चारों योगों में से बुद्धियोग नाम का विद्यारम्ययोग सबसे बड़ा है, सब से श्रेष्ठ है एवं यही गीता का हृदय है। इस हृदय को निकाल देने पर भी एक निरपेक्ष शास्त्र रह जाता है, जसा कि उपलब्ध भाष्य एवं टीकाओं से प्रकट है। ऐसा कि पूरा में बतलाया गया है, वैद्य-समुद्रयोग से अतिरिक्त कर्मसंन्यास-सत्त्वज्ञानयोग, फलानुगामी भक्तियोग 'प्रवृत्तिमुक्त कर्मयोग' तीनों ही योग विरहात् से चले चारहे हैं। साय ही में तीनों के अनुपस्थिति सिद्ध राजा शास्त्रों में पहर लगी चली चारही है पूरा अस्तिनिवेश है। तीनों अपने अपने योगों को सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वश्रेष्ठ बतलाने का रूप अभिमान करते हुए इतर योगों को अनुपस्थित मानने का स्वयं का साहस करते हुए हैं। इसी संस्कृत न भारत में विद्वानों पर भी अपनी हानि उगाई। फलरूप भारत में के विद्वान् भी इन निरकारणिक संस्कारों के ज्ञानेश में पक कर तीन दशा में विभक्त हो गए।

सर्वश्रेष्ठ-विचारणयादि महाभागोर्न कर्मसंन्यासस्य सत्त्वज्ञाने अथ अथ उच्यते। कुमारिक-मण्डन-उदयनादि कर्मठों ने प्रवृत्तिमुक्त कर्मयोग को ही अपना आराध्य बनाया। एवं रामानुज-कृष्णभ-निम्बाक-माधवादि साम्प्रदायिक आचार्यों ने भक्तियोग का ही गुह्यानुष्ठान किया। निरल्पियति से उक्त ईश्वर भी इन मन्त्रों की दृष्टि में अन तकरण्ययगुह्याकर, रपामु काकखिक अनुमह करने वाला बन गया। इनको यह ईश्वर फलकारमात्र से पापों को छोड़नात्र में घोने लगे। इस प्रकार अर्थों देवयुगकेअर्जुन वैद्यवैद्युति से अथुत अममय भारत-व्य तीव विष्णुओं से निष्कृत बन गया। प्रभाव के लिए तीनों महानुभावों ने अरुनिपत्-प्रवृत्तमूत्र-गीता का आशय किया। सभीने साभिमत योग की प्राणविक्रता सिद्ध करने के लिए अपने अपने सतन्त्र बंध किए। इन अर्थों से उक्त अर्थ करने वालों का कुछ उपकार हुआ

अथवा नहीं, यह विचार तो छोड़िए । हाँ इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि इन विरुद्ध बयों से सामान्य जनता अवश्य ही लक्ष्यभ्रष्ट हुई है ।

गीता का शाङ्करभाष्य उठाकर देखिए, आप को ज्ञानयोग का ही साम्राज्य मिलेगा । भक्त-कर्म के प्रतिपादक बघनों के सम्बन्ध में गौणभाव का समावेश मिलेगा । साम्प्रदायिक भाष्य यह कहते हुए मिलेंगे कि गीता केवल भक्तिरत्न का निकषण करती है । कहीं कहीं भगवन् ने जो ज्ञान-कर्म का आदेश दिया है, वह भक्ति का सहायकमात्र है । उधर कर्मप्रधान भाष्य "यज्ञो दान तप कर्म न साज्यं कायमेव तत्" इत्यादि का उद्धोष करते हुए गीता को विशुद्ध कर्मयोगशास्त्र मानने का ही वृषामिमान करते हुए मिलेंगे । उधर जब एक साधारण व्यक्ति गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालता है तो वहाँ उसे सभी तरह के बचन उपलब्ध होते हैं । भाष्य अपनी अपनी कहते हैं सय गीता तीनों का प्रतिपादन कर हमें और भी व्यामोह में डाल रही है । हम तो फीच ही क्या हैं सय भर्तृन मी एक बार तो व्यामोह में पड़ गया था । वह कहने लग्य था कि भगवन् ! कभी आप ज्ञान को श्रेष्ठ बनसाते हैं, कभी कर्म को । मैं तो आपके इस विरुद्ध उपदेश से उबट्ट उलझन में पड़ रहा हूँ । भाव हम भी पाठकों के सामने गीता के उन बघनों को उद्धृत कर देते हैं जिन से वास्तव में सामान्य जन्म व्यामोह में पड़े किना नहीं रह सकते । सबमुझ केवल उन बघनों के आधार पर हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि, गीता वास्तव में किस्त योग का उपदेश देता है \* पहिले प्राचीनाभिस्त तीनों योगों के समकक बघनों पर ही क्रमशः दृष्टि डालिए—

\* व्यामोही चेत् कर्मयुक्ते यता बुद्धिर्बनान् । तस्मिन् कर्मैषि घोरे मां नियोजयामि श्रेष्ठ ।  
 व्यामिषेष्टव वाक्येन बुद्धि मोक्षयसीव मे । तत्रैकं च निमित्त्य येन प्रयोऽहमाप्नुयाम् ॥  
 सन्यासं कर्मशां कृष्य ॥ पुनर्योगं च शससि ।  
 बन्धेय एतवारकं तन्मे त्रिं सुनिमित्तम ॥

## १-ज्ञानयोग के समर्थक वचन

- १—श्रेणुयविपया वेदा निस्त्रैगुणयो भवार्जुन ॥  
निर्द्वन्द्वो निःसस्रस्वस्यो नियोग-चेम आत्मवान् ॥ (१।२१।)
- २—प्रज्ञाति यद्वा कामान् सर्षान् पाप मनोभक्तान् ।  
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितमङ्गस्तदोच्यते ॥ (२।५५।)
- ३—यस्तथात्मविसेषं स्यादात्मवृत्तं च मानसं ।  
आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्व कार्यं न विद्यते ॥ (३।१७।)
- ४—शीतरागमपक्रोशः मन्मथा मामुपाश्रिताः ।  
बहवो ज्ञानवपसा पूता भद्रमावगताः ॥ (४।१०।)
- ५—प्रवर्तार्थं ब्रह्मविप्रश्नापी ब्रह्मस्था इत्यथ ।  
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमापिना ॥ (४।४।)
- ६—सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापर ।  
आत्मसंयमयोगाधीं बुद्धति ज्ञानशीलिते ॥ (४।१७।)
- ७—श्रेयान् द्रव्यमया यज्ञाज्ञानयज्ञः परंतप ।  
सर्वं कर्मास्मिन् पार्यं ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४।३३।)
- ८—अपि ब्रह्मि पापभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।  
सर्वं ज्ञानप्लवनैव श्मिन् संगरिष्यति ॥ (४।३६।)
- ९—यथैवासि समिद्धोऽग्निर्मस्यसत् कुर्वेत्सुहृन् ।  
ज्ञानाग्निं सर्वकर्माणि ममसात् कुर्वेत्तदा ॥ (४।३७।)
- १०—नहि ज्ञानन सहस्रं पञ्चविधं विद्यत ।  
तव स्वयं योगसंसिद्धः कासेनापनि विन्दति ॥ (४।३८।)
- ११—अदावात्सभते ज्ञानं क्वरा ज्ञेयतेन्द्रिया ।  
ज्ञान सध्या परां सन्निपथिरेवापिगच्छति ॥ (४।३६।)

- १२-योगसन्त्यस्तकर्माणि ज्ञानसच्छिन्नसंश्रयम् ।  
 आत्मवन्त न कर्माणि निवृत्तन्ति धनंजय ॥ (४।४०) ।
- १३-तस्मादज्ञानसंभूत ह्यस्य ज्ञानासिनात्मनः ।  
 छिन्नैव सशयं योगमातिप्रोच्छिद्य भारत ॥ (४।४२) ।
- १४-सर्वकर्माणि मनसा सन्त्यस्यास्ते सुखं वशी ।  
 नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन् ॥ ५।१३ ।
- १५-नादत्ते कस्यचित् पाप न धैरं सुकृत विभुः ।  
 अज्ञानेनाहत ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (४ ५) ।
- १६ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।  
 तेषामादिच्छन्नज्ञान प्रकाशयति तद परम् ॥ (५।१६) ।
- १७-तद् बुद्धयस्तवापानन्तभिर्गुहास्तवपरायणाः ।  
 गच्छन्त्यपुनराहृषिं ज्ञाननिर्भूतकल्पपाः ॥ (५।१७) ।
- १८-मोक्षार यद्गतपसां सर्वसोकपद्मेश्वरम् ।  
 सुहृद सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (५।२१) ।
- १९-उदाराः सर्वे एवैते ज्ञानी त्वात्मैव म मतम् ।  
 आश्रित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७ १०) ।
- २०-बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।  
 धामुदयः सवमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१६) ।
- २१-तेषामेवानुक्तम्यार्थमहमज्ञानज तम ।  
 नाशयाम्यात्ममानस्यो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (१०।११) ।
- २२-इदं ज्ञानमूपाश्रित्य मय साधक्यमागताः ।  
 सगऽपि नोपमायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (१।१२) ।
- २३-इति ते ज्ञानभाष्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।

विदुर्दयतवशेषा यथच्छसि तथा कुरु ॥ (१०६३) ।

१४—अद्यत्पते च य इमं चर्म्य सनाद्मावयो ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (१०७०) ।

उक्त वचनों को देखने से पाठक इस निरवय पर पहुँचेंगे कि भगवान् ने आरम्भ से अन्त तक सबकम्पारिस्मात्कृष्ण ज्ञानयोग (सांख्य) को ही मुक्ति का अत्यन्तम स्रष्टक कथ-  
काय है । अपि च अशोकपानशशाचस्व महानादांश्च मापस' अपने उपदेश के इस  
आरम्भ से भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि ज्ञान की कमी से, अज्ञानजनित मोह से ही  
मनुष्य का बिल्के नष्ट हो जाता है कर्तव्य-कर्तव्यज्ञान जाता रहता है । इस अविद्या को हटाने  
के लिए ज्ञान का ही उपाय आवश्यक है । इसी उद्देश्य को सामने रखकर साधनरूप से पर  
तत्र कर्म-मक्ति का गौरवरूप से प्रतिपादन करते हुए भगवान् ने अन्त तक ज्ञानयोग पर ही  
विशेष जोर दिया है । इसीलिए गीतोपदेश के अन्तर्गत अर्जुन के मुख से—“नष्टो मोहः स्मृति-  
र्मन्वा स्वल्पमादान्मपाप्सुत !” यह अक्षर निकले हैं । गीता जिस अज्ञानजनितमोह को  
हूर करने के लिए अर्जुन के सामने आई थी, गीत का यह उद्देश्य सफल हुआ । अर्जुन का  
मोह नष्ट होगया । मोहवश अर्जुन जिस आत्मज्ञान से वञ्चित होगया था वह उसे फिर प्राप्त  
होगया । इस प्रकार उपक्रम उपसंहार से भी गीता का ज्ञानयोगप्रतिपादन ही सिद्ध होत है ।

## २—भक्तियोग के समर्थक वचन

१—सर्वभूतभित्तं यो मां भेदसङ्कशपास्पितः ।

सवया वर्धमानोऽपि स योमी मयि वचने ॥ (६११) ।

२—तपस्विभ्योऽधिको यागी ज्ञानिभ्योऽमिमतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योमी तस्माद्योमी मवाप्तुन ॥ (६१६) ।

योगिनामपि सर्वेषां परमैतान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् मनसै यो मां स मे पुक्ततमो मतः ॥ (६१७) ।



- १—षतुर्विधा मजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !  
 भ्रातॄणां त्रिहस्तामृत्यासीं ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ (७।१६)।  
 तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विगिन्पते ॥  
 भियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्षमहे स च मम भिय ॥ (७।१७)।
- ४—यो यो यां यां तनुं मक्तः श्रद्धयाषितुमिच्छति ।  
 तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव चिद्विद्वान्मयइम ॥ (७।२१)।
- ५—अन्तश्चतु फल तेषां तद्भक्त्यन्वयमेवसाय ।  
 देवान् देवयज्ञो या न्त मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ (७।२२)।
- ६—प्रयाणकाले मनसाश्रयेन मन्ध्या युक्तो योगश्रमेण चैव ।  
 भ्रुगोमन्थ प्राणमात्रेण सम्पक् स त परं पुरुषमुपैति विद्वयम् ॥ (८।१०)।
- ७—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्ययः ।  
 तस्याह सुममं पापं नित्ययुक्तस्य योगिन ॥ (८।१६)।
- ८—पुरुषः स पर पार्थ ! मक्षया नभ्यस्त्वनन्यया ।  
 यभ्यान्त स्थानि भूतानि येन सर्वेष्विदं ततम् ॥ (८।२२)।
- ९—सततं फीचयन्तो मां यतन्तश्च इदं ततम् ।  
 नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१६)।
- १०—अनन्याभिश्चयन्तो मां ये जनाः पशुपामते ।  
 तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं ब्रह्मण्यइम ॥ (९।२०)।
- ११—येऽप्यन्यद्वेषतापक्ता यजन्ते श्रद्धयाश्रिता ।  
 तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूरकम् ॥ (९।२२)।
- १२—पदं पुण्यं फलं तोयं यो मे भक्त्या भयच्छति ।  
 तद्दह भक्त्युपहृतमरनामि प्रयतात्मन ॥ (९।२६)।
- १३—अपि चन्द्र सुदुराचारा भजते मामनन्यभाक् ।  
 सापुरेव स मन्तव्यः सभ्यगम्यसितो हि सः ॥ (९।३०)।

- १८-त्विम भवति चम्पात्मा शम्भुद्वारिण्ये नियच्छति ।  
 क्रीन्तय ! प्रतिजानीहि न व मक्तः प्रकृतयति ॥ ( ११ । ११ । )
- १९-मां हि पापभ्यपाभिस्य यऽपि स्युः पापयानय ।  
 स्त्रियो वैरयास्तया शूद्रास्नेऽपियान्ति परां भविम् ॥ ( ११ । १२ । )
- १९-अन्मना मय मद्भक्तो मयाजी मां नमस्कुरु ।  
 मामेवंप्यसि पुत्ररैषमात्मानं मत्परापण्य ॥ ( ११ । १६ । )
- १७-अहं सर्वस्य ममद्यो मत्तः सर्वं प्रवर्षते ।  
 इति मत्वा भगन्ने मां बुधा मावसमन्विताः ॥ ( १० । ८ । )
- १८-भक्त्या स्वनन्यया श्रद्धया अहमेवविषोऽजुन ।  
 ज्ञातुं श्रद्धं च कर्त्वेन प्रवेष्टुं च परतप ॥ ( ११ । १४ । )
- १९-मभ्यावेरय मनो ये मां निर्यपुक्ता उपासते ।  
 श्रद्धया परमोपेतास्ते म युक्ततमा मताः ॥ ( १२ । २ । )
- २०-ये तु सवाशि कम्पायि मयि सग्यस्य मत्पराः ।  
 मनन्येनैव योमेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ( १२ । ६ । )
- तेषामहं समुद्धर्षा मृत्युसंसारसागात् ।  
 मयामि नशिराट् पथ्य । मय्यानेगितषेतसाय ॥ ( १२ । ७ । )
- २१-संतुष्टः सततं योगी यतात्वा इहनिश्चयः ।  
 मर्ष्यमितमनोबुद्धिर्दो मद्भक्तः स मे मिया ॥ ( १२ । १७ । )
- २२-ये तु चम्पासुतमिदं ययोक्तं पर्वुपासते ।  
 अहमाता मत्परमा वक्तान्नेऽवीष मे मियाः ॥ ( १२ । २० । )
- २३-मयि ध्यानम्ययोगेन भक्तिरभ्यमिचारिणी ।  
 विविक्तदेशसेमित्पनरत्विर्नसंसदि ॥ ( १३ । १० । )
- २४-म च योऽभ्यमिषारेण्य भक्तियोमेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१४।२६।)।

१५-यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (१५।११।)।

२६-ब्रह्मभूतः प्रसङ्गात्मानं शोचति न कांचित् ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं समने पराम् ॥ (१६।५०।)।

१७-भक्त्या मामभिजानति याशायस्यास्मि तत्त्वतः ।

तनो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशवे तद्नन्तरम् ॥ (१७।१५।)।

२८-ममना मम मद्भक्तो मयाजी मां नमस्कुरु ।

मामर्षेष्पसि सस्य ते प्रतिजान् विद्योऽसि मे ॥ (१८।६५।)।

२९-सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

मम स्या सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मां शुचः ॥ (१९।६४।)।

३०-य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तैस्त्वभिषास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मापेर्षेष्पत्यसंशयः ॥ (१९।६८।)।

उक्तवचनों के देखने से ऐसा मानना होता है कि श्रुतों सम्पूर्ण गीताशास्त्र ब्रह्म से शक्ति तक भक्तिरस से आच्छादित हो रहा है। एक स्थान पर तो भगवान् ने तरस्वी-श्रुती-योगि इन सब से भक्त को उंचा चढ़ा कर यह सिद्ध कर दिया है कि, एकमात्र भगवान् की अनन्यभक्ति ही उच्चारण का अनन्य साधन है, ज्ञान-कर्म एव वैराग्य तो भक्ति के साधनमय हैं। भगवान् की नवधाभक्ति ही आत्मकल्याण का अन्तिम, एव सर्वश्रेष्ठ उपाय है। अतः साधारण जीव पा। परन्तु भगवान् ने अनुग्रह कर उसे अपनी अनन्यभक्ति प्रदान की। भक्तिरस से ही अतः भगवान् के उस शिरोरूप को देखने का अधिकार प्राप्त कर सक्य, जिस रूप को ज्ञान रूप-रूप का अनुपायी न आज तक देख सक्य था, एव न मन्थि में कोई द्रव्य ही सक्य। यह अनन्यभक्ति का ही प्रभाव था कि भगवान् ने अपने अवतार में अपने अनन्य भक्त अर्जुन को ही श्रेष्ठ के द्वारा भक्तियोग का उपदेश दिया। गीता का मूल ब्रह्म भक्तियोग ही है,

यही बात सूचित करने के लिए महात्माने अथसम्पत्ति में 'मक्तिं पयि परां कृत्वामामेवैव्यस्य सशयः' इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में इतर योमों की अपेक्षा मक्तियोग को ही सर्वश्रेष्ठ माना है ।

### ३—कर्मयोग के समथक वचन

- १—स्यधर्मपपि चावश्य न विकल्पितुमर्हसि ।  
धर्म्यादि पुद्गाच्छपोऽन्यत् चत्रियस्य न विषते ॥ (१३१) ।
- २—न कर्मणामनारम्भात्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।  
न च सम्पत्सनादेव सिद्धिं समधिगच्छति । (१३१) ।
- ३—न हि कश्चिन् क्षणमपि ज्ञातुं निवृत्तकर्मकृत् ।  
क्षापते धरग कर्म सर्वः प्रकृतिर्नैगुण्यः । (१३१) ।
- ४—नियते कुरु कर्म त्वं कर्म म्यापो वकर्मणः ।  
गरीरयाप्रापि च ते न वसिद्धयेदकर्मणः ॥ (१३२) ।
- ५—यज्ञापात् कर्मणोऽन्यथ सोऽहोऽय कर्मवम्पना । (१३६) ।  
तदर्थं कर्म कौन्तय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (१३६) ।
- ६—कर्मणश्च हि सतिदिमास्थिता जनकादयः ।  
मोक्षसंग्रहमनापि संपरयन् कृत्तुमर्हसि ॥ (१३७) ।
- ७—न मे पापास्ति क्लमस्यं त्रिषु माकृषु क्रियन् ।  
नानवाप्तमवाप्तव्यं वध एव च कर्माणि ॥ (१३७) ।
- ८—एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।  
कुरु कर्म्येव तत्प्राप्तं पूरा पूरनरं कृतम् ॥ (१३८) ।
- ९—याग्य दोषरदिसके कर्म पादुपनीषिणः ।  
वृद्धदानवपकर्म न याग्यमिति चापर ॥ (१३९) ।

१०—यद्भवान्तपःकर्म न भाज्य कारयिष्ये तव ।

यज्ञो व्यन उपश्रैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५।)

११—यतः प्रवृत्तिमूर्तानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति म्मनसः ॥ (१८।६।)

१२—श्रेयान् सधर्मो विगुणः परमर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपि ॥ (१८।७।)

१३—सहजं कर्म्यै कौन्तेय ! सद्योपमपि न सवेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण ध्रुवेनाविराडृताः ॥ (१८।८।)

१४—सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणा मद्भ्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादाद्वाप्नोति शाश्वतं पदमभ्ययम् ॥ (१८।९।)

१५—समाश्रयेन कौन्तेय ! निषद्ः स्वेन कर्मणा ।

कस्यु नेच्छसि यमोहात् करिष्यस्वपशोऽपि तव । (१८।१०।)

उक्त वचन स्पष्ट शब्दों में विशुद्ध कर्मयोग की ही घोषणा करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । मन्वान ने स्पष्ट शब्दों में यावज्जीवन वेदविहित ( चातुर्वर्ण्य ) कर्म के अनुष्ठान की आज्ञा देते हुए हमें यह बतलाया कि प्रत्येक वर्ण को अपना अपना कर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिए । कर्म करता हुआ ही मनुष्य शाश्वत अल्प्य पद को प्राप्त हो जाता है । कर्म किसी शाश्वत में नहीं छोड़ा जासकता । इन्हीं वचनों के आधार पर कर्मों में प्रवृत्तिसद्यस्य यज्ञ-ज्ञान-तत्पौरुष कर्मयोग को ही श्रेया का प्रधान प्रतिपाद विषय माना है । इन कर कहेना है कि श्रेया का उद्देश्य किञ्चित् प्रवृत्त हुआ, यह विचार कर्जिए । अर्जुन युद्ध कर्म के लिए संभ्रम में उपस्थित हुआ था । वहाँ अपने कुसङ्घस्य की आशङ्का से यह कर्म से हटन के लिए उद्यत हुआ । अजुन को इस उपप्रवृत्ति को रोक्ने के लिए ही मगवान् को कर्मोपदेश करना पड़ा । फलरूप करिष्ये वचन तत्र" कहाता हुआ अजुन युद्धकर्म में प्रवृत्त होगया । इस प्रकार उपक्रमोपसंभार से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि श्रेया विशुद्ध कर्मयोगशास्त्र

ही है। ज्ञान एक भक्ति इसके सहायक मात्र है। कर्म से ही भक्ति उत्पन्न होती है, कर्म से ही ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान एक भक्ति से साम्य है, एक इनका सापेक्ष कर्म ही है। यदि कर्म नहीं तो कुछ नहीं।

## ४—राष्ट्रवादियों का साम्यवाद

इसके कुछ समय से विद्युद् राजनीति के अनुयायी हमारे राष्ट्रीय प्रवृत्ति शक्ति के लोगों की योग्यता से सर्वथा भिन्न एक नवीन "साम्यवाद" की कल्पना कर गीता के साम्ययोगशास्त्र' मानने का अभिप्राय कर रहे हैं। और समझ है कि सम्प्रत्यक्ष बुद्धियोग-प्रतिपादक हमारे इस भाष्य-का भी वही तत्पर्य लगाने लगे कि सेवकने बुद्धियोग के म्यात्र से हमारे साम्यवाद का ही समर्थन किया है। ऐसा दश में यह आवश्यक हो जाता है कि हम गीता के साम्यवादमूलक बुद्धियोग का एक कर्मिष्ठ साम्यवाद का अन्तर साध कर दें।

“सर्वेभ्यु मृतेषु विद्युम्भं परमेस्वरम्”—‘शुनि वैव वक्ष्यामि च परिहृताः सम-  
दक्षिणा” “सपत्न्यं योग उच्यते”—निर्दोष हि स च ब्रह्म”— ‘समोऽहं सर्वमृतेषु’ सम  
पश्यन् हि सर्वत्र”—“सर्वेभ्यु मृतेषु”— ‘सम’ शब्दो च विभे च”—“सर्वमृतेषु यनैरम्”  
सर्वमृत्भिर्यत् यो माम्”—“सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः”— ‘समबुःखसुखः स्वस्थः’  
इत्यादि गीता सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में, विश्व में। इन्हें वासी चेतन एवं अचेतन प्रजा  
में सर्वथा समरूप से म्यात्र उस म्यापक परमशक्त को कल्प में रखते हुए, इसी कल्प के अ  
धर पर भिन्ती से राग-द्वेष न रखते हुए, इन्द्रियों का एकान्तताः परिहृत्य करते हुए, लोक-  
संमूह को मूढ बनाते हुए याकञ्चीकन निष्कायमात्र से बर्खास्तधर्मीसुकूच अपने अपने आधि-  
कारिक कर्म-ज्ञान-भक्तियोगों में प्रवृत्त रहना ही गीता का सम्प्रत्यक्ष किंवा वैदिकबुद्धियोग  
है जिसका कि भूमिका तृतीयसंस्कृत के “बुद्धियोगपरीक्षा” नामक प्रकरण में विस्तार से  
लिखप्य होने बाध्य है।

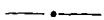
“सम्पूर्ण विश्व का कोई एक तन्त्रायो है, वही अन्नयामीरूप से प्राणिमात्र के हृदयों में प्रतिष्ठित होकर उनका उनका संचालन कर रहा है, एववह तन्त्रायी ‘अभिभक्त भिमक्तेपु’ के अनुसार इन विभिन्न पदार्थों में अभिभक्तर से (समरूप से) प्रतिष्ठित है” इस इश्वरानुगत भास्यसाम्यवाद, किंवा अहमभ्यापकभाव द को आधार बनाते हुए करने समाधानकुल कर्मा में प्रवृत्त रहना ही समस्तलक्षण बुद्धियोग है। ईश्वरमुखक राबतन्त्र ही इस साम्यवाद का प्रतिष्ठ है।

राष्ट्राचारियों के कल्पित साम्यवाद का तो गीता में गन्ध भी नहीं है। कारण इन्होंने गीता की शास्त्रीय मर्यादा का सर्वाथा स्तिरस्कर कर अनीश्वरवादमुखक प्रबलतन्त्रवाद किंवा गणतन्त्रप्रमकवाद की कल्पनिक मिथि पर साम्यवाद का आविर्कार किया है। इनके साम्यवाद का आरमसाम्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। ‘सबको समानदृष्टि से देखो’ इसका तात्पर्य ये महानुभाव यह जगान हैं कि सब को सब कर्म करने का अधिकार है। सबको वयाधममर्यादा का (जो कि गीताशास्त्र की मूलप्रसिद्ध बना हुआ है) परित्याग कर मेद व्यवहार बट्य देना या क्षिण। खान-पान-निवाह आदि की अर्गन्हाए सुवधा तोड़ देनी चाहिए। सब का न्यक्तित्व ख तन्त्र है। कोई किसी \* नियन्त्रण में नहीं रहसकता। प्रजा का नवठन ही शासन का मूल सूत्र है। फलत इनके साम्यवाद का यह निष्पत्त निरुज कि “प्रपाश” नाम की कोई कस्तु संसार में नहीं है। अमर्यादित पशुओं की तरह उच्छृलख बने रहना ही मर्यादा है। यही साम्यवाद है, और गीता इसी का निरूपण करती है।

कहना न होगा कि राष्ट्राचारियों का उच्छृलख असाभ्यवादरूप साम्यवाद विश्वशक्ति की दृष्टि से पक् मयानक खरा है। हम उन सहयोगियों को निम्नत्रण देते हैं कि उन्होंने गीता के आधार पर निरु कल्पित साम्यवाद की घोषणा करने का दुस्साहस किया है वे यह प्रमा खित करें कि गीता के अमुक बचन हमारे साम्यवाद का समर्थन कर रहे हैं। अम्यथा उन्हें दयकरके गीताशास्त्र को कर्बबिहृत करने का प्रपास छोड़ देना चाहिये। अरनी इच्छा से वे कुछ भी माना, एव किन्या करे। परन्तु दु ख का विषय तो यह है कि गीता जैसे पवित्र शास्त्र को भागे कर मोखी जनता को धोके में डाला जाया है। जो गीता पद पद पर कर्णाभमधर्म के

अनुशासन का अन्वेषण दे रही है, जिस गीताने अर्जुन को साधन पर आकृष्ट रहने के लिये उप-  
 देश दिया है, जो गीता शास्त्रादि चारों वर्णों के नियत कर्म मतसा रहा है, जिस गेय का  
 मुख्य उद्देश्य शास्त्रसिद्धकर्मों का प्रतिपादन है, उस गीता को वर्णाश्रमधर्मकर्मों से सर्वथा बाहर  
 निकालते हुए अपनी साधनसिद्धि का साधन बना लेना सधमुच एक महापाप है। और उसी  
 पाप का यह फल है कि अज्ञेय "गीता गीता" का उद्घोष करते हुए भी उन राष्ट्रविरुद्धों  
 के साथ साथ राष्ट्र की मर्शदा, उस का भारतीयत्व, जगद्गुरुत्व भी शनै शनै स्पृष्टिगर्भ में  
 मिथीन होता जा रहा है।

अज्ञेय भारतीय प्रजा विधर्मों से अवश्य ही साधनानी रहती है। परन्तु जब उसके  
 सामने कल्पित शास्त्रमन्त्रि का बाना पहिन कर कोई बन्धक उरविषत होता है तो शास्त्रमन्त्रि से  
 मोक्षी प्रजा व्यामोह में पड़ जाती है और आकृष्ट पही हो रहा है। बहिरङ्ग शत्रु से हम साध-  
 नान रहते हैं परन्तु कर ही में जब विभीषणों के अन्तार होने लगे तो मिर मगवान् ही रक्षक  
 हैं। उसी भगवदश से यह प्रापना करते हुए कि मगवान्। देवयुगलक्ष्मीन जिस गीतायोग का  
 महाभाग कण्ठ में अर्जुन को निमित्त बना कर आगने उद्धार किया था, का उद्घोष से पुन आत्र  
 यह श्रुत हो गया है। सार्थी सोम सार्थसिद्धि के लिए आपकी इस प्रतिभुर्ति को अत विद्यत कर  
 रहे हैं। ऐसे विषम समय में पुनः अपने वैराग्यलक्षण ईशान्प्रमुखक, समस्तलक्षण बुद्धियोग  
 का उद्धार करने के लिए आपका आनिर्माण होना चाहिए। अस्तु अज्ञेय यह है कि प्रचलित  
 साम्यवाद सर्वथा निमूख है अतएव इसके सम्बन्ध में गीता का कोई बचन उद्यत नहीं हो सकता।  
 इसी अशास्त्रापमान से यह योग सवथा अयोगक्रेटि में प्रकट होकर अप्रत्याशिक बनना हुआ  
 एकलक्ष्य उद्देश्यार्थ है।



परन्तु मैं सवथा निमूख ज्ञान-मन्त्रि-कर्मयोगों का प्रतिपादन करने वाले उक्त  
 बचनों की तुलनात्मक उपलक्षणना करते हुए हम इस निबन्ध पर पहुंचते हैं कि भगवान् जनसा  
 भार्य में प्रचलित ने योगों के हैं भी और नहीं भी। मगवान् तर्कों योगों को



अक्षय मानते हैं, परन्तु प्राचीनों ने इन का जैसा स्वरूप समझ रक्खा है, उस के भगवान् पूर्ण विरोधी हैं। सर्वकर्मस्वागच्छण ज्ञानयोग में वे यह संश्लेषन चाहते हैं कि कर्म का ज्ञान मत करो, कामना का परित्याग करो। कामना के परित्याग से कर्म करते हुए भी यह योग ज्ञानयोग बन जायगा। इसी प्रकार सकाम भक्तियोग में भी वे कामना का परित्याग चाहते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक कर्मयोग से भी प्रवृत्ति का परित्याग चाहते हैं। कामना-प्रवृत्ति का छोड़ते हुए भगवान् ने तीनों योगों का आदर करते हुए, जोकर्ममह को सुरक्षित रखते हुए अपनी ओर से एक चौथे सर्वथा अप्रवैराग्ययोग का उपदेश ओर दिया है। इसे भगवान् अपना मत मानते हैं, जैसा कि अनुपद ने ही स्पष्ट हो जायगा। यही गीता का बुद्धियोग है। इसे भगवान् ने गीता में बुद्धियोग-योग इन दोनों नामों में से व्यवहृत किया है।

यद्यपि प्रकृत्यभिन्नानुसृत यह योग आरम्भ की ६-अध्यायों में ही प्रतिपादित हुआ है, परन्तु चूंकि यह भगवान् का अपना मत है, भगवान् इसे सर्वप्रधान मानते हैं इसीलिए आरम्भ से अन्त तक स्थान स्थान पर इतर योगों के मध्य में इस का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझ गया है। इसी बुद्धियोग के सम्बन्ध से गीता के इतर तीनों सखोधि-योग भी बुद्धियोग नामों से ही प्रसिद्ध हो गए हैं। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि श्रुत्या एकमात्र बुद्धियोग का, दूसरे शब्दों में बुद्धियोगरूप योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग का ही निरूपण करती है। गीता वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग, धर्मबुद्धियोगभेदभिन्न चारों बुद्धियोगों का निरूपण करने वाला "बुद्धियोगशास्त्र" है। आत्मकल्याण के लिए पीछा निम्नलिखित चार बुद्धियोगों को ही हमारे सामने रखती है—

१—राग-द्वेष का परित्याग करते हुए आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर यावज्जीवन अनासक्त-मात्र से कर्म करते रहो। ( वैराग्यबुद्धियोग )।

२—अविषा नामक मोह का परित्याग करते हुए, शरीरपात्रा निर्वाहक कर्म करते हुए अन्तर्न्यासिर्लक्ष्यज्ञान के उदय में प्रयत्नशील बने रहो। ( ज्ञानबुद्धियोग )।

३—अस्मिन्ना का परित्याग करते हुए, किसी भी फल की आकांक्षा न करते हुए अपने समस्त कर्मा का अनुष्ठान करते हुए, साय ही में इन कर्मा के सम्बन्ध में—“इष्टं कुरुता इ, वही करुता है” यह भावना रखते हुए सतत इष्टर निन्त में निमग्न रहो।  
( एवमुद्दिपोय )।

४—अभिलिखत का परित्याग करते हुए केवल कर्तव्यबुद्धि से तदनुष्ठानकाल यथादि कर्मा का यावर्जीवन अनुष्ठान करते रहो। ( धम्मसुद्दिपोय )



इन्हीं चारों बुद्धियोगों के समर्थक बचन पाठकों के सम्मुख क्रमशः उपस्थित किए जाते हैं। उक्त बचनों के आधार पर पाठक स्वयं निगम कर लेंगे कि वस्तुतः मीमांसा का हृदय, किंवा प्रतिपाद्य विषय क्या है ? आरम्भ से ही अप्याय पश्यन्त सबमुक्त्य एव सपञ्चद रागद्वेषपरित्यागलक्ष्य, सर्वकर्मप्रणयलक्ष्य वैराग्यबुद्धियोग का प्रधानरूप से निरूपण हुआ है। पहिले इसी के समर्थक बचनों पर दृष्टि गविए—

### १—वैराग्यबुद्धियोग के समर्थक बचन

१—मात्रास्पर्शास्तु कीन्तेय ! शीतोप्यसुखबुल्लवाः ।

भागमापायिनोऽनिस्त्यास्तां तित्तिसुखं मारत ॥ ( २ । १८१ )

२—य हि न व्यययन्त्येते पुरुष पुरपम !

समनुस्समुस पीरं सोऽपृतन्नाय कल्पत ॥ ( २ । १८१ ) ।

३—अन्तर्भ्रम इमे देहा नित्यस्पोक्ता शरीरिणः ।

घनाग्निनोऽभवेयस्य तस्माद्युद्धयसु मारत ॥ ( २ । १८१ ) ।

४—वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययय ।

कथं स पुरुषः पार्यं क पातयति इन्ति कम् ॥ ( २ । २११ ) ।

५—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्यादि पुद्गाप्त्रेषोऽन्यत् क्षमियस्य न विद्यते ॥ ( २ । ३११ ) ।

- ६—सुखदुःखे समे कृत्वा साभासामौ जया जयौ ।  
ततो पुद्गाय पुञ्यस्य नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ( २ । ३६ । ) ।
- ७—एषा तेऽभिहिता सांख्य बुद्धिः,—योगे स्थितां शृणु ।  
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ( २ । ३६ । ) ।
- ८—अवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !  
बहुशास्त्राद्यन्तारत्र बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥ ( २ । ४१ ) ।
- ९—भोगैरथर्व्यभसक्तानां तथापहृतचेतसाम् ।  
अवसायात्मिका बुद्धिः समाप्तौ न विधीयते ॥ ( २ । ४२ । ) ।
- १०—मैत्रुयपविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !  
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ( २ । ४५ । ) ।
- ११—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।  
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ( २ । ४७ । ) ।
- १२—योगस्यः कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय !  
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समस्त्वं योग उच्यते । ( २ । ४८ । ) ।
- १३—दूरेषु ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय !  
बुद्धौ शरणात्मनिच्छ कृपणाः फलहतयः ॥ ( २ । ४९ । ) ।
- १४—बुद्धियुक्तो नहातीह जमे सुष्ठतवृष्कृते ।  
तस्माद्योगाय पुञ्यस्य योग कर्मसु कौशलम् ॥ ( २ । ५० । ) ।
- १५—कम्मम बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिणः ।  
जन्मबन्धविनिमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ( २ । ५१ । ) ।
- १६—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।  
समाधानपसा बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यमि ॥ ( २ । ५३ ) ।
- १७—दुःस्वप्ननुद्दिग्मनसाः सुस्तं पु विगतस्पृहः ।

- धीतरागभयक्रोपः स्थितधीमुनिरुच्यते ॥ ( २।५६।)।
- १८—याः सर्वज्ञानमिस्नेहम्वत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।  
नाभिनन्दति न द्वेषि तस्य मज्ञा मतिष्ठिता ॥ ( २।५७।)।
- १९—राग—द्वेषपियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।  
आत्मवद्वेषविषेयात्मा मसादमधिगच्छति ॥ ( २।६४।)।
- २ —नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।  
न चापावयतः शान्तिरयान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ( २।६६।)।
- २१—परिचिन्त्रियाणि मनसा नियम्पारमेवऽर्जुन ।  
कर्मैन्द्रियः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ( ३।७।
- २२—महायति कर्मणोऽन्यत्र मोक्षोऽप्य कर्मवन्धनः ।  
तद्वि कर्म फलन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ( ३।११।)।
- २३—तस्मादसक्तः सततं कर्तव्यं कर्म समाचर ।  
असक्तो वाचरन् कर्म परमानोति पुरुषः ॥ ( ३।१६।)।
- २४—सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !  
कुर्याद्विद्वांस्यसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ ( ३।२५।)।
- २५—इन्द्रियस्येन्द्रियस्पर्धे राग—द्वेषौ व्यपस्थितौ  
तयोर्न ब्रह्ममच्छेत्तौ ह्यस्य परिपश्चिती ॥ ( ३।३४।)।
- २६—अप्यप्य अप्यप्य रजोगुणसमुद्भवः ।  
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ( ३।३७।)।
- २७—तस्मात्त्वमिन्द्रियाणां धीं नियम्य मतर्षम !  
पाप्मानं ममदि वेने ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ( ३।४१।)।
- २८—इमं विपस्वते योगं प्रोक्तवानहमभ्ययम् ।

- विष्वान् मनवे प्राह यनुरिस्वाकषेऽप्रवीव ॥ ( ४।१ )।
- २६—एषं परम्पराप्रप्रमिमं राजर्षयो विदुः।  
स कक्षेनेह महता योगो नष्टः परवप ॥ ( ४।२ )।
- २७—स एषाय मया वेऽप्य योग प्रोक्तः सनातन ।  
मक्तोऽसि सत्वा चेति रहस्यं ह्येचबुचमप ॥ ( ४।३ )।
- २८—न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा  
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स वश्यते ॥ ( ४।४ )।
- २९—कर्मण्यकर्म्य यः परयेदकर्मणि च कर्म्य यः।  
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ( ४।५ )।
- ३०—एषुत्वा कर्मफलासङ्गं नित्यवृत्तो निराश्रयः।  
कर्मण्यभिप्रहृष्टोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ( ४।६ )।
- ३१—योगसम्यक्कर्मणां ज्ञानसंविन्नसंशयम् ।  
आत्मनस्त न कर्माणि निवर्त्तन्ति यन्नय ॥ ( ४।७ )।
- ३२—तस्मादज्ञानसंयुतं ह्यस्य ज्ञानासिनात्मनः।  
क्षित्वैतं शरणं योगं—मातिष्ठोषिष्ठं भारत ॥ ( ४।८ )।
- ३३—ज्ञेयः स नित्यसम्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।  
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुष्यते ॥ ( ५।१ )।
- ३४—यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।  
एकं सांख्यं च योग च यः परयति स परयति ॥ ( ५।२ )।
- ३५—योगयुक्तो विशुद्धात्मा विभिताया अितेन्द्रियः ।  
समृतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ( ५।३ )।

- ३६-ब्रह्मण्याभय कर्माणि सङ्गं शक्त्या करोति यः ।  
 सिध्यते न स पापेन पक्षपद्मिवात्मसा ॥ (५।१०) ।
- ३७-सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्यास्ते घृक्ष्णवरी ।  
 नवद्वारेपुरे वरी नैव कुर्वन् कारयन् ॥ (५।११) ।
- ३८-इहैव वैजितः सर्गां येषां साम्ये स्थित मन्दः ।  
 निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (५।१२) ।
- ३९-न मह्येष्वत् विषं प्राप्य नोद्विषेत् प्राप्य च विषम् ।  
 स्थिरबुद्धिरसमूहो ब्रह्मनिद् ब्रह्मणि स्थित ॥ (५।१३) ।
- ४०-गणनोतीहैव यः सोऽकुं माक्षरीरविमोक्षयात् ।  
 कामक्रोधोदमव वां स युक्तः स सुखी नरः ॥ (५।१४) ।
- ४१-पतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्गोक्षपायकः ।  
 विगतः कामपक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ (५।१५) ।
- ४२-मनाश्रितं कर्मफलं कर्म कर्म करोति यः ।  
 स सन्यासी स योगी च न निरक्षिणाक्षियः ॥ (६।१) ।
- ४३-यः सम्पासमिच्छि प्राङ्मयोर्गं तं विदि पाण्डव ।  
 न असन्यस्तसंक्रुष्यो योगी मवति कश्चन ॥ (६।२) ।
- ४४-सुहृन्मित्रार्पुदासीनमप्यस्योद्वेष्यबन्धुषु ।  
 साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धि-विशिष्यते ॥ (६।३) ।
- ४५-तत्र तं बुद्धिसंयोगं समते पारिर्देहिकम् ।  
 यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ (६।४) ।
- ४६-तपस्विऽप्योऽपिश्चो योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽपि च ।  
 कर्मिभ्यरथापिश्चो योगी तस्माद्योगी भवान्जुन ॥ (६।५) ।

५०-ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवा ।

श्रद्धावन्तोऽनुम्यन्तो मुच्यन्ते तेषुपि कर्मभिः ॥ ( ३ । ३१ । ३ ) ।

५१-ये त्वेवमभ्यस्यन्तो नानुतिष्ठन्ति य मतम् ।

सवज्ञानचिभूदांस्तान् विदि नष्टान्घतसः ॥ ( ३ । ३२ । ) ।

— ० —

‘राग-द्वेष ही बन्धनरूपा आसक्ति के कारण हैं । इस आसक्तिरूप बन्धन के प्रमाण से बुद्धि का स्वाभाविक वैराग्यभाव अभिभूत हो जाता है । ऐसी सुख का आह्वानिषा (अभ्ययात्मा) क साध योग नहीं हो पाता । यही दुःख का मूल कारण है । द्वेषगर्भित राग ही काम क्रोध का जनक है । यह हमारा (आत्म्य का) सब से बड़ा शत्रु है । इन शत्रुओं का दमन करते हुए, इन्द्रियसंपन्नक सो कसमह को ब्रह्म में रक्षते हुए, साध हो में शान्तिहित कर्मों को अपना परम आराध्य समझते हुए हमें याज्ञवल्कीय कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिये” — उक्त श्लोक इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । यही सच्चा सन्वास है, यही सच्चा कामयोग है । अपने इस ब्रह्मयुद्धियोग में भगवान् ने प्राचीनाभिमत कामयागसङ्घाता संक्षिप्यनिष्ठा (ज्ञान योग), एव प्रवृत्ति कर्मसङ्घाता योगनिष्ठा ( कर्मयोग ) को यथैव समालोचना करते हुए अन्त में यह निर्णय किया है कि इन दोनों को पूरक समझना बड़ी भूल है । दोनों क समन्वित रूप ही कल्याणकर है । इस प्रकार इस वैराग्यबुद्धियोग में ज्ञान कर्म दोनों का सम रूप हुआ है ।

प्रचलित ज्ञान-वक्ति-कामयोगों से पूरक बनाने के लिये भगवान् ने इसे केवल-‘योग’ शब्द से व्यवहृत किया है । इनमें ज्ञान-काम दोनों समरूप से प्रतिष्ठित हैं । अत एव यह ‘नमस्त्वयोग’ नाम से भी सम्बोधित हुआ है । समरूप ही सच्चा योग है, सम्युक्त कर्मों में योग ही परम उपाधेय है । जनकादि राक्षसि इसी योग के अनुष्ठान से कर्मों में सतत प्रवृत्त रहते हुए भी जीवन्मुक्त बने हैं । अतएव इह “त्रिदेह का उपाधि से विमुक्ति कि पा गया है । इस योग के पहिले शिष्य विवस्वान् मनु थे । देवपुत्र क आदिक्रुष वे इसका भगवान् द्वारा उन्देश हुआ था, इसी लिये हम इसे उन्देश योग कह सकते हैं । साध ही में इ

तरयोगों के प्रवर्धक कपिल रामा-शास्त्रादि धाररत्विचक्रजोष ( मनुष्य ) थे, एवं इस योग के प्रवर्धक आधिकारिकजीव ( अवतार ) हैं। इसी छिपे यह सर्वश्रेष्ठ भी है आदिकाश से कबे आने के कारण इस वैराग्यविद्या को 'सनातनविद्या' कहा गया है—“योगः शोका सनातनः” ( ७।३। ) । रात्रिर्विद्यो वे ही इसका विशेष प्रचार रहा है। इस छिपे हम इसे “रात्रिविद्या” नाम से भी ध्यान कर सकते हैं — “एव परमाराधनमिदं रामस्य शो विदुः” । स्वयं अमृतमगशान् इस के आदिप्रवर्धक थे, इसी छिपे इसे भगवद्दृष्ट्या भी कहा जा सकता है—“ये वे पतयिद् निःश्वमनुविष्टुन्निव मानसाः” । भगवान् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही योग था । सञ्जनः गौता ने उन्हें यद्यपि इसी योग का प्रतिपादन करना चाहिए था परन्तु भगवान् कोरुसप्रह के छिपे धरातल पर अस्तीर्ष्य हुए थे । एवं उस समय ( महाभारतकाल में ) कोरुस में ज्ञान मक्षि कर्म में से तीन मार्ग जमनाश में प्रवर्धित थे । एकान्तन वैराग्ययोग का ही प्रतिपादन करने से बुद्धिभेद उत्पन्न होने को भावना थी। इस छिपे भगवान् ने पहिले तो सर्वश्रेष्ठ सर्वश्रेष्ठ वैराग्ययोग का ही प्रतिपादन किया, और बाद में कोरुसप्रह को सुस्थित रखने के छिपे क्रमशः तीनों योगों का प्रतिपादन किया । हाँ, इसके सम्बन्ध में भगवान् ने सरोधन का वरप किया । भगवान् के द्वारा सरोधित यह तीनों योग भी बुद्धिभेदकार में ही परिष्कृत होगे। उन्हीं सरोधित रूपों के समर्थक बचन क्रमशः पाठकों के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं —

## २- ज्ञानशुद्धियोग के समर्थक वचन

१—मन्वासासक्तमनाः पार्थ । योग युञ्जन् भद्राश्रयः ।

असंशयं समञ्जं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ ( ७।१।३ )

२—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यतेपतः ।

यज्जहात्वा नेह भूयोऽन्यम् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ ( ७।२।१ )

३—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

पततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तन्मतः ॥ ( ७।३।१ )



- ६—भिभिर्मुष्णयैर्माधैरेभिः सर्वमिदं ततम् ।  
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमभ्ययम् ॥ (७।१३।)।
- ७—रैषीं शेषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।  
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायासितां तरन्ति ते ॥ (७।१४।)।
- ८—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।  
माययापहृतज्ञाना आसुर भावमाश्रिता ॥ (७।१५।)।
- ९—तपां ज्ञानी नित्यशुक्त एकमक्तिर्विशिष्यते ।  
भियो हि ज्ञानिनोऽस्पर्धमहं स च मम भियः ॥ (७।१७।)।
- १०—उद्वाराः सद्य एवैते ज्ञानीस्त्वामैव मे मतम् ।  
आस्थितः स हि युक्तात्मा मायेषानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१६।)।
- ११—पहृतां मन्यनामन्ते ज्ञातृवान् मां प्रपद्यते ।  
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१२।)।
- १२—अभ्यक्तं व्यक्तियापद्य मन्यन्ते मामबुद्धयः ।  
परं मायमज्ञानं नो ममाभ्ययमनुत्तमम् ॥ (७।२४।)।
- १३—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।  
मूढोऽयं नाभिजानाति श्लोको मामजप्रभ्ययम् ॥ (७।२५।)।
- १४—जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतश्चि यै ।  
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चास्मिन्मम् ॥ (७।२२।)।
- १५—साधिभूताधिदैव मां साधियद्गं च ये विदुः ।  
प्रयाग्व्रजामेऽपि च धां ते विदुर्मुक्तयतताः ॥ ७।३०।)।
- १६—अन्तकाये च मामेव स्मरन् गुणत्वा कर्मचरम् ।  
यः प्रयाति स भद्राह याति नास्त्वप्र रागदमः ॥ (८।५।)।
- १७—अभ्यासयोगयुक्तं धरता माध्यमाधिना ।

परमं पुरुष दिव्यं याति पार्यानुचिन्तयन् ॥ ( ८ । ८ । ) ।

१६-मामुपस्य पुनर्जन्म दुःसात्मयमगाभतम् ।

नाप्नुवन्ति महाप्रमानः ससिद्धिं परमां गता ॥ ( ८ । १३ । ) ।

१७-नेत्रेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं पदिष्टम् ।

प्र येति तत् सर्वमिदं विदित्वा यागी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ ( ८ । १८ ) ।

“ज्ञान के साथ विज्ञान का समन्वय” ही इस ज्ञानयोग में प्रधान सशोभन है। ज्ञान आत्मसम्बन्धी है, विज्ञान विश्वसम्बन्धी है। विश्वकर्म पर दृष्टि रखते हुए आत्मचिन्तन करते रहना ही सच्चा ज्ञानयोग है। सांसारिक कर्मों से तटस्थ रहते हुए, साथ ही में सांसारिक कर्मों से निवृत्त कर्म पर आकृष्ट रहने का आदेश देते हुए ज्ञानोपपन्न कर्मों का अनुष्ठान करते रहना ही ज्ञानयोग है। भारत के सौमन्य से कुछ समय पूर्व ही समर्थ श्री रामदास स्वामी, सन्त तुकोवा, सर्वश्रीज्ञानेश्वरमहाराज आदि कुछ एक महात्मा ऐसे ही ज्ञानयोग के उपासक हो गए हैं। यह सांसारिक कर्मों से सर्वथा तटस्थ रहते हुए कर्मों का आत्मचिन्तन में निमग्न हो। परन्तु साथ ही में समान को कर्णाभ्रमजुहूय कर्मों में प्रवृत्त रहने का आदेश भी करते थे। जहाँ प्राचीन लोग सब कर्मों का एकत्रित परिणाम कर ससार को भी कर्म छोड़ने के लिए बाध्य करते हुए सच्चा असम्यक ज्ञानयोग का उपदेश देते थे वहाँ महात्मान् ने कर्मयोग का विवेक करते हुए इन ज्ञानयोगियों के सामने यही सशोभन उचित किन्तु कि दुष्टों कर्मों से भागना नहीं चाहिए। कर्म ईश्वर की विभूति है। अधिक से अधिक तुम सांसारिक (गृहस्थ) कर्मों को छोड़ सकते हो। साथ ही में दुष्टों सख को कर्ममार्ग पर आकृष्ट रहना पढ़ना।

इस प्रकार महात्मान् ने सशोभित ज्ञानयोग का स्वरूप हमारे सामने रखा। महात्मान् अनासक्त कर्मसङ्घट्ट आत्मसुखियोग के अनन्य पक्षपाती थे। इसी लिए लोकसमूहदृष्टि से उन्होंने ज्ञान योग का प्रतिपादन तो किया परन्तु इस पर विशेष जोर नहीं दिया। यही नहीं—“यत्तदापि मिद्वाना कश्चिन् मां वधि तत्पतत्” “पहूनां जन्मनापन्ने ज्ञानवान् मां मपद्यत” इत्यादि रूप से महात्मान् ने इस के सम्बन्ध में अपनी वरुधि ही प्रकट की। बस यह है कि ज्ञानयोग

के साथ व्यक्तिभाव की प्रधानता है। इस योग से केवल एक ही व्यक्ति का उपकार संभव है। वर सांसारिक कर्मों में अनासक्तिपूर्वक प्रवृत्त रहने वाले वैराग्य-बुद्धियोगी से विश्व का कल्याण होता है। इस के अतिरिक्त अत्यन्त ज्ञान की उपासना की सफलता में भी वृद्धा सन्देश रहता है। कारण स्थूलकर्म के परिष्कार से स्थूलजगत् की ओर मुक्त हुए बुद्धि मन का संयम साधारण बात नहीं है। इसी लिए भगवान् को कहना पड़ा है कि “हजारों मनुष्यों में कोई एक तो इस ज्ञानसिद्ध के लिए यत्न करता है, एवं यत्न करने वाले सिद्धों में से भी कोई निराला ही भेरे (अभ्यस के) तात्विक स्वरूप को परिष्कार ने में समर्पण होता है” “सुरभ्य धारा निशिता दुरस्यया बुग पथसात् कश्यो बदन्ति”। वर कर्ममय वैराग्ययोग स्थूलकर्मपरिष्कार से सर्वथा स्वर्णमार्ग बन जाता है। अपिच वैराग्ययोगी जहाँ केवल एक ही जन्म में विदेह बन ता बुद्ध्य आत्मनिष्ठ प्राप्त कर लेता है, वहाँ कर्मनिमुख ज्ञानी को आत्मप्राप्ति के लिए अनेक जन्म योग साधन करना पड़ता है—“बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते”। अपनी इसी अनभिष्टि (अशुचि) को बरताने के लिए भगवान् ने केवल २ अभ्यासों में ही इसका निरूपण किया है। इसने तो मक्तिमार्ग कहीं अधिक सरल है। इसी लिए भगवान् ने इसका ४ अभ्यासों में निरूपण किया है, जैसा कि तथोगनिरूपण में स्पष्ट हो जायगा। इस योग के मुख्यपरिष्कार सिद्धजाति में उत्पन्न कृपिचसिद्ध ये, अतएव इसे हम “सिद्धविद्या” नाम से व्यक्त कर सकते हैं। इससे ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि ज्ञानमयी बनकर मोह का निवारण करती हुई आत्मा के साथ युक्त हो जाती है। अतएव इसे ज्ञानबुद्धियोग नाम से भी सम्बोधित किया जा सकता है।

### ३—ऐश्वर्य बुद्धियोग का समर्पक वचन

१—इदं च गुणतमं प्रथमाम्पनुसूयते।

ज्ञान विज्ञानसहित परब्रह्मात्मा मोक्षसेऽद्युमात् ॥ (६।१)

- २—राजविद्या राजगुहं पविप्रमिदमुत्तमम् ।  
प्रसन्नानगम धर्म्यं सुसुखं कर्तुमभ्यस्य ॥ (१।२) ।
- ३—मत्स्यानि सर्वभूतानि न चाह तेष्वाभियताः ।  
न च मत्स्यानि भूतानि परम मे योगमैश्वरम् ॥ (६ ६५) ।
- ४—अपजानन्ति मां मुखा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।  
परं मानमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (६।११) ।
- ५—महात्मानस्तु मां पार्थ ! देवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।  
मजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (६।१२) ।
- ६—सततं कीर्त्तयन्तो न यतन्तश्च दृढवृत्ताः ।  
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (१।१४)
- ७—ज्ञानयोगेन चाप्यग्रे यजन्तो मामुपासते ।  
एकमेव पृथक्त्वन बहुधा विन्वतो मुखम् ॥ (६।१५) ।
- ८—तपाम्यहमहं वपे निरुह्याम्युद्यमामि च ।  
अयत्तैव पृथुश्च सबसन्वाहमर्हन् ॥ (६।१६) ।
- ९—अनन्याश्रितयन्तो मां मे जनाः पर्युपासते ।  
तेषां नित्याभियुक्तानां योगधैर्यं ब्रह्मण्यम् ॥ (६।१७) ।
- १०—शुभाशुभफलेषु मोक्षसे कर्मबन्धनैः ।  
सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यति ॥ (६।२०) ।
- ११—समोऽहं सर्पभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति करुणम् ।  
ये ममन्ति तु मां मज्जा मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (६।२६) ।
- १२—अपि चतु सुदुराचारो मनेत मापनन्यमाह ।  
साधुरेव स मन्त्रव्ययः सम्यग् व्यवसितो हि सा ॥ (६।३०) ।

११-विमं भवति घर्मात्मा शब्दच्छान्तिं नियच्छति ।

कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे मक्तः प्रणश्यति ॥ (६११) ।

१४-किं पुनर्बाह्यगा -पुण्या-भक्ता-राजर्षयस्तथा ।

अनिसमसुख लोकमिम प्राप्य भजस्य माध ॥ (६१३) ।

१५-मग्मना भव मद्भक्तो मद्याजा मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युष्मैवमात्मान मत्परायणः ॥ (६१४) ।

१६-अह सर्षभ्य ममभो मत्तः सर्वं मयच्छते ।

इति मत्वा ममन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०१८) ।

१७-मथिता मद्रतमाणा घोषयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तरथ मां निस तुप्यन्ति च रमन्ति च ॥ १०१९ ॥

१८-यद्यद्विमृष्टिमदसत्त्वं श्रीमद्भित्तमेव वा ।

तत्तद्देवानमच्छ त्वं मम तन्नोऽशसम्भवम् ॥ (१०१४१) ।

१९-न तु मां शक्यसे द्रष्टुमननैव स्व चक्षुषा ।

विभ्यं ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम् (१११८) ।

२०-मफला त्वनन्यया शक्य अहमेवं विपोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परंतप ॥ (१११५४) ।

२१-येतु चर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पशुपासते ।

अहपाता मत्परमा मक्तास्तेऽतीव मे मियाः ॥ (१२१२०) ।

लोक में प्रचलित भक्तिनिष्ठ का यह अर्थ समझ जाय है कि "हमें अपने तुम की निश्चि के लिए भगवान् की आराधना करनी चाहिए । भगवान् बड़े दयालु हैं, कस्यथा की गरि हैं । ये हमारे सब अपराध, सब पाप क्षमा कर देते हैं, हमारी सब कामनाएं पूरी कर देते हैं । इसी भावना से प्रेरित होकर भक्त लोग अपने सत्त्व-रज-तमोगुणभावों के अनुसार विष्णु प्रसा-इन्द्र-शुक्र-वैश्रव-हनुमान्-राम-कृष्ण आदि भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना किया

करते हैं। जरा आपत्ति आने पर देवताओं के नाम प्रसन्न बोझा करते हैं। विपत्ति दूर होने पर उसब मनते हैं। इस प्रकार इन उपासकों की यह उपासना जप से इति पथ्यस्य कामना से श्रेष्ठप्रोत है। अथवा ही तत्प्रेक्षितोपासकों की कामनामयी तत्तुपासनाओं से तत्पदस्य प्राप्ति हो जाती है। परन्तु यह फलमुखी उपासना अस्मिन् सुख का कारण बनती हुई शक्य आनन्दशासन से सर्वथा प्युत है। इस में पराश्रित रहना पड़ता है, पद पद पर देवता से मग धाना पड़ता है, अस्म्य का सामाजिक ऐश्वर्य्य दक्ष रहता है। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए अपने काम को असमर्थ पत्ते हुए हम देवता से मोक्ष मंग्य करते हैं। भगवान् ऐसे भक्तियोग में भी ज्ञानयोग की तरह सरोचन चाहते हैं। भगवान् कहते हैं कि तुम उपासना विधी भी देवता की करो परन्तु वैतयुधि छोड़ कर। यह मन समझे कि तुम पूषक हो उपास्य देवता पूषक है। उसे अपने से अल्प समझे, यही अनन्योपासना है। निश्वास करो कि तुम उस अल्पक के ही एक अंग बनते हुए उससे अल्प हो, सभी देवता तुम हो। आत्मसुद्धि से निष्काममुष्पा उपासना करो, उपासना को अपना कर्त्तव्यकर्म (नित्यकर्म) समझे, इसे अल्प मत बनाओ। “अपापक ही शक्ति के हम मागीदार बनें” यही उपासना का रूप बनाओ। उस से तुम मंग ते क्या हो। उसने जो पढ़िसे से ही तुम सब कुछ देरकता है। केवल तुम्हारे और उस के बीच में अस्मिता का अन्तरस आहा है। ऐश्वर्य्य बुद्धियोगबन्धस्य भक्तियोग से उस व्याकरय को हटाना है। एतदथ सतत उस पर इति मात्र रक्षना पर्याप्त है। जो म्लुप्य देवता को अपने से पूषक समझकर अन्धी अपेक्षा उसे सपुत्र समझता हुआ अल्पपदि से उसकी उपासना करता है, वह उपासनातरव से सर्वथा बहिष्ठ है। तुम सूर्य्य हो, तुम मनु हो तुम अग्नि हो तुम्ही सब कुछ हो। यही उपासना का मुख्यमन्त्र है। इसी का स्तुती करण करती हुई मन्त्र-जासस्यस्तुतिर क्यती है—

१—अह मनुरमव सूर्य्यंआह कधीवा सुपिरस्मि विमः ।

अह कुसुमार्जुनेर्यं म्युझेऽह क्विरिगना परपता मा ॥ १ ॥

अह मृमिददार्पायाह इति दाशुपे मस्याय ।

अहमपो अनय भावशानः पम देवासो अनुकेतमायन् ॥ २ ॥

( ऋक्सं० ४।२६।१-२ )।

२—आयैवापस्वादात्पोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मो-  
त्तरत आत्मैवेद सर्वमिति । स वा एष एव पर्यभेष मन्वान एव विभान  
आत्मरतिरात्मश्रीद् आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराद् भवति, तस्य  
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यैरामानसे  
चम्पसोक्ता भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति” ।

( क्वां उ ७।१५।३। )।

३—“तान्यस्यैतानि कम्मनामान्येष । स योऽत एकैकमुपास्ते, न स वेद ।  
अकृत्स्नो द्वेषोऽत एकैकेन भवति । आत्वेत्येवोपासीत् । अत द्वेत सर्वं  
एकं भवन्ति । अनेन द्वेतत् सर्वं वेद” (बृहदारण्यक०) ।

भागवतसंग्रहित इह मक्तियोग से ऐश्वर्य का उदय होता है अद्विगता का निराश  
होता है । ईश्वर के साथ अन्वयता सम्बन्ध २ तरह से स्थापित किया जासकता है । अतएव यह  
योग “नचामक्ति” नाम से भी प्रसिद्ध है । विश्व में ईश्वर २ रूपों से म्यात हो रहा है,  
जिन का कि निराद निकपय्य आचार्यरहस्य में उपबृद्धित है । इस योग का राबालेभों में विशेष  
प्रचार रहा है, अतएव यह योग “राजविद्या” नाम से व्यवहृत किया जासकता है ।

४—वर्म्मबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—अपिभिर्ब्रह्मपा गीत छन्दोभिर्बिबिधैः पूयक ।

ब्रह्मसूत्रपदं द्वैष हेतुमङ्गिर्बिनिश्चितः ॥ ( १३।६। )।

• इस ब्रह्मसूत्रयोग का ही राज विद्या, किंवा राजयोग कहा जाता है । जो उच्छलवण  
राजभाषा का अनुष्ठान नहीं करते वे राजभाष से श्रुत होते हुए अन्यराज्याओं से स्थापित रहते हैं ।

- ०—प्रमानित्वमद्भिर्मयमहिंसा चाम्बिरामर्षम् ।  
 प्रापापोपासन शौचे स्मैर्ययात्मविनिर्ग्रहः ॥ ( १३ । ७ । ) ।
- १—कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः मकृतिरुच्यते ।  
 पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ ( १३ । २० । )
- ४—पुरुषः मकृतिम्यो हि मुञ्जे मकृतिमान् गुणान् ।  
 कारुण्यं गुणसङ्गोऽप्य सदस्योनिनम्मसु ॥ ( १३ । २१ । )
- ५—य एवं वेत्ति पुरुषं मकृतिं च गुणैः सह ।  
 सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ( १३ । २३ । )
- ६—अस्यै तेवमभानन्तः श्रुत्वाऽन्वेम्य उपासते ।  
 तेऽपि चातितरन्त्येव पृथु श्रुतिपरायणाः ॥ ( १३ । २५ । ) ।
- ७—मकृत्यैव च कर्म्मार्थि क्रियमाणानि सर्वथाः ।  
 यः परपति तपात्मानमकार्षार स पश्यति ॥ ( १३ । २६ । ) ।
- ८—अनादिश्चाभिर्युष्मत्त परमात्पायमभ्ययः ।  
 शरीरोऽस्मि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ( १३ । ३१ । ) ।
- ९—कर्मसा सुकृतस्याहुः सात्त्विक निर्भसं कृतयः ।  
 रजसस्तु फल इत्यस्यज्ञानं तमसः फलम् ॥ ( १३ । ३६ । ) ।
- १०—ऊर्ध्वमूसयपश्चात्समन्तं भाहुरभ्ययम् ।  
 छन्दांसि पत्य पर्षानि यत्तं वेद स वेद्विद्वत् ॥ ( १५ । ११ । ) ।
- ११—अपञ्चोर्ध्वं प्रथमास्तस्य शाखा शुचमहृदा विपयवशासाः ।  
 अथ च मृक्षाम्यमुसंततानि कर्म्मोत्पन्नघ्नीनि मनुष्यसोके ॥ ( १५ । २ ) ।
- १२—देवैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोऽहिरक्षिभिर्नरः ।



आचरत्यात्मन भयस्ततो याति परां गतिम् ॥ ( १६ । २२ । ) ।

११-तस्माच्छास्त्रं प्रमाद्य ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

इत्था शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ ( १६ । २४ । ) ।

१४-सो तव सदिति निर्देशो ब्रह्मण्यस्त्रिभिः स्मृतः ।

ब्राह्मण्यस्त्रेण वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ ( १७ । २१ । ) ।

१५-तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रिया ।

प्रवर्षन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ ( १७ । २४ । ) ।

१६-तदित्यनभिसेपाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विधिषाः क्रियन्ते मोक्षकारुचिमिः ॥ ( १७ । २५ । ) ।

१७-सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।

मग्न्ये कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ ( २६ । ) ।

१८-यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्मैव तदर्थीयं सदित्येवामिधीयते ॥ ( १७ । २७ । ) ।

१९-यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तव ।

यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ( १८ । ५ । ) ।

२ -नहि देहयुता शक्य स्पृष्ट कर्म्याभ्यशोपतः ।

वस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यमिधीयते ॥ ( ११ । ) ।

२१-ब्राह्मण्यव्यभिचारां शूद्राणां च परंतप !

कम्पादि प्रथिमक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ( ४१ । ) ।

२२-स्वे स्वे कर्मफलमिरतः संसिद्धिं समते नराः ।

स्वकर्मसिद्धिं यया विन्दति तच्छृणु ॥ ( ४२ । ) ।

२३-भेषान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वजुष्टितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ( ४३ । ) ।

२४—सहम कर्म कौन्तेय ! सर्वोपमपि न ब्रजेत् ।

सर्शारम्भा हि क्षीयेषु घृमेनाधिरिवाहताः ॥ (४८) ।

२५—सर्वकर्माप्यपि सदा कुर्वाणो मद्भ्यपात्रयः ।

भवमसादादानोति शाश्वतं पदमभ्ययम् ॥ (५१) ।

२६—यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

विर्येय भ्यवसायस्ते प्रकृतिं त्वां निपोक्ष्यति ॥ (५६) ।

२७—स्वभावमेव कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्ममया ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्वपशोऽपि तव ॥ (६०) ।

वैश्वानर ने अतन्त्ररूप से निष्कण्ड करने वाले मन्त्रद्वय व्यासमहर्षियोंने अपीस्येव मन्त्रप्रदायक वेद के व्यापार पर श्रौतभारत धर्मा का आनिष्कार किया । यहा धर्म आती नाकर शास्त्रीयकर्म नाम से प्रसिद्ध हुए । वही कर्म अपिसम्प्रदाय में 'कर्मयोग' नाम से सम्बोधित हुआ । ये शास्त्रसिद्ध कर्म अधियों की दृष्टि में विद्यासापक्षप्रवृत्तिसतकर्म, विद्या-निरपेक्षप्रवृत्तिसतकर्म मेद से हो मग्ने में निरूक्त हुए । पुत्र-राज्य-धन-सर्गिणि सुखसा-धनभूत यद्वकर्म हानकर्म एव तपकर्म यह तीनों विद्यासापेक्ष कर्म कहलाए । इष्ट-दत्त आपूर्त्त यह तीनों विद्यानिरपेक्ष कर्म कहलाए । अधियों ने आवेश विद्या कि अन्तुरूप चाहने वाले मनुष्य को लक्षयबालुसार यावन्धीन प्रवृत्तिसिद्ध उक्त कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए । शास्त्रप्रतिषिद्ध विकर्मों एव अविहितप्रतिषिद्ध विकर्मों (निरर्थक कर्मों) का परित्याग करना चाहिए, यही मनुष्य का परमधर्म है एवं धर्ममूलक कर्म ही अन्तुदय का परम साधक है । भगवान् में इस अधिमार्ग का भी आदर किया, परन्तु संशोधन के साथ । भगवान् में इस सम्बन्ध में वेक प्रवृत्तिवात्र का संशोधन किया । ग्रन्थद्वारा भगवान् ने बतलाया कि धर्मभाव के नि-कस के तिर पदादि कर्मा का अनुष्ठान आश्रय करना चाहिए, परन्तु फलप्रवृत्ति छोड़ते हुए । भगवान् का व्यस्य यही है कि कर्म कमी धर्म नहीं जाता । यदि उसका संश्रमना अनुष्ठान

कर लिया तो फल निश्चित है। ऐसी स्थिति में कर्मकाल में यदि फल की कामना की जायगी तो कर्मसाधक बुद्धि-मन के (कल की ओर) मुक्त जाने से कर्मसिद्धि की ओर उदासीनता आ जायगी। इससे एक तो कर्म की स्वरूप निष्पत्ति ही न होगी। यदि यथाशक्ति पूर्वबल प्रयोग से कामना रहते हुए भी कर्म सिद्ध हो गया तो कामना से आसक्तिरूप संस्कार का उदय हो जायगा। यह संस्कार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (ज्योतिर्मय विद्याभग को) आवृत करता हुआ मुक्ति से वधित कर देगा। इसलिए एकमात्र कर्म पर अधिकार रखते हुए प्रवृत्तिमूलक कामना का एकमात्र परिष्कार कर देना चाहिए, वही सच्चा कर्मयोग होगा। पूंछि इसयोग के मूल प्रवर्धक श्रुति ये—अथएव इसे इम “धार्पेविद्या” नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इससे धर्म का उदय होता है, अथएव इसे भस्मबुद्धियोग कहना भी अनर्थ्य बन जाता है।

इस प्रकार भगवान् ने कर्म का बुद्धियोगों का निरूपण किया है। वैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया जा चुका है भगवान् प्रधानरूप से वैराग्यबुद्धियोग के ही पक्ष-पाती हैं। रागद्वेष रहित बनकर, इन्द्रातीत होते हुए अनासक्तिभाव को आगे कर याकम्बीजन कर्म करते रहना ही भगवान् को प्रिय है। यही कारण है कि इतर योगों में समोचन करते हुए भगवान् ने सर्वत्र अपने अमिमत्त इस वैराग्ययोग का बीज बीज में समोर्ध्व कर दिया है, वैसा जो पाठक निम्नलिखित बचनों से स्वयं अनुमान लगा लेंगे—

## २-ज्ञानबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश

१—इच्छाद्वेषसमुत्थेन इन्द्रियोहेन यारव !

सर्वभूतानि समोः सर्गे यान्ति पश्यतः॥ (अ२.७)।

•—पूरे अध्यायानुसार इस योग में भगवान् की अशक्ति है। अथएव इस प्रकार में वैराग्य बुद्धियोग के बचन भी अध्यात्मसंज्ञा में उद्धृत हुए हैं।

- २—तेषां स्वभगते पापं जनानां पुण्यकर्मशाप ।  
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता ममन्ते मां इदं व्रताः ॥ (७२८) ।
- ३—अनन्यधवाः सततं यो मां स्मरति निवशः ।  
तस्याहं वृत्तमः पार्थ । निवशुक्तस्य योगिनः ॥ (७२९) ।

### ३—ऐश्वर्यबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश

- १—न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनमय ।  
उवासीनववासीनमसक्त तेषु कर्मसु ॥ (६१६) ।
- २—तेषां सततबुक्तानां ममतां प्रीतिपूर्वकम् ।  
ब्रह्मि बुद्धियोगं तं येन मामुपमान्ति ते ॥ (१०१०) ।
- ३—मदकर्मकृन्मदपरमो मद्भक्तः सन्नबन्धितः ।  
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मावेति पापद्वय ॥ (११५) ।
- ४—मय्यावेश्य मनो ये मां नित्यमुक्ता व्वासते ।  
अज्ञया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मयाः (१५२) ।
- ५—सतिपन्थेन्द्रियब्राम सर्वत्र समबुद्धयः ।  
ते माप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥ (१२५) ।
- ६—ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्त्यस्य मत्पराः ।  
अनन्येनैव योगेन मां व्यापन्व व्पासते ॥ (१२६) ।
- ७—मय्येव धन द्यापत्स्य मयि बुद्धिं निवेशय ।  
निवसिष्यसि मय्यत्र भूत कर्षं न सहय ।

- ८—प्रवेष्टा सर्पभूतानां मेषः कुरुष्व एव च ।  
निर्ममो निरहंकारः समस्तु स्वस्तुः चमी ॥
- २—संतुष्टः सततं योगी यथात्मा हृदिनिवस्यः ।  
मर्यापितमनोवृद्धिर्यो मे मक्तः स मे मियः ॥ (१९।१६) ।
- १०—अनेपचः शुर्षिदघ्न उवासीनो मत्तम्ययः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्मक्तः स मे मियः ॥ (१२।१९) ।
- ११—यो न हृष्यति न ह्येष्टि न शोचति न क्रांशति ।  
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे मियः ॥ (१२।१७) ।
- १२—तुल्यबिन्द्यास्तुतिर्मानि संतुष्टो येन केनचित् ।  
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे मियो नरः ॥ (१२।१८) ।



४—धर्मशुद्धियोग में वैराग्यशुद्धियोग का समावेश

- १—हृत्प्रियापेषु वैराग्यमहंकार एव च ।  
अन्मसृष्टुमराभ्युदुःखबोधानुदर्शनम् ॥ (१३।८) ।
- २—असक्तिरनभिषङ्गः पुण्यदरपरादिषु ।  
निबन्धं च समर्पितस्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ (१३।९) ।
- ३—समं सर्वेषु सुतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।  
विनश्यत्स्वविनश्यन्त यः पश्यति स परयति ॥ (१३।२७) ।
- ४—गुणार्थज्ञानतीक्ष्णं भीतं बेरी देहसमुद्गमवान् ।  
अभ्यस्यत्युमराभुःसैर्विनुकोऽयत्तमरुते ॥ (१४।१०) ।
- ५—मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मिभारिपत्तयो ।  
सर्वारम्भपरित्यागी गुणावीतः स वच्यते ॥ (१४।१५) ।

- ६—निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा धरुपात्मनिष्ठा विनिवृत्तकामाः ।  
 इन्द्रविमुक्ताः सुखदुःखसङ्घैर्गच्छन्त्यमूढाः पद्मव्यस तव ॥ (१५५) ।
- ७—काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यास कथयो विदुः ।  
 सर्वकर्मफलभाग प्राप्नुन्मार्ग विश्वतृष्णाः ॥ (१५६) ।
- ८—एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं यत्त्वा कथानि च ।  
 कर्मभ्यामीति मे पार्ये निश्चिन मत्सुखमय ॥ (१५७) ।
- ९—कार्यभिसंय यत् कर्म नियत क्रियतंऽर्जुन ।  
 सङ्गं यत्त्वा फलं वैव स सागः सात्त्विको मयः ॥ (१५८) ।
- १०—नियत सङ्गं विसमरागद्वेषतः कृतवत् ।  
 अफलमेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ (१५९) ।
- ११—असक्तबुद्धिः सर्वत्र भितात्मा विगतस्पृहः ।  
 निष्कर्म्यसिद्धिं परयां सम्प्राप्तेनास्मिन्त्विति ॥ (१६०) ।
- १२—बुध्या विशुद्धया युक्तो भूसात्मान नियम्य च ।  
 यथादीन् विपर्यास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युत्स्य च ॥ (१६१) ।
- १३—विषक्तसेवी सभाषी पतराक्षयमानसः ।  
 ध्यानयोगपरो निख वैराम्यं समुपाश्रितः ॥ (१६२) ।
- १४—अहंकार वसं दर्पं काम क्रोध परिग्रहम् ।  
 विमुच्य नियमः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१६३) ।
- १५—चेतसा सर्वकर्माणि ययि सन्यस्य मत्परः ।  
 घुष्टियोगमुपाश्रित्य मन्थितः सततं मय ॥ (१६४) ।

वृत्तितारित रजोव्येयरण प्रतरण से प्रकृत ये हवे वेदक पक्षी बतछाना हे विदित्य मे  
 वपि १-२-४-६ इन अप्यायो मे कर्मय वपि चौर मुदियेयेठे च निरुपण इया हे

क्यापि इन चारों में वैराग्यबुद्धियोग नाम का प्रथम बुद्धियोग ही इतर तीनों बुद्धियोगों की ओरों ओर एव भ्रष्ट है। साय ही में यह भी मानने में कोई आशय नहीं की जासकती कि यदि से अन्त तक वैराग्यबुद्धियोग को अपना प्रधान उद्देश्य बनाने बाळा गीताशास्त्र प्रधा नक्या वैराग्यबुद्धियोगशास्त्र है। इसे ही निष्कामकर्मयोग, बुद्धियोग योग, समस्वयोग पगपविष्ठा आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जासकता है। साय ही में प्रस्तोपात्त यह भी यान में रक्षिए कि प्राचीन ऋषियाताओं में पूर्वनिर्देशनानुसार गीताशास्त्र की १०० अध्याय ६-६-६ इस क्रम से तीन भागों में विभक्त मानी हैं। उनके अनुसार क्रमशः प्रथमाध्यायपट्टक में कर्मयोग का (प्रवृत्तिमूलक कर्मयोग का द्वितीयाध्यायपट्टक में भक्तियोग का (प्रेममूला-अप रमल्ल का), एव तृतीयाध्यायपट्टक में ज्ञानयोग का (सर्वकर्मपरित्यागलक्षण सन्यास का निरूपण हुआ है। यदि बोड़ी देर के लिए प्राचीनों के तीनों योगों का (अभ्युपगमवाद से) अन्तर कर लिया जाय तब भी इन के उक्त क्रम का तो भी किसी भी दृष्टि से समान्य नहीं किया जासकता। इन योगों के अभिप्रायी प्राचीनों को हमारी दृष्टि से कर्म-भक्ति-ज्ञान यह क्रम न रख कर ज्ञान-भक्ति-कर्म यह क्रम रखना चाहिए था। अस्तु इस पराधिकारसंधि में हम पाठकों का अधिक समय नष्ट नहीं करना चाहते। प्रकृत में हमारा अर्थ वैज्ञानिक क्रम है। उसी का दिग्दर्शन हमारी दृष्टि में मान्य है।

३ १—प्राचीनाभिमतविषयविभाग ६-६-६

१—प्रथमाध्यायपट्टक ( ६ ) कर्मयोगः ( प्रवृत्तिलक्षणः )

२—द्वितीयाध्यायपट्टक ( ६ ) भक्तियोगः ( प्रेमलक्षणः )

३—तृतीयाध्यायपट्टक ( ६ ) ज्ञानयोगः ( कर्मत्यागलक्षणः )

—सवया-अनुपादेयः

२—वैज्ञानिकाभिमतविषयविभाग ६-६-६

१—बुद्धियोगे वैराग्यविधा ( रामविधिषा )— वैराग्यबुद्धियोगः ( १ से ६ पद्यतः ) ।

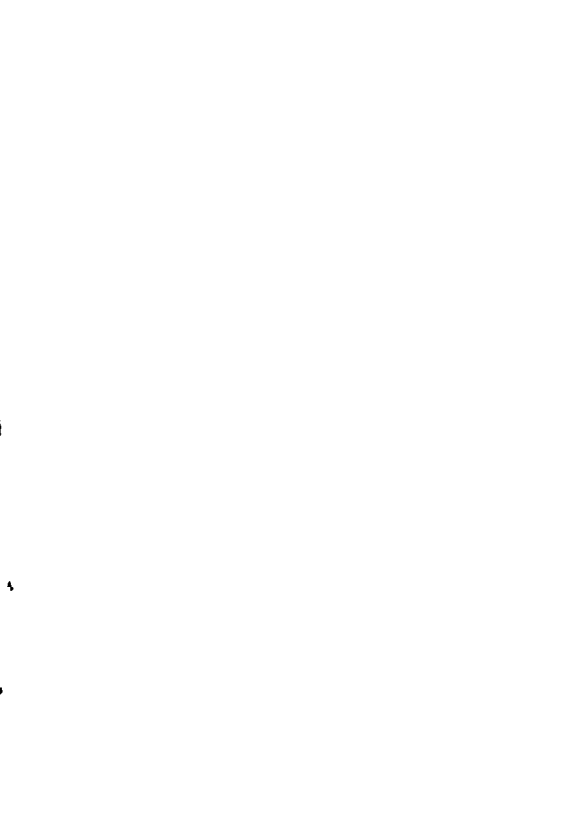
- ०—ज्ञानयोगो ज्ञानविद्या ( सिद्धविद्या ) — १३ ज्ञानमुद्रियोग ( ७ से ८ पङ्क्त ) ।  
 १—भक्तियोगो ऐश्वर्यविद्या ( राजविद्या ) — १४ ऐश्वर्यमुद्रियोग ( १ से १ पङ्क्त ) ।  
 २—कर्मयोगो धर्मविद्या ( आर्षविद्या ) — १५ धर्ममुद्रियोगः ( १३ से १८ पङ्क्त ) ।



गीता के बाहिरङ्गभागों से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों पर जोड़ा बहुत प्र-  
 कटित हुआ गया । हमें आशा है कि इस बाहिरङ्गदण्ड से गठक प्रस्तुत गानाविज्ञानमाध्य के  
 प्रतिपाद्य विषयों पर पहुँचे सकेंगे । अब इस सम्बन्ध में केवल एक विज्ञासा बाकी रह जाती है,  
 एव उस विज्ञासा का इतिहास से सम्बन्ध है । ६३६ श्लोक त्रिकोण विज्ञानगीता में ६४ श्लोक  
 त्रिकोण ऐतिहासिकगीता का भी समावेश है । इस इतिहाससर्द्धपरिचाल के लिए यह जानना भी  
 आवश्यक हो जाता है कि ग्रीतोपदेश की आवश्यकता क्यों ? एव कब हुई ? वस इसी प्रश्न का  
 समाधान कर प्रथमखण्ड समस्त किया जाता है ।









१४- महाभारत और गीता

( ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति )



## १४-महाभारत और गीता

(एतिहासिकसन्दर्भसङ्गति)

“इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्” ( म० आवि० १ २६७ श्लो० ) इस ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार अपौरुषेय वेदशास्त्र के यथाथ परिष्कार के लिए पुराण एक इतिहास का स्तन सर्वथा अपरिचित है । सृष्टि का इतिहास बतलाने काळा, दूसरे शब्दों में सृष्टि का वनो ! कैसे बनी ! किसने बनाई ! क्यों बनाई ! कहाँ बनाई ! किससे बनाई ! कब तक रहेगी ! कब नष्ट होगी ! इत्यादि प्रश्नों का विशदरूप से समाधान करने का पुराण का काम ही पुराण कहलाता है । एक मानवशय का इतिहास बतलाने काळा, दूसरे शब्दों में शम्भुशासन के अनुसार मुचनकोश (भूगोल) का स्वरूप बतलाने हुए राजवश, देववश, प्राणायामवश, धर्मवश, षडपरिवश, शूद्रवश आदि का इतिहास बतलाने काळा शब्द ही ‘इतिहास’ कहलाता है ।

इस का यह तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिए कि सृष्टिहितप्रतिपादक पुराणों में मनुष्यचरित्र नहीं है । अथवा मनुष्येतिहितप्रतिपादक इतिहासग्रन्थों में सृष्टिचरित्र नहीं है । दोनों में अपने अपने मूलविषय के निरूपण के अतिरिक्त इतर दोनों विषयों का भी निरूपण हुआ है । इसीलिए पौराणिक आख्यायिकाओं में विभक्त माने गये हैं । वे आठों आख्यायिकाओं का क्रम १-प्राग्निदेविक २-वायुविक ३-प्राग्निमौक्तिक, ४-प्राग्निद्विक्राप्यात्मिक, ५-प्राग्निद्विक्राग्निमौक्तिक ६-प्राग्निमौक्तिकवायुविक, ७-प्राग्निद्विक्राग्निमौक्तिक, ८-मसदाकथान इन नामों से प्रसिद्ध हैं । पौराणिक परिभाषाओं से सर्वथा अपरिचित कई एक कल्पनारत्निक पाश्चात्य विद्वान् एक तदनुयायी उचिष्ठ भोगी कठिण भारतीय विद्वान् पौराणिक आख्यायिकाओं के लिए बड़े गर्व से—“माइथाजोनी” ( Mytholoji )

\*—इन आठों आख्यायिकाओं का विस्तृत निरूपण ‘पुराणरत्नस्य में देखा जा सकता है । शतपथ ब्राह्मणद्वितीयोपाख्यानमाध्य में भी यत्र यत्र इनका संक्षिप्त निरूपण हुआ है ।

शब्द की बोधना करने में अपने ज्ञान की सीमा समझ कर दते हैं । उन्हें यह निश्चित नहीं कि माह्यवादी का तो एक सख्त आठथ विभाग है, जिसे कि हम 'असदास्थान' नाम से सम्बोधित करते हैं । अवश्य ही पुराणों में कई कथाएँ ऐसी हैं जिनका केवल कल्पना से सम्बन्ध है ।

प्रकृतिसाध्याय के अधौक्तिक रहस्यों के बोधसाधक्य के लिए मध्य-महानदी-पञ्च आदि को आधार बनाते हुए निदानविद्या के अनुसार अक्षर्य ही अल्पेणैर्न करी कल्पित आ स्थान बनाए हैं । परन्तु इस कल्पना के द्वारा हमें उन सख्त-रसों का परिचय होता है जिस ज्ञान के लिए सम्मत्त-रिषिमी विद्वानों का वास्तविक गराहाम भी असमर्थ ही रहता है । असदास्थान सिध्दा कथाएँ हैं परन्तु सख्त-रस का परिचय कराने वाली । अस्तु, प्रकृत में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण नहीं किया जासकता । यहाँ हमें केवल यही कहना है कि पुराण कथनकाय का भी निरूपण करता है परन्तु उसे विज्ञान का रूप देकर उदाहरण के लिए अमर्य का ही आस्थान लीजिए । अमर्यनक्षत्र एक अमर्यप्राण पानी का शोधक है । इस कथ को पुराणों में मनुष्य के साम सम्बन्ध किया है । इसी प्रकार इतिहास में सृष्टिरहस्य का प्रति पादन करता है । परन्तु इतना विवेक अक्षर्य ही कर लेना चाहिए कि पुराण में सृष्टिरिषि की प्रथमता है, एक इतिहास में मनुष्यरिषि का प्राधान्य है ।

कुछ एक परिचयी विद्वानों का यह भी आरोप है कि भारतीय लोगों का कोई अमर्य इतिहास नहीं मिलता । सब बात तो यह है कि अहोरात्र अमर्यपित्तन में ही निम्न रहने वाले भारतीयों ने न कभी सुसम्पत्तय स्थापित किया एक न उन्हें इतिहास लिखने की आवश्यकता ही हुई । भारतीय साहित्य का अमर्यपण्डित किना बंद करके वे बट कर मनमानी कल्पना कर लेना दूसरी बात है, एक साहित्यपण्डित करने के पश्चात् सप्रमाण कुछ कहना दूसरी बात है । अस्तु, वे, एक उनके अनुयायी कुछ भी मानते एक कहते रहें हमें तो केवल अपने साहित्य के आधार पर हमारे इतिहास का विश्वास करना है । हम परमुत्पादकी नहीं हैं हमें अमर्य के

साधन अपेक्षित नहीं हैं, वे यदि चाहें तो यही से कुछ ले सकते हैं ( एवं ले रहे हैं !!! ) ।  
 इतिहासग्रन्थों में आज दिन महाभारत का भासन सब से ऊँचा है । यह एक गुतरहस्य है,  
 कि, जहाँ भगवान् व्यासन पुराण १८ बनाए हैं, वहाँ महाभारत के भी १८ ही वर्ष रखे हैं । १८  
 की संख्या से व्यासदेव को विशेष प्रेम था, ऐसा मालूम होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट  
 हो जायगा ।

‘इति इ भास’ ( ऐसा ही था ) इस निर्दिष्टम के अनुसार अतीत मानव चरित्र का  
 ‘इतिहासमेव’ ( यह ऐसा ही था ) इस रूप से प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ ही ‘इतिहास’  
 कहा जाता है । आज से लगभग ५ सहस्र वर्ष पहिले कौरव — पाण्डवों में जिस राज्याभिषेक  
 के कारण महायुद्ध हुआ था, एव जो महायुद्ध भारतभूमी के सबनाश का कारण बना था, उस  
 युद्ध की घटनाओं का (व्यारम्भ से अन्त तक का) भासने जिस ग्रन्थ में निरूपण किया है,  
 यही ग्रन्थ महाभारत नाम से प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ — ‘इति इ भास’ इस मर्यादा से युक्त  
 है, अत इते हम अवरप ही इतिहास शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं । गीताशास्त्र के सम्बन्ध  
 में भीतोपदेश की आवश्यकता क्यों हुई ! कब हुई ! कहाँ हुई ! किसके प्रति हुई !  
 इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं । साथ ही में गीता महाभारत का ही  
 एक प्रत्यक्ष है । ऐसी दशा में ऐतिहासिक ग्रन्थ के मध्य में आजाने से) गीता को ऐतिहासिक  
 मर्यादा से वृथ्वा नहीं किया जा सकता । इसीलिए गीता में मूलविषय के अतिरिक्त ऐति  
 हासिक सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाले ६४ श्लोकों का व्यासश्रावण समावेश हुआ है ।  
 इसी आधार पर ६४ श्लोकात्मिका गीता को हमने ‘ऐतिहासिकगीता’ नाम से, एव  
 ६३६ श्लोकात्मिका गीता को ‘विज्ञानगीता’ नाम से व्यवहृत किया है । (देखिए  
 प्रस्तावना २२- ) ऐसी परिधिभक्ति में उक्त ऐतिहासिक प्रश्नों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना  
 आवश्यक हो जाता है ।

महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ होने के अलावा न ज्ञान विज्ञान का एक अद्भुत  
 कोश है । हम तो यह भी कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करते कि १८ पुराण

एक ओर है, एव १०० वर्षतमक महाभारत दृष्टी ओर है। दोनों की तुलना में महाभारत का ही आका उँचा मानना पड़ेगा। हमारी दृष्टि में इस उद्घाटन का विशेष कारण है शतपथ-ब्राह्मण। यह ब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थों में अर्द्ध है। यह वेद का भन्तिपग्रन्थ है। इसी लिए इस में सत्य से सभी तरफों का निरूपण हुआ है। इस कथ भाषा भी संस्कृतभाषा से बिल्की उबती है। वैदिक साहित्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए शतपथ का अथ से इति तक अभ्यन का लेना पम्प्यत है। न केवल इस में पदार्थवेधा का ही सिद्धयण हुआ है, अपितु पदार्थवेधा के साथ साथ इस में इतिहास, विज्ञान, राजनीति, धर्मनीति आदि सभी विषयों का समावेश हुआ है। इस मन्वसंहिता के निर्माता हैं भगवान् पाद्मनरूप। "कृत्तिकास्वामीभाद्रपीत। एता इव प्राप्ये दिशो न बधन्ते" ( शत० ब्रा० २ पं २। १। ) इस बचन के अनुसार हम शतपथ का निम्नोक्तकाळ लगभग महाभारत के समकालीन मानने के लिए तय्यार हैं। शतपथ कहता है कि—“कृत्तिका नक्षत्र में धर्मपाभ्यान करना चाहिए। क्योंकि यह नक्षत्र पून दिशों को नहीं छोड़ते”। इस बचन से निहित होता है कि शतपथकाळ में सततकर्म्यक धूमि काकृति कृत्तिका नक्षत्र पर ही अयनसम्पात था। परन्तु हम देखते हैं कि आज अयनसम्पात कृत्तिका को छोड़ कर सन् १६ ई० तक लगभग २० वर्ष ( डिग्री ) इट पुरा है। साथ ही में स्यातिगमना क अनुसार यह भी सिद्ध विरम है कि एक अथ के इतने में लगभग ७५ वर्ष आते हैं। इस विधान से कृत्तिकासम्पातकाल सन् १२०० से पहिले लगभग ४२६५ ( अथ इत्तर नौसी पैसठ ) वर्ष पीछे जाता है यही समय महाभारत का उद्घाटन है।

इसी आधार पर हम उक्त दोनों ग्रन्थों को ( महाभारत एव शतपथ को ) समकालीन मानने लिए तय्यार हैं। हाँ इस सम्बन्ध में यह अर्थन अथरय रखना चाहिए कि शतपथ ग्रन्थ महाभारत से कुछ समय पहिले आता था, एव महाभारत का निर्माण कुछ समय पीछे हुआ था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि महाभारत में अथ से इतिपर्यन्त प्रमाणरूपकों में स्वान स्थान पर “इति शतपथी श्रुतिः” “इति शतपथी भक्ति” इत्यादि रूप से शतपथ के बचनों का उल्लेख निश्चय है। यदि पाठक अथपाठनपूर्वक महाभारतका अर्थ से अन्त तक अभ्यन करने



तो उन्हें यह मान लेना पड़ा कि व्यास ने महाभारत के यात्र से संपूर्ण शतपथ का अनु-  
वाद करवाया है। अथिच मनक्याद्भवत्क्यसधाद् में सय गद्भवत्क्य ने जनक से कहा है  
कि मैंने शतपथ बनाया है। इस आख्यायिका से तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि शतपथ  
अथर्व ही महाभारत से कुछ पहिले बना होगा, जैसा कि निम्न लिखित बचनों से स्पष्ट है—

उतः शतपथ कृत्स्नं माहात्म्यं ससंप्रहम ।

चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेष्ठे ॥१॥

कर्तुं शतपथं वेदमपूर्वं च कृतं मया ।

यथाभिमतपिठं मार्गं तथा तन्वापपादितम् ॥२॥

( महाभा० शा० मो० ३१८ )

कहना हमें केवल यह है कि महाभारत एक ऐतिहासिक होता हुआ भी शतपथ  
के सम्बन्ध से विज्ञानप्रम्य है। इस की मूला का दूसरा कारण है, गीताप्रम्य। महाभान् ने  
अनुन को ज्ञान-विज्ञानात्मक जिस आलौकिक एवं अर्पुर्ण बुद्धियोग का उपदेश दिया था, व्यासने  
मन्नी भाषा में १८ अध्यायों में उस का निरूपण किया है। इन्हीं सब विभूतियों के कारण  
महाभारत सचमुच एक आलौकिक प्रम्य बन गया है। इतर सारे प्रम्यों को छोड़ दीजिए, केवल  
महाभारत ही हमारे सब सशय दूर कर भारतीयशास्त्रों के यथार्थ स्वरूपको हमारे सामने प्रत्यक्ष  
वद उपस्थित करने के लिए पर्याप्त है। महाभारत अथर्व समुद्र है। उसके अमल रनों की  
कान्ति से आज भी आर्यासाहित्यभवन प्रकाशित हो रहा है। भारतवर्ष को ही नहीं, अपितु  
समस्त विश्व को अपने आलौकिक आलोक से आलोकित करने वाला महा गीतारत्न भी इसी  
समुद्र की निधि है। १८ पर्वा के सम्बन्ध से २ ( १+८ ) सख्या में परिच्छिन्न होता हुआ यह प्रम्य  
अथर्व ही आर्या की पूर्णविभूति का निरूपक है। १८ का संकेत अतसा रखा है कथ्यम  
न इस में १८ पुराणों का सार रच दिया है, वेद-ब्राह्मण-उपनिषद् आदि का नवनीत  
निकाश कर दृष्ट कर दिया है। साथ ही में १+८ के संरक्षणरूप २ भागों के सम्बन्ध का  
प्रम्य करता हुआ यह प्रम्य यह भी सिद्ध कर रहा है कि हमने इतिहास के साथ साथ नव-रुच

विशेषर का भी निरूपण किया है, एव यही निरूपण गीता द्वारा उपलब्धित हुआ है। सम्मुख इस उपलब्धता में प्रकृत्य कृत्यरूपपात्र से भी भागे बह गण हैं। स्वयं म्यास ने अपने मुख से कृष्ण का माल स्वीकार किया है। मत्पेक्ष प्रायमन्तान से हम आग्रह करेंगे कि वह अपना बान्धविक स्वरूप परिचय प्राप्त करने के लिए, अपने घर को अमूल्य निधि का उपयोग करने के लिए प्राथोपान्त इस ग्रन्थ का अपने जीवन में कम से कम एक बार अवश्य अवश्य प्रयत्न करते महाभारत की बन्धुकिन्ता ज्ञान-विज्ञानप्रतिगदकण, मन्- र्भगा, ० पूर्णता भिन्न लिखित कथनों से स्पष्ट सिद्ध हो रही है—

पुराणसंविताः पुण्याः कृपा धर्मार्पसंश्रिताः ।

तिष्ठन् नरेन्द्राखापृषीणां च महात्मनाम् ॥१॥ म० आदि० १।१६॥

उनाथ स महावेभा प्राक्षर्यं परेमप्रिनम् ॥

कृन् मयेद् मगवान् क्रम्य परमपूजितम् ॥२॥

प्रकन् ! वेदरहस्यं च यथाभ्यत एवापित मया ॥

साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तराक्रया ॥३॥

इतिहासपुराणानामुत्पत्ति निमित्त च यत् ॥

मृत मर्त्यं मर्षिभ्यं च त्रिभिष क्राससंश्रितम् ॥४॥

जरापुत्र्युमयभ्यापिमावामावविनिश्चय ॥

विधिपत्यं च धर्मम्यं द्वाभ्रमाख्यां चमलक्ष्यम् ॥५॥

पातुपदयधिपानं च पुराणानां च कृस्त्नगः ॥

तपमो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रमूर्ययोः ॥६॥

ग्रहनक्षत्रारार्यां प्रमाणं च युगः सह ॥

शूचो यज्ञेपि सापानि वेदाख्यायं तर्षेयं च ॥७॥

न्यायगिज्ञाधिक्रिस्तां च दान पाशुपतं तथा ॥

इतुनेन सय जन्व दिव्यमानुषसंश्रितम् ॥८॥

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ॥  
 नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥६४  
 पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ॥  
 नाशयन्नातिविशेषाश्च श्लोकप्राक्कमश्च यः ॥१०५  
 यथापि सर्वम् वस्तु तथैव प्रतिपादितम् ॥  
 पर न श्लोकः कश्चित्-एतस्य मुनि विद्यते ॥११॥  
 "यदि शक्ति तदयत्र यत्रेशक्ति न कुप्रचित्" (प घा १।६।-७ श्लोक ) ।  
 अर्थशास्त्रमिद् श्लोक धम्मशास्त्रमिद् मइव ॥  
 कामशास्त्रमिद् श्लोकं व्यामेनामित् बुद्धिना ॥१२॥  
 यो विद्याश्चतुरो वेदान् साक्षोपनिषदो द्विमः ॥  
 न चाक्यानमिद् विद्याशैव स त्याद्विचक्षणः ॥१३॥ ( म स प समग्र ) ।

विद्याओं के सम्बन्ध में युगों की चर्चा करते हुए हमने साध्ययुग के अनन्तर देवयुग की सच्चा बतलाई है । देवयुग की सम्यता का आरम्भ काल ही आर्यइतिहास का आरम्भ काल है । महाभारत ने अपने इतिहास का आरम्भ इसी देवयुग से किया है । देवयुग से आरम्भ कर महाभारत पर्यन्त इतिहास का सितवितेता निरूपाय काल ही महाभारत का मुख्य उद्देश्य है । और अपने इस उद्देश्य में महाभारत सर्वात्मना सफल हुआ है ।

आर्यराजवंश को हम अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश मंत्र से तीन मार्गों में विभक्त कर सकते हैं । देवयुगकाल में देवलोक में ( सर्ग में ) आदिप-सूर्य इत्यादि नामों से प्रसिद्ध इन्द्र भाला, भग, पूषा अथवा त्वष्टा बरुण, शंख, विश्वानु, सविता, विष्णु मित्र, ये १२ देवजातिएं सुप्रसिद्ध थीं । इन १२ सूर्यों, किंवा आदिपों में विश्वानु नाम की जाति को विशेष गौरव प्राप्त था । इसी आदिपिशेप के पुरुषों को आगे आकर भारतवर्ष का साम्राज्य मिला था । इसी विश्वानुओं में से प्रकृत प्रतापी स्वयम्भू



विद्य। अमुरत्रिलोकी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। देवत्रिलोकी में रहने वाली प्रजा के पाँच वर्ग बनाए। वे ही पाँचों वर्ग अमृति, पितृ, देवता, देवयोनि, मनुष्य नाम से प्रसिद्ध हुए।

## १-अमृति

प्राकृतिक प्राणतत्त्व को अमृति कहा जाता है। वही प्राणतत्त्व सूक्ष्म का मूलवर्षिक है—(देसिण्ड शत.भा ६।१।१)। वही अमृतिप्राण 'विरूपास इदं अमृपयस्व इत् ॥ म्भीरवेपसाः' (अक्स०१०।६२।५।) के अनुसार अनन्त प्रकार के हैं। ससिष्ठ, विश्वामित्र, करयप, मृगु प्रहिरा, नारद वासुदेव्या, सनक सनन्दन, सनतकुमार, जमदग्नि, बृहस्पति, आदि अमृति में भी नम सुनते हैं, वे सब प्राणतत्त्व अमृति हैं, सूक्ष्मवर्षिक मौलिक तत्त्व हैं। जिन जिन पुरुषपुत्रों ने अपने निरकालिक तपोयोग से जिन जिन प्राणतत्त्व अमृति को परीक्षा कर विषय में उनके द्वारा अर्पण विद्वानों का आविष्कार किया, वे पुरुष उन उन अमृतिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। यह मनुष्य अमृति प्राण अमृति के द्रव्य (परीक्षक) थे, एवं सर्वतन्त्ररक्तन्त्र थे। पूषणी (भारतवर्ष), अन्तरिक्ष स्वर्ग तीनों लोकों में स्वतन्त्ररूप से विचरण करते हुए, यथामिदृशि तीनों लोकों में धरने आश्रय बनाते हुए विद्या एवं तपोयोग से लोकतन्त्रात्मक करते रहना ही इनका मुख्य कर्म था।

विद्याभारतम्भ से इन अमृति के ब्रह्मा-अमृति-धेव-ब्राह्मण-त्रिप यह पाँच अनांतर नियोग थे। ब्राह्मणकुल में जन्ममात्र लेने वाले जात्योपजीवी ब्राह्मण त्रिप कहाते थे। इनकी सम्पन्न में विशेष प्रतिष्ठा न थी। जो ब्राह्मण शास्त्रों के परिष्कार थे, वे ब्राह्मण ही कहाते थे। केवल शास्त्र पढ़ लेना, एवं अल्पव्यय-व्ययनवृत्ति में आकृष्ट रहना ही इनका मुख्य कर्म था। जो ब्राह्मण शास्त्रज्ञान के साथ साथ ही प्राकृतिक प्राणतत्त्वों के आश्रय पर व्ययनरूप यज्ञकर्म में रत रहते थे, यज्ञों के आश्रय पर अनादृष्टि, दूरकाल महावारी आदि प्राकृतिक अशक्तियों से प्रजा की रक्षा किया करते थे, ऐसे कर्मठ यज्ञिक ब्राह्मण ही 'देव'

ब्रह्मा के मनिसपुत्र स्वयम्भुव नाम के निवस्वान् आदित्य सूर्य्येण के आदि प्रवर्तक हुए । इस स्वयम्भुव निवस्वान् मनु के अद्वादेव एव यम नाम के दो औरसपुत्र उत्पन्न हुए। यही अद्वादेव महाकादि ग्रन्थों में अद्वादेव नाम से प्रसिद्ध हुए—'अद्वादेवो वै मनुः' ( शत ब्र १ । १ । २ । १२ ), एव पुराणों में अद्वादेव नाम से व्यक्त हुए । जिस प्रकार वैदिक "पत्नु" नयी पाठ्यों से "पत्नु" रूप में परिणत हो गई है, एवमेव अद्वादेव शब्द भी सगोत्रक के भ्रम से अद्वादेव रूप में परिणत हो गया है । स्वयम्भूवसा की मनुष्य से, एव साथ ही में अद्वादेव के अन्तपुत्र होने से व्यक्त अद्वादेव को ही 'मनु' बताया गया । "मनु" किसी व्यक्तिगत नाम नाम नहीं है, अपितु भारतीय प्रजा पर शासन करने वाले सम्राट् की आधिकारिकी सभा ही मनु है । इसी मनु के सम्बन्ध से भारतीय प्रजा मनुष्य, किंच यानक नाम से प्रसिद्ध हुए, यह भी निःसंदिग्ध विषय है । अद्वादेव को मनु बताया गया, इसका तात्पर्य यही हुआ कि भारतवर्ष के सम्राट् अद्वादेव ही बनें । निवस्वान् के पुत्र होने के कारण यही "वैवस्वतमनु" नाम से प्रसिद्ध हुए । 'राजा' शब्द का पहिला आभिन्धार वैवस्वत के लिए ही हुआ, एता प्रतीत होता है । यही भारत वर्ग के पहिले सम्राट् हुए । जिस प्रकार स्वयम्भुव निवस्वान् के चातुर्य अद्वादेव मनुष्य प्रजा के शासक से एवमेव निवस्वान् के कनिष्ठपुत्र अतएव वैवस्वत नाम से ही प्रसिद्ध यम मनुष्य के शासक बनाए गए, वैसे कि निम्नलिखित राजनिष्ठि से स्पष्ट है—

'मनुर्वैवस्वतो राजेत्साह । तस्य मनुष्या विद्य (यना) । तऽयमऽप्रासतऽत्नभोपिया  
 पुरयपिन उपसमेता भवन्ति । ययो वैवस्वतो राजेत्साह । तस्य पितरो विद्यः  
 तऽयमऽप्रासतऽति त्थविरा उपसमेता भवन्ति" (शा. ब्रा १. ३. ३३ टि.क.) इति ॥  
 यानव सवात्र की सुम्प्राप्त्या के लिए मनुष्य स्वरूप मनुष्य (जिन्होंने कि अद्वादेव  
 पद को अपनी पाशाभूमि बनाया था) वैद-मोह-प्रसा-वर्त्म एव चारों को सुवर्धरिपत

● यही स्वयम्भू वरुण के प्रथम व्यवस्थापक थे । यह साम्य व्यक्तियों का यचना एक  
 पुत्र बना सत थे । यही वरुण पुत्र पुराणादिग्राम में "मावसपुत्र" नाम से प्रसिद्ध हैं । भृगु वरुण  
 के चारमपुत्र थे परन्तु यही भाग आकर ब्रह्मा के मानसपुत्र परस्मान सत ।

किन्तु। असुरत्रिकोकी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। देवत्रिकोकी में रहने वाली प्रजा के पाँच वध बनाए। वे ही पाँचों वर्ग ऋषि, पितृ, देवना, देवयोनि, मनुष्य नाम से प्रसिद्ध हुए।

## १-ऋषि

प्राकृतिक प्राणतत्त्व को ऋषि कहा जाता है। वही प्राणतत्त्व सूत्रे का मूलप्रवचक है—(वेद्वि शत.भा ६।१।१)। वही ऋषिप्राण “विरूपास इद् ऋषयस्त्व इद् अमीरवेपसः” (ऋक्स०१०।६२।५) के अनुसार अनन्त प्रकार के हैं। बसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप, सृष्टि, भारद्वाज, नारद, वाल्मीक्या, सनक सनन्दन, सनतकुमार, जमदग्नि, बृहस्पति, मादि व्याप जिनमें भी नम सुनते हैं, वे सब प्राणतत्त्व ऋषि हैं, सूत्रेप्रवचक मौक्तिक तत्त्व हैं। जिन जिन पुरुषपुङ्गवोंने अपने चिरकालिक तपोयोग से जिन जिन प्राणतत्त्व ऋषियों की पीढ़ा कर विषय में उनके द्वारा अर्द्ध विद्वानों का आचिन्त्य कर दिया, वे पुरुष उन उन ऋषिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। यह मनुष्य ऋषि प्रणयिषियों के द्रष्टा (परीक्षक) थे, एवं सर्वतत्त्वतत्त्व थे। पृथ्वी (भारतवर्ष), अन्तरिक्ष स्वर्ग तीनों लोकों में स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हुए, यथामिदृशि तीनों लोकों में अपने आधन बनाते हुए विद्या एवं तपोयोग से लोकतत्त्व तत्त्व करते रहना ही इनका मुख्य कर्म था।

विद्यातारतम्य से इन ऋषियों के ब्रह्मा-ऋषि-देव-ब्राह्मण-विषय यह पाँच अक्षर नाम विभाग थे। ब्राह्मणकुल में जन्ममात्र लेने वाल जात्योपजीवी ब्राह्मण विषय कहलाने थे। इनकी सम्पन्न में विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी। जो ब्राह्मण शास्त्रों के परिज्ञान थे, वे ब्राह्मण ही कहलाने थे। केवल शास्त्र पढ़ लेना, एवं अल्पव्ययव्ययनवृत्ति में भाग्य रहना ही इनका मुख्य कर्म था। जो ब्राह्मण शास्त्रधन के साथ साथ ही प्राकृतिक प्राणतत्त्वों के आचार पर दृश्यव्ययनवृत्त ब्रह्म में रत रहते थे, यज्ञों के आचार पर अनाहुति, दूरद्वन्द्व महाभागी आदि प्राकृतिक व्याख्यान से प्रजा की रक्षा किया करते थे। ऐसे अन्तःस्थित ब्राह्मण ही “द्व

नाम से प्रसिद्ध थे। यही कर्ण भूसुर भूदेव आदि नामों से प्रसिद्ध था। इन्हीं ब्राह्मणवेदों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

०द्रया इ वै देवाः। देवा अर्हव देवाः (प्राकृतिका नित्यदेवाः)।

अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रूषासोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" (शत ब्रा १।२ ६)।

इन मौखिक प्राकृतिक प्राणवर्णों में से एक एक दो दो प्राणों की परीक्षा कर उसका साक्षात् करने वाले ब्राह्मण ऋषि नाम से सम्बोधित होते थे। यही मन्त्रद्रष्टा भी कहलाते थे। जैसा कि—“ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। साक्षात्कृतपश्म्यांश्च ऋषयो बभूवुः” इत्यादि से स्पष्ट है। ऐसे अनेक ऋषि जिस एक महापुरुष की अभ्यङ्गता में प्राणपरीक्षा किया करते थे यही कुष्ठपति “ब्रह्मा” नाम से प्रसिद्ध होते थे। यही ब्रह्मपद के अभ्यङ्ग माने जाते थे। तबपुत्र में ऐसे कई ब्रह्मा थे। १ तो प्रधान हो ब्रह्मपद ही, जिनका कि निरूपण ब्रह्मसंहिता प्रकृत में नहीं किया जासकता। इसी ब्रह्मपदकी को लक्ष्य में रखकर पुराणों में ‘इह ब्रह्मण्य इत्येते पूराण निश्चयं गताः’ यह कहा गया है। इसी प्राकृत ब्रह्मविभाग का विवरण बरणी हुई श्रुति कहती है—

‘उद्गमको हावृषि उदीच्यानुद्यतो षण्णवाद्यकार। तस्य निष्क उपाहित  
भास। एतद्द स्य ये तत् पूर्ववा इवानां पादपणयैकपनमुपाहित भवति।  
उत्सङ्गाय विभ्यतां तान् होदीष्यानां ब्राह्मणान् भीषिषेद्। कौण्डिन्वाभानो  
वा अथ ब्रह्मा मन्त्रपुत्रः” (शत० ब्रा० ११। ६।१)।

इन वर्णों अक्षरों में से ब्रह्मपद का अभ्यङ्ग कुष्ठपति ब्रह्मवर्ग, प्राणपरासक श्रुतिवग यह दो तो सचचा स्वल्प्य थे। केवल ऋषयः का ही शासन इन पर चल सकत था। इन पर भारतीय राजाओं का कोई प्रभुत्व न था। यही नहीं अथिनु भारतीय राजाओं पर एक

\* अथ इने मनुष्यदेवाः, ये ब्राह्मणाः (१६ अ १।२।)।

एत व द्वा मनुष्यदेवो, यद् ब्राह्मणाः। ( ग्य ब्रा० २० १।१।)।



प्रकार से वे शसन करते थे। जब जब भारतीय राजा धर्मनीति से विमुख होते थे, तब तब ही यह दोनों बर्ग इनका दमन कर देते थे। प्रथमज सदा अत्रवक्ष पर विजय प्राप्त करता था। अश्वत्थ वन इन्हीं ऋषियों द्वारा सिंहासन से श्युत कर लिए गए थे। इन्द्राग्नी की कामना करने वाले नहुष को इन्हीं ऋषियों के दण्ड का शिकार होना पड़ा था। यज्ञकर्मोपनिषत्ता वेदम, शन्ननिष्ठ ब्राह्मणधर्म इन दोनों पर चन्द्रमा का आविषक था। चन्द्रमा अभिमर्षि के औरस पुत्र थे, अतएव जाल्पा ब्राह्मण थे। सगम्भुने इन्हें उत्तरदिशा का दिक्पाठ बनाया, अथवा एव देव-ब्राह्मणों का लोकपाठ बनाया। भारतीय कर्मठ मूदेक, एव शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मण दोनों को चन्द्रमा के शासन में सबना पड़ता था। भारतीय इतर राजाओं का इन पर कोई शासन न था जैसा कि—“सोमोऽस्यर्षकं ब्राह्मणधर्मा राजा” इत्यादि मन्त्रमन्थन से स्पष्ट है। यह चारों ही बर्ग भोत्रिय थे। चारों ही वैश्वतमनु के शासन से पृथक् थे। पंचवक् पथागत अतएव अभोत्रियर्षी मनु की प्रजा थी। अत्रिय-वैश्य-शूद्र-अश्वरक्यादि भारतीय इतर अभोत्रिय गृहमेधी मनुष्यों पर जैसे मनु का शसन था, एवमेव इन अभोत्रिय गृहमेधी क्षिप्रों को भी मनु के शासन से ही शासित रहना पड़ता था, यह पाँचों ही एक प्रकार से भारतवर्षीयर्षी थे।

(५) ऋषिगण	१-१	असर्षी	→ कुलपतिः ब्रह्मपर्यदप्यसः प्रजा)	{ स्वतन्त्रा (स्वयम्भूरदपत्त)
	२-२	ऋषिकाः	→ प्राणपरीचक --- (ऋषिः)	
	•••			
	३-१	देवर्षीः	→ पञ्चकर्मसञ्चारक (देव)	{ चन्द्रेण शासिताः
	४-२	ब्राह्मणर्षीः	→ शास्त्रेषु पारङ्गतः --- ब्राह्मणः)	
•••				
५-१	विप्रर्षीः	→ यथाजातो जात्योपधीवी (विप्र)	{ मनुष्यभार	

२-पितर

मौखिक प्राण को हमने ऋषि कहा है। इसी ऋषिप्राण का नाम यजुस्त्वक् है। यजु से यत् न हो विमला है। यत् गतितरु है, यही प्राण है। यत् स्थितितरु है, यही वाक है। प्राण

अपि के व्याप र से बाक् ही टूट होकर अस्वरूप में परिवर्तन हो जाती है । यही अपिप्राण की यौगिक अवस्था है । अनेक मौखिक ( अपि ) प्राणों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न होने वाला यौगिक वाष्पप्राण, किंश-सौम्यप्राण ही पितर है । अपि से सर्वप्रथम इस सौम्यप्राण रूप पितर का ही विकास होता है । यही पितरप्राण वैद्युत्सृष्टि का मूलप्रवर्तक है, शुद्ध ही इस की प्रतिष्ठा है । सत्र पीठी तक एक पितर प्राण का विकास होगा है, इसी आधार पर "सा-पिप्राण सात्तपोरुपम्" "सपितरवता तु पुत्रेषु सासुने विनिर्बर्षते" यह कहा जाता है । इस पितरप्राण के नात्प्रीमुख, पार्श्व, अश्रुमुख मेद से तीन बर्म हैं । इन्हीं के बालो जकर अग्निपराधा, सोममत्, बर्षिपित, प्राग्पया, सोपया इविर्पुद् मुकानी आदि अनेक मेद हो जाते हैं । इन सब कियों के लिए सतत्र प्राण अपेक्षित है । इस सम्बन्ध में विद्वेय विद्वान् रसने बालों को " आद्बिद्धान ' नामक ग्रन्थ ही देखना चाहिये । प्रकृत में हमें केस पही उत्सलना है कि मनुष्यों में से किन मनुष्यों के अन्तरात्म में इतर प्राणों की अपेक्षा पितरप्राण विशेषरूप से विकसित था के ही मनुष्य देखयुग में " पितर " नाम से प्रसिद्ध थे । यह एक अस्त्र जानि थी । यही पिच्छेड अन्न दिन "पहोसिया" नाम से प्रसिद्ध है । इस पितर प्रकार सायम्भु निबन्धात् के कनिष्ठपुत्र वैशस्त पय का उत्सव था ।

### ३—देवा

अपि से पितर प्राण का विकास हुआ । यह पितर प्राण रज-तेजो मेद से दो भागों में विभक्त हुआ । तेजतरा मृग कर्कश्या तेजतरा अद्विरा फाटाया । मृग ही अल्पानिरोधरूप गद्य छेन के सम्बन्ध से अतिरोधनि ही प्रयक्ति होकर सूर्यरूप में परिवर्तित हुआ । इस सांवागिकमय ओसिलस सौम्यप्राण पर नाम ही "देवता" हुआ । यह देवप्राण ही बालो बाहर ८ मनु, ११ इर १२ आदिय प्रकारानि-बर्षर म" से ३३ विभागों में परिवर्तन हुआ । यही ३३ प्राणिक प्राण प्राणदेवता कहलाया । किन मनुष्यों के अन्तरात्म में किस प्राणदेवता का विकास था, वे उमी जान में प्रसिद्ध हुए । जिस युग में सायम्भु के द्वारा यह अर्ध अ-

वेद्य होकर पृथिवी पर मनुष्यों में ही देवत्वस्वत्वा प्रतिष्ठित हुई, वही युग देवयुग नाम से म्बद्ध हुआ, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्वप्रकरणों में कराया जा चुका है। हिमाक्षपर्वत की श्रेणियों से उस पार ( ४७॥ अष्टाश से २० पयन्त ) का स्थान स्वर्गलोक कहाया, जैसा कि "उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते" इत्यादि भारतवर्षों से स्पष्ट है। इसी स्वर्गलोक में यह जाति निवास करती थी। १२ आदित्यों में से इन्द्र नाम की प्रसिद्ध देवजाति के व्यक्तिभेद ( इन्द्र ) ही समय समय पर सर्गाध्यक्ष बनाए जाते थे। इन्द्र किसी व्यक्ति नाम नहीं है, अपितु जाति का नाम है। यही इन्द्र शब्द आगे आकर सर्गाध्यक्षपदवी में निकट हो गया है। यह इन्द्र स्वर्ग के "स्वाराट्" शासक थे।

#### ४—देवयोनि

विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुहक, सिद्ध ये ९ जातिएँ अन्तरिक्षलोक में निवास करती थीं। इन्हें ही देवयोनि एवं तियकुंभाति कहा जाता था। जिस पर्वत से ( शर्व्याँकतसे ) इरावती ( रवी ) नदी निकलती है, उस से आगे (उत्तर की ओर), एव हिमाक्ष्य से इधर इधर का सारा प्रान्त इन की आवासभूमि थी। सुप्रसिद्ध नन्दनवन, वैश्रामवन, काननवन, उमानवन स्कन्दवन आदि महावन इसी अन्तरिक्ष लोकमें थे। इस प्रजा के शासक बापुदेवता थे।

#### ५—मनुष्या

अश्रोत्रिय विप्र नाम के ब्राह्मण त्रिभिध सृत्रिय मस-इन के वरुण वैश्य, सच्छूद्र, अन्त्यभ, अन्त्यापसापी मेद से मनुष्यप्रजा ४ भागों में विभक्त थी। इसी पर अदादेव नाम के देवस्त मनु का शासन था। मानवधर्मशास्त्र इस प्रजा का शासनसूत्र था। यह धर्मसूत्र केवल भारतीय मनुष्यप्रजा का ही निष्कर्षण कर सक्त था। श्रोत्रिय चारों ब्राह्मणवर्ग, देवयोनिवर्ग,

यही शर्व्याँकत आदि के पदसू में "शिवालक" नाम स प्रसिद्ध है।

देवकी, इस निष्पत्ति से बाहर थे। इसीलिए तो अन्तरिक्ष में रहने वाले गन्धर्वा व अप्सरा अम्बुदाने गुरुफलो ताप के साथ गान्धर्वशि गह करना अनुचित न समझ पा।

— ० —

इन पाँचों विमानों के शास्ता, अतएव विराट् नाम से प्रसिद्ध भगवान् सप्तभूमिका, एव उत्तरदिशा में निरक्ष से ठीक सामने भद्रगिरि एव चन्द्रगिरि नाम के दोनों पर्वतों के मध्य में निवास करने वाले भगवान् विश्वु ५। भारतीय प्रथा पर जब कोई सङ्घट आता था तो यह राधा की शरण में जाती थी राधा यदि आने को असमर्थ पाता था तो वह भारतीय देव-अग्नि आदि की शरण में जाता था। ये देवताओं का अधार लेने थे। देवता असमर्थ होते हुए ब्रह्मा के पास जाते थे। ब्रह्मा विश्वु से परामर्श कर सब कुशु व्यवस्थित कर देते थे। यह भी उस युग की शासनप्रणाली। सुसप्तद वैभव ॥ अपूर्व अम्बुदय ॥ देवयुग से आरम्भ कर महाभारत युद्ध से लगभग १५००० वर्ष पूर्व तक यह व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से चलती रही। आगे आकर हमारे बरिच नायक अत्रेया की कृपा से ( गाराहरण प्रसङ्ग से ) देवराज नष्टप्राय हो गया अम्बुतों द्वारा यहसाधक सोमहृष (सोमकन्धी ) द्विम भिन्न कर दिया गया। सम्पूर्ण देवत्रिदोकी पर अम्बुतों ने आधिपत्य कर लिया।

- १—भ्रूपयः (वैशोकपिबराखशीलाः सर्भतम्भस्वतन्त्राः)।
- २—पितरः (-----मयो वैवस्वतः शासकाः)।
- ३—देवाः (स्वर्गसोकस्याः-----इन्द्रः शासकाः)।
- ४—देवयोनयः (अन्तरिक्षसोकस्याः-----वायुः शासकाः)।
- ५—मनुष्याः (पृथिवीसोकस्याः—भारतीयाः—अज्ञादेवो मनुः शासकाः)।

उक्त निर्दोष से प्रकृत में हमें केवल पक्षी चरना है। एक वैवस्वतम्बु (अज्ञादेव) तथा अम्बु विश्वान् नामक सूर्य के पुत्र थे। यह भारतवर्ष के सम्राट् अक्षय बन गये। परन्तु स्थायीरूप से इन्होंने भारतवर्ष में कभी निवास न किया। यह जीम पर्वत अर्थात् अम्बुधूमि

उत्तर कुण्डेय ( स्वर्गलोक-देवलोक ) में हों रहे । इन्होंने अपनी भारतीय प्रजा के शासन के लिये अपने पुत्रों को ही नियत किया । इनके इष्टनाकु नृग, पृष्ट, शूर्याकि, नरिष्यन्त, मायु, नामानेद्रिष्ठ, करुप, पूषत्र, सुपुत्र नाम के १० पुत्र थे, एवं "इमा" नाम की एक कन्या थी । यह नैष्ठपुत्र इष्टनाकु से मी बड़ी थी । क्योंकि यह १० सौ ही विश्वानर सूर्य के पौत्र ( पोते ) थे, अत एव ये, एवं इनके कशर सूर्यवशी क्षत्रिय कहलार इसी इष्टि से वैश्वत मनु ( महादेव ) को ही सूर्यवश का मुख्यपुरुष माना जा सकता है सापही में भारतवर्ष में रह कर साम्राज्य सम्हाल करने वाले गहिके मनु इष्टनाकु ही हुए । इसीलिए—“इष्टनाकुकुसुप्तस्य सन्ततेः” ( खुबरा ) इत्यादि के अनुसार इष्टनाकु भी सूर्यवश के प्रवर्धक माने गए हैं । वैश्वस्तमनु ने अपने ज्येष्ठपुत्र इष्टनाकु को भारतवर्ष का मनु बनाते हुए यह आदेश दिया कि ‘तुम म्यावपूर्वक व्यापस में भारतवर्ष का विनाय करओ ’ । आशानुसार वैश्वस्त के दिवस होने पर इष्टनाकु ने दामादधर्म के अ

● श्री अयरेव विद्यालङ्कारने “भारतीय इतिहास की रूपरेखा” नामक एक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा है । ग्रन्थ ही किसने ही बंरो में व्याप इस ग्रन्थ में सफल मी हुए हैं । परन्तु हमें यह श्रुत हुए दुःख होता है कि कई एक ऐतिहासिक सत्य पदनाओं के सम्बन्ध में आपने जैन ही इंगार प्रकट किए हैं, जैसे कि आर्यसाहित्य से परिचय न रखने वाले कविपय पद्मो विद्याम पौराणिक अग्रजानों को कल्पना बतलाया करते हैं । जिस इला का आख्यान स्वर्ग वेद में निरूपित है, उसी के सम्बन्ध में अलक महोदयने अपन ये विचार प्रकट किये हैं कि—“एक ऊरुपदांग कहानी प्राप्त है कि मनु की लड़की इला थी । जिसने सोम ( अन्नप्रमा ) के देते हुए से समागम कर पुकरवा को जन्म दिया था । यह कहानी केवल देव शब्द की व्याख्या करने को गडा नह रीतिही है” ( भा० इ० क० खं २।२ ३।३ १५५ ) । इन सम्बन्ध में हम जयदंजरी को का० दोष नहीं रत । वैदिक साहित्य के अध्ययन की कमी से साप ही में पश्चिमो विद्याना को सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से भारतीय विद्वानों का यह कर्तव्यसा बन गया है कि वे भारतीय संस्कृति के पक्षपाती बनत हुए भी संयवाप के प्रवाह में पड़कर इनकी हाँ में हाँ मिलाते में ही अपना गौरव सन सन खगल है । यह प्रवृत्ति हमारे लिए बड़ी ही पावक है । हमें खतम होकर निष्पक्षवाद बन कर अपने ग्रन्थों के आधार पर अपने इतिहास का अन्वेषण करना पड़ेगा । तभी हम सत्यविभूति प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगे ।

नुसार मतलब यह है कि भागों में विभक्त किया, जिसका निम्न चिह्नित रूप से स्पष्ट-  
 परिच्छेद तु मनों वात ! दिवाकरतनुतदुत्त

शुभा तत्र तत्र वेप्रमकरोत् वृधिर्षी मनु-॥ (शि० पु उमासं० १६३) ॥

इसका बुझि सनाइ ये, एष मसादेव के स्पष्टपुत्र प, अतएव भागे जाकर यह भी  
 मनुनाम से ही प्रसिद्ध हुए। मिता के आदेशानुसार मूलोक को विभक्त कर इसका गुणा से  
 पूर्व अर्थात्प्रा नाम की गजधानी स्थापित की। यही सूर्यवशी राजाओं की पहिली, प्रधान  
 एव श्रेष्ठ राजधानी कहाइ।

इसका के अतिरिक्त शेष १ आतामोने अपने अपने स्वतन्त्र म.प.व.सि.क राज्य स्थापित  
 किए। इस प्रकार सूर्यवश अपने जाकर कई राजाओं में विभक्त हो गया। इन सब में इसका  
 राज्य बड़े ही प्रसिद्धी हुए। इसका के अनेक पुत्रों में से श्रेष्ठपुत्र विकुण्ठि को अयोध्या का  
 राज्य मिला। विकुण्ठि के पुत्र सिद्ध ककुत्स्थ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इनके सम्बन्ध से इस-  
 का ककुत्स्थ नाम से भी प्रसिद्ध हुए, जिसके "ककुत्स्थमामोककतां नृपाणां मनो  
 बभूवे इमतीनिराशम्" (शुभ्र इति से स्पष्ट है।

इसका के कनिष्ठपुत्र इतिहास प्रसिद्ध महाराज "निमि" के इनमें और इनके बड़े  
 भाई में किसी कारण विशेष से वैभव हो गया फलतः निमि अयोध्या छोड़ कर मीनराज्य धारण  
 कर निकल गए। एक एक इन के पुत्रपुरोहित बसिष्ठ ही के पत्नी निमि के राज्य छोड़ते समय  
 राजगण्य गोतम को अपना पुरोहित बनाया इन्हें साथ लेकर यह निकल पड़े। अन्ततोगत्या  
 अयोध्या और देहाली के मध्य में बलप्यामित युधि को पक्षप्रक्षिप्त हुए सुखा कर रही इन्हों  
 ने अपना नया राज्य स्थापित किया। यहां आकर इन्होंने अपना मीनराज्य छोड़ा। इनके राज्य  
 की अन्तिम सीमा "सदान्तीरा" नाम की प्रसिद्ध नदी हुई। यही निमि कोमलपिदेहों के  
 मूलपुत्र माने गए। बसिष्ठपुत्र से इन का उत्तरि जन्म गया। आगे आकर मन्वन्तप्रक्षिपा  
 द्वारा इन्हें जीवित किया गया। मन्वन्तप्रक्षिपा से उत्पन्न होते के कारण ही निमि का यह क  
 पत्नी "मिषि" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस मिथि राजा के वश ही मायन कहलाए। यही मायन शब्द आगे जाकर मैथिल रूप में परिणत हो गया- ( देखिए शत० ब्रा० १।४।१।१। )। यद्यपि मिथि के सम्बन्ध से ही यह नगरी "मिथिला" नाम से प्रसिद्ध हुई, एवं यही वश जनक नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी वश में जगन्नाथ जानकी का प्रादुर्भाव हुआ, एवं इनके साथ अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र भगवान् रामचन्द्र का विवाह हुआ। यह स्थान में रहने की बात है कि, उस युग में राजाओं के वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितों के गोत्रों से होते थे। अयोध्या के पुरोहित का, एवं मिथिला के पुरोहित का गोत्र मिला कर ही यह विवाह सम्पन्न हुआ था। अथवा यह विवाह सम्पन्न था। कारण इषाकुवश बिक्रान्ति की राज्या में उत्पन्न दशरथ एवं इषाकुवश निमि की राज्या में उत्पन्न विदेह जनक सगेत्रकन्तु थे। अतः इसी निमि वश में आगे जाकर सीर वंश, उग्रसेन जनदेव धर्म्यव्यस विदेह आदि कई महापुरुष उत्पन्न हुए। इनमें विदेह जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य थे, एवं इनके समय में ब्रह्मविद्या का बड़ा प्रचार था, जैसा कि याज्ञवल्क्य निर्मित शतपथब्राह्मणोक्त विदेह-याज्ञवल्क्यसंवादों से स्पष्ट है। प्रसङ्गोपेक्ष निमि वश का दिग्दर्शन करना पड़ा। अब पुनः विक्रान्त वश की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

देवस्य मनु से आरम्भ कर महाभारत कालीन अश्वराज सुमित्र पर्यन्त सूर्यवश ( विक्रान्त वश किंवा ककुत्स्थवश) अनुपपन्न बना रहा। इतने समय में १६४ पीढ़ियों में अयोध्या में निर्बन्ध राज्य किया। इतिहास प्रसिद्ध महाभारत युद्धाश्रम यौक्तास मान्याता, सप्तशती हरि चन्द्र सगर अश्वपान, भगीरथ अश्वपान दिभीप, शत्रु भय, दशरथ, भगवान् राम कुश आदि कई एक महापुरुषों ने इसी वश को सुशोभित किया। विद्वत्त्व से ६४ वी पीढ़ी में अश्वराम रामचन्द्र का अन्तर्भाव हुआ। एवं विद्वत्त्व से १६४ वी पीढ़ी में अश्वराज सुमित्र न अयोध्या की गद्दी को सुशोभित किया। यही सूर्यवश के अन्तिम राजा थे। यह महाभारत युद्ध में शामिल हुए थे। इस युग में कुशवश सुसप्त वश, अन्तर्भव सुमित्र को भी इनके अन्तर्भाव में अन्तर्भाव पड़ा था। सुमित्रवशों के द्वारा ही आगे जाकर निष्कण्ठवश की स्थापना

है। इसी वश वे गानपबुद्ध ने जन्म लिया। वस यहाँ बाकर सूर्यवश अपने उन्मासन से निर गय। भाषणको के सुसिद्ध मूर्त्यवश का यही सचित इतिहास है।

### चन्द्रधर

पूर्व में कलकत्ता का पुत्र है कि बैकसत मनु के इराकु भादि १ पुत्र थे, एव एता नाम की सर्वश्रेष्ठ एक कल्याणी। यद्यपि मानवधर्मशास्त्र के अनुसार रिता की सम्पत्ति पर कल्याणी का कोई अधिकार नहीं माना जासकता, वचमान हिन्दुओं (Hindu Law) भी इसी पक्ष का समर्थन करता है। वर्तमान कानून के महापरिषद, प्रीवीकोर्टिक के नव प्राथमिक ए० श्रीमुक्तासाहिबने कई युक्तियों से पूर्व सिद्धांत को ही हिन्दुधर्म के अनुकूल माना है। तथापि अन्तर्देश की विशेष प्रीतिमानना होने के कारण इसे भी दायद में भूषण दिया गया। चूंकि एता की भी अनर्थ यह राज्यपक्ष में असमय थी। अन्तर्देश इराकु की अनुमति से सबसे कनिष्ठ भाता सुद्युम्न ने एता का राज्यभार अपने हाथ में रक्खा। B. भारतवर्ष के मध्य में सुपसिद्ध सिन्धुनद से पश्चिम बाहरीक नगर

A इतिहास—Hindu Law by Right Honourable Sir Dinahab Fardunji Mulla, K T O L E. M. A. L. L. D (Edition (1938) Page 39)।

B आज हमने अपने बुद्धिहीन से भारतीय इतिहास से अपरिचित रहते हुए, माय ही में पश्चिमी विद्वानों के द्वारा लिखे गए कल्पित ऐतिहासिक ग्रन्थों का बर्बाद मानते हुए इस छोटे से हिन्दुस्तान का ही मरतलक, किंवा भारतवर्ष मानने की मजहूर मजहूर कर रक्की है। हमें इनारा ऐतिहासिक, भौगोलिक निरूपण यह बतलाता है कि “भारतवर्ष की पूर्वी सीमा येलो (Yellow Sea) चीन का पीलासागर, जिसे कि आज पीलासागर भी कहा जाता है, एवं जिसे महासागरमहासागर भी कहा सफल है) है। पश्चिमी सीमा रेड्डी (Red Sea—रक्तसागर किंवा लालसागर, इमरी घटि से पौराणिक महासागर, जिसे कि मेदिने रेड्डी Medo Teromen Sea कहा जाता है) है।

इस सीमा विरह वश (सहा) है। आज यह बड़ा समुद्रगर्भ में विधीन है। यद्यपि आज सीकोल को बड़ा बलकाया जाता है, परन्तु भारतीय बुद्धिहीन के अनुसार यह मरत सबका भास्वपूर्व है। भारतीय द्वीपमाना में सिद्धबाहरीक की पूरक गणना हुई है। पश्चिमी द्वीप



में (जोकि वास्तविक भान वस्तुनामसे प्रसिद्ध है) सुषुम्न का निवास था, ऐसा प्रतीत होता है। इसा

उक्तों में ताद्वपर्य किवा ताद्वपर्या नाम स भी प्रसिद्ध है। ताद्वपर्या ही विगड़ कर भाज "टापू-रोषेण" रूप में परिणत हो गया है।

टापूरोषेण शब्द क अन्धकार पर यह भी कल्पना की गई है कि "यही स्थान स्रष्टा या। उद्धेरा राष्य क निवास क कारण ही यह टापूरोषेण ( राष्य क रहन क टापू ) कह लाया है। 'राष्य टापू' ही "टापू राष्य" बन कर भाज "टापूरोषेण" बन गया है"। कहनाम हांग कि इस कल्पना में भी कोई तर्क नहीं है। यह शब्द "टापूराष्य" का अपभ्रंश नहीं है, अपितु "ताद्व-पस" का ही अपभ्रंश है। अपभ्रंश सद्धेरा राष्य न अपन विहार के लिए सिंहलद्वीप में स्थान बना लिया हो, और इसी सम्बन्ध से यह स्थान "टापूराष्य" किवा टापूरोषेण कहलाने लग गया हो यह भी सम्भव है। परन्तु केवल इसी सम्भावना से सिंहलद्वीप को उद्धा मान लेना अशुद्ध है, जब कि स्रष्टाद्वीप की सिंहलद्वीप से प्रसङ्ग गयाना हुआ है। इसके अतिरिक्त भारत कायस पस भी है, जिन्से सिंहल ( सीमान ) कभी स्रष्टा नहीं माना जासकता। अतः कल्पनाया यही है कि जो उद्धा भाज समुद्र में बिलीन है वही भारतवर्ष की-दक्षिण सीमा मानी गई है।

इतरसीया शर्म्यखावत पर्वत ( जो कि भाज दिन शिवालयक नाय स प्रसिद्ध है, एव जिमसे इरावती-रावी-नदी निकलती है ) है। यह सीमा, किवा सीमाविभाजक राष्यखावत पर्वत निरुध वरा से लग भग ३५५ अकारा पर है। इरान ( आर्ष्यावय ) अर्ष्यस्तान कबुल ( कुमा ), कन्धार ( गन्धार ), पञ्जाब ( भारतीय जो कि इबमुग में बहस्य की राजधानी थी ) बुखारा ( पुञ्ज, जो कि ब्रह्मा की निवास मूमि थी ) आवि सप भारत भारतवर्ष के अवयव हैं, भारतवर्ष की भारतवात् ( वैश्विक सम्पत्ति ) है। इयने अपनी मूर्च्छता मे भाज अपनी यह सारी सम्पत्ति आववायियों के हाथों समर्पण कर ही है और करत जात है। भारतवर्ष की इसी सीमावन्तुद्वयी का विगड़ान करत हुए अमितुक्त करत है।

१- "एतसु भारतं पप पतुःसंभ्यानसंश्रितम् ॥

दक्षिणागगतो दक्ष्य पूर्वंग च महोदधिः ॥१॥

हिमवानुचैरणास्य काम्मुकस्य यथा गुख ॥" (पाकतरेपु० ३ ६४०)।

२- "भासमुद्राणु ४ पूषादासमुद्राणु पश्चिमात् ॥

तयोरेवान्तर गिर्योरार्ष्यावर्षे प्रपसते ॥" ( मनुः २।२२।)।

है। इसी कथ से गानपमुद् ने जन्म लिया। इस यहाँ आकर सूर्यश्वर अपने उन्मासन से गिर गये। आपराध को के सुसिद्ध सूर्यश्वर को यही सचित इतिवृत्त है।

### चन्द्रधर २

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि वैश्वत मनु के इराकु आदि १० पुत्र थे, एक इस नाम की सर्वश्रेष्ठ एक कन्या थी। यद्यपि मानवधर्मशास्त्र के अनुसार पिता की सम्पत्ति पर कन्या का कोई अधिकार नहीं माना जासकता बतमान हिन्दुओं (Hindu Law) की इसी पद्धत का समर्थन करता है। वर्तमान कानून के महापण्डित, प्रीसीकोसिड के जज माननीय ए० सी० मुन्नासाक्षिबने कई युक्तिगों से पूर्व सिद्धांत को ही हिन्दुधर्म के अनुकूल माना है। तथापि महादेव की विशेष प्रीतिमानना होने के कारण इस भी दावा में मूखण्ड किया गया। चूँकि इस स्त्री की अन्वय यह उन्मासन में असमर्थ थी। अन्वय इराकु की अनुवृत्ति से सबसे कनिष्ठ भाता सुधुम्न ने, ता का राज्यभार अपने हाथ में रक्खा। B भरतखण्ड के मध्य में सुसिद्ध सिन्धुनद से पश्चिम प्रादेशिक भरत

A इरिप-Hindu Law by Right Honourable Sir Dinshab Fardunji Mulla, K T O L E M. A. L. L. D ( Edition ( 1938 ) Page 38 )।

B भाज हमने आपन युद्धोप से भारतीय इतिहास से अपरिचित रहत हुए, साथ ही में पश्चिमी विद्वानों के द्वारा लिखे गए कल्पित ऐतिहासिक ग्रन्थों को बेइबाक्य मानत हुए इस छोटे से हिन्दुस्तान का ही भरतखण्ड, किंवा भारतवर्ष मानने की मसहूर भूल कर रक्की है। हमें हमारा ऐतिहासिक, भौगोलिक निरूपण यह बतलाता है कि "भारतवर्ष की पूर्वी सीमा बंगाली (Yellow Sea) कीम का पीतसमुद्र जिसे कि आज पीलासागर भी कहा जाता है, एवं जिसे प्रशांतमहासागर भी कह सकते हैं) है। पश्चिमी सीमा रेड्डी ( Red Sea-रक्तसमुद्र किंवा लालसागर, दूसरी दृष्टि से पौरयुक्त महासागर, जिसे कि मेडिटेरेनियन्सी Medo Teromco Sea कहा जाता है) है।

इसके सीमा निरुद्ध देश (खण्ड) है। आज यह खण्ड समुद्रगर्भ में विलीन है। यद्यपि आज हीजोल को खण्ड बतलाया जाता है, परन्तु भारतीय भूबनधेय के अनुसार यह भूत सबका अन्तर्गर्भ है। भारतीय द्वीपगणना में सिद्धखण्ड की वृत्त गणना हुई है। श्री द्वीप प-

वे, वेदिक वाक्यिक भाव ब्रह्मण नाम से प्रसिद्ध है) सुषुम्न का निवास था, ऐसा प्रतीत होता है। इसा

रथों में ताम्रपर्ण किंवा ताम्रपर्णी नाम से भी प्रसिद्ध है। ताम्रपर्ण ही विषय कर आज "ताम्र-  
रथ" रूप में परिचय हो गया है।

ताम्रपर्ण शब्द के अन्वय पर यह भी सम्भव की गई है कि "यही स्थान कहा या।  
उद्देश शब्द के निवास के कारण ही यह ताम्रपर्ण (रथ के रथ के ताम्र) कह गया है।  
"रथ ताम्र" ही "ताम्र रथ" का कर आज "ताम्रपर्ण" का नाम है। कल्पना होगा कि इस  
सम्भव में भी कोई तथ्य नहीं है। यह शब्द "ताम्रपर्ण" का अपभ्रंश नहीं है, अपितु "ताम्र-  
पर्ण" का ही अपभ्रंश है। अन्वय लक्ष्य शब्दों का अपभ्रंश विचार के लिए सिद्धांश में स्थान  
का लिया हो, और इसी सम्भव से यह स्थान "ताम्रपर्ण" किंवा ताम्रपर्ण कहा जाने लगा  
था यह भी सम्भव है। परन्तु केवल इसी सम्भावना से सिद्धांश को छोड़ा मान लेना अशुद्ध  
है, जब कि सिद्धांश की सिद्धांश से प्रत्यक्ष गणना हुई है। इसके अतिरिक्त यह कारण ऐसे  
कारण हैं, जिनसे सिद्ध (सीकोन) कभी छोड़ा नहीं जाना जा सकता। अतः शक्योंका यही है  
कि ये छोड़ा आज समुद्र में बिखीन है वही भारतवर्ष की-वर्षिण सीमा मानी गई है।

उत्तरसीमा शर्म्यवायव्य पर्वत (जा कि आज दिन शिवालय नाम से प्रसिद्ध है, एवं  
जिनसे इरावती-रावी-नदी निकलती है) है। यह सीमा, किंवा सीमाविभाजक शर्म्यवायव्य  
पर्वत निरक्षर देश से लगभग ३५५ मील पर है। इरावत (आर्ष्यावय) अर्धस्तान, कपुल  
(कुमा), कम्पार (कम्पार), पञ्ज (वाक्यिक जो कि देवपुत्र में पर्वत की राजधानी  
की), बुधारा (पुष्कर, जो कि ब्रह्मा की निवास भूमि की) आदि सब ज्ञान्त भारतवर्ष के अन्वय  
हैं, भारतवर्ष की मौज्ज्मी आर्याव (वैदिक सम्प्रदाय) हैं। इनमें अपनी मूलता से आज अपनी  
यह मागी सम्प्रदाय आर्यावियों के हाथों समर्थ कर दी है और फलतः जाह है। भारतवर्ष की  
इसी सीमापट्टि का विस्तार फलतः हुए अभियुक्त अर्थ हैं।

१- "पततु भारत पप पतुःसंभ्यानसंश्रितम् ॥

दक्षिणापरतो यस्य पृथक् च महोदधिः ॥१॥

द्विमानुत्तरस्यास्य काम्मुकरय यथा गुणः ॥" (मातृगण्यपु० १ १५०)।

२- "भासमुद्रानु वे पृवादासमुद्रानु पश्चिमात् ॥

वपारेवान्तर गिर्यैरावपानर्च मचत्त ॥" (मनु २।२१।)

को दायद में जो प्रान्त लिखा गयी—प्रतिष्ठानपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुमुन इका के राज्य प्रबन्ध के लिए भागे जाकर यही बस गए। इसीलिए पुराणने प्रतिष्ठानपुर को कहीं सुमुन की राजधानी बतलाया है, एवं कहीं इका की राजधानी बतलाया है।

जिस प्रकार ऐश्वर्य सम्बन्ध में स्वयम्भूत्रया के विश्वान् पादि कई मानसपुत्र थे एक-मेव किया के सम्बन्ध में भी इन्होंने कई अप्सियों को अपना मानसपुत्र बनाया था। इन मानस पुत्रों में (कियापुत्रों में) मरीचि, अक्षिरा अथि पुनस्त पुनइ, कतु यह ६ पुत्र भी बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

ब्रह्मसो मानसा पुत्रा विदिताः पञ्चमहर्षयः ॥

मरीचिरक्षिरा अथिः पुनस्तः पुनइः कतु ॥ ३

अथेस्तु बहयः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप !

सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥२॥ (म० ब्रा० प ६६ अ०)

उक्त ६ को मानसपुत्रों में से भातर्षनिवासी अथि तीसरे थे अतएव यह अथि नाम से प्रसिद्ध हुए जैसा कि “यह तृतीय समयस्त यात्रि स कीकत” (ब्रह्मसंहसु०— ३० ४।१५) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। यह अथि प्राणविज अथि के ब्रह्म (परीक्षक—व्याधि छरक) थे, अतएव यह भी अथि नाम से ही प्रसिद्ध हुए। ब्रह्म की कृपे से सब से पहले

● प्रतिष्ठानपुर के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों में जनक आन्तिवर्ष केन्द्रा रक्ती हैं। पञ्च स्वयम्भूत्रयापी भारतीय इतिहासकथ्य भी इसी मान्ति का अनुसरण करते दिखलाई देते हैं। कितने ही महानुभाव प्रयाग के समीप प्रतिष्ठानपुर की सत्ता बतलाते हैं। कितने ही दखनपुर में प्रतिष्ठानपुर की सत्ता सिद्ध करने में व्यस्त हैं। कितने ही के मतानुसार हथिनपुर के समीप ही कहीं प्रतिष्ठानपुर का शेष सिद्ध है। कहना न हांग कि यह समीपत भान्ति पूर्ण हैं। वस्तुतः सिन्धुनद स पश्चिम, सिन्धुप्रान्त के ५ कौरा पश्चिम के पश्चिमे पर आर्यावत् नाम से प्रसिद्ध पश्चिम मारतवप में ही प्रतिष्ठानपुर था। इस विषय का विराह विवेचन श्रीगुरुद्वयीत “आदिस्वार्थ” नाम के ग्रन्थ के इलाप्रकरण में देखाया जायिए।

अग्नि ही वेदप्रचार के लिए नियत किए गए थे यह अग्नि शब्द आगे जाकर पशुतरंगों में  
 नेरुद हो गया। देवयुग में आग्नेय ब्रह्मपत् के क्रमशः वीषमग्नि, मांसमग्नि नाम के दो  
 अग्नि कुक्षपति बनें। पहिले कुक्षपतिने पारदशकताप्रतिष्ठाक चन्द्रप्रहणाधिष्ठाता भूमिगत  
 अग्निप्राण की पूषा परीक्षा कर प्रहसन्निषा का सवप्रथम आनिष्कार किया। अतएव ये भौमाग्नि  
 नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं भौमाग्नि से महासती अन्ननृपा के गभ से अन्नमा का जन्म हुआ।  
 दूसरे सांख्यमग्नि ने उत्तरपुर मण्डलस्थ नाड्यमिक्त अग्निप्राण की परीक्षा की। जिस प्रकार भौम-  
 अग्नि से अन्नमा उत्पन्न हुए, एवमेव सांख्यमग्नि के शाखापान उत्पन्न हुए। यह वडा ही अ-  
 धार्मिक हुआ। सांख्यने बहुत उपदेश दिया परन्तु इनका यह उपदेश सर्वथा व्यर्थ गया। फलतः  
 निराश हो सांख्यने सिन्धुदश में देवनिष्काय नाम के पर्वत में (जोकि पर्वत 'सुमेधान' नाम  
 से प्रसिद्ध है) निवास कर लिया। इवर तत्पुत्र शांतायन एक तद्वशभर भस्मभ्युत् होते हुए  
 पवनदश के (श्रीकवच के) आदि प्रवचक बन गए। इस प्रकार सांख्यमग्नि का पशु उच्छिन्न  
 प्राय हो गया।

भौममग्निपुत्र अन्नमा सोमवर्द्धी की रक्षा के लिए गन्धर्वां का राजा बनाए गए एक उत्तर  
 विशा के दिक्पाल बनाए गए। यह ब्राह्मण होकर राजा बनें, अतएव तत्त्वमय में यह राजा  
 नाम से ही लोक में प्रसिद्ध हुए। इनकी ही रोहिणी थी। अन्नमा से तारा के गभ में बुध का  
 जन्म हुआ एक यह रोहिण्येव नाम से प्रसिद्ध हुआ। चूंकि यह राजा के पुत्र थे, अतएव ये  
 राजपुत्र नाम से भी प्रसिद्ध हुए। अतएव तद्वशभर राजपुत्र नाम से व्यक्त हुए। यही  
 राजपुत्रशब्द आगे जाकर 'राजपूत' रूपमें परिणत हो गया। इस व्यक्तिक कर्मा की न  
 जानने के कारण विद्वानों ही पश्चिमी विद्वान् भारतीय अग्निवश की समासाचना करते हुए कहने  
 लगते हैं कि 'राजपूत अग्नि नहीं हैं अग्निवों के वंशसंकर हैं। तभी तो उन्हें राजा न कह कर  
 राजपूत कहा जाता है'। राजपुत्र अपने वास्तविक इतिहास से वञ्चित रहने के कारण न मालूम  
 ऐसे ऐसे विद्वानों निम्न आक्षेपों का हमें शिखाए बनना पड़ रहा है।

राजपुत्र रोहिण्येव बुध के साथ ही वनलत्पुत्री राजा का विकार हुआ। चूंकि राज्य

इहा का पा, अतएव तत्त्वमन्त्र से यह वच "देव" कहलाया । बुध से इसा के ग्रह में सुप्र-  
सिद्ध प्रतापी 'पुङ्गवा' उत्पन्न हुए पुङ्गवा के पिता बुध के साथ गन्धर्वा का अधिक  
सम्पर्क था । अतएव अन्त्रम गन्धर्वा के सञ्चार्ध ये एक पड़ी अन्तराओं का निवास था । अतएव  
उर्ध्वी अग्नि में उत्पन्न होने वाली, अतएव उर्ध्वी नाम से प्रसिद्ध एक अन्तरा का बुधपुत्र  
पुङ्गवा के साथ सम्बन्ध हो गया । इन के सम्बन्ध से महायज्ञ 'ब्राह्म' उत्पन्न हुए । मौमात्रि  
ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, अन्त्रमा अग्नि के औरसपुत्र थे, एक बुध मौमात्रि का औरस पुत्र थे ।  
इस घट्टे से ब्रह्मा अग्नि-अन्त्रमा-बुध यह चारों ही अन्तरा के मूलपुरुष माने जा सकते हैं ।  
अग्नि अन्त्रमा-बुध तीनों मनुष्य थे फ-स्तु इन का निवास भारतवर्ष में न रहा । यह मनुष्य  
न कहा कर देखा ही कहाए । जिस प्रश्न सूर्य्यंश में से भारतवर्ष के पहिले सञ्चार्ध  
रत्नाकु ये एकमेव इस अन्तरा के प्रथम सञ्चार्ध महायज्ञ पुङ्गवा ही हुए । कैंकि ये इसा की  
सम्पन्न थे, अतएव तत्त्वमन्त्र ऐसमकृति नाम से व्यवहृत हुए, जैसा कि अमिषुक्त  
कहते हैं—

ब्रह्मा पात्रिभन्त्र एवं बुधभेदेते देवाभन्त्रवशादिभूताः ।

यद्यप्येते मानवाः किन्तु तेऽरुणः स्वर्गे निते भारतोर्षी मनुष्याः ॥१॥

प्रज्ञातीर्त्ना बुधान्तानां न मनुष्यश्चयिष्यत ।

ततोऽग्रे अन्त्रवसोयमैल प्रकृतिरुच्येत ॥ (अथुक्रमसीत अथिरुपाति) ।

यह ऐतिहासिकविवेचन से पाठकों को विहित हो गया होगा कि मार्ग का बंध ( इरा-  
कुवरा) भारतवर्ष में सूर्य्यंश कहलाया, एवं बहिन का बंध (इलावरा) अन्त्रवरा नाम से प्रसिद्ध  
हुया । हमारे इतिहास के परित्यापक औरव-गण्डव भी इसी अन्त्रवरा में उत्पन्न हुए थे, अत  
एक इन्हें—“सोमकाः” नाम से सम्बोधित किया है, जैसा की द्विपाप्य कहते हैं—

कर्यं सुपुत्रिरे बीराः कुरु-वाएडपसोमकाः ।

पार्थिवाः सुपदास्थानो नानादेशसमागताः (म०मी०म १।१) ।

हाँ तो इतिहासक्रम पर ध्यान बालिए । पूर्व में कहा जा चुका है कि बुध एवं इसा के सम

यस्य से पुत्रवा, एव पुत्रवा से आयु उत्पन्न हुए। आयु से सुप्रसिद्ध नरूप उत्पन्न हुए। मार  
 कीय रात्राप्रो में ये ही एकमात्र ऐसे माम्यशास्त्रीराजा थे, जिन्हें कि कुछ समय के लिए स्वर्ण काशासक  
 पद (रत्नपद) मिला। महाराज नरुप के परम प्रतापी चक्रवर्ती ययाति उत्पन्न हुए।  
 चन्द्रवर्षों में पश्चिमे चक्रवर्ती सघाट् ययाति ही हुए। भारतवर्ष में चन्द्रवर्ष का विशेष नि  
 श्चय ययाति से ही आरम्भ हुआ, अतः आगे जाकर ययाति भी चन्द्रवर्ष के मूलपुरुष मान  
 जाने लगे। ययाति के परम प्रतापी यदु, पुरू, सुर्वसु, अरुण, उरुगु नाम के पाँच पुत्र उत्पन्न  
 हुए। इन पाँचों के फलस्वरूप चन्द्रवर्ष अनेक शाखाओं में विभक्त होता हुआ सम्पूर्ण भारतवर्ष  
 में विस्तृत हो गया। ययाति न्यायतः पाँचों में से राम्याधिकारी ज्येष्ठपुत्र यदु ही थे, परन्तु विना  
 (ययाति) की वैपयिऋषि के लिए आयुप्रदान न करने के फलस्वरूप यदु राम्याधिकार से वञ्चित  
 कर दिए गये। इसी यदु से आगे जाकर सुप्रसिद्ध पादवर्ष का विकास हुआ, जो कि चन्द्र-  
 वर्ष की ही एक शाखा मानी जाती है। ऋग्वेद के अध्याय से यह पशु धन्य धन  
 गया। पिता की आज्ञा को विरोध करने वाले कनिष्ठ पुत्र पुरूने पिता को अपनी पुत्रवस्था  
 समर्पित करने से राजवर्षिणासन प्राप्त किया। ज्येष्ठ पुत्र-अणु-दुर्बु-तीनों माइनों अपने-अ  
 पने स्वतंत्र माण्डविक राज्य स्थापित किए। इस प्रकार एक ही चन्द्रवर्ष की मूलगद्दी के सर्वे  
 सद्य रदगए। इसीलिए इनके वैश्वर पौरव नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी पुरुवर्ष में आगे जाकर  
 इतिहास प्रसिद्ध दुष्यन्त उत्पन्न हुए। कुछ समय के लिए पुरुवर्ष विप्लव पड़ गया था। परन्तु  
 पौर दुष्यन्त ने फिर पौरववर्ष को एक्यकर बनवा दिया। तब से दुष्यन्त भी पुरुवर्ष के आदि  
 पुरुष एव पौरवों के कथनायक माने जाने गये। जैसा कि निम्न उद्धित बचन से स्पष्ट है—

पौरवराणां वैश्वकरो दुर्यन्ता नाम वीर्यवान्।

पृथिव्याभानुराया गोसा भरतसप्त ॥१॥ (म० अ० ६८ अ० १०)।

दुष्यन्त से राजुन्तः का नाम से सुप्रसिद्ध ययोर्ध्वं दीपन्ति भरत उत्पन्न हुए। ये  
 वर्तमान पाराक्रम में अजय निश्र से भी आगे बढ़ गए। यही नहीं, आगे जाकर चन्द्रवर्ष इन्दी के  
 नाम से प्रसिद्ध हुआ। सब भगवन् ने यिया में स्थान स्थान पर भरतसप्तम 'भारत' मन्त्र-

यम । इत्यादि नामों में अर्जुन को सम्बोधित करते हुए भरत को उच्चासन प्रदान किया है । पुराण के एकेश्वरी मतानुसार तो भरत के सम्बन्ध से ही यह अनुपपन्नोक्त भारतशब्द उत्पन्न है । स्वयं व्यासदेव लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ भी भरत के सम्बन्ध से ही ' महाभारत ' कहलाया है । इसी भरत का पर्योग्यन करते हुए व्यास कहते हैं—

दुष्यन्तस्तु ततो रामा पुत्रं शकुन्तलं तदा ॥

भरत नामतः कृत्वा यौवराज्यसम्प्रेषणवत् ॥१॥

स राजा चन्द्रवर्मासीत् सार्वभौम महापमान् ०

०-बस्तुतः इस दृष्ट का भारतवर्ष नाम दशयुग में ही प्रसिद्ध हो गया था । दशयुग में श्रीकृष्णकाल के शकस्यनपाद् भारत नाम के अग्रि ५- ( इतिहास अ. ४१२५। ४। ) । इसी के सम्बन्ध से यह शब्द भारतवर्ष कहलाया । भरत के नाम से आ पुरातन भारतवर्ष नाम को उत्पत्ति बतलाए है वह अथवात्मान है । कबल भरत की कीर्ति का परमान करने के लिए ही ऐसा मान लिया गया है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि शौमन्ति भरत के अतिरिक्त अश्वमेध के पत्र एवं नाम के पुत्र एक अन्य भरत के सम्बन्ध से भी भारतवर्ष शब्द की उत्पत्ति मानते गए है जैसा कि निम्न लिखित बचनों से स्पष्ट है—

१—प्राचीनमृनोनाभेस्तु श्वपमोऽमृत सुतो द्विम ।

श्वपमाद् भरतो भङ्गे पीरः पुत्रशताद्वरः ॥१॥

। इमाह दक्षिणं वर्षे भरताप पिता दशै ।

तस्यात् भरतं वर्षे तस्य नाम्ना महात्मनाः ॥२॥

नामः पुत्रश्च श्वपम श्वपमाद् भरतोऽभवत् ।

ताप नाम्ना सिद्धं तप भातन पति कीर्तने ॥ (श्रुत मा० की० १७३०) ।

२—न सुरापाथ दुष्यन्तो दुष्यन्ताद् भरतोऽभवत् ।

शकुन्तलार्पा तु तना यस्य नाम्ना तु भारता ॥ (अग्रि २७८ अ०) ।

इन दोनों मंत्रों का समन्वय हम अत्र बताने पर ही कर सकते हैं । हम विषय का विचार दि बचन पुराणग्रन्थों के अन्वये में इच्छते हैं ।



परताद्भारतीकीर्विषेनेः भारत कुमम् ॥ १ ॥ ( म भा आदिप ७४ अ ) ।

इसी सुप्रसिद्ध भरतवश में आगे जाकर महाशत्रु कुरु उदयन हुए । यह भी अपने युग में परास्त्री हुए । फलस्वरूप आगे का वंश इन्दी के नाम से ( कुरुवश नाम से ) प्रसिद्ध हुआ । द्वापरयुग के अन्त में इसी कुरुवश में महाशत्रु प्रतीप से शान्तनु का जन्म हुआ । यही से हमारे गीतासम्बन्धी इतिहास का मूलस्रोत प्रवाहित होता है । शान्तनु से गङ्गा के गर्भ में देवमूर्ति, किंवा वसुमूर्ति देवव्रत उत्पन्न हुए । धीककन्या प्रत्यगंभा को अपनी सता ( पिता शान्तनु की धम्मपत्नी ) बनाने के सम्बन्ध में 'न हम प्राजन्म विवाह करेंगे, एवं न सिंहासन पर बैठेंगे' यह मन्त्रप्रतिज्ञा करते हुए यही देवव्रत 'मीन' नाम से प्रसिद्ध हुए । यही महापुरुष आगे जाकर 'कुरुकुल वृद्धपितामह' नाम से सम्बोधित हुए ।

शान्तनु से मत्स्यगणा के गर्भ में ( जो कि आगे जाकर "मत्स्यवती" नाम से प्रसिद्ध हुए ) विराज्जद एव विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए शान्तनु की मृत्यु के पौढ़े समय पीछे ही राज्य के उत्तराधिकारी विराज्जद गन्धर्वा के हाथ से मारे गए । फलतः कनिष्ठ भाता विचित्रवीर्य को सिंहासन पर बैठा कर स्वयं भीष्मपितामह राज्यभ्यषथा का सञ्चालन करने लगे । जब विचित्रवीर्य विवाह के योग्य हुए तो भीष्म काशी पहुँचे एव स्वयंभ से अम्बा अम्बामिका अम्बिका नाम की तीनों कन्याओं का अपहरण कर हस्तिनापुर आ पहुँचे । इन तीनों में अम्बा व- मैं अपने मन में महाशत्रु आन्ध्र का परण कर चुका हूँ" यह कहने पर भीष्म न उ० सादर विदा कर दिया , एव शेष दोनों कन्याओं का विचित्रवीर्य के साथ विवाह कर दिया । दुःखवश एवतोग स प्रसन्न होते हुए विचित्रवीर्य अराधस्य में ही मृत्यु के प्राप्त बन गए । पुत्रवश एकवार फिर अन्धकार में पड़ गया ।

महामा प्रथम एव राज्यात् स यन्ती इत दक्षिणापति से बड़े विद्वित्त हुए । अन्त में राज्यात् स पराम्य से भीष्म का इस घेरे अर्थात् फल में पुत्रवश अराधस्य के लिए निषेध गरिषि का आशय उभा रहा । भारतवृत्तवेत्ताओं को यह विदित है कि इसी सार्वभौम के गभ से अम्बा अम्बामिका में ( नौरा पञ्चम समय ) पण्डित राजा महामा स्वयं का आभिचार हुआ

था। व्यास ने मत्ता सत्यवती को बरदान दिया था कि ' यदि तूम पर कमी करेई विपत्ति आवे तो उस समय मेरा स्मरण करना' । फलत इस विपत्ति काल में व्यासदेव का स्मरण किया गया। व्यास उपविष्ट हुए। सारी परिस्थिति इन क सम्मुख रखी गई। सम्बन्ध मध्याह्न के अनुसार व्यास अश्विन्व एव अम्बालिका देवर होते थे, एक व्यापत्ति में बरगणा के लिए दश से नियोग विधि श्राव पुत्रोपस करना मानवध मशाय से भी अनुमोदित है। (दखिए मत् १। ७०)। मात्र उसी आग्रह्य को उद्घ मे रख कर मत्ता का व्यास से व्यास नियोगविधि में प्रवृत्त हुए सजल तपोयोग में प्रवृत्त रहने के काय्य व्यास का शरीर महानयावह हो रहा था। नियोगविधि में प्रवृत्त जेटी बहू अश्विन्व इन का रूप देख कर डर गई, उसने भय से नेत्र बन्द कर लिए। परिणाम स्वरूप कालान्तर में इसका अन्धा पुत्र उत्पन्न हुआ, जोकि भूतगर्भ नाम से प्रसिद्ध हुए। व्यास ने कहा दिया था कि नेत्र बन्द करने का कारण इसके अन्ध सम्भान होगी। एसी परिस्थिति में कल्प अधूरा ही रहा। क्योंकि शाय क अनुसार अन्धा अश्विन्व सम्प्रतिहासन का अधिष्ठी नहीं बन सकय। इस विरतिगत को दूर करने के लिए छोटी बहू निवाध्विचिने प्रवृत्त हुई। उसने अन्धों तो बन्द न की, परन्तु भय से उसके शरीर पीका पक गया। व्यास ने कहा दिया कि इस क भी जा सम्भान होगी, वह जन्म से ही पायद्वय, एवं रोमप्रसत रर्दी। दोबो सम्भानों से निराश हो सत्यवती ने अश्विन्व का निर पक यार मोसाहित किया। उसने वहाँ तो लीकर कर दिया परन्तु मनप पर अन्ध न जाकर दासी का बनने बलाभूषणों से अलङ्कृत कर नेत्र दिया। दासी व्यासगर्भ में अणुप्राय भी त्रय न हुई। फलस्वरूप अन्ध न बरगणन किया कि इसके परम धार्मिक, सर्वगुण सम्पन्न, परम बुद्धिमान एव परम योगिन पुत्र उत्पन्न होय। वही दार्माणुव विदुर नाम से प्रसिद्ध हुए।

एतन् १७५ पू वसे ५, परन्तु अन्ध हान करण। हैं गणविहासन से बखित होय। तथा। एव विदुर भी दार्माणुव हान में गण के अधिष्ठी न बन सक। उन्म निश पावटु को। वही पुनगर्भ क अन्धबन्धु के साथ साथ विहानबन्धु पर भी पदा गङ्गया पावटु क ८१ उग क निर इसके इतर में इव च पीर जान होगय। वही पीर काकापर में महा

मात्र समय रूप से पुण्डित एवं पण्डितिन हुआ । । इनका ही को बोधी बहुत आशा यह थी कि  
 परी मेरे पण्डित सन्तान हुई तो उसे राग्य सिद्ध जायगा । परन्तु जब उन्होंने यह सुना कि  
 "कुन्ती के गर्भ से देवताओं के आह्वान से पाँच पुत्र उत्पन्न हो गए हैं" तो इन की रक्षी सही  
 आशा पर भी पानी फिर गया । समय आने पर बृताण्ड के भी महासती गंधारी के गर्भ  
 १०० पुत्र उत्पन्न हुए । पाण्डुपुत्र पाण्डव कहलाए, बृताण्ड पुत्र श्रीराम कहलाए ।

दुर्योधन बड़ा कुटिल नीतिज्ञ था । उसने अपने आपको "शौरव" नाम से प्रसिद्ध  
 किया । इस से प्रजा में वह वह चीजोंको खरना चाहता था कि धृतराष्ट्र कुरुवंश में अग्र  
 हैं एवम वहीं की सन्तान हैं । फलतः कुरुवंश के पैत्रिकराज्य के अधिकारी एवममम ही हैं ।  
 यही दुर्योधन में एक कर अपने मातृक सुवर्ण के कुवक का स्मारा करते हुए दुर्योधन ने  
 धर्मप्रमत्त पाण्डुपुत्रों के साथ क्या क्या आयाजा किए, यह सर्वनिदिन है । १४ वर्ष तक बनवास  
 का कष्ट सहने के अनन्तर युधिष्ठिर सन्ध्यास वापस लौटे । परन्तु इतना जम्मा समय पा कर  
 दुर्योधन पूरी तरह समझ चुका था । अथप्रसोमन से उमने अपने सामन्त राजाओं को मुहो  
 में कर लिए था । दूसरों की बात तो जाने दीजिए, भीष्म जैसे वरस्य वृष्णि भी इस अथनीति  
 के शिकार बन चुके थे । उस समय की राजक्यथाया देन कर दंतों तले अगुसी दवा लेना  
 पड़ता है । परी दुर्योधन में अथ ही धर्मबुद्धि होती तो निःसन्देह वह अपने इस बुद्धि-  
 कीरत से कुरुवंश को कइ शत्रुदिव्यों के लिए रक्षित बना सकता था ।

दुर्योधन के शासन काल में कुरुसाम्राज्य अमुक-पुन-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इन  
 पाँच प्रान्तों में विभक्त था । इन पाँचों में प्रमुखांत 'गजाक्षय' (इतिनापुर) नाम से प्र-  
 सिद्ध था । अथयान् दृष्ट्य एव व्यास द्वारा बसाए गए इन्द्रमध्य (दक्षिण) से द-केस उत्तर  
 गजाक्षय हीतिनापुर था । आज यह राजधानी गणा के उदर में समा गई है । इस स्थान  
 पर व्यास दा वर मन्दाहो व पर अथ अथिष्ट है । वही विसी समय कुरुवंश की  
 प्रथम राजधानी थी । इतिनापुर से उत्तर का प्रान्त कुरुनाड्य नाम से, पूव का प्रान्त कुरु-  
 पाद्यान नाम से, पश्चिम का प्रान्त कुरुक्षेत्र नाम से, एवं दक्षिण का प्रान्त व्यासदहन नाम

से प्रसिद्ध था। इन पाँचों प्रांतों की सम्पत्ति ही कुदसात्राय्य था, इस के सवाद् इतरण्ड के, एष प्रान्तापीय (मर्कट) कयशु दुर्योधन, भीष्म, द्राय्य, कर्ण, अश्वत्थामा के। कुदकेरु के कयशु की राजधानी "मद्र" देश था।

- १—इतिनापुर—प्रमुस्त्रानपानी    ॥ दुर्योधन (प्रान्तापीय) ।
- २—कुदपाश्राम—इतिनापुर से पूर्व    ॥ द्रोण ( " ) ।
- ३—कुदसेम— "    पश्रियाँ-कय ( " ) ।
- ४—कुदनाहस— "    उत्तर ॥ भीष्म ( " ) ।
- ५—सापड्य— "    दक्षिण ॥ अश्वत्थामा ( " ) ।

इन्द्राय्य प्रांत से जो हाथी पकड़ कर जाए जाते थे उन्हें एक स्थान पर रक्का जाता था। वहाँ उन जगली हाथियों को पालक बनाया जाता था। वही प्रम "इतिनापुर" (इतिनों का प्रम) नाम से प्रसिद्ध हुआ। जगली हाथियों को बने ६ प्रमोम्नों में बाँट कर हाथियों को पकड़ने वाले "भा-भा-दृग-दृ" इस प्रकार के विचित्र भाषणों से प्रमोम्न से घेरघार कर हाथियों को यहाँ बांध करते थे, दूसरे शब्दों में प्रमोम्नों द्वारा हाथी इस प्रम में कुठार जाते थे, अतएव यह प्रम—"म्राहृयन्ते गमर यव" इस निर्बल के अनुसर गम्राहृय नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत में इतिनापुर के स्थान में एतस स्थान पर "गम्राहृय" शब्द का ही प्रयोग हुआ है। गम्राहृय इस का प्राचीन नाम था, यही नाम जाकर इतिनापुर रूप में परिवर्तित हुआ, एष काबालकर में पकर की विद्युत् हो जाने से यही इतिनापुर नाम से प्रसिद्ध हो गया। इन्द्रप्रस ममुना के किनारे था तो यह इतिनापुर गम्राहृय पर था। कुद महात्रय से पहिले इन मरुतवासियों की राजधानी अश्वत्थामा (ईरान-पश्चिमभारत) प्रान्तापीय महाद्वय नाम का शहर था। जब कुद के समय में इन का अधिक विघ्नस हुआ तो इन्होंने पूर्वोक्त मरुत नर्म में उक्त इतिनापुर प्रवेश में ही अपनी नवीन राजधानी बनाई। इस स्थान के इतिनों को हटा कर इन के लिए एक नए प्रम बनाया गया। वही प्रम "इन्द्रप्राम" (हाथियों का प्रम) नाम से प्रसिद्ध हुआ—(देखिए अनुक्रमणिका ३। ३। १।)। इस प्रकार इतिनापुर

एक समुद्र राज्य होगा। यह राज २२ कोटी (रुपे) को रियायत मानो जाती थी  
सम्प्र-सौरभैमव की दृष्टि से यह भारतवर्ष का पूर्ण अस्त्युदय काळ था।

महाभारतकाल भारतवर्ष का समुद्रकाल मी कहा जासकता है, एक पतनकाल भी।  
परम राजनीतिज्ञ महर्षि विद्वान्, परम धर्मात्मा पण्डित युधिष्ठिर, श्रीरामजी अर्जुन, भीष्म  
निष्ठा, विदितवेदिगम्प, नाचनसचारी, कृष्णभवेत्ता देवजन, आचार्य द्रोण पूणावतार भगवान्  
श्रीकृष्ण इत्यादि भारत की दिग्गजभूतिर उसी युग में विद्यमान थी। एक साथ ही में स्वार्थ का  
धर्म सीमा पर पहुँचने वाला कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन, सर्तक का अपमान करने वाला दुःशासन  
अपनी कुटिल नीतियों से भारत के समुद्र कैमव का नाश करनेने वाला दुर्मति शकुनि आदि  
आसुरी विभूतिर मी उसी युग में विद्यमान थी। कौरव-पाण्डवों का संग्राम क्या था, देशसुर  
संग्राम था। यही संग्राम भारतवर्ष के नाश का कारण बना। यद्यपि अधम्मानुयायी कौरवों के  
पास ११ अश्विणी सेना थी, इधर धर्मरामा पाण्डवों के पास ७ अश्विणी ही सेना थी।  
किर भी धर्म के प्रभाव से मित्रपक्षी पाण्डवों को ही मिली। १० अश्विणी सेना के संघर्ष  
में जय नाम पाण्डवों को ही हुआ। इस प्रतिद्वन्द्वीभाव को सूचित करने के लिए व्यास ने  
इस प्रश्न के १० पर्व बनाए।

यह पाठकों को विदित है कि ११ अश्विणी सेना को अपने अधिकार में रखने  
वाले कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन सदा अशक्त रहे, इधर केवल ७ अश्विणी के अधिकारि धर्म  
नैतिक युधिष्ठिर सदा शक्त रहे। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए व्यासदेवने आरम्भ के  
११ पर्व तक तो अशान्तिभाव को प्रधानता दी है, एक १२ में से १० पर्व तक शान्तिभाव  
को प्रधान रखा है। १२ वें पर्व शान्तिपर्व है। कुटिल में जो कुछ उत्पात होना चाहिए  
था, इस से पहिले पहिले हो चुका है। इस से आगे धर्मराज युधिष्ठिर के शान्तिपर्व धर्मयुग  
का ही आरम्भ होता है। इस प्रकार ११-७ के संघर्ष में जय का अधिकारी युधिष्ठिर ही बन  
जाते हैं। यही सूचित करने के लिए इस प्रश्न का नाम "जय" रखा गया है।

संक्षेपविज्ञान क अनुसार जय ८ संख्या का, वर १ संख्या का वाक्य है।

“अज्ञानां ज्ञानतो गति” के अनुसार ८१ ही १० हैं। यही पर्यवेक्ष्य है। इस न सार के मुख्यतम हैं- भगवान् कृष्ण। यदि भगवान् अज्ञान को उपदेश न देते तो पाण्डुपुत्र को शिकारी हो चुकी थी। निष्काम का परमप्रथम धर्म गीता को ही है। इसी रहस्य को धर्म में रक्षक स्थापने गीता के १० अध्याय करते हुए यह स्पष्ट किया है कि १० अध्यायों के अन्त में इस गीतोपदेश से ही, दूसरे शब्दों में गीता के १० अध्यायों में प्रतिगठित बुद्धिबल के अन्त पर ही पाण्डव १० सङ्घ से अभिनीत अथवा म करने में समर्थ हुए।

हम कह चुके हैं कि महाभारतयुद्ध से पहिले भारत पूर्य समृद्ध था। इसका सब से बड़ा प्रमाण १० अध्यायों की सेना है। जिस राष्ट्र में बात की बात में इतनी सेना एक स्थान पर खड़ी हो जाय, उस राष्ट्र के वैभव का क्या कहना है। पाठकों के अनुमान के लिए हम प्रसन्नो पाण्डव अध्यायों का स्वरूप संक्षेप से उद्धृत कर देते हैं।

राज्य की प्रधान अङ्गभूता सेना पति सेनामुख मुख्य, गण बाहिनी, पृतना, धनु, धनीकिनी अध्यायों की मेर से नो भागों में विभक्त मानी गई है। १०१, १०२, १०३ पैदल बोज, १०४ पैदल सभ सिक्कर एक पति है। ऐसी तीन पतियों की समष्टि (१०१, १०२, १०३) एक सेनामुख है। ऐसे तीन सेनामुखों का समुदाय (१०१, १०२, १०३) एक मुख्य है। ऐसे तीन मुख्यों की समष्टि (१०१, १०२, १०३) एक गण है। ऐसे तीन गण सिक्कर (१०१, १०२, १०३) एक बाहिनी है। ऐसी तीन बाहियों की (१०१, १०२, १०३) एक पृतना है। ऐसी तीन पृतनाएं (१०१, १०२, १०३) एक धनु है। ऐसी तीन धनु की (१०१, १०२, १०३) एक धनीकिनी है। ऐसी १ धनीकिनी सिक्कर एक अध्यायों की कह जाती है।

उक्त क्रम से एक अध्यायों की सेना में क्रमशः २१००० (इकसह हजार आठ सौ सत्तर) १०००० (इकसह हजार, आठ सौ सत्तर) गण, १०००० (एक हजार की हजार, तीन सौ, पचास) पैदल बोज १०००० (पैंसठ हजार, अस्सी दस) बोजे हो जाते

हैं। पैदल सेना के अतिरिक्त प्रत्येक रथ, प्रत्येक गज, एवं प्रत्येक अश्व के साथ एक एक रथा रोही या द्वा, गजारोही योद्धा, अश्वारोही योद्धा का समावेश और कीजिए। इस क्रम से पदाति योद्धाओं के ( पैदल सेना के ) अतिरिक्त २१८७० रथारोही योद्धा २१८७० गजारोही योद्धा, एवं ६५६१० अश्वारोही योद्धा और हो जाते हैं। इस प्रकार अश्वोद्दिष्टी के सम्बन्ध योद्धाओं का निम्न लिखित क्रम हमारे सामने उपस्थित होता है—

- १-पक्षि— १ रथ, १ गज, ५ योद्धा, ३ घोड़े।
- २-सेनामुख— ३ रथ, ३ गज, १५ योद्धा ६ घोड़े।
- ३-गुप्त्य— ६ रथ, ६ गज, ४५ योद्धा, १७ घोड़े।
- ४-गण्ड— २७ रथ, २७ गज, ११५ योद्धा, ८१ घोड़े।
- ५-बाहिनी— ८१ रथ, ८१ गज ४०५ योद्धा, २४३ घोड़े।
- ६-वृत्तना— ४३ रथ, २४३ गज, १५५ योद्धा, ७२६ घोड़े।
- ७-चमू— ७२६ रथ, ७२६ गज, १६६५ योद्धा, २१८७ घोड़े।
- ८-अनीकिनी— २१८७ रथ, २१८७ गज १०८१५ योद्धा, ६५६१ घोड़े।
- ९-अश्वोद्दिष्टी— २१८७ रथ २१८७ गज १०८१५० योद्धा, ६५६१ घोड़े।

- १-रथारोही योद्धा— २१८७० ( इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर )
  - २-गजारोही योद्धा— २१८७० ( " )
  - ३-अश्वारोही योद्धा— ६५६१० ( पैंसठ हजार छसती दस )
  - ५-पदातियोद्धा— १०८१५० ( एक लाख नौ हजार तीसरी पचास )
- १-अश्वोद्दिष्टी— २१८७० ( दो लाख अठारह हजार सात सौ याद्धा )

एव तो तम जनसंख्या का विचार हुआ, जो राजाओं से सुसज्जित होकर युद्ध के लिए तैयार लड़ी थी। इस जनसंख्या के व्यतिरिक्त युद्धभूमि में परिकरणा भी अपने प्राणों को हथेली में लिए उपस्थित रहता है। प्रत्येक रथ के लिए एक एक सारथी का होना आवश्यक है। प्रत्येक हाथी के लिए एक एक गजवाहक (महावत) सम्पत्तित है। प्रत्येक बन्दू के लिए एक एक बन्दूपरिचारक (सर्विस) आवश्यक है। बाहकों के व्यतिरिक्त रथ एक हाथियों की समूह पर एक एक रथपरिचारक, एव एक एक गजपरिचारक भी आवश्यक है। विकिसुकर्म्म, कोटप्रबन्धकर्म्म, अन्नवाहककर्म्म गुप्तधरमग, योग्याओं का मूयर्का, राजासुप्रबन्धकर्म्म, पूजासुप्रबन्धकर्म्म, आदि आदि परिकरणा कर्म्म गणना पूषक है। दो जम्ह सेना के लिए इस परिकरर्म्म की संख्या भी २५ हजार से कम नहीं मानी जासकती। इस प्रकार एक व्यहोदिवी सेना की जनसंख्या का विचार करने पर निम्न स्थिति कम हथरे सामने आता है।

- १-युद्धकरन बाघे बोडा ॥ २१८००
- २-रथवाहक (सारथी) ॥ २१८००
- ३-गजवाहक (महावत) ॥ २१८००
- ४-रथपरिचारक — ॥ २१८०
- ५-गजपरिचारक — ॥ २१८०
- ६-बन्दूपरिचारक — ॥ १२६१०
- ७-परिकरर्गा — ॥ १२०००

तीनलाखतिनवें हजारसातसौ नव्वे

१-महोदिवी सेना की जनसंख्या ३८५७५०



इस संख्या को १८ से गुणित करिए। कौरव-पाण्डव संग्राम में ८८१२२२ (नवसौअस्र बीससौ हजार दोसौ बीस) जन संख्या हो जाती है। जनसंख्या के व्यतिरिक्त जिस संग्राम में १८३६३० (तीन अस्र तिअन हजार षस्रसौ सठ) हाथी हों, १८३६६० (तीन अस्र तिअनके हजार षस्रसौ सठ) रथ हों, एव ११००० (एकअस्र बाघे बससी हजार



मौसी अस्ती) घोड़े हों, उस संप्राम की, एव साप ही में उस युग की समृद्धि का क्या वर्णन किया जासकता है।

दोनों ओर से जब सैन्य संग्रह हो रहा था, उस समय अन्तिम बार शान्ति की चेष्टा के लिए मगवान् कृष्ण शान्ति के दूत बनकर इस्तिनापुर आए मगवान् ने साम-दाम-दण्ड-भेद से दुर्योधन को बहुत समझाया। परन्तु 'हम पाँच ग्रामतो क्या बिना युद्ध के मूर्खता मर मृमि मी देने के लिये तय्यार नहीं हैं' यह उत्तर मिला। स्वयं व्यासने पुत्रमोहवर्ष में पश्चित्त धृतराष्ट्र को युद्ध रोकने के लिए प्रेरित किया, परन्तु सारा परिश्रम व्यर्थ गया। भारत के भाग में जो कुछ होना लिखा था, दोनों ओर से उसी की तय्यारिए होन लगी। व्यासदेवके — "यदि हम युद्ध देखना चाहो तो हम तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर सकते हैं" यह कहने पर धृतराष्ट्र ने कहा कि मगवान् ! मैं इन व्यर्थों से अपने घर का श्रय नहीं देखना चाहता। आप किसी ऐसे व्यक्ति का प्रस्ताव कर दीजिए, जो मुझे युद्ध की प्रत्येक घटना समिस्तर बतलाया करे। व्यास ने सबय को दिव्यदृष्टि प्रदान की, एव उन्हें इस कार्य के लिए निम्न किया। कुरुक्षेत्र के मैदान में एक ओर ११ अश्वौहिणी सेना, दूसरी ओर ७ अश्वौहिणी सेना मोबा बांध कर लड़ी होगई। जब युद्ध के लिए सारी सामग्री उपस्थित हो गई तो धृतराष्ट्र सभ्य से पूछने लगे—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामका पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सजय।



बहिरङ्गपरीचात्मक-प्रथमखण्ड समाप्त

१





